प्रवचन-सारोद्धार

प्रथम भाग

साध्वी हेमप्रभाश्री

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
श्री नाकोडा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर
सेवा मन्दिर, रावटी, जोधपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रधान सम्पादक :
साहित्यवाचस्पति म. विनयसागर

प्राकृत भारती पुष्प-८८

सिद्धान्तवेत्ता श्री नेमिचन्द्रसूरि प्रणीत

प्रवचन-सारोद्धार

(प्रथम भाग)

(१९० द्वारों का मूल, गाथार्थ एवं आगमज्ञ श्री सिद्धसेनसूरि रचित तत्त्वविकाशिनी टीका का हिन्दी विवेचन)

अनुवादिका :
महान आत्मसाधिका प.पू. अनुभव श्रीजी म.सा.
की सुशिष्या साध्वी हेमप्रभाश्री

सम्पादक :
साहित्यवाचस्पति महोपाध्याय विनयसागर

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
श्री नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशक :
देवेन्द्रराज मेहता
प्राकृत भारती अकादमी
१३-ए, मेन, मालवीय नगर,
जयपुर-३०२०१७
फोन : ५२४८२७, ५२४८२८

पारसमल भंसाली
अध्यक्ष :
श्री जैन श्वे० नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ
मेवानगर-३४४०२५
स्टे० बालोतरा, जिला बाड़मेर

प्रथम संस्करण : १९९९

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन :

मूल्य : २५०.०० रुपये

कम्प्यूटरीकरण :
कम्प्यू प्रिन्टस,
जयपुर-३
दूरभाष: ३२३४९६

मुद्रक :
खण्डेलवाल प्रिन्टर्स,
जयपुर-१
दूरभाष: ३१८५३१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

प्रवचनसारोद्धार जैनों का एक महत्त्वपूर्ण संकलन ग्रन्थ है। १२वीं शताब्दि की यह रचना साध्वाचार का एक संदर्भ ग्रन्थ भी है। यह अपने पूर्ण रूप में हिन्दी भाषा में अभी तक अननुवादित था। विदुषी साध्वी श्री **हेमप्रभाश्रीजी** म.सा. प्रखर ने यह भागीरथ प्रयत्न सफलतापूर्वक संपन्न किया और प्राकृत भारती अकादमी को प्रकाशन दायित्व दिया इसके लिए हम उनका आभार प्रकट करते हैं।

प्रतिभा–सम्पन्न मनीषी डॉ० सागरमलजी जैन ने इस ग्रन्थ की विस्तृत भूमिका तैयार की जो सुधी पाठकों को इस ग्रन्थ के मर्म को समझने में सहायक होगी। हम उनके निरन्तर सहयोग के लिए कृतज्ञ हैं।

इस पुस्तक के प्रकाशन की योजना आठ वर्ष पूर्व ही निश्चित हो चुकी थी, किन्तु विभिन्न अप्रत्याशित व्यवधानों के कारण विलम्ब होता गया, पर यह अन्तराल व्यर्थ नहीं गया। इस बीच ग्रन्थ के संयोजन व आकार में वांछित परिवर्तन और संवर्धन होता रहा जिससे यह संभवतः आदर्श रूप बन सका। इस महत्त्वपूर्ण संपादन–संशोधन कार्य में साहित्यवाचस्पति महोपाध्याय **विनयसागरजी** ने अपनी पूर्ण विद्वत्ता तथा लगन से योगदान दिया है। यद्यपि वे प्राकृत भारती परिवार के सदस्य हैं, उनके प्रति धन्यवाद प्रकट न करना कृपणता होगी।

श्रमण समुदाय के लिए विशेष उपयोगी ग्रन्थ का प्रकाशन प्राकृत भारती अकादमी और श्री नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ ट्रस्ट के संयुक्त प्रकाशनों की कड़ी में हो रहा है। आशा है जैन साहित्य प्रकाशन के क्षेत्र में दोनों संस्थाओं की परस्पर सहयोग की यह परम्परा अक्षुण्ण बनी रहेगी।

पारसमल भंसाली
अध्यक्ष
नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ,
मेवानगर

देवेन्द्रराज मेहता
प्राकृत भारती अकादमी
जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीऋषभदेवस्वामिने नमः।
श्रीशंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः।
श्रीमहावीरस्वामिने नमः।
श्रीगौतमस्वामिने नमः।

आचार्यप्रवर श्री **नेमिचन्द्रसूरि** विरचित **प्रवचन-सारोद्धार** में सचमुच जैन प्रवचन का सार संगृहीत किया गया है। आचार्य श्री **सिद्धसेनसूरि** विरचित वृत्ति सहित इस ग्रन्थ के पठन से जैन धर्म सम्बन्धी अनेक-अनेक शास्त्रीय पदार्थों का सुचारु रूप से ज्ञान सम्पन्न होता है। मेरे परम पूज्य गुरुदेव एवं पिताश्री मुनिराज श्री **भुवनविजयजी** महाराज का यह अतिप्रिय ग्रंथ था। साध्वीजी श्री **हेमप्रभाश्रीजी** ने वृत्ति सहित इस ग्रंथ का हिन्दी भाषा में सुंदर अनुवाद कर हिन्दी भाषा जानने वाले जैन तत्त्वज्ञान के अभ्यासी लोगों के ऊपर बड़ा उपकार किया है। जैन शास्त्रों के अभ्यासी इस ग्रन्थ को पढ़कर जैन शास्त्रों के विविध विषयों का सुंदर ज्ञान प्राप्त करें एवं साध्वीजी के श्रम को सार्थक करें, यही अभिलाषा!

जैसलमेर (राजस्थान)
१५-१०-६८
गुरुवार

पूज्यपादाचार्य-महाराज-श्रीमद्विजय **सिद्धि**सूरीश्वर-पट्टालंकार-पूज्यपादाचार्य महाराज-श्रीमद्विजय**मेघा**सूरीश्वर-शिष्य-पूज्यपाद-गुरुदेव-मुनिराज श्री**भुवनविजया**न्तेवासी

मुनि जम्बूविजय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परमपूज्या विदुषी आर्यारत्न

जन्म : वि. सं. १९५९ भादवा बदी ८, शाजापुर

दीक्षा : वि. सं. १९७९ चैत्र सुदी १०, शाजापुर

श्री अनुभवश्री जी महाराज

स्वर्गवास : वि. सं. २०४४ फाल्गुन बदी ३, पाली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समर्पण

जिनकी भाववत्सलता से,
मेरे जीवन का कण-कण आप्लावित है।
जिनकी ज्ञान चेतना से,
मेरा जीवन-पथ सदा आलोकित है।
जिनके सुदर्शन से,
मेरी अन्तरात्मा सुवासित है।
जिनके आचरण से,
मेरा जीवन सुसज्जित है।

उन

परमाराध्या गुरु माता अनुभवश्रीजी म०सा०

के कर-कमलों में

सादर समर्पित

चरणरज

साध्वी हेमप्रभा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादकीय

ग्रन्थ का नाम—ग्रन्थकार ने इसका नाम प्रवचनसारोद्धार दिया है। प्रवचन = जिनवाणी अर्थात् गणधर ग्रथित एवं पूर्वधर गीतार्थ आचार्यों द्वारा आगमोक्त वाणी, सार = निष्कर्ष, संक्षेप, रहस्य, उद्धार = संकलन, संग्रह, चयन कर एक स्थान पर एकत्रित करना—प्रवचनसारोद्धार का व्युत्पत्तिजनक अर्थ है। समस्त आगमों में वर्णित विषयों का एक स्थान पर संग्रह होने से यह नाम अन्वर्थक प्रतीत होता है। ग्रन्थकार का वैदुष्यजनित वैशिष्ट्य यह है कि 'तीर्थंकर के लंछन' जैसे सामान्य से सामान्य और 'कर्मप्रकृति, गुणस्थान, अल्पबहुत्व और षड्द्रव्य' जैसे गहन से गहन २७६ विषयों का आगमों से संकलन किया है। संकलन-ग्रन्थ होने पर भी इसमें लगभग ६०० गाथाएँ आगमों से ली गई हैं और शेष गाथाएँ स्वप्रणीत भी हैं।

गुरु-परंपरा—ग्रन्थकार बृहद्गच्छीय देवसूरि परम्परा में हुए हैं। बृहद्गच्छीय परम्परा वट वृक्ष की तरह अत्यन्त विशाल और समृद्ध रही है। यहाँ इस ग्रन्थ से सम्बन्धित देवसूरि परम्परा का ही उल्लेख अभीष्ट है। देवसूरि के अजितसूरि, अजितसूरि के आनन्दसूरि पट्टधर हुए। आनन्दसूरि के दो शिष्य थे—१. नेमिचन्द्रसूरि प्रथम और २. जिनचन्द्रसूरि। प्रथम नेमिचन्द्रसूरि प्राकृत भाषा और आगम साहित्य के उद्भट विद्वान् थे। आचार्य पदाभिषेक के पूर्व इनका नाम देवेन्द्रगणि था। आचार्य बनने पर नेमिचन्द्रसूरि नाम हुआ। परवर्ती ग्रन्थकारों ने इन्हें 'सैद्धान्तिक-शिरोमणि' विशेषण से सम्बोधित किया है। इनकी प्राकृत भाषा में पाँच रचनाएँ प्राप्त होती हैं—

१. उत्तराध्ययन सूत्र सुखबोधिका टीका, रचना संवत् ११२९, श्लोक परिमाण १४०००, इसमें स्वयं के लिए देवेन्द्रगणि शब्द का उल्लेख है।
२. आख्यानकमणिकोश, मूल गाथा ५२, कर्त्ता के रूप में स्वयं का नाम देवेन्द्रगणि लिखा है।
३. रत्नचूड कथा, श्लोक परिमाण ३०८१, इसमें स्वयं को नेमिचन्द्रसूरि के नाम से सम्बोधित किया है, अतः यह रचना ११२९ के बाद की ही है।
४. लघु वीरचरित्र, इसे महावीर चरित्र भी कहते हैं, रचना संवत् ११४१, श्लोक परिमाण ३०००। इसकी संवत् ११६१ की लिखित ताड़पत्रीय प्रति जैसलमेर ज्ञान भण्डार में उपलब्ध है।
५. आत्मबोध कुलक, इसका दूसरा नाम धर्मोपदेश कुलक भी प्राप्त होता है, गाथा संख्या २२ है।

प्रथम नेमिचन्द्रसूरि के गुरु भ्राता जिनचन्द्रसूरि के शिष्य आम्रदेवसूरि हुए। इन्होंने प्रथम नेमिचन्द्रसूरि रचित आख्यानकमणिकोश पर संवत् ११९० धवलकपुर में सिद्धराज जयसिंह के राज्य में १४०००

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्लोक परिमाण में रचना की। समस्त टीका एवं कथानक प्राकृत गाथाओं में निर्मित है, इससे स्पष्ट है कि इनका प्राकृत भाषा पर पूर्ण आधिपत्य था। आम्रदेवसूरि के अनेकों शिष्य थे, जिनमें प्रमुख साहित्यकार के रूप में दो का ही उल्लेख है १. हरिभद्रसूरि और २. प्रस्तुत ग्रन्थकार नेमिचन्द्रसूरि। हरिभद्रसूरि प्राकृत और अपभ्रंश भाषा के दिग्गज विद्वान् थे। इनके लिए उल्लेख प्राप्त होता है कि इन्होंने २४ तीर्थंकरों की चरित्रों की रचना की थी। उनमें से केवल ४ प्राप्त हैं—१. चन्द्रप्रभ चरित्र, २. मल्लिनाथ चरित्र, ३. अजितनाथ चरित्र ये तीनों प्राकृत भाषा में रचित हैं और ४. नेमिनाथ चरित्र अपभ्रंश भाषा में है। इसका रचना संवत् १२१६ है। यह नेमिनाथ चरित्र लालभाई दलपतभाई प्राच्य भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद से प्रकाशित हो चुका है।

ग्रन्थकार नेमिचन्द्रसूरि—ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ में संक्षिप्त रचना प्रशस्ति दी है। प्रशस्ति में लिखा है कि जिनचन्द्रसूरि के शिष्य आम्रदेवसूरि हुए और उनके शिष्य नेमिचन्द्रसूरि ने इस ग्रन्थ की रचना की है। आम्रदेवसूरि शिष्य लिखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सैद्धान्तिक-शिरोमणि प्रथम नेमिचन्द्रसूरि नहीं है। अतः इसमें विचार की आवश्यकता ही नहीं है। भूमिका लेखक ने उनकी वंश-परम्परा में बृहद्गच्छीय देवसूरि के शिष्य का नाम आदित्यदेवसूरि लिखा है। जब कि सैद्धान्तिकशिरोमणि प्रथम नेमिचन्द्रसूरि ने आख्यानकमणिकोश की प्रशस्ति में देवसूरि के शिष्य अजितसूरि हुए ऐसा लिखा है, और प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्त्ता ने अपने अनन्तनाह चरियम् की प्रशस्ति में अजितसूरि के स्थान पर अजितदेवसूरि लिखा है। प्रस्तुत ग्रन्थ रचनाकार के प्रौढ वैदुष्य को प्रकट करता है और सूचित करता है कि ये आगमिक ज्ञान में निमज्जन करने वाले परम गीतार्थ थे और सैद्धान्तिक शिरोमणि प्रथम नेमिचन्द्रसूरि की दिग्गज परम्परा के सम्पोषक विद्वान थे।

प्रस्तुत ग्रन्थकार की दूसरी कृति अनन्तनाह-जिणचरियम् के नाम से प्राप्त होती है। इसकी भाषा प्राकृत है, रचना संवत् १२१६ है, धोलका नगर में निवास करते हुए महाराज कुमारपाल के राज्य में इसकी रचना हुई है। श्लोक परिमाण १२००० है। यह ग्रन्थ पण्डित रूपेन्द्रकुमार पगारिया द्वारा सम्पादित होकर लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद से सन् १९९८ में प्रकाशित हो चुका है।

सिद्धसेनसूरि—प्रवचनसारोद्धार के टीकाकार सिद्धसेनसूरि हैं। टीकाकार ने इस टीका का नाम 'तत्त्वबोध-विकाशिनी' रखा है। सिद्धसेनसूरि चन्द्रगच्छ की परम्परा के उद्भट विद्वान् थे। इनकी गुरु-परम्परा बहुश्रुत परम्परा रही है, एक से एक बढ़कर दार्शनिक, सैद्धान्तिक दिग्गज विद्वान् हुए हैं। इनकी पूर्व गुरु-परम्परा के अभयदेवसूरि आदि दुर्धर्ष विद्वानों के कतिपय ग्रन्थ तो आज भी दार्शनिक जगत में सर्वोच्च स्थान रखते हैं। सिद्धसेनसूरि ने प्रशस्ति में स्वकीय गुरु-परम्परा दी है। इनकी अवान्तर परम्परा का इसमें उल्लेख नहीं है, होना भी नहीं चाहिए। किन्तु इनकी विस्तृत परम्परा के आचार्यों, साहित्यकारों का विद्वत् जगत ऋणी है। अतः इनकी कतिपय अवान्तर परम्पराओं का वंशवृक्ष एवं निर्मित साहित्य का उल्लेख शोधार्थियों के लिए आवश्यक होने से इसके परिशिष्ट रूप में टिप्पणी के साथ दिया जा रहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचनसारोद्धार मूल ग्रन्थ १५९९ गाथाओं में संकलित है। सिद्धसेनसूरि ने मूल ग्रन्थ के प्रत्येक अंश को स्पष्ट करते हुए विशदीकरण के साथ १८००० श्लोक परिमाण में इसकी रचना की है। सामान्य विषयों के वर्णन को टीकाकार ने सामान्य रूप से ही वर्णित किया है, जबकि आगम के गहन विषयों को अन्य ग्रन्थों के उद्धरण देते हुए प्राञ्जल शैली में विशदता के साथ वर्णन किया है। यह उनके अगाध ज्ञान का सूचक है।

सिद्धसेनसूरि ने इस टीका में स्वरचित अन्य कृतियों का उल्लेख भी किया है, जो आज अप्राप्त हैं।

१. पद्मप्रभचरित्र—उल्लेख, प्रवचनसारोद्धार पद्य १५५३ की टीका में, भाषा प्राकृत।

२. समाचारी—उल्लेख, प्रवचनसारोद्धार पद्य १५७० की टीका में।

३. स्तुति—भाषा प्राकृत, उल्लेख, प्रवचनसारोद्धार टीका पद्य ६६० में।

टीका का रचना संवत्—मुद्रित संस्करणों में इस टीका का रचनाकाल **करिसागररविसंख्ये** के आधार पर १२४८ माना जाता है। सागर को ४ मानने पर १२४८ होता है और ७ मानने पर १२७८। भारतीय प्राच्य तत्त्व समिति, पिण्डवाडा के प्रकाशन में 'करि' के स्थान पर **'कर'** पाठान्तर मिलता है। यह पाठान्तर जैसलमेर भण्डार की १२९५ की लिखित ताड़पत्रीय प्रति और जैन विद्या शाला, अहमदाबाद की १५५१ की लिखित प्रति में प्राप्त होता है। इसके आधार से कर शब्द २ का वाचक होने से रचना संवत् १२४२ प्रमाणित होता है, अतः इस टीका का रचनाकाल १२४२, १२४८, १२७८ के मध्य का माना जा सकता है, तथापि प्राचीन पाठान्तर के आधार पर इसका रचनाकाल १२४२ मानना ही अधिक उपयुक्त एवं संगत है।

अनुवादिका—इस विशालकाय ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद न होने से हिन्दी भाषी विद्वान आज तक इसके अध्ययन से वंचित रहे। इस ग्रन्थ का अनुवाद विदुषी साध्वी श्री **हेमप्रभाश्रीजी** ने किया है। श्री हेमप्रभाश्रीजी खरतरगच्छ की परम्परा में प्रवर्तिनी प्रेममूर्ति श्री **प्रेमश्रीजी** महाराज की प्रशिष्या अनुभवरसनिमग्ना श्री **अनुभवश्रीजी** महाराज की शिष्या हैं। आगमज्ञा हैं, ज्योतिर्विद् भी हैं और प्रवचनपटु भी। साध्वीजी ने इस ग्रन्थ का यह अनुवाद शब्दशः न कर भावानुवाद के रूप में किया है। दार्शनिक संस्कृत ग्रन्थों का यदि शब्दशः अनुवाद किया जाए तो वह पाठक के लिए बोझिल बन जाता है। इस भावानुवाद में कहीं प्रश्नोत्तर शैली अपनाई गई है और कहीं सरस एवं प्राञ्जल शैली में इसका शब्दशः अनुवाद और भावानुवाद दिया भी है। अनुवाद सुरुचिपूर्वक पठन योग्य है।

संस्करण—

१. प्रवचनसारोद्धार सिद्धसेनीय टीका के साथ सर्वप्रथम हीरालाल हंसराज, जामनगर की ओर से प्रकाशित हुआ था।

२. इसका द्वितीय संस्करण देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत की ओर से विक्रम संवत् १९७८ में दो भागों में प्रकाशित हुआ था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. इसका तृतीय संस्करण मुनि पद्मसेनविजय और मुनि मुनिचन्द्रविजय (वर्तमान में मुनिचन्द्रसूरि) द्वारा सम्पादित होकर भारतीय प्राच्य तत्त्व प्रकाशन समिति, पिण्डवाड़ा से ईस्वी सन् १९८३ में प्रकाशित हुआ था।

४. प्रवचनसारोद्धार श्री उदयप्रभसूरि रचित विषमपदार्थावबोध टिप्पणी के साथ जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक तपागच्छ गोपीपुरा संघ, सूरत द्वारा सन् १९८८ में प्रकाशित हुआ। इसके सम्पादक हैं मुनि मुनिचन्द्रविजय (वर्तमान में मुनिचन्द्रसूरि)।

५. प्रवचनसारोद्धार गुजराती भावानुवाद सहित शिव जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ, मुम्बई द्वारा सन् १९९२ में दो भागों में प्रकाशित हुआ है। इसके अनुवादक हैं—मुनिराज श्री अमितयशविजयजी म० एवम् सम्पादक हैं—पंन्यास श्री वज्रसेनविजयजी म०।

प्रवचनसारोद्धार संज्ञक रचनाएँ—इस नाम से तीन कृतियाँ प्राप्त होती हैं—

१. प्रवचनसारोद्धार : श्री नेमिचन्द्रसूरि रचित प्रस्तुत ग्रन्थ है।

२. लघु प्रवचनसारोद्धार : श्री हेमचन्द्रसूरि शिष्य श्रीचन्द्रसूरि रचित। यह अत्यन्त संक्षिप्त है, इसमें मूल द्वार २५ हैं और कुल ११८ गाथाएँ प्राकृत में है। प्रकाशित हो चुका है।

३. प्रवचनसार/सारोद्धार : इसके प्रणेता स्थानकवासी रूपसिंहगणि हैं। ये आचार्य जसवन्त के शिष्य थे। रचनाकाल १६२९ (?) है। रचना स्थान पुष्पवतीनगरी है। गाथा संख्या ७५० है और ३५५ अन्तर द्वार हैं। विक्रम संवत् १६९२ की लिखित प्रति आचार्य श्री जयमल्ल संग्रहालय, पीपाड़ में संग्रहीत है, अप्रकाशित है। इसका अध्ययन और प्रकाशन अपेक्षित है।

सम्पादन शैली—मूल पाठ की शुद्धि का विशेष ध्यान रखते हुए गाथार्थ और विवेचन का भाषा की दृष्टि से सम्पादन किया गया है। पाठकों की सुविधा के लिए प्रत्येक गाथा का अनुवाद और विवेचन न देकर, प्रारम्भ में प्रत्येक द्वार की समस्त गाथाएँ, पश्चात् गाथार्थ और तदन्तर विवेचन दिया गया है। भावानुवाद होने के कारण विवेचन में पद्य क्रमांक देना कठिन होने पर भी यथाशक्य गाथा क्रमांक दिया गया है। सम्पादन और संशोधन में यथासाध्य ध्यान रखने पर भी दृष्टिदोष से यत्र-तत्र स्खलना रह गई हो, उसे विद्वज्जन क्षमा करें।

जयपुर

९-९-१९९९

महोपाध्याय विनयसागर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

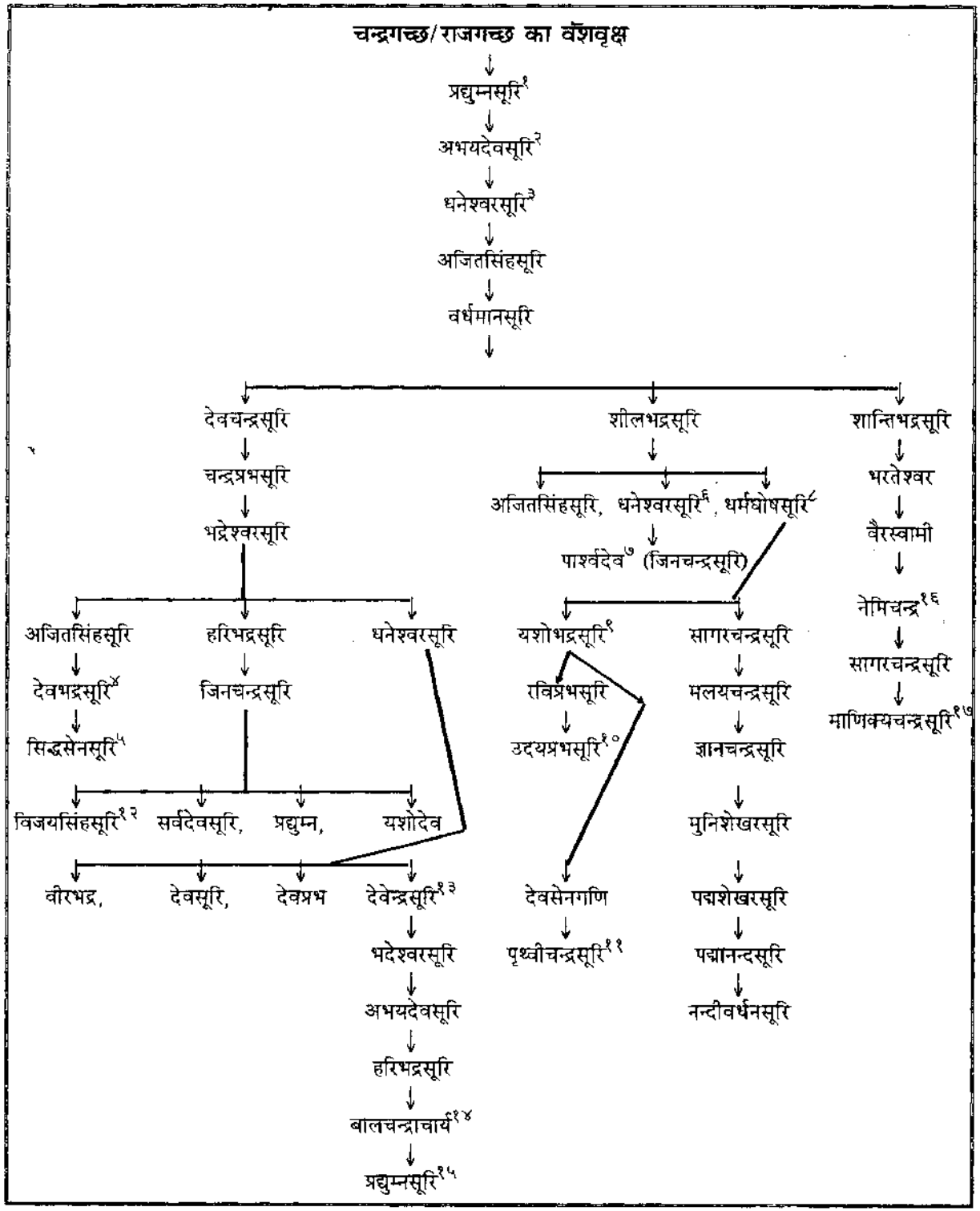

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. चन्द्रगच्छीय श्री प्रद्युम्नसूरि ने तलपाटक नगर में महाराजा अल्लु (अल्लक) की राज्य सभा में दिगम्बर विद्वान् को पराजित किया था। सपादलक्ष, त्रिभुवनगिरि आदि राजाओं को जैन धर्म का उपासक बनाया था। यहीं से चन्द्रगच्छ राजगच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[१]

२. **अभयदेवसूरि**—न्यायवनसिंह अथवा तर्कपंचानन विरुद के धारक थे। इन्होंने सिद्धसेनदिवाकर रचित सन्मतितर्क पर तत्त्वबोधविधायिनी बृहद् टीका की रचना की जो वादमहार्णव के नाम से प्रसिद्ध है। दर्शन शास्त्र के असाधारण विद्वान थे।

३. **धनेश्वरसूरि**—ये मूलतः त्रिभुवनगिरि के महाराजा कर्दम थे। धारा नगरी के महाराजा मुञ्ज के राजमान्य गुरु थे और इन्हीं की सभा में पुण्डरीक नामक विद्वान् को पराजित किया था। प्रभाचन्द्रसूरि कृत प्रभावकचरित्र के अनुसार इनके राजमान्य होने के कारण चन्द्रगच्छ राजगच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

४. **देवभद्रसूरि**—इनके प्रमाणप्रकाश और श्रेयांसचरित्र ये दो ग्रन्थ प्राप्त होते हैं।

५. **सिद्धसेनसूरि**—१२४८ में सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्रसूरि रचित प्रवचनसारोद्धार पर तत्त्वज्ञान-विकाशिनी नामक बृहद् टीका की रचना की। इस टीका में स्वरचित पद्मप्रभचरित्र और सामाचारी का उल्लेख आता है।

६. **धनेश्वरसूरि**—ये शीलभद्रसूरि के शिष्य थे। सिद्धान्तों के प्रौढ़ विद्वान् थे। इन्होंने ११७१ अणहिलपुर पट्टण में खरतरगच्छीय जिनवल्लभसूरि रचित सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार प्रकरण पर टीका की रचना की थी। इस रचना में इनके शिष्य पार्श्वदेवगणि सहायक थे।

७. **श्रीचन्द्रसूरि**—मुनि अवस्था में इनका नाम पार्श्वदेवगणि था। विक्रम संवत् १२०४ में मंत्री पृथ्वीपाल ने विमल वसही, आबू का उद्धार करवाया था उस समय ये वहाँ विद्यमान थे। इनके द्वारा रचित निम्न साहित्य प्राप्त है—

१. दिङ्नाग प्रणीत न्यायप्रवेश, हारिभद्रीय वृत्ति पर पञ्जिका, सं. ११६९
२. महत्तर जैनदासीय निशीथचूर्णी पर विशोद्देशक व्याख्या, सं. ११७३
३. श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र वृत्ति, सं. १२२२,
४. नन्दीसूत्रटीका दुर्गपदव्याख्या
५. जीतकल्पबृहच्चूर्णि व्याख्या, सं. १२२७
६. निरयावलीसूत्र वृत्ति, सं. १२२८
७. चैत्यवन्दन सूत्र वृत्ति

---

१. माणिक्यचन्द्रसूरिः पार्श्वनाथ चरित्र प्रशस्ति, पद्य २८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. सर्वसिद्धान्तविषमपदपर्याय

९. प्रतिष्ठाकल्प

१०. सुखबोधा समाचारी

११. पिण्डविशुद्धि वृत्ति, सं. ११७८

१२. पद्मावत्यष्टक वृत्ति

८. **धर्मघोषसूरि**—शीलभद्रसूरि के शिष्य थे। उनका पूर्व में नाम धर्मसूरि था। विक्रम संवत् ११५६ में इन्हें आचार्य पद प्राप्त हुआ था।[१] धर्मकल्पद्रुम नामक ग्रन्थ की इन्होंने रचना की थी। शाकम्भरी नरेश विग्रहराज—वीसलदेव तृतीय को प्रतिबोध देकर अजमेर में शान्तिनाथ मन्दिर राजविहार का निर्माण करवाया था। इस राजविहार की प्रतिष्ठा के समय मालवमहीन्द्र हरिसिंह भी उपस्थित थे।[२] नृपति विग्रहराज की मातुश्री सुहवदेवी ने सुहवपुर में पार्श्वनाथ मन्दिर का निर्माण करवाया था।[३] शाकम्भरी नरेश अर्णोराज इनका भक्त था। इन्हीं की सभा में दिगम्बर वादीचन्द्र और गुणचन्द्र को शास्त्रार्थ में पराजित किया था।[४] विक्रम सम्वत् ११८१ में फलवर्धि पार्श्वनाथ की प्रतिष्ठा करवाई थी।[५] सुसाणीदेवी को प्रतिबोध देकर सम्यक्त्वधारी बनाकर सुराणा गोत्र की कुलदेवी के रूप में स्थापना की थी।[६] सौरवंश के मोल्लण परमार को जैन बनाकर सुराणा गोत्र स्थापित किया था।[७] इन्हीं धर्मघोषसूरि से राजगच्छ का नाम धर्मघोषगच्छ प्रसिद्ध हुआ।[८]

९. **यशोभद्रसूरि**—गद्य गोदवरी ग्रन्थ के प्रणेता हैं।

१०. **उदयप्रभसूरि**—यशोभद्रसूरि के प्रशिष्य श्री रविप्रभसूरि के शिष्य थे। इनके द्वारा निर्मित निम्न साहित्य प्राप्त हैं—१. प्रवचनसारोद्धार-विषमपदार्थावबोधटिप्पणी (यह मुनि मुनिचन्द्रविजय वर्तमान में मुनिचन्द्रसूरि द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुई है)। २. शिवशर्मसूरि कृत प्राचीन कर्मग्रन्थ शतक पर और प्राचीन कर्मग्रन्थ और कर्मस्तव पर टिप्पणक।

---

१. राजगच्छ पट्टावली

२. रविप्रभसूरि कृत धर्मघोषसूरि-स्तुति पद्य २८-३०

३. राजगच्छ पट्टावली

४. राजगच्छ पट्टावली, फलवर्धिका देवी प्रशस्ति पद्य ३६, रविप्रभसूरि कृत धर्मघोषसूरि-स्तुति पद्य २६-२७

५. विविध तीर्थ कल्प पृ. १०६

६. मोरखाणा शिलालेख

७. राजगच्छ पट्टावली, फलवर्धिका देवी प्रशस्ति पद्य ३६

८. महोपाध्याय विनयसागर, फलौदी माता के मन्दिर का शिलालेख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११. **पृथ्वीचन्द्रसूरि**—यशोभद्रसूरि के प्रशिष्य श्री देवसेनगणि के शिष्य थे। इनका कल्पसूत्र टिप्पणक प्राप्त है जो मुनि पुण्यविजयजी द्वारा प्रकाशित होकर प्रकाशित हो चुका है।

१२. **विजयसिंहसूरि**—ये हरिभद्रसूरि के प्रशिष्य और जिनचन्द्रसूरि के शिष्य थे। इन्होंने वाचक उमास्वाति रचित जम्बूद्वीपसमास पर विनेयजनहिता टीका की रचना सम्वत् १२१५ में की थी।

१३. **देवेन्द्रसूरि**—ये धनेश्वरसूरि के शिष्य थे। इन्होंने मण्डली नगर में महावीर चैत्य की प्रतिष्ठा की थी।

१४. **बालचन्द्रसूरि**—इन्हीं देवेन्द्रसूरि की परम्परा में बालचन्द्रसूरि हुए। ये महाकवि थे। मंत्री वस्तुपाल तेजपाल इनके भक्त थे। करुणावज्रायुध नाटक के प्रणेता थे। महाकवि आसड रचित विवेकमंजरी और उपदेश कंदली पर टीकाएँ एवं वसन्तविलास काव्य की रचना की थी।

१५. **प्रद्युम्नसूरि**—ये बालचन्द्रसूरि के शिष्य थे। इनकी रचित समरादित्य संक्षेप रचना प्राप्त है।

१६. **नेमिचन्द्रसूरि**—शान्तिभद्रसूरि की परम्परा में वैरस्वामी के शिष्य नेमिचन्द्रसूरि थे। वे दर्शन शास्त्र के उद्भट विद्वान् थे।

१७. **माणिक्यचन्द्रसूरि**—ये नेमिचन्द्रसूरि के प्रशिष्य और सागरचन्द्रसूरि के शिष्य थे। इनकी निम्न कृतियाँ प्राप्त हैं—मम्मट कृत काव्यप्रकाश संकेत नामक टीका एवं पार्श्व चरित्र (१२७६)।

इस परम्परा के सभी लेखकों एवं साहित्यकारों का टिप्पणी में उल्लेख करने का यथासाध्य प्रयास किया गया है। यह ३-४ शताब्दी का लेखा-जोखा है। यह चन्द्रगच्छीय/राजगच्छीय परम्परा कौनसी शताब्दि तक चलती रही? इसके लिए शिलालेख व ग्रन्थ-प्रशस्तियों के आधार पर शोध आवश्यक है। धर्मसूरि/धर्मघोषसूरि से धर्मघोषगच्छ निकला। यह गच्छ सागरचन्द्रसूरि से चलता रहा। सम्भव है स्वतन्त्र परम्परा का विकास होने के कारण राजगच्छ परम्परा या तो कालान्तर में इसी में विलीन हो गई अथवा सामान्य रूप से चलती रही हो। इस धर्मघोष परम्परा में विक्रम संवत् २००० तक इसके दो-चार यति गुरांसा के रूप में विद्यमान थे। नागौर में गोपजी गुरांसा विद्यमान थे। अब यह परम्परा लुप्त हो चुकी है। इस परम्परा द्वारा प्रतिष्ठित सैंकड़ों मूर्तियाँ प्राप्त हैं। धर्मघोषगच्छ स्वतन्त्र रूप से विकसित होने के कारण इस परम्परा का और निर्मित साहित्य का यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है।

¤ * ¤ * ¤

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूमिका

—प्रो. सागरमल जैन

प्रवचनसारोद्धार जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, जैन धर्म एवं दर्शन का सारभूत, किन्तु आकर ग्रन्थ है। इसका विषय वैविध्य एवं कर्त्ता की व्यापक संग्राहक दृष्टि, इसे जैनविद्या के लघु विश्व-कोष की श्रेणी में लाकर रख देती है। वस्तुतः यह एक संग्रहग्रन्थ है, जिसमें जैनविद्या के विविध आयामों को समाहित करने का लेखक ने अनुपम प्रयास किया। यद्यपि इसके पूर्व आचार्य हरिभद्र सूरि (विक्रम संवत् की आठवीं शती) ने अपने ग्रन्थ अष्टक, षोडशक, विंशिका, पंचाशक आदि में जैन धर्म, दर्शन और साधना के विविध पक्षों को समाहित करने का प्रयत्न किया है, फिर भी विषय वैविध्य की अपेक्षा से ये ग्रन्थ भी इतने व्यापक नहीं है, जितना प्रवचनसारोद्धार है। इसमें २७६ द्वार हैं और प्रत्येक द्वार एक-एक विषय का विवेचन प्रस्तुत करता है, इस प्रकार प्रस्तुत कृति में जैन विद्या से सम्बन्धित २७६ विषयों का विवेचन है। इससे इसका बहुआयामी स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

प्रस्तुत कृति १५९९ प्राकृत गाथाओं में निबद्ध है। मात्रा गाथा (श्लोक) क्रमांक ९७१ संस्कृत में है। इसकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। छन्दों की अपेक्षा से इसमें आर्या छन्द की ही प्रमुखता है, यद्यपि अन्य छन्द भी उपलब्ध होते हैं। इस कृति के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन परम्परा में ई.पू. छठी शती से लेकर ईसा की तेरहवीं शती तक लगभग दो हजार वर्ष की सुदीर्घ अवधि में प्राकृत में ग्रन्थ लेखन की जीवित परम्परा रही है। मात्र यही नहीं, इसके पश्चात् आज तक भी प्राकृत भाषा में ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं जो जैन विद्वानों की प्राकृत के प्रति प्रतिबद्धता के सूचक हैं। प्रस्तुत कृति के लेखक ने इसके अतिरिक्त **अनन्तनाहचरियं** नामक एक अन्य ग्रन्थ भी प्राकृत भाषा में लिखा है **इससे** लेखक का प्राकृत भाषा पर अधिकार सिद्ध होता है। साथ ही प्रस्तुत कृति में विविध विषयों का संग्रह उसके कर्त्ता की बहुश्रुतता का भी परिचय देता है।

प्रवचनसारोद्धार के रचयिता—

प्रवचनसारोद्धार नामक प्रस्तुत कृति के रचयिता आचार्य नेमिचन्द्रसूरि हैं। किन्तु ये नेमिचन्द्रसूरि कौन हैं और कब हुए? इस सम्बन्ध में थोड़ी विस्तृत विवेचना अपेक्षित है।

यद्यपि प्रवचनसारोद्धार की कर्त्ता प्रशस्ति में ग्रन्थकार ने इसके रचना काल का उल्लेख नहीं किया है किन्तु उन्होंने अपना और अपनी गुरु परम्परा का संक्षिप्त, किन्तु स्पष्ट निर्देश किया है। कर्त्ता प्रशस्ति में वे लिखते हैं "धर्म रूपी पृथ्वी का उद्धार करने में महावराह के समान जिनचन्द्रसूरि के शिष्य आम्रदेवसूरि हुए। उनके शिष्य नेमिचन्द्रसूरि, जो विजयसेन गणधर से कनिष्ठ और यशोदेवसूरि से ज्येष्ठ थे, ने सिद्धान्त रूपी रत्नाकार से रत्नों का चयन करके प्रवचनसारोद्धार की रचना की।" इस प्रकार प्रवचनसारोद्धार की इस कर्त्ता प्रशस्ति में उन्होंने अपनी गुरु परम्परा में केवल अपने प्रगुरु जिनचन्द्रसूरि और गुरु आम्रदेवसूरि के ही नामों का निर्देश किया है, उनके गच्छ आदि का विस्तृत विवरण नहीं दिया है किन्तु अपने द्वारा ही रचित अनन्तनाथचरित्र की कर्त्ता प्रशस्ति में अपनी गच्छ परम्परा और गुरु परम्परा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का अधिक विस्तृत विवरण दिया है। फिर भी उपरोक्त दोनों प्रशस्तियों से ग्रन्थकार के सांसारिक जीवन के सम्बन्ध में कोई भी विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं होती है।

अनन्तनाथचरित से इतना विशेष ज्ञात होता है कि वे श्वेताम्बर परम्परा के बृहद्गच्छ में दीक्षित हुए थे। उसमें इस बृहद्गच्छ का प्रारंभ देवसूरि से बताया गया है। इन देवसूरि के शिष्य आदित्यदेवसूरि हुए। आदित्यदेवसूरि के शिष्य आनन्ददेवसूरि और आनन्ददेवसूरि के शिष्य नेमिचन्द्रसूरि (प्रथम) हुए। उसमें इन्हें सिद्धान्त के रहस्यों का ज्ञाता भी कहा गया है। इन्होंने लघुवीरचरित, उत्तराध्ययनवृत्ति, आख्यानक-मणिकोष एवं रत्नचूडचरित आदि ग्रन्थों की रचना की थी। प्रशस्ति में इन नेमिचन्द्रसूरि का जिस प्रकार से गुणगान किया गया है उससे यही सिद्ध होता है प्रवचनसारोद्धार के कर्त्ता ये नेमिचन्द्रसूरि (प्रथम) नहीं हैं। क्योंकि ग्रन्थकार प्रशस्ति में स्वयं अपनी प्रशंसा इस रूप में नहीं कर सकता है। इसी प्रशस्ति में आगे आनन्ददेवसूरि के दूसरे दो शिष्यों प्रद्योतनसूरि और जिनचन्द्रसूरि का उल्लेख भी हुआ है और इन जिनचन्द्रसूरि के आम्रदेवसूरि और श्रीचन्द्रसूरि ऐसे दो शिष्य हुए। ये आम्रदेवसूरि आख्यानक-मणिकोष की वृत्ति के रचयिता हैं। प्रशस्ति के अनुसार इन्हीं आम्रदेवसूरि के शिष्यों में हरिभद्रसूरि, विजयसेनसूरि, यशोदेवसूरि और नेमिचन्द्रसूरि (द्वितीय) आदि हुए। यही नेमिचन्द्रसूरि (द्वितीय) इस प्रवचनसारोद्धार के कर्त्ता हैं।

अपने अनन्तनाथचरित की ग्रन्थ प्रशस्ति में इन नेमिचन्द्रसूरि ने अपने को मन्दमति कहा है, इससे भी यही सिद्ध होता है कि ये नेमिचन्द्रसूरि (द्वितीय) ही उस अनन्तनाथचरित एवं प्रवचनसारोद्धार नामक प्रस्तुत कृति के कर्त्ता हैं। नेमिचन्द्रसूरि ने उस प्रशस्ति में अपने जिन अन्य गुरु भ्राताओं का भी निर्देश किया है उनमें यशोदेवसूरि को लक्षण, छन्द, अलंकार, तर्क, साहित्य और सिद्धान्त का ज्ञाता कहा गया है। ज्ञातव्य है कि ये यशोदेवसूरि ही प्रस्तुत कृति के संशोधक भी थे। इस समग्र चर्चा के आधार पर प्रस्तुत कृति के कर्त्ता नेमिचन्द्रसूरि (द्वितीय) की जो गुरु परम्परा निर्धारित होती है उसे निम्न सारिणी के द्वारा स्पष्टतया समझा जा सकता है—

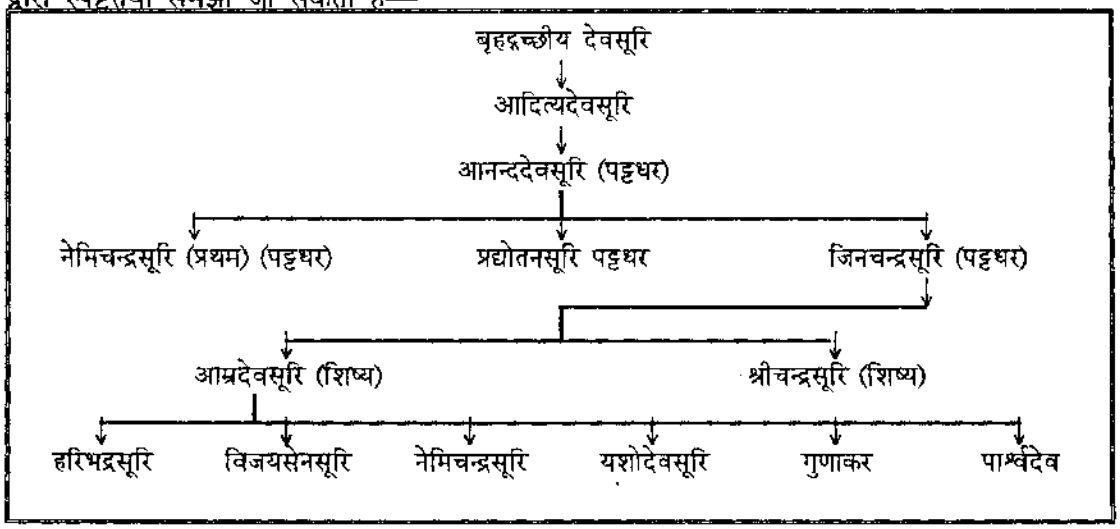

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत कृति का रचनाकाल

यद्यपि प्रवचनसारोद्धार की प्रशस्ति में उसके रचनाकाल का स्पष्ट निर्देश नहीं है, किन्तु उसके कर्ता नेमिचन्द्रसूरि (द्वितीय) का सत्ताकाल विक्रम की १२वीं शताब्दि के उत्तरार्ध से लेकर १३वीं शताब्दि के पूर्वार्ध तक सुनिश्चित है। उन्होंने अपने अनन्तनाहचरियं में उसके रचनाकाल का भी स्पष्ट निर्देश किया है। ग्रन्थ के रचनाकाल के सम्बन्ध में ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति में उन्होंने **'रसचन्दसूरसंखे वरिसे विक्कमनिवाओ वट्टंते'** ऐसा स्पष्ट उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट होता है कि इस ग्रन्थ की रचना वि.सं.१२१६ में हुई थी। इस कृति में कुमारपाल के राज्यकाल का भी स्पष्ट निर्देश है। इससे भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि उन्होंने जब वि.सं. १२१६ में अनन्तनाहचरियं की रचना की थी, तब गुजरात में कुमारपाल शासन कर रहा था। अत: उनका सत्ताकाल विक्रम की १२वीं शताब्दि के उत्तरार्ध से १३वीं शताब्दि के पूर्वार्ध तक सिद्ध होता है। ईस्वी-सन् की दृष्टि से तो उनका सत्ताकाल ईसा की १२वीं शताब्दि सुनिश्चित है।

प्रवचनसारोद्धार के टीकाकार सिद्धसेनसूरि ने इसकी टीका की रचना विक्रम संवत् १२४८ मतान्तर से विक्रम संवत् १२७८ में की थी। टीका प्रशस्ति से इस टीका के रचनाकाल का शब्दों के माध्यम से "करिसागररविसंख्ये" ऐसा निर्देश किया गया है। यहाँ यह मतभेद इसलिए है कि सागर शब्द से कुछ लोग चार और कुछ लोग सात की संख्या का ग्रहण करते हैं। सागर से चार संख्या का ग्रहण करने पर टीका का रचनाकाल वि.सं. १२४८ और सात संख्या ग्रहण करने पर टीका का रचनकाल वि.सं. १२७८ निर्धारित होता है। इनमें से चाहे कोई संवत् निश्चित हो किन्तु इतना निश्चित है कि विक्रम की तेरहवीं शती के उत्तरार्ध में यह टीका ग्रन्थ निर्मित हो चुका था। मेरी दृष्टि में यदि प्रवचनसारोद्धार बृहद्गच्छीय नेमिचन्द्रसूरि (द्वितीय) के जीवन के उत्तरार्ध की और अनन्तनाहचरियं के बाद की रचना है तो वह विक्रम संवत् १२१६ के पश्चात् लगभग वि.सं. १२२५ के आसपास कभी लिखा गया होगा। क्योंकि अनन्तनाहचरियं को समाप्त करके इसे लिखने में १०-१५ वर्ष अवश्य लगे होंगे। पुन: मूलग्रन्थ और उसकी टीका के रचनाकाल के मध्य भी कम से कम १५-२० वर्ष का अन्तर तो अवश्य ही मानना होगा। मूलग्रन्थ और उसकी टीका उसी स्थिति में समकालिक हो सकते हैं जबकि टीका या तो स्वोपज्ञ हो या अपने शिष्य या गुरुभ्राता के द्वारा लिखी गई हो।

प्रस्तुत कृति के टीकाकार सिद्धसेनसूरि नेमिचन्द्रसूरि की बृहद्गच्छीय देवसूरि की परम्परा से भिन्न चन्द्रगच्छीय अभयदेवसूरि की शिष्य परम्परा के थे। टीकाकार सिद्धसेनसूरि की गुरु परम्परा इस प्रकार है—

चन्द्रगच्छीय अभयदेवसूरि

↓

धनेश्वरसूरि (मुञ्जनृप के समकालीन)

↓

अजितसिंहसूरि

↓

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्धमानसूरि
↓
देवचन्द्रसूरि
↓
चन्द्रप्रभ (मुनिपति)
↓
भद्रेश्वरसूरि
↓
अजितसिंहसूरि
↓
देवप्रभसूरि (प्रमाणप्रकाश एवं श्रेयांसचरित्र के कर्त्ता)
↓
सिद्धसेनसूरि (प्रवचनसारोद्धार के टीकाकार)

ज्ञातव्य है उस काल में जब ग्रन्थों की हाथ से प्रतिलिपि तैयार कराकर उन्हें प्रसारित किया जाता था तब उन्हें दूसरे लोगों के पास पहुँचने में पर्याप्त समय लग जाता था। अत: प्रस्तुत कृति से सिद्धसेनसूरि को परिचित होने और पुन: उस पर टीका लिखने में पच्चीस-तीस वर्ष का अन्तराल तो अवश्य ही रहा होगा। अत: यदि टीका विक्रम की तेरहवीं शती के पूर्वार्ध के द्वितीय चरण विक्रम संवत् १२४८ में लिखी गई है तो मूलकृति कम से कम विक्रम की तेरहवीं शती के प्रथम चरण अर्थात् वि.सं. १२२५ में लिखी गई होगी। अत: प्रवचनसारोद्धार की रचना १२२५ के आसपास कभी हुई होगी।

प्रवचनसारोद्धार मौलिक रचना है या मात्र संग्रहग्रन्थ?

प्रवचनसारोद्धार आचार्य नेमिचन्द्रसूरि की मौलिक कृति है या एक संकलन ग्रन्थ है, इस प्रश्न का उत्तर देना अत्यन्त कठित है, क्योंकि प्रस्तुत ग्रन्थ में ६०० से अधिक गाथाएँ ऐसी हैं जो आगम-ग्रन्थों, निर्युक्तियों, भाष्यों, प्रकीर्णकों, प्राचीन कर्मग्रन्थों एवं जीवसमास आदि प्रकरणग्रन्थों में उपलब्ध हो जाती हैं। प्रवचनसारोद्धार की भारतीय प्राच्य तत्त्व प्रकाशन समिति, पिण्डवाड़ा से प्रकाशित प्रति में उसे विद्वान सम्पादक मुनि श्री पद्मसेनविजय जी और मुनि श्रीचन्द्रविजय जी ने इसकी लगभग ५०० गाथाएँ जिन-जिन ग्रन्थों से ली गई हैं, उनके मूलस्रोत का निर्देश किया है। इनके अतिरिक्त भी अनेक गाथायें ऐसी हैं जो आवश्यकसूत्र की हरिभद्रीयवृत्ति आदि प्राचीन टीका ग्रन्थों में उद्धृत हैं। पार्श्वनाथ विद्यापीठ के मेरे शिष्य डा. श्रीप्रकाश पाण्डेय की सूचना के अनुसार प्रवचनसारोद्धार में सात प्रकीर्णकों की भी लगभग ७२ गाथाएँ मिलती हैं। कहीं-कहीं पाठभेद को छोड़कर ये गाथायें भी प्रवचनसारोद्धार मे समान रूप से ही उपलब्ध होती हैं। इसमें आचारांगनिर्युक्ति की १, अंगुलसप्तति की ३, आवश्यकनिर्युक्ति की ७१, आवश्यक भाष्य की ७, उत्तराध्ययन की १२, उत्तराध्ययन निर्युक्ति की १३, ओघनिर्युक्ति की २२, ओघनिर्युक्तिभाष्य की १२, प्राचीन कर्मग्रन्थों की १९, चैत्यवंदन महाभाष्य की १७ जीवसमास की २८, जम्बूदीपप्रज्ञप्ति ४, दशवैकालिक निर्युक्ति की १८, धर्मसंग्रहणी की ३, निशीथभाष्य की २७, पंचकल्पभाष्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की २, पञ्चसंग्रह की ३, पञ्चाशक प्रकरण की ४४, पञ्चवस्तुक प्रकरण की ३०, पिण्डविशुद्धि की १५, पिण्डनिर्युक्ति की २ प्रज्ञापना की १४, बृहत्संग्रहणी की ७८, बृहत्कल्पभाष्य की ४४, विशेषणवती की १, भगवती की ४, व्यवहारभाष्य की ४, समवायांग की ३, स्थानांग की १५, संतिकर की ४, सप्ततिशतस्थान की १, संबोधप्रकरण की ८१, आत्मप्रबोधभंग प्रकरण की ३० एवं प्रकीर्णकों में देविंदत्थओं की ७, गच्छाचार की १, ज्योतिष्करण्डक की ३, तित्थोगाली की ३२, आराधनापताका (प्राचीन अज्ञात आचार्य रचित) की २०, आराधनापताका (वीरभद्राचार्य रचित) की ६ एवं पज्जंताराहणा (पर्यन्त-आराधना) की ४ गाथायें मिलती हैं। यह भी स्पष्ट है कि ये सभी ग्रन्थ नेमिचन्द्रसूरि के प्रवचनसारोद्धार से प्राचीन हैं। इससे यह निश्चित है कि इन गाथाओं की रचना रचनाकार ने स्वयं नहीं की है, अपितु इन्हें पूर्व आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों से यथावत् ले लिया गया है। इस प्रकार लगभग ७०० गाथाएँ अन्य ग्रन्थों से अवतरित हैं, यद्यपि इनमें लगभग १०० गाथाएँ ऐसी भी हैं, जो अनेक ग्रन्थों में समान रूप से मिलती हैं। फिर भी लगभग ६०० गाथाएँ तो अन्य ग्रन्थों से अवतरित हैं ही।

मात्र इतना ही नहीं, अभी भी अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं जिनकी गाथा सूचियों के साथ प्रवचनसारोद्धार की गाथाओं का तुलनात्मक अध्ययन नहीं हुआ है। अंगविज्जा जैसे कुछ प्राचीन ग्रन्थों में और भी समान गाथायें मलिने की संभावना है। इससे ऐसा लगता है कि प्रवचनसारोद्धार की लगभग आधी गाथायें तो अन्य ग्रन्थों से संकलित हैं। ऐसी स्थिति में नेमिचन्द्रसूरि को इसका ग्रन्थकार या कर्त्ता मानने पर अनेक विपत्तियाँ सामने आती हैं, किन्तु जब तक सम्पूर्ण ग्रन्थ की सभी गाथायें संकलित न हों तब तक अवशिष्ट गाथाओं के रचनाकार तो नेमिचन्द्रसूरि (द्वितीय) को ही मानना होगा। प्राचीन काल में ग्रन्थ रचना करते समय आगम अथवा प्राचीन आचार्यों की कृतियों से बिना नाम निर्देश के गाथायें उद्धृत कर लेने की प्रवृत्ति रही है और इस प्रकार की प्रवृत्ति श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के रचनाकारों में पाई जाती है। उदाहरण के रूप में मूलाचार में उत्तराध्ययनसूत्र, आवश्यक निर्युक्ति, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान आदि अनेक ग्रन्थों की २०० से अधिक गाथायें उद्धृत हैं। यही स्थिति भगवत-आराधना एवं आचार्य कुन्दकुन्द के नियमसार आदि ग्रन्थों की भी है।

नियमसार, षट्प्राभृत आदि की अनेक गाथायें श्वेताम्बर आगमों, प्रकीर्णकों, निर्युक्तियों एवं भाष्यों आदि में समान रूप से मिलती हैं। श्वेताम्बर मान्य आगमों में भी संग्रहणी सूत्र आदि की एवं प्रकीर्णकों में एक दूसरे की अनेक गाथायें अवतरित की गई हैं। इस प्रकार अपने ग्रन्थों में अन्य ग्रन्थों से गाथायें अवतरित करने की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है।

ऐसी स्थिति में जब दूसरे-दूसरे आचार्यों को तत् तत् ग्रन्थ का रचनाकार मान लिया जाता है तो फिर नेमिचन्द्रसूरि (द्वितीय) को प्रस्तुत कृति का कर्त्ता मान लेने पर कौनसी आपत्ति है? पुनः १६०० गाथाओं के इस ग्रन्थ में यदि ६०० गाथायें अन्य कर्तृक हैं भी तो शेष १००० गाथाओं के रचनाकार तो नेमिचन्द्रसूरि (द्वितीय) हैं ही। प्रवचनसारोद्धार की कौनसी गाथा किस ग्रन्थ में किस स्थान पर मिलती है अथवा अन्य ग्रन्थों की कौनसी गाथाएँ प्रवचनसारोद्धार के किस क्रम पर हैं इसकी सूची परिशिष्ट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१–२ में प्रस्तुत की गई है। ये सूचियाँ मुनि पद्मसेनविजयजी एवं डॉ. श्री प्रकाश पाण्डे की सूचना के आधार पर निर्मित हैं।

प्रवचनसारोद्धार की टीका और टीकाकार–

प्रवचनसारोद्धार पर आचार्य सिद्धसेनसूरि की लगभग विक्रम की १३वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लिखी गई 'तत्त्वज्ञानविकासिनी' नामक एक सरल किन्तु विशद टीका उपलब्ध होती है। नामभ्रम से बचने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि ये सिद्धसेनसूरि 'सन्मतितर्क' के रचयिता सिद्धसेन दिवाकर (चतुर्थ शती), तत्त्वार्थभाष्य की वृत्ति के लेखक सिद्धसेनगणि (सातवीं शती), न्यायावतार के टीकाकार सिद्धर्षि (नौवीं शती) से भिन्न हैं। ये चन्द्रगच्छीय आचार्य अभयदेवसूरि की परम्परा में हुए हैं। इन्होंने प्रस्तुत टीका के अन्त में अपनी गुरू-परम्परा का उल्लेख इस प्रकार किया है– अभयदेवसूरि– धनेश्वरसूरि– अजितसिंहसूरि– वर्धमानसूरि– देवचन्द्रसूरि– चन्द्रप्रभसूरि– भद्रेश्वरसूरि– अजितसिंहसूरि– देवप्रभसूरि और सिद्धसेनसूरि। टीकाकार सिद्धसेनसूरि की तीन अन्य कृतियों–(१) पद्मप्रभचरित्र, (२) समाचारी और (३) एक स्तुति का उल्लेख मिलता है।

प्रवचनसारोद्धार की तत्त्वज्ञान-विकासिनी नामक यह वृत्ति या टीका भी टीकाकार की बहुश्रुतता को अभिव्यक्त करती है। उन्होंने अपनी टीका में लगभग १०० ग्रन्थों का निर्देश किया है और उनके ५०० से अधिक सन्दर्भों का संकलन किया है। इन उद्धरणों की सूची भी पिण्डवाडा से प्रकाशित प्रवचनसारोद्धार भाग-२ के अन्त में दे दी गई है। इससे वृत्तिकार की बहुश्रुतता प्रमाणित हो जाती है। वृत्तिकार ने जहाँ आवश्यकता हुई वहाँ न केवल अपनी विवेचना प्रस्तुत की अपितु पूर्वपक्ष को प्रस्तुत कर उसका समाधान भी किया है। जहाँ कहीं भी उन्हें व्याख्या में मतभेद की सूचना प्राप्त हुई, उन्होंने स्पष्ट रूप से अन्य मत का भी निर्देश किया है। इसी प्रकार जहाँ मूल पाठ के सन्दर्भ में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति दिखाई दी, उन्होंने पाठ को अपनी दृष्टि से शुद्ध बनाने का भी प्रयत्न किया है। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ की यह टीका भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

प्रवचनसारोद्धार की विषयवस्तु–

प्रवचनसारोद्धार के प्रारम्भ में मंगल अभिधान के पश्चात् ६३ गाथाओं में प्रवचनसारोद्धार के २७६ द्वारों का उल्लेख किया गया है, इन द्वारों के नामों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत कृति में जैन धर्म व दर्शन के विविध पक्षों को समाहित करने का प्रयत्न किया गया है। यद्यपि 'प्रवचनसारोद्धार' में मूल गाथाओं की संख्या मात्र १५९९ है, फिर भी इसमें जैन धर्म व दर्शन के अनेक महत्त्वपूर्ण पक्षों को समाहित करने का प्रयास किया गया है। मूल गाथाओं की संख्या कम होते हुए भी इसका विषय वैविध्य इतना है कि इसे 'जैन-धर्म-दर्शन का लघुविश्वकोष' कहा जा सकता है। आगे हम इसके २७६ द्वारों की विषयवस्तु का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे।

'प्रवचनसारोद्धार' के प्रथम द्वार में चैत्यवंदन विधि का विवेचन किया गया है। चैत्यवंदन के सम्बन्ध में सर्वप्रथम दसत्रिकों की चर्चा की गई है। ये दस त्रिक निम्न हैं–(१) त्रि-निषेधिका, (२)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रि-प्रदक्षिणा, (३) त्रि-प्रणाम, (४) त्रिविध-पूजा, (५) त्रि-अवस्था/भावना, (६) त्रिदिशा-निरीक्षणविरति, (७) त्रिविध भूमिप्रमार्जन, (८) वर्ण-त्रिक, (९) मुद्रा-त्रिक और (१०) प्रणिधान-त्रिक।

चैत्यवन्दन के हेतु जिन-भवन में प्रवेश करते सर्वप्रथम पुष्प-माला, ताम्बूल आदि सचित्त द्रव्यों का परिहार करे, आभूषण आदि अचित्त द्रव्यों का परिहार नहीं करे और एक अधोवस्त्र और एक उत्तरीय धारण करे। ज्ञातव्य है कि कुछ आचार्यों के अनुसार यहाँ अहंकार सूचक अचितद्रव्य जैसे छत्र, चामर, मुकुट आदि के भी त्याग का निर्देश है। प्रवचनसारोद्धार की टीका इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना करती है। चक्षु के द्वारा जिन प्रतिमा दिखाई देने पर अंजलि प्रग्रह करे और एकाग्रचित्त होकर पूर्वोक्त दसत्रिकों का अनुसरण करता हुआ जिन प्रतिमा का वन्दन करे। ये दस त्रिक निम्नानुसार हैं—

१. सर्वप्रथम निषेधिका त्रिक में (i) गृही जीवन सम्बन्धी सावद्य व्यापार का प्रतिषेध (ii) जिनभवन सम्बन्धी सावद्य व्यापार का त्याग और (iii) पूजा विधान सम्बन्धी सावद्य व्यापार का त्याग। कुछ अन्य आचार्यों के अनुसार ये तीन निषेधिकाएँ इस प्रकार हैं—(१) जिन मन्दिर के मुख्य द्वार पर आकर गृहस्थ सम्बन्धी कार्यों का निषेध करे, (२) फिर जिन-मन्दिर के मध्य भाग (रंग-मण्डप) में प्रवेश करते समय सावद्य (हिंसक) वचन-व्यापार का निषेध करे और (३) गर्भगृह में प्रवेश करने पर सभी सावद्य (हिंसक) कार्यों के मानसिक चिन्तन का भी निषेध करे—यह निषेधिकात्रिक है।

२. जिन प्रतिमा की तीन प्रदक्षिणा करना प्रदक्षिणात्रिक है।

३. जिन प्रतिमा को तीन बार प्रणाम करना प्रणामत्रिक है।

४. पूजा त्रिक के अन्तर्गत तीन प्रकार की पूजा का उल्लेख किया गया है—(१) पुष्प-पूजा (२) अक्षत-पूजा और (३) स्तुति-पूजा।

५. जिन की छद्मस्थ, कैवल्य और सिद्ध—इन तीन अवस्थाओं का चिन्तन करना त्रि-अवस्था भावना है।

६. तीन दिशाओं में न देखकर मात्र जिन-बिम्ब के सम्मुख दृष्टि रखना 'त्रि-दिशानिरीक्षणविरति' है।

७. जिस भूमि पर स्थित रहकर जिन प्रतिमा को वन्दन करना है उस स्थल का गृहस्थ द्वारा वस्त्र अञ्चल से और मुनि द्वारा रजोहरण से तीन बार प्रमार्जन करना प्रमार्जनात्रिक है।

८. शब्द, अर्थ एवं आलम्बन (प्रतिमा) ये वर्ण-त्रिक है।

९. मुद्रात्रिक के अन्तर्गत तीन प्रकार की मुद्राएँ बतायी गई हैं—

(i) जिनमुद्रा, (ii) योगमुद्रा, (iii) मुक्ताशुक्ति मुद्रा।

१०. मन, वचन और काया की प्रवृत्तियों का संवरण करके परमात्मा की शरण ग्रहण करना प्रणिधान त्रिक है।

'चैत्यवन्दनद्वार' में उपरोक्त दशत्रिकों के साथ-साथ स्तुति एवं वन्दन विधि का तथा द्वादश अधिकारों का विवेचन है। अन्त में चैत्यवन्दन कब और कितनी बार करना आदि की चर्चा के साथ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चैत्यवन्दन के जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट भेदों का विवेचन करते हुए यह चैत्यवन्दन द्वार समाप्त होता है।

'चैत्यवन्दन' नामक प्रथम द्वार के पश्चात् 'प्रवचनसारोद्धार' का दूसरा द्वार गुरुवन्दन के विधि-विधान एवं दोषों से सम्बन्धित है। प्रस्तुत कृति में गुरुवन्दन के १९२ स्थान वर्णित किये गये हैं—मुखवस्त्रिका, काय (शरीर) और आवश्यक-क्रिया इन तीनों में प्रत्येक के पच्चीस-पच्चीस स्थान बताये गये हैं। इनके अतिरिक्त स्थान सम्बन्धी छः, गुण सम्बन्धी छः, वचन समबन्धी छः, अधिकारी को वन्दन न करने सम्बन्धी पाँच, अनधिकारी को वन्दन करने सम्बन्धी पाँच स्थान और प्रतिशेध सम्बन्धी पाँच स्थान बताये हैं। इसी क्रम में अवग्रह सम्बन्धी एक, अभिधान सम्बन्धी पाँच, उदाहरण सम्बन्धी पाँच, आशातना समबन्धी तेतीस, वंदनदोष सम्बन्धी बत्तीस एवं कारण सम्बन्धी आठ—ऐसे कुल १९२ स्थानों का उल्लेख है। इस चर्चा में मुखवस्त्रिका के द्वारा काय अर्थात् शरीर के किन-किन भागों का कैसे प्रमार्जन करना चाहिये इसका विस्तृत एवं रोचक विवरण है। इसी क्रम में गुरुवन्दन करते समय खमासना के पाठ का किस प्रकार से उच्चारण करना तथा उस समय कैसी क्रिया करनी चाहिए इसका भी इस द्वार में निर्देश है। वन्दन के अनधिकारी के रूप में (१) पार्श्वस्थ, (२) अवसन्न, (३) कुशील, (४) संसक्त और (५) यथाच्छंद—ऐसे पाँच प्रकार के श्रमणों का न केवल उल्लेख किया गया है, अपितु उनके स्वरूप का भी विस्तृत विवरण दिया गया है। इसी क्रम में शीतलक, क्षुल्लक, श्रीकृष्ण शैल, और पालक के दृष्टान्त भी दिये गये हैं। अन्त में तैंतीस आशातनाओं और वन्दन सम्बन्धी बत्तीस दोषों एवं वंदना के आठ कारणों का विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है। इस प्रकार प्रथम एवं द्वितीय द्वार लगभग १०० गाथाओं में सम्पूर्ण होते हैं।

'प्रवचनसारोद्धार' के तीसरे द्वार में दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक अतिक्रमण की विधि तथा इनके अन्तर्गत किये जाने वाले कायोत्सर्ग एवं क्षामणकों (खमासना) की विधि का विवेचन किया गया है। इसमें यह भी बताया गया है कि दैवसिक-प्रतिक्रमण में चार, रात्रिक प्रतिक्रमण में दो, पाक्षिक में बारह, चातुर्मासिक में बीस और सांवत्सरिक में चालीस लोगस्स का ध्यान करना चाहिए। पुनः इसी प्रसंग में इनकी श्लोक संख्या एवं श्वासोच्छ्वास की संख्या का भी वर्णन किया गया है। इस दृष्टि से दैवसिक प्रतिक्रमण में १००, रात्रिक में ५०, पाक्षिक में ३००, चातुर्मासिक में ५०० और वार्षिक में १००० श्वासोच्छ्वास का ध्यान करना चाहिए। इसी क्रम में आगे क्षामणकों की संख्या का भी विचार किया गया है।

चतुर्थ 'प्रत्याख्यान' द्वार में सर्वप्रथम निम्न दस प्रत्याख्यानों की चर्चा है—(१) भविष्य सम्बन्धी, (२) अतीत सम्बन्धी, (३) कोटि सहित, (४) नियंत्रित, (५) साकार, (६) अनाकार, (७) परिमाण व्रत, (८) निरवशेष, (९) सांकेतिक और (१०) काल सम्बन्धी प्रत्याख्यान। सांकेतिक प्रत्याख्यान में दृष्टि, मुष्टि, ग्रंथी आदि जिन आधारों पर सांकेतिक प्रत्याख्यान किये जाते हैं—उनकी चर्चा है। इसी क्रम में आगे समय सम्बन्धी दस प्रत्याख्यानों की चर्चा की गई है। इसमें नवकारसी, अर्द्ध-पौरुषी, पौरुषी आदि के प्रत्याख्यानों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की चर्चा है। इसी क्रम में दस विकृतियों (विगयों) की, बत्तीस अनन्तकायों की और बावीस अभक्ष्यों की भी चर्चा की गई है। साथ ही इसमें शुद्ध प्रत्याख्यान के कारण एवं स्वरूप का विवेचन भी है।

पाँचवाँ कायोत्सर्ग द्वार है। इसके अन्तर्गत मुख्य रूप से कायोत्सर्ग के १९ दोषों की चर्चा की गई है। इसी क्रम में इन दोषों के स्वरूप का भी किञ्चित् दिग्दर्शन कराया गया है।

'प्रवचनसारोद्धार' का छठा द्वार श्रावक प्रतिक्रमण के अतिचारों का वर्णन करता है इसके अन्तर्गत संलेखना के पाँच, कर्मादान के पन्द्रह, ज्ञानाचार के आठ, दर्शनाचार के आठ, चारित्राचार के आठ, तप के बारह, वीर्य के तीन, सम्यक्त्व के पाँच, अहिंसा आदि पाँच अणुव्रत, दिक्व्रतों आदि तीन गुणव्रतों, एवं सामायिक आदि चार शिक्षाव्रतों—ऐसे श्रावक के बारह व्रतों के साठ अतिचारों का उल्लेख है। यह समस्त विवरण श्रावक प्रतिक्रमण के सूत्र के अनुरूप ही है।

'प्रवचनसारोद्धार' के ७वें द्वारे में भरत एवं ऐरवत क्षेत्र में हुए तीर्थंकरों (जिन) के नामों की सूचि प्रस्तुत की गई है। इसके अंतर्गत जहाँ भरतक्षेत्र के अतीत, वर्तमान और अनागत तीनों चौविसियों के जिनों के नाम दिये गये हैं, वहीं ऐरवत क्षेत्र के वर्तमान काल के जिनों के ही नाम दिये गये हैं।

हम देखते हैं कि 'प्रवचनसारोद्धार' के प्रथम सात द्वारों तक तो अपने भेद प्रभेदों के साथ विषयों का विस्तार से विवेचन हुआ है किन्तु ८वें द्वार से विवेचन संक्षिप्त रूप में ही किया गया है।

इसी क्रम में 'अष्टमद्वार' में चौबीस तीर्थंकरों के प्रथम गणधरों के नामों का उल्लेख हुआ है।

९वें द्वार के अंतर्गत प्रत्येक तीर्थंकर की प्रवर्त्तिनियों अर्थात् साध्वी प्रमुखाओं के नामों का उल्लेख किया गया है।

१०वें द्वार के अन्तर्गत तीर्थंकर नाम-कर्म के उपार्जन हेतु जिन बीस स्थानकों की साधना की जाती है, उनकी चर्चा है। यह विवेचन ज्ञाताधर्मकथा के मल्ली अध्ययन में मिलता है।

११वें द्वार में तीर्थंकरों की माताओं और पिताओं का उल्लेख है।

१२वें द्वार में तीर्थंकरों की माता-पिता अपने देह का त्याग कर किस गति में उत्पन्न हुए इसकी चर्चा है।

१३वें द्वार में किसी काल विशेष में जिनों की जघन्य और उत्कृष्ट संख्या का विचार किया गया है।

१४वें द्वार के अन्तर्गत यह बताया गया है कि किस जिन के जन्म के समय लोक में अधिकतम और न्यूनतम जिनों की संख्या कितनी थी।

१५वें द्वार में जिनों के गणधरों की समग्र संख्या का विवेचन किया गया है। इसी क्रम में आगे १६वें द्वार में मुनियों की संख्या का, १७वें द्वार में साध्वियों की संख्या का, १८वें द्वार में जिनों के वैक्रय-लब्धिधारक मुनियों की संख्या का, १९वें द्वार में वादियों की संख्या का, २०वें द्वार में अवधिज्ञानियों की संख्या का, २१वें द्वार में केवलज्ञानियों की संख्या का, २२वें द्वार में मनःपर्यवज्ञानियों की संख्या का, २३वें द्वार में चतुर्दश पूर्वों के धारकों की संख्या का, २४वें द्वार में जिनों के श्रावकों की संख्या का और २५वें द्वार में श्राविकाओं की संख्या का निर्देश हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी क्रम में २६वाँ द्वार तीर्थंकरों के शासन-सहायक यक्षों के नाम का उल्लेख करता है तो २७वाँ द्वार यक्षिणियों के नामों को सूचित करता है।

प्रवचनसारोद्धार का २८वाँ द्वार तीर्थंकरों के शरीर के परिमाण (लम्बाई) का निर्देश करता है तो २९वाँ द्वार प्रत्येक तीर्थंकरों के विशिष्ट लांछन की चर्चा करता है।

३०वें द्वार में तीर्थंकरों के वर्ण अर्थात् शरीर के रंग की चर्चा की गई है।

३१वाँ द्वार किस तीर्थंकर के साथ कितने व्यक्तियों ने मुनिधर्म स्वीकार किया उनकी संख्या का निर्देश करता है।

३२वाँ द्वार तीर्थंकरों की आयु का निर्देश करता है।

३३वें द्वार में प्रत्येक तीर्थंकर ने कितने-कितने मुनियों के साथ निर्वाण प्राप्त किया, इसका उल्लेख है, तो ३४वें द्वार में किस तीर्थंकर ने किस स्थान पर निर्वाण प्राप्त किया, इसका उल्लेख है।

३५वाँ द्वार तीर्थंकरों एवं अन्य शलाका पुरुषों के मध्य कितने-कितने काल का अन्तराल रहा है, इसका विवेचन प्रस्तुत करता है।जबकि ३६वें द्वार में इस बात की चर्चा है कि किस तीर्थंकर का तीर्थ या शासन कितने काल तक चला और बीच में कितने काल का अन्तराल रहा। इस प्रकार हम देखते हैं कि ७वें द्वार से लेकर ३६वें द्वार तक २९ द्वारों में मुख्यतः तीर्थंकरों से सम्बन्धित विभिन्न तथ्यों का निर्देश किया गया है।

३७वें द्वार से लेकर ९७वें द्वार तक इकसठ द्वारों में पुनः जैन सिद्धान्त और आचार सम्बन्धी विवेचन प्रस्तुत किये गये हैं, यद्यपि बीच में कहीं कहीं तीर्थंकरों के तप आदि का भी निर्देश है। ३७वें द्वार में दस आशातनाओं का उल्लेख है, तो ३८वें द्वार में चौरासी आशातनाओं का उल्लेख है। इसी चर्चा के प्रसंग में इस द्वार में मुनि (यति) चैत्य में कितने समय तक रह सकता है, इसकी चर्चा भी हुई है।

३९वें द्वार में तीर्थंकरों के आठ महाप्रतिहार्यों और ४०वें द्वार तीर्थंकरों के चौतीस अतिशयों (विशिष्टताओं) की चर्चा है।

४१वाँ द्वार उन अठारह दोषों का उल्लेख करता है, जिनसे तीर्थंकर मुक्त रहते हैं दूसरे शब्दों में जिनको उन्होंने नष्ट कर दिया है।

४२वाँ द्वार जिन-शब्द के चार निक्षेपों की चर्चा करता है और यह बताता है कि ऋषभ, शान्ति, महावीर आदि जिनों के नाम नामजिन है जबकि कैवल्य और मुक्ति को प्राप्त जिन भावजिन अर्थात् यथार्थजिन है। जिन-प्रतिमा को स्थापनाजिन कहा जाता है और जो भविष्य में जिन होने वाले हैं वे द्रव्यजिन कहलाते हैं।

४३वाँ द्वार किस तीर्थंकर ने दीक्षा के समय कितने दिन का तप किया था, इसका विवेचन करता है इसी क्रम में ४४वें द्वार में किस तीर्थंकर को केवल-ज्ञान उत्पन्न होने के समय कितने दिन का तप था इसका उल्लेख है। आगे ४५वें द्वार में तीर्थंकरों के द्वारा अपने निर्वाण के समय किये गये तप का उल्लेख है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत कृति का ४६वाँ द्वार उन जीवों का उल्लेख करता है जो भविष्य में तीर्थंकर होने वाले हैं।

४७वें द्वार में इस बात की चर्चा की गई है कि ऊर्ध्वलोक, तिर्यक्लोक, जल, स्थल आदि स्थानों से एक साथ कितने व्यक्ति मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं।

४८वाँ द्वार हमें यह सूचना देता है कि एक समय में एक साथ कितने पुरुष, कितनी स्त्रियाँ अथवा कितने नपुंसक सिद्ध हो सकते हैं।

४९वें द्वार में सिद्धों के भेदों की चर्चा है। ज्ञातव्य है कि वैसे तो सिद्धों में कोई भेद नहीं होता किन्तु जिस पर्याय (अवस्था) से सिद्ध हुए हैं, उसके आधार पर सिद्धों के पन्द्रह भेदों की चर्चा की गई है।

५०वें द्वार में सिद्धों की अवगाहना अर्थात् उनके आत्म-प्रदेशों के विस्तार-क्षेत्र की चर्चा की गई है। इसी क्रम में यह बताया गया है कि उत्कृष्ट अवगाहना वाले दो, जघन्य अवगाहना वाले चार तथा मध्यम अवगाहना वाले एक सौ आठ व्यक्ति एक साथ सिद्ध हो सकते हैं। अवगाहना के सन्दर्भ में चर्चा करते हुए प्रस्तुत कृति के टीकाकार ने यह भी बताया है कि उत्कृष्ट अवगाहना पाँच सौ धनुष और जघन्य अवगाहना दो हाथ परिमाण होती है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सिद्धों की उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य अवगाहना के सन्दर्भ में विशेष चर्चा प्रस्तुत कृति के छप्पनवें, सत्तावनवें एवं अट्ठावनवें द्वार में की गई है।

५१वें द्वार में स्वलिंग, अन्यलिंग और गृहस्थलिंग की अपेक्षा से एक समय में कितने सिद्ध हो सकते हैं, इसका विवेचन किया गया है। गृहस्थ लिंग से चार, अन्यलिंग से दस और स्वलिंग से एक सौ आठ व्यक्ति एक समय में सिद्ध हो सकते हैं। आगे ५२वें द्वार में यह बताया गया है कि निरन्तर अर्थात् बिना अन्तराल कितने समय तक जीव सिद्ध हो सकते हैं और उनकी संख्या कितनी होती है।

५३वें द्वार में स्त्री, पुरुष और नपुंसक की अपेक्षा से एक समय में कितने व्यक्ति सिद्ध हो सकते हैं, इसकी चर्चा है। इस सन्दर्भ में यह बताया गया है कि एक समय में बीस स्त्रियाँ, एक सौ आठ पुरुष और दस नपुंसक शरीर पर्याय से सिद्ध हो सकते हैं। पुनः इसी द्वार में यह भी बताया गया है कि नरक, भवनपति, व्यंतर और तिर्यक् लोक के स्त्री-पुरुष तथा अकल्पवासी अर्थात् गैवेयक एवं अनुत्तरविमानवासी देव पुनः मनुष्य भव ग्रहण करके मुक्ति प्राप्त करते हैं तो वे एक समय में अधिकतम दस-दस व्यक्ति ही सिद्ध हो सकते हैं। कल्पवासी देवों से मनुष्य जन्म ग्रहण कर मुक्त होने वाले जीवों की अधिकतम संख्या एक सौ आठ हो सकती है। पृथ्वीकाय, अप्कायिक और पंकप्रभा आदि नरक से मनुष्य भव ग्रहण करके मुक्ति प्राप्त करने वाले एक समय में चार-चार व्यक्ति हो सकते हैं।

५४वें द्वार में सिद्धों के आत्म-प्रदेशों के संस्थान (विस्तार क्षेत्र) की चर्चा की गई है। इस चर्चा में उत्तानक अर्धअवनत, पार्श्वस्थित, स्थित, उपविष्ट आदि संस्थानों की चर्चा भी की गई है। इसके पश्चात् ५५वें द्वार में सिद्धों की अवस्थिति की चर्चा है। वस्तुतः इस प्रसंग में सिद्ध शिला के ऊपर और अलोक से नीचे कितने मध्य भाग में सिद्ध अवस्थित रहे हुए हैं यह बताया गया है। पुनः जैसा कि हमने पूर्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में सूचित किया है ५६-५७ और ५८वें द्वार में सिद्धों की उत्कृष्ट-मध्यम और जघन्य अवगाहना की चर्चा की गई है। ५९वें द्वार में लोक की शाश्वत जिन प्रतिमाओं का उल्लेख है।

६०वें द्वार में जिन कल्प का पालन करने वाले मुनियों के और ६१वें द्वार में स्थविर कल्प का पालन करने वाले मुनियों के उपकरणों का उल्लेख है। इसी प्रसंग में स्वयंबुद्ध और प्रत्येकबुद्ध के स्वरूप की चर्चा भी की गई है।

६२वें द्वार में साध्वियों के उपकरणों की चर्चा है जबकि, ६३वाँ द्वार जिन कल्पिकों की संख्या के सम्बन्ध में विवेचन करता है। ६४वें द्वार में आचार्य के ३६ गुणों का निर्देश किया गया है इसी प्रसंग में आचार्य की ८ सम्पदाओं की भी विस्तार से चर्चा की गई है। ज्ञातव्य है कि यहाँ आचार्य के इन छत्तीस गुणों की चर्चा अनेक अपेक्षाओं से उपलबध होती है।

६५वें द्वार में जहाँ विनय के बावन भेदों की चर्चा है, वहीं ६६वें द्वार में चरणसत्तरी और ६७वें द्वार में करणसत्तरी का विवेचन है। पंच महाव्रत, दस श्रमण धर्म, सतरह प्रकार का संयम, दस प्रकार की वैयावृत्य, नौ ब्रह्मचर्य गुप्तियाँ, तीन रत्नत्रय, बारह तप और क्रोध आदि चार कषायों का निग्रह ये चरणसत्तरी के सत्तर भेद हैं। साथ ही प्रस्तुत कृति में यह भी बताया गया है कि अन्य-अन्य आचार्यों की कृतियों में चरणसत्तरी के इन सत्तर भेदों का वर्गीकरण किस-किस प्रकार से किया गया है। करणसत्तरी के अन्तर्गत सोलह उद्गम दोषों, सोलह उत्पादन दोषों, दस एषणा दोषों, पाँच ग्रासैषणा दोषों, पाँच समितियों, बारह भावनाओं, पाँच इन्द्रियों का निरोध, तीन गुप्ति आदि की चर्चा की गई है।

६८वें द्वार में जंघाचरण और विद्याचारण लब्धि अर्थात् आकाश गमन सम्बन्धी विशिष्ट शक्तियों की चर्चा की गई है।

६९वें द्वार में परिहारविशुद्धितप के स्वरूप का और ७०वें द्वार में यथालन्दिक के स्वरूप का विवेचन किया गया है।

७१वें द्वार में अड़तालीस निर्यामकों और उनके कार्य विभाजन की चर्चा है। निर्यामक समाधिमरण ग्रहण किये हुए मुनि की परिचर्या करने वाले मुनियों को कहा जाता है।

७२वें द्वार में पंच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं की विवेचना की गई है। इसी क्रम में ७३वाँ द्वार आसुरी आदि पच्चीस अशुभ भावनाओं का विवेचन करता है।

७४वें द्वार में विभिन्न तीर्थंकरों के काल में महाव्रतों की संख्या कितनी होती है इसका निर्देश किया गया है।

७५वें द्वार में चौदह कृतिकर्मों की चर्चा है। कृतिकर्म का तात्पर्य आचार्य आदि ज्येष्ठ मुनियों के वंदन से है।

७६वें द्वार में भरत, ऐरवत आदि क्षेत्रों में कितने चारित्र होते हैं, उसकी चर्चा करता है। प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के समय में भरत और ऐरवत क्षेत्र में सामायिक आदि पाँच चारित्र पाये जाते हैं किन्तु शेष बावीस तीर्थंकरों के समय में इन क्षेत्रों में सामायिक, सूक्ष्म सम्पराय और यथाख्यात ये तीन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चारित्र उपलब्ध होते हैं। महाविदेह क्षेत्र में भी पूर्वोक्त तीन चारित्र ही होते हैं। इन क्षेत्रों में छेदोपस्थापनीय और परिहारविशुद्धि चारित्र का कदाचित् अभाव होता है।

७७वें और ७८वें द्वार में यह बताया गया है कि दस स्थितिकल्पों में मध्यवर्ती-बावीस तीर्थंकरों के समय में चार स्थित, छः वैकल्पिक कल्प होते हैं जबकि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय में दस ही स्थित कल्प होते हैं।

७९वें द्वार में निम्न पाँच प्रकार के चैत्यों का उल्लेख हुआ है—(१) भक्ति चैत्य, (२) मंगल चैत्य, (३) निश्राकृत चैत्य, (४) अनिश्राकृत चैत्य और (५) शाश्वत चैत्य।

८०वें द्वार में निम्न पाँच प्रकार की पुस्तकों का उल्लेख हुआ है—(१) गण्डिका, (२) कच्छपी, (३) मुष्टि, (४) संपुष्ट फलक, और (५) छेदपाटी। इसी क्रम में ८१वें द्वार में पाँच प्रकार के दण्डों का, ८२वें द्वार में पाँच प्रकार के तृणों का, ८३वें द्वार में पाँच प्रकार के चमड़े का और ८४वें द्वार में पाँच प्रकार के वस्त्रों का विवेचन किया गया है।

८५वें द्वार में पाँच प्रकार के अवग्रहों (ठहरने के स्थानों) का और ८६वें द्वार में बावीस परिषहों का विवेचन किया गया है।

८७वें द्वार में सात प्रकार की मण्डलियों का उल्लेख है। ८८वें द्वार मे जम्बूस्वामी के समय में जिन दस बातों का विच्छेद हुआ, उनका उल्लेख है।

८९वें द्वार में क्षपकश्रेणी का और ९०वें द्वार में उपशमश्रेणी का विवेचन है।

९१वें द्वार में स्थण्डिल भूमि (मल-मूत्र विसर्जन करने का स्थान) कैसी होनी चाहिए—इसका विवेचन उपलब्ध होता है।

९२वें द्वार में चौदह पूर्वों और उनके विषय तथा पदों की संख्या आदि का निर्देश किया गया है।

९३वें द्वार मे निर्ग्रन्थों के पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक—ऐसे पाँच प्रकारों की चर्चा है।

९४वें द्वार में निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरूक, और आजीवक ऐसे पाँच प्रकार के श्रमणों की चर्चा है।

९५वें द्वार में संयोजन, प्रमाण, अंगार, धूम और कारण ऐसे ग्रासैषणा के पाँच दोषों का विवेचन किया गया है। मुनि को भोजन करते समय स्वाद के लिये भोज्य पदार्थों का सम्मिश्रण करना, परिमाण से अधिक आहार करना, भोज्य पदार्थों में राग रखना, प्रतिकूल भोज्य पदार्थों की निन्दा करना और अकारण आहार करना निषिद्ध है।

९६वें द्वार में पिण्ड-पाणैषणा के सात प्रकारों का उल्लेख हुआ है।

९७वें द्वार में भिक्षाचर्या अष्टक अर्थात् भिक्षाचर्या के आठ प्रकारों का विवेचन किया गया है।

९८वें द्वार में दस प्रायश्चितों का विवेचन किया गया है। दस प्रायश्चित निम्न हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) आलोचना, (२) प्रतिक्रमण, (३) आलोचना सहित प्रतिक्रमण, (४) विवेक, (५) व्युत्सर्ग, (६) तप, (७) छेद, (८) मूल, (९) अनवस्थित (उपस्थापन) और (१०) पाराञ्चिक।

९९वें द्वार में ओघ सामाचारी अर्थात् सामान्य सामाचारी का विवेचन है, यह विवेचन ओघनिर्युक्ति में प्रतिपादित समाचारी पर आधारित है।

१००वें द्वार में पदविभाग सामाचारी का उल्लेख है। ज्ञातव्य है कि छेदसूत्रों में वर्णित सामाचारी पदविभागसमाचारी कहलाती है।

१०१वें द्वार में चक्रवाल सामाचारी का विवेचन किया गया है। चक्रवाल सामाचारी इच्छाकार, मिथ्याकार आदि दस प्रकार की है। यह सामाचारी उत्तराध्ययन और भगवती सूत्र में भी वर्णित है। प्रस्तुत कृति में इस सामाचारी का विस्तृत विवेचन है।

१०२वें द्वार में उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी का विवेचन किया गया है।

१०३वें द्वार में गीतार्थ विहार और गीतार्थ आश्रित विहार का निर्देश है। इसी सन्दर्भ में यात्रा करते समय किस प्रकार की सावधानी रखना चाहिये इसका भी विवेचन किया गया है। ज्ञातव्य है कि आगम के साथ-साथ देश-काल और परिस्थिति का आकलन करने में समर्थ साधक गीतार्थ कहलाता है।

१०४वें द्वार में अप्रतिबद्ध विहार का निर्देश है। इसमें यह बताया गया है कि मुनि चातुर्मास काल में चार मास तक, अन्य काल में एक मास तक एक स्थान पर रह सकता है, उसके पश्चात् सामान्य परिस्थिति में विहार करना चाहिए।

१०५वें द्वार में जातकल्प और अजातकल्प का निर्देश है। श्रुतसम्पन्न गीतार्थ मुनि के साथ यात्रा करना जातकल्प है और इससे भिन्न अजातकल्प है। इसी क्रम में ऋतुबद्ध विहार को सम्मत विहार कहा गया है और इससे भिन्न विहार को असम्मत विहार कहा गया है।

१०६वें द्वार में मलमूत्र आदि के प्रतिस्थापन अर्थात् विसर्जन की विधि का विवेचन है। इसी प्रसंग में विभिन्न दिशाओं का भी विचार किया गया है।

१०७वें द्वार में दीक्षा के अयोग्य अट्ठारह प्रकार के पुरुषों का उल्लेख किया गया है।इसी क्रम में १०८वें द्वार में दीक्षा के अयोग्य बीस प्रकार की स्त्रियों का भी उल्लेख किया गया है।

१०९वें द्वार में नपुंसकों को और ११०वें द्वार में विकलांगों को दीक्षा के अयोग्य बताया गया है। नपुंसकों की चर्चा करते हुए टीका में उनके सोलह प्रकारों का उल्लेख हुआ है और सोलह प्रकारों में से दस प्रकार को दीक्षा के अयोग्य और छः प्रकार को दीक्षा के योग्य माना गया है।

१११वें द्वार में साधु को कितने मूल्य का वस्त्र कल्प्य (ग्राह्य) है उसका विवेचन किया गया है। इसी प्रसंग में विभिन्न प्रदेशों और नगरों में मुद्रा विनिमय का पारस्परिक अनुपात क्या था, इसकी भी चर्चा हुई है।

यहाँ यह भी बताया गया है कि एक लाख साधारक के मूल्य वाला वस्त्र उत्कृष्ट होता है और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अट्ठारह साभारक या उससे भी कम मूल्य वाला वस्त्र जघन्य होता है। इन दोनों के मध्य का वस्त्र मध्यम कोटि का माना जाता है। मुनि के लिये अल्प मूल्य का वस्त्र ही ग्रहण करने योग्य है।

११२वें द्वार में शय्यातर पिण्ड अर्थात् जिसने निवास के लिये स्थान दिया हो उसके यहाँ से भोजन ग्रहण करना निषिद्ध माना गया है। इसी क्रम में अट्ठारह प्रकार के शय्यातरों का उल्लेख भी हुआ है।

११३वें द्वार में श्रुतज्ञान और सम्यक्त्व के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा हुई है।

११४वें द्वार में पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थों का पाँच प्रकार के ज्ञानों से और चार प्रकार की गतियों से सम्बन्ध बताया गया है।

११५वें द्वार में जिस क्षेत्र में सूर्य उदित हो गया है उस क्षेत्र से गृहीत अशन आदि ही कल्प्य होता है शेष कालातिक्रान्त कहलाता है, जो अकल्प्य (अग्राह्य) है।

११६वें द्वार में यह बताया गया है कि दो कोस से अधिक दूरी से लाया गया भोजन-पान क्षेत्रातीत कहलाता है और यह मुनि के लिये अकल्प्य है।

११७वें द्वार में यह बताया गया है कि प्रथम प्रहर में लिया गया भोजन-पान आदि तीसरे प्रहर तक भोज्य होते हैं उसके बाद वे कालातीत होकर अकल्प्य हो जाते हैं।

११८वें द्वार में पुरुष के लिये बत्तीस कवल भोजन ही ग्राह्य माना गया है बत्तीस कवल से अधिक भोजन प्रमाणातिक्रान्त होने से अकल्प्य माना गया है।

११९वें द्वार में चार प्रकार के निवास-स्थानों को दुख शय्या बताया गया है। इसी प्रसंग में यह भी स्पष्ट किया गया है कि जिन स्थानों पर अश्रद्धालु जन रहते हों, जहाँ पर दूसरों से कुछ प्राप्ति के लिये प्रार्थनायें की जाती हो, जहाँ मनोज्ञ शब्द, रूप अथवा भोजन आदि मिलते हों और जहाँ गात्राभ्यंगन अर्थात् मर्दन आदि होता हो, वे स्थान मुनि के निवास के अयोग्य हैं। १२०वें द्वार में इसके विपरीत चार प्रकार की सुख शय्या अर्थात् मुनि के निवास के योग्य माने गये हैं।

१२१वें द्वार में तेरह क्रियास्थानों की, १२२वें द्वार में श्रुतसामायिक, दर्शनसामायिक, देशसामायिक और सर्वसामायिक—ऐसी चार प्रकार सामायिक की, और १२३वें द्वार में अट्ठारह हजार शीलांगों की चर्चा है। पुनः १२४वें द्वार में सात नयों की चर्चा की गई है। जबकि १२५वें द्वार में मुनि के लिये वस्त्र-ग्रहण की विधि बतायी गयी है।

१२६वें द्वार में आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत—ऐसे पाँच व्यवहारों की चर्चा है।

१२७वें द्वार में निम्न पाँच प्रकार के यथाजात का उल्लेख है। (१) चोलपट्ट, (२) रजोहरण, (३) और्णिक, (४) क्षौमिक और (५) मुखवस्त्रिका। इन उपकरणों से ही श्रमण का जन्म होता है। अतः इन्हें यथाजात कहा गया है।

१२८वें द्वार में मुनियों के रात्रि-जागरण की विधि का विवेचन है। उसमें बताया गया है कि प्रथम प्रहर में आचार्य, गीतार्थ और सभी साधु मिलकर स्वाध्याय करें। दूसरे प्रहर में सभी मुनि और आचार्य सो जायें और गीतार्थ मुनि स्वाध्याय करें। तीसरे प्रहर में आचार्य जागृत होकर स्वाध्याय करें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और गीतार्थ मुनि सो जायें। चौथे प्रहर में सभी साधु उठकर स्वाध्याय करें। आचार्य और गीतार्थ सोये रहें क्योंकि उन्हें बाद में प्रवचन आदि कार्य करने होते हैं।

१२९वें द्वार मे जिस व्यक्ति के सामने आलोचना की जा सकती है उसको खोजने की विधि बताई गई है।

१३०वें द्वार में प्रति-जागरण के काल के सम्बन्ध मे विवेचन किया गया है।

१३१वें द्वार में मुनि की उपधि अर्थात् संयमोपकरण के धोने के काल का विवेचन है इसमें यह बताया गया है कि किस उपधि को कितने काल के पश्चात् धोना चाहिये।

१३२वें द्वार में साधु-साध्वियों के आहार की मात्रा कितनी होना चाहिये, इसका विवेचन किया गया है। सामान्यतः यह बताया गया है कि मुनि को बड़े आंवले के आकार के बत्तीस कौर और साध्वी को अट्ठावीस कौर आहार ग्रहण करना चाहिये।

१३३वें द्वार में वसति अर्थात् मुनि के निवास-स्थान की शुद्धि आदि का विवेचन किया गया है। मुनि के लिये किस प्रकार का आवास ग्राह्य होता है, इसकी विवेचना इस द्वार में की गई है।

१३४वें द्वार में संलेखना सम्बन्धी विधि-विधान का विस्तृत विवेचन किया गया है।

१३५वें द्वार में यह बताया गया है कि नगर की कल्पना पूर्वाभिमुख वृषभ के रूप में करे। उसके पश्चात् उसे उस वृषभ रूप कल्पित नगर में किस स्थान पर निवास करना है, इसका निश्चय करे। इसमें यह बताया गया है—किस अंग/क्षेत्र में निवास करने का क्या फल होता है, इसकी भी चर्चा है।

१३६वें द्वार में किस ऋतु में किस प्रकार का जल कितने काल तक प्रासुक रहता है और बाद में सचित्त हो जाता है, इसका विवेचन किया गया है। सामान्यतया यह माना जाता है कि उष्ण किया हुआ प्रासुक जल ग्रीष्म ऋतु में पाँच प्रहर तक, शीत ऋतु में चार प्रहर तक और वर्षा ऋतु में तीन प्रहर तक प्रासुक (अचित्त) रहता है और बाद में सचित्त हो जाता है। यद्यपि चूना डालकर अधिक समय तक उसे प्रासुक रखा जा सकता है।

१३७वें द्वार में पशु-पक्षी आदि तिर्यञ्च-जीवों की मादाओं के सम्बन्ध में विवेचन किया गया है।

१३८वें द्वार में इस अवसर्पिणी काल में घटित हुए दस प्रकार के आश्चर्यों जैसे महावीर के गर्भ का संहरण, स्त्री-तीर्थंकर आदि का वर्णन किया गया है।

१३९वें द्वार में सत्य, मृषा, सत्य-मृषा (मिश्र) और असत्य-अमृषा ऐसी चार प्रकार की भाषाओं का उनके अवान्तर भेदों और उदाहरणों सहित विवेचन किया गया है।

१४०वाँ द्वार वचन षोडसक अर्थात् सोलह प्रकार के वचनों का उल्लेख करता है।

१४१वें द्वार में मास पंचक और १४२वें द्वार में वर्ष पंचक का विवेचन है।

१४३वें द्वार में लोक के स्वरूप (आकार-प्रकार) का विवेचन है।इसी क्रम में यहाँ लोक पुरुष की भी चर्चा की गई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४४ से लेकर १४७ तक चार द्वारों में क्रमशः तीन, चार, दस और पन्द्रह प्रकार की संज्ञाओं का विवेचन किया गया है।

१४८वें द्वार में सम्यक्त्व के सड़सठ भेदों का विवेचन है, जबकि १४९वें द्वार में सम्यक्त्व के एक-दो आदि विभिन्न भेदों की विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है।

१५०वें द्वार में पृथ्वीकाय आदि षट् जीवनिकाय के कुलों की संख्या का विवेचन है। प्राणियों की प्रजाति को योनि और उनकी उप-प्रजातियों को कुल कहते हैं। इन कुलों की संख्या एक करोड़ सत्तानवें लाख पचास हजार मानी गई है।

१५१वें द्वार में चौरासी लाख जीव योनियों का विवेचन किया गया है। इस द्वार में पृथ्वीकाय की सात लाख, अप्काय की सात लाख, अग्नि काय की सात लाख, वायुकाय की सात लाख, प्रत्येक वनस्पतिकाय की दस लाख, साधारण वनस्पतिकाय की चौदह लाख, द्वीन्द्रिय की दो लाख, त्रीन्द्रिय की दो लाख, चउरिन्द्रीय की दो लाख, नारक चार लाख, देवता चार लाख, तिर्यंच चार लाख, मनुष्यों की चौदह लाख प्रजाति (योनि) मानी गयी है।

१५२वें द्वार में गृहस्थ उपासक की ग्यारह प्रतिमाओं का विवेचन है। ये ग्यारह प्रतिमायें निम्न हैं—(१) दर्शनप्रतिमा, (२) व्रतप्रतिमा, (३) सामायिकप्रतिमा, (४) पौषधोपवासप्रतिमा, (५) नियमप्रतिमा, (६) सचित्तत्यागप्रतिमा, (७) ब्रह्मचर्यप्रतिमा, (८) आरम्भत्यागप्रतिमा, (९) प्रेष्यत्यागप्रतिमा, (१०) औद्देशिक-आहारत्यागप्रतिमा, (११) श्रमणभूतप्रतिमा।

१५४वें द्वार में विभिन्न प्रकार के धान्यों के बीज कितने काल तक सचित्त रहते हैं और कब निर्जीव हो जाते हैं, इसका विवेचन किया गया है।

१५५वें द्वार में कौनसी वस्तुयें क्षेत्रातीत होने पर अचित्त हो जाती हैं इसका विवेचन किया गया है। इसी क्रम में १५६वें द्वार में गेहूं, चावल, मूंग-तिल आदि चौबीस प्रकार के धान्यों का विवेचन किया गया है।

१५७वें द्वार में समवायांगसूत्र के समान सतरह प्रकार के मरण (मृत्यु) का विवेचन है।

१५८वें और १५९वें द्वारों में क्रमशः पल्योपम और सागरोपम के स्वरूप का विवेचन उपलब्ध होता है। इसी क्रम में १६०वें और १६१वें द्वारों में क्रमशः अवसर्पिणी काल और उत्सर्पिणीकाल के स्वरूप का विवेचन किया गया है। उसके पश्चात् १६२वें द्वार में पुद्गलपरावर्तकाल के स्वरूप का विवेचन हुआ है।

१६३वें और १६४वें द्वारों में क्रमशः पन्द्रह कर्मभूमियों और तीस अकर्मभूमियों का विवेचन किया गया है।

१६५वें द्वार में जातिमद, कुलमद आदि आठ प्रकार के मदों (अहंकारों) का विवेचन है।

१६६वें द्वार में हिंसा के दो और तियालीस भेदों का विवेचन उपलब्ध होता है।

इसी प्रकार १६७वें द्वार में परिणामों के एक सौ आठ भेदों की चर्चा की गई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६८वें द्वार में ब्रह्मचर्य के अट्ठारह प्रकारों की चर्चा है और १६९वें द्वार में काम के चौबीस भेदों का विवेचन किया गया है।

इसी क्रम में आगे १७०वें द्वार में दस प्रकार के प्राणों की चर्चा की गई है। जैनदर्शन में पाँच इन्द्रियाँ, मन-वचन और काया—ऐसे तीन बल, श्वासाच्छ्वास और आयु ऐसे दस प्राण माने गये हैं।

१७१वें द्वार में दस प्रकार के कल्पवृक्षों की चर्चा है।

१७२वें द्वार में सात नरक भूमियों के नाम और गोत्र का विवेचन किया गया है।

आगे १७३ से लेकर १८२ तक के सभी द्वार नारकीय जीवन के विवेचन से सम्बद्ध हैं। १७३वें द्वार मे नरक के आवासों का, १७४वें द्वार में नारकीय वेदना का, १७५वें द्वार में नारकों की आयु का, १७६वें द्वार में नारकीय जीवों के शरीर की लम्बाई आदि का विवेचन किया गया है।

पुनः १७७वें द्वार में नरक गति में प्रतिसमय उत्पत्ति और अन्तराल का विवेचन है।

१७८वाँ द्वार किस नरक के जीवों में कौनसी द्रव्य लेश्या पाई जाती है, इसका विवेचन करता है, जबकि १७९वाँ द्वार नारक जीवों के अवधि-ज्ञान के स्वरूप का विवेचन करता है।

१८०वें द्वार में नारकीय जीवों को दण्डित करने वाले परमाधामी देवों का विवेचन किया गया है।

१८१वें द्वार में नारकीय जीवों की लब्धि अर्थात् शक्ति का विवेचन है जबकि १८२वें, १८३ और १८४वें द्वारों में नारकीय जीवों के उपपात अर्थात् जन्म का विवेचन प्रस्तुत करता है। इसमें यह बताया गया है कि जीव किन योनियों में मरकर कौनसी नरक में उत्पन्न होता है और नारकीय जीव मरकर तिर्यंच और मनुष्य योनियों में कहाँ-कहाँ जन्म लेते हैं।

१८५ से १९१ तक के सात द्वारों में क्रमशः एकेन्द्रिय जीवों की कायस्थिति, भवस्थिति, शरीर परिमाण, इन्द्रियों के स्वरूप, इन्द्रियों के विषय, एकेन्द्रिय जीवों की लेश्या तथा उनकी गति और आगति का विवेचन उपलब्ध होता है।

१९२ ओर १९३वें द्वारों में विकलेन्द्रिय आदि की उत्पत्ति, च्यवन एवं विरहकाल (अन्तराल) का तथा जन्म और मृत्यु प्राप्त करने वालों की संख्या का विवेचन है।

१९४वें द्वार में भवनपति आदि देवों की कायस्थिति, १९५वें द्वार में उनके भवनादि का स्वरूप १९६वें द्वार में इन देवों के शरीर की लम्बाई आदि और १९७वें द्वार में विभिन्न देवों में पाई जाने वाली द्रव्य लेश्या का विवेचन है। इसी क्रम में १९८वें द्वार में देवों के अवधिज्ञान के स्वरूप का और १९९वें द्वार में देवों की उत्पत्ति में होने वाले विरहकाल का विवेचन है।

२००वें द्वार में देवों के उपपात के विरहकाल का और २०१वें द्वार में देवों के उपपात की संख्या का विवेचन किया गया है।

२०२ और २०३वें द्वारों में क्रमशः देवों की गति और आगति का विवेचन है।

२०४वाँ द्वार सिद्ध गति में जाने वाले जीवों के बीच जो अन्तराल अर्थात् विरहकाल होता है उसका विवेचन करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२०५वें द्वार में जीवों के आहारादि के स्वरूप का विवेचन है।

२०६वें द्वार में तीनसौत्रेसठ पाखंडी मतों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

२०७वें द्वार में प्रमाद के आठ भेदों का विवेचन है। २०८वें द्वार में बारह चक्रवर्तियों का, २०९वें द्वार में नौ बलदेवों का, २१०वें द्वार में नौ वासुदेवों का और २११वें द्वार में नौ प्रतिवासुदेवों का संक्षिप्त विवेचन उपलब्ध होता है।

२१२वें द्वार में चक्रवर्ति, वासुदेव आदि के क्रमशः चौदह और सात रत्नों का विवेचन है।

२१३वें द्वार में चक्रवर्ती, वासुदेव आदि की नव निधियों का विवेचन किया गया है।

२१४वाँ द्वार विभिन्न योनियों में जन्म लेने वाले जीवों की संख्या आदि का विवेचन करता है।

२१५वें द्वार से लेकर २२०वें द्वार तक छः द्वारों में जैनकर्मसिद्धान्त का विवेचन उपलब्ध होता है। इनमें क्रमशः आठ मूल प्रकृतियों, एक सौ अट्ठावन उत्तर प्रकृतियों, उनके बंध आदि के स्वरूप तथा उनकी स्थिति का विवेचन किया गया है। अन्तिम दो द्वारों में क्रमशः बयांलीस पुण्य प्रकृतियों का और बयासी पाप प्रकृतियों का विवेचन है।

२२१वें द्वार में जीवों के क्षायिक आदि छः प्रकार के भावों का विवेचन है इसके साथ ही इस द्वार में विभिन्न गुणस्थानों में पाये जाने वाले विभिन्न भावों का भी विवेचन किया गया है।

२२२वाँ एवं २२३वाँ द्वार क्रमशः जीवों के चौदह और अजीवों के चौदह प्रकार का विवेचन करता है।

२२४वें द्वार में चौदह गुणस्थानों का, २२५वें द्वार में चौदह मार्गणाओं का, २२६वें द्वार में बारह उपयोगों का और २२७वें द्वार में पन्द्रह योगों का विवेचन है।

२२८वें द्वार में गुणस्थानों में रहते हुए परलोक गमन का, २२९वें द्वार में गुणस्थानों का काल-मान, २३० से २३२वें द्वार में विकुर्वणा काल, ७ प्रकार के समुद्घात और ६ पर्याप्तियों का विश्लेषण है। २३३वें द्वार में ४ प्रकार के अनाहरक, २३४वें द्वार में ७ प्रकार के भयस्थान, २३५वें द्वार में ६ प्रकार की अप्रशस्तभाषा का वर्णन है। २३६वें द्वार में श्रावक के १२ व्रतों के जो भंग बनते है उनका शास्त्रीय दृष्टि से प्रामणिक विवेचन है।

२३७वें द्वार में अठारह प्रकार के पापों का विवेचन है। २३८वें द्वार में मुनि के सत्ताइस मूल गुणों का विवेचन है।

२३९वें द्वार में श्रावक के इक्कीस गुणों का विवेचन किया गया है।

२४०वें द्वार में तिर्यंच जीवों की गर्भ स्थिति के उत्कृष्ट काल का विवेचन किया गया है। जबकि २४१वें द्वार में मनुष्यों की गर्भ स्थिति के सम्बन्ध में विवेचन है। २४२वाँ द्वार मनुष्य की काय स्थिति को स्पष्ट करता है।

२४३वें द्वार में गर्भ में स्थित जीव के आहार के स्वरूप का विवेचन है तो २४४वें द्वार में गर्भ का धारण कब संभव होता है इसका विवरण दिया गया है। २४५वें और २४६वें द्वार में क्रमशः यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बताया गया है कि एक पिता के कितने पुत्र हो सकते हैं? और एक पुत्र के कितने पिता हो सकते हैं? यह आधुनिक जीव-विज्ञान की दृष्टि से भी एक रोचक विषय है।

२४७वें द्वार में स्त्री-पुरुष कब संतानोत्पत्ति के अयोग्य होते हैं, इसका विवेचन किया गया है। २४८वें द्वार में वीर्य आदि की मात्रा के सम्बन्ध में चर्चा की गई है। इसमें यह भी बताया है कि एक शरीर में रक्त, वीर्य आदि की कितनी मात्रा होती है।

२४९वें द्वार में सम्यक्त्व आदि की उपलब्धि में किस अपेक्षा से कितना अन्तराल होता है, इसका विवेचन किया गया है।

२५०वें द्वार में मनुष्य भव में किनकी उत्पत्ति संभव नहीं है, इसका विवरण प्रस्तुत किया गया है।

२५१वें द्वार में ग्यारह अंगों के परिमाण का और २५२वें द्वार में चौदह पूर्वों के परिमाण का विवेचन है। इनमें मुख्य रूप से यह बताया है कि किस अंग और किस पूर्व की कितनी श्लोक संख्या होती है।

२५३वें द्वार में लवण शिखा के परिमाण का उल्लेख है। २५४वाँ द्वार विभिन्न प्रकार के अंगुलों (माप विशेष) का विवेचन करता है।

२५५वें द्वार में त्रसकाय के स्वरूप का विवेचन किया गया है। २५६वें द्वार में छः प्रकार के अनन्तकायों की चर्चा है।

२५७वें द्वार में निमित्त शास्त्र के आठ अंगों का विवेचन है। दूसरे शब्दों में यह द्वार अष्टांग निमित्त शास्त्र का विवेचन करता है।

२५८वें द्वार में मान और उन्मान अर्थात् और माप-तौल सम्बन्धी विभिन्न पैमाने दिये गये हैं।

२५९वें द्वार में अठारह प्रकार के भोज्य पदार्थों का विवेचन है। २६०वाँ द्वार षट् स्थानक हानि-वृद्धि नामक जैन दर्शन की विशिष्ट अवधारणा का विवेचन करता है। २६१वें द्वार में उन जीवों का निर्देश है, जिनका संहरण संभव नहीं होता है। इसमें बताया गया है कि श्रमणी, अपगतवेद, परिहार विशुद्ध चारित्र, पुलाकलब्धि, अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती चौदह पूर्वधर एवं आहारक लब्धि से सम्पन्न जीवों का संहरण नहीं होता है।

२६२वें द्वार में छप्पन अन्तर्द्वीपों का विवेचन किया गया है।

२६३वें द्वार में जीवों का पारस्परिक अल्पबहुत्व का विचार किया गया है।

२६४वें द्वार में युगप्रधान सूरियों अर्थात् आचार्यों की संख्या का विवेचन किया गया है।

२६५वें द्वार में ऋषभ से लेकर महावीर स्वामी पर्यन्त तीर्थ की स्थिति का विचार किया गया है।

२६६वाँ द्वार विभिन्न देवलोकों में देवता अपनी काम-वासना की पूर्ति कैसे करते हैं, इसका विवरण प्रस्तुत करता है।

२६७वें द्वार में कृष्णराजी का विवेचन है।

२६८वाँ द्वार अस्वाध्याय के स्वरूप का विस्तृत विवेचन करता है।

२६९वें द्वार में नन्दीश्वर द्वीप के स्वरूप का विवेचन किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२७०वें द्वार में विभिन्न प्रकार की लब्धियों (विशिष्ट शक्तियों) का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

२७१वें द्वार में छः आन्तर और छः बाह्य तपों के स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया गया है।

२७२वें द्वार में दस पातालकलशों के स्वरूप का विवेचन है।

२७३वें द्वार में आहारक शरीर के स्वरूप का विवेचन किया गया है।

२७४वें द्वार में अनार्य देशों का और २७५वें द्वार में आर्य देशों का विवेचन है।

अन्तिम २७६वाँ द्वार सिद्धों के इकत्तीस गुणों का विवरण प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार यह विशालकाय कृति २७६ द्वारों (अध्यायों) में जैनदर्शन के २७६ विशिष्ट पक्षों के विवेचन के साथ में समाप्त होती है। यही कारण है कि इस कृति को जैनधर्मदर्शन का एक छोटा विश्वकोष कहा जा सकता है।

हमें यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता होती है कि **प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर** ने जैन दर्शन के इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ को हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित करने का निश्चय किया है। इससे जन सामान्य और विद्वत् वर्ग दोनों का ही उपकार होगा, क्योंकि इसका हिन्दी भाषा में कोई भी अनुवाद उपलब्ध नहीं था।

परम विदुषी साध्वी श्री हेमप्रभाश्रीजी म.सा. ने इस विशालकाय ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद करने का जो कठिनतर कार्य किया है, वह स्तुत्य तो है ही, साथ ही उनकी बहुश्रुतता का परिचायक भी है। ऐसे दुरूह प्राकृत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद करना सहज नहीं था, यह उनके साहस का ही परिणाम है कि उन्होंने न केवल इस महाकार्य को हाथ में लिया, अपितु प्रामाणिकता के साथ इसे सम्पूर्ण भी किया। अनुवाद में उन्होंने मूल ग्रन्थ के साथ टीका को भी आधार बनाया है। इससे पाठकों को विषय को स्पष्ट रूप से समझने में सहायता मिलती है। अनुवाद सहज और सुगम है और सीधा मूल विषय को स्पर्श करता है। वस्तुतः यह पूज्या साध्वीजी का जैनविद्या के क्षेत्र में महत्वपूर्ण अवदान है और इस हेतु वे हम सभी के साधुवाद की पात्र हैं। आशा है पाठकगण इस ग्रन्थ का अध्ययन-मनन कर पूज्या साध्वीजी के श्रम को सार्थक करेंगे।

यह पूज्या साध्वीवर्या श्रीहेमप्रभाश्री जी म.सा. का असीम अनुग्रह ही है कि उन्होंने इसकी भूमिका लिखने का न केवल मुझसे आग्रह किया, अपितु मेरी व्यस्तता के कारण दीर्घ अवधि तक इस हेतु प्रतीक्षा भी की। विलम्ब हेतु मैं पूज्या साध्वीजी एवं पाठकों से क्षमाप्रार्थी हूँ।

रक्षाबन्धन (श्रावणी पूर्णिमा)
विक्रम संवत् २०५५
दिनांक ८.८.१९९८

प्रो. सागरमल जैन
पूर्व निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ
वाराणसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐं नमः

—मन की बात—

भारतीय चिन्तन की प्रमुख तीन धारायें हैं—वैदिक, जैन और बौद्ध। इन धाराओं में संस्कृति का वह अजोड़ अमृत प्रवाहित हो रहा है, जो मानव को अमरत्व प्रदान करता है। इसमें हमारे परम ज्ञानी तीर्थंकर भगवन्तों, तत्त्वदृष्टा ऋषि-मुनियों एवं प्रबुद्ध चिन्तकों ने वह अनमोल ज्ञान प्रस्तुत किया है जो मानव को स्वपर-समुन्नति के महान कर्त्तव्य कर्मों की प्रेरणा देता है, जो मानव जाति को सांस्कृतिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक आदर्शों से परिचित कराता है। वह अमृत इन तीनों परंपराओं के प्राचीन साहित्य में अथ-इति समुपलब्ध है।

वैदिक परंपरा का मूलस्रोत वेद है जिसे वह ईश्वरवाणी के रूप में स्वीकार करती है। बौद्ध परंपरा के समग्र विचार व विश्वासों का मूल त्रिपिटक हैं जो भगवान बुद्ध की वाणी है। जैन परंपरा के मूलग्रंथ आगम हैं जो तीर्थंकर की वाणी है। इनमें भगवान महावीर के विचार, विश्वास व आचार का संपूर्ण संग्रह है।

प्रत्येक धर्म-परंपरा में धर्मग्रन्थ या शास्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि उस धर्म के दार्शनिक सिद्धान्त और आचार व्यवस्था दोनों के लिए शास्त्र ही एक मात्र प्रमाण है। हिन्दु धर्म में वेद का, बौद्ध धर्म में त्रिपिटक का, पारसी धर्म में अवेस्ता का, ईसाई धर्म में बाइबिल का एवं इस्लाम धर्म में कुरान का जो स्थान है वही स्थान जैन धर्म में आगमों का है। फिर भी आगम साहित्य न तो वेद के समान अपौरुषेय है और न बाइबिल या कुरान के समान किसी पैगम्बर के द्वारा दिया गया ईश्वरीय सन्देश ही है, अपितु वह उन आर्हतों व ऋषियों की वाणी का संकलन है जिन्होंने अपनी साधना व घोर तपस्या द्वारा सत्य का साक्षात्कार किया था। जैनों के लिये आगम जिनवाणी है। आप्त वचन है। उनकी धार्मिक व आध्यात्मिक चेतना का आधार है। वर्तमान में इन आगमों में चाहे कितना भी परिवर्तन व परिवर्धन क्यों न हुआ हो, फिर भी वे जैनधर्म के प्रामाणिक दस्तावेज हैं।

आगम साहित्य अंग व अंगबाह्य दो रूपों में विभक्त है। जिनदास महत्तर-रचित नन्दिचूर्णि, तत्त्वार्थ-राजवार्तिक आदि के अनुसार अंग शास्त्र वे हैं जो अर्थ रूप में जिन-भाषित हैं तथा सूत्ररूप में गणधरों के द्वारा विरचित हैं। तात्पर्य यह है कि भगवान महावीर ने नामोल्लेखपूर्वक किसी भी आगम की रचना नहीं की। उन्होंने तो भव्यात्माओं के प्रतिबोधार्थ उपदेश दिया। उनके आत्म-कल्याण हेतु मार्गदर्शन किया। भगवान द्वारा समय-समय पर दिया गया उपदेश गणधर भगवन्तों ने अपनी स्मृति में रखकर सूत्रबद्ध कर लिया। गणधर भगवन्तों के द्वारा सूत्रबद्ध किया गया वही उपदेश अंगशास्त्र है।

अंगबाह्य वे हैं जो काल के प्रभाव से मन्दबुद्धि होते-जाते शिष्यों के हितार्थ अंगशास्त्रों के आधार पर स्थविरों द्वारा संकलित किये गये हैं। अंगशास्त्रों की संख्या नियत है पर अंगबाह्य शास्त्रों की कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नियत संख्या नहीं है। अंगशास्त्र वर्तमान में ग्यारह हैं पर अंगबाह्यशास्त्रों की संख्या का उल्लेख आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में 'अनेक' कहकर किया है।

आगमों की प्रामाणिकता के विषय में सभी संप्रदाय एकमत नहीं हैं। श्वेतांबर मूर्तिपूजक परंपरा ११ अंग, १२ उपांग, ४ मूलसूत्र, २ चूलिका सूत्र, ६ छेदसूत्र तथा १० प्रकीर्णक—इस प्रकार ४५ आगमों को प्रमाण मानती है। इनके अतिरिक्त निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाओं को भी मानती है और आगम के समान ही इनमें श्रद्धा रखती है। जबकि श्वेतांबर स्थानकवासी-तेरापंथी परंपरा केवल ११ अंग, १२ उपांग, ४ मूलसूत्र, ४ छेदसूत्र और १ आवश्यक—इस प्रकार कुल ३२ आगमों को ही प्रमाणभूत स्वीकार करती है। अन्य आगम, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाओं को वे प्रमाणभूत नहीं मानते।

जहाँ तक दिगंबर परंपरा का प्रश्न है वह वर्तमान के ४५ या बत्तीस आगम में से किसी भी आगम को प्रमाण नहीं मानती तो उन पर आधारित निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाओं को प्रामाणिक मानने का उनके लिए प्रश्न ही नहीं उठता। उनके अनुसार सभी आगम लुप्त हो चुके हैं।

तात्पर्य यह है कि दिगंबर परंपरा को छोड़कर श्वेतांबरों के सभी संप्रदाय अंग और उपांग ग्रन्थों को एकमत से मान्य करते हैं। किन्तु मूलसूत्र, चूलिकासूत्र, छेदसूत्र एवं प्रकीर्णक ग्रन्थों के विषय में उनमें परस्पर मतभेद हैं।

मूलसूत्र—

सामान्यतः उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यक और पिण्ड-निर्युक्ति ये ४ मूलसूत्र माने जाते हैं पर इनकी संख्या और नामों के सन्दर्भ में सभी श्वेतांबर संप्रदायें एकमत नहीं हैं। उत्तराध्ययन और दशवैकालिक को तो सभी श्वेतांबर एकमत से मूलसूत्र मानते हैं किन्तु आवश्यक और पिण्डनिर्युक्ति को लेकर मतभेद हैं। प.पू. महोपाध्याय श्री समयसुन्दर जी, भावप्रभसूरिजी तथा प्रो. बेबर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने आवश्यक को मूलसूत्र माना है पर स्थानकवासी, तेरापंथी आवश्यक को मूलसूत्र नहीं मानते। ये दोनों संप्रदाय आवश्यक एवं पिंडनिर्युक्ति के स्थान पर नन्दी और अनुयोग द्वार को मूलसूत्र मानते हैं। श्वेतांबर परंपरा में कुछ आचार्यों ने ओघनिर्युक्ति को भी मूलसूत्र माना है। इस प्रकार मूलसूत्रों के वर्गीकरण और उनके नामों में एकरूपता का अभाव है।

छेदसूत्र—

दशाश्रुतस्कंध, कल्प, व्यवहार, निशीथ, महानिशीथ और जीत-कल्प—ये छः छेदसूत्र माने जाते हैं। मूर्तिपूजक परंपरा पूर्वोक्त सभी छेदसूत्रों को मानती है पर स्थानकवासी और तेरापंथी परंपरा महानिशीथ और जीतकल्प को नहीं मानती। वे दोनों मात्र ४ ही छेदसूत्र मानती हैं।

प्रकीर्णक—

प्रकीर्णक १० हैं। स्थानकवासी और तेरापन्थी प्रकीर्णकों को नहीं मानते। जहाँ तक प्रकीर्णकों के नाम का प्रश्न है। श्वेतांबर मूर्ति-पूजक संघ के आचार्यों में भी कुछ मतभेद पाया जाता है। लगभग ९ नामों में एकरूपता है किन्तु भक्तपरिज्ञा, मरणविधि और वीरस्तव—ये तीन नाम ऐसे हैं जो भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपने वर्गीकरण में भिन्न-भिन्न रूप से लिखे हैं। किसी ने भक्तपरिज्ञा को छोड़कर मरणविधि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को माना है तो किसी ने उसके स्थान पर वीरस्तव का उल्लेख किया है। वर्तमान में आगमप्रभाकर मुनि श्री पुण्यविजय जी म. ने 'पइण्णय सुत्ताइं' ग्रन्थ के प्रथम भाग की भूमिका में प्रकीर्णक के नाम से अभिहित लगभग २२ ग्रन्थों का उल्लेख किया है।

इसके अतिरिक्त एक ही नाम के अनेक प्रकीर्णक उपलब्ध होते हैं। जैसे 'आउरपच्चक्खाण' के नाम से ३ ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। उनमें से एक ग्रन्थ १०वीं शती के आचार्य 'वीरभद्र' की कृति है।

चूलिकासूत्र–

नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार ये दो चूलिकासूत्र हैं। स्थानकवासी परंपरा इन्हें मूलसूत्र के रूप में मानती है। फिर भी इतना निश्चित है कि ये दोनों ग्रन्थ श्वेतांबर परंपरा के सभी संप्रदायों को मान्य हैं।

इस प्रकार वर्तमानकालीन आगम साहित्य अंग, उपांग, प्रकीर्णक, छेद, मूल एवं चूलिकासूत्र के रूप में वर्गीकृत मिलता है।

प्रवचनसारोद्धार का स्थान–

अंग और अंगबाह्य शास्त्रों की परिभाषा देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ की परिगणना अंगबाह्य शास्त्र में की जाती है क्योंकि यह अंग साहित्य पर आधारित है तथा गीतार्थ महापुरुष द्वारा रचित एवं संकलित है। यह आगम साहित्य के प्रकरण विभाग के अन्तर्गत आता है। एक या अनेक विषयों से संबंधित सामग्री का संकलन 'प्रकरण' है। आगम के गूढ़ विषयों का सरलीकरण एवं विस्तृत विवेचनाओं का संक्षिप्तीकरण प्रकरणों की उद्‌भावना का मूल है।

प्रकीर्णक एवं प्रकरण–

प्रकीर्णक एवं प्रकरण दोनों परस्पर भिन्न विधायें हैं। प्रकीर्णक तीर्थंकर परमात्मा के स्वहस्त दीक्षित शिष्यों की रचनायें हैं। प्राकृत में इन्हें 'पयन्ना' कहा जाता है। भगवान महावीर के १४००० शिष्य थे। उनके द्वारा रचित प्रकीर्णक भी १४००० थे, पर काल के प्रभाव से आज मात्र १९ पयन्ना प्राप्त होते हैं, उनमें से प्रसिद्ध तो १० ही हैं।

'प्रकरण' ग्रन्थों के निर्माता या संकलनकर्त्ता गीतार्थ महापुरुष होते हैं। वे आगमसंबद्ध एक या अनेक विषयों के निरूपक हैं। यद्यपि 'प्रकरणग्रन्थ' आगमसंबद्ध विषय का ही निरूपण करते हैं तथापि दोनों की निरूपण-शैली में पर्याप्त अन्तर है। आगम की अपेक्षा प्रकरण का विषयनिरूपण संक्षिप्त, सरल व सुबोध होता है। मन्दबुद्धि आत्मा भी प्रकरणों के माध्यम से तत्त्व का अवबोध सुगमता से कर सकते हैं। इसीलिये प्रकरण आगमों के प्रवेश द्वार **'Get way of Agamas.'** कहलाते हैं। प्रकरण प्रायः पद्यमय होते हैं। आगमिक अध्ययन के अनधिकारी आत्मा भी प्रकरणों के माध्यम से गूढ़, गंभीर आगमिक विषय में अवगाहन करने का सौभाग्य उपलब्ध कर सकते हैं। भाषा की दृष्टि से प्रकरण प्राकृत व संस्कृत दोनों में निबद्ध मिलते हैं।

'प्रवचनसारोद्धार' प्रकरण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का नाम प्रवचन + सार + उद्धार तीन शब्दों का समन्वित रूप है। प्रवचन शब्द के कई अर्थ हैं। प्रवचन अर्थात् जिनशासन, जिनवाणी, जिनागम आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ प्रवचन शब्द से 'जिनागम' अर्थ अभीष्ट है। 'सार' का अर्थ है निष्कर्ष या निचोड़। उद्धार अर्थात् निकालकर व्यवस्थित करना। अतः 'प्रवचनसारोद्धार' का समन्वित अर्थ है—वह ग्रन्थ जिसमें प्रवचन-जिनागम के सारभूत तत्त्वों को उद्धृतकर व्यवस्थित किये गये हों।इस दृष्टि से इस ग्रन्थ का नाम वास्तव में सार्थक है। यह बात इसके अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है।

ग्रन्थ की प्रतिपादन शैली प्राचीन है। प्रत्येक विषय को द्वार प्रतिद्वार के द्वारा समझाया गया है। कुल मिलाकर यह ग्रन्थ २७६ द्वारों में विभक्त है। २५९९ गाथाओं से समृद्ध यह ग्रन्थ वर्ण्य-विषयों के विवेचन की अपेक्षा **Collection** संग्रह की दृष्टि से अनूठा है। यदि इसे 'इनसाइक्लोपीडिया ऑफ जैनिज्म' से उपमित करें तो भी कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। वस्तुतः यह ग्रन्थ गागर में सागर का उदाहरण प्रस्तुत करता है। विषय से सम्बद्ध उपविषयों का जिस खूबी से इसमें संग्रह हुआ है यह ग्रन्थकार की सूक्ष्म-बुद्धि, संभावना शक्ति एवं प्रबुद्ध वृत्ति का परिचायक है। २७६ द्वारों में सरल से सरल विषय जैसे चैत्यवन्दन से संबंधित १० त्रिकों का वर्णन, गुरुवन्दन-प्रतिक्रमणविधि, धान्यों के नाम, अतीत, अनागत एवं वर्तमान तीर्थंकर परमात्माओं के नाम, वर्तमान तीर्थपतियों के माता-पिता, गणधर, प्रवर्तिनी आदि के नाम, लांछन, वर्ण, आयु आदि तथा गंभीर से गंभीर विषय जैसे कर्मवाद, नवतत्त्व, नय-निक्षेप, लोक-संरचना, अध्यवसाय स्थान आदि की बड़ी सूक्ष्म व विस्तृत विवेचना भी की गई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पद्य में है। इसकी भाषा प्राकृत है मात्र एक श्लोक संस्कृत (क्रमांक ९७१) में है। अधिकांश गाथायें आर्या छन्द में हैं कतिपय गाथाओं में अन्य छन्द भी प्रयुक्त हुए हैं। इस ग्रन्थ की प्राकृत सरल व सुबोध है। कहीं-कहीं देश्य शब्दों के प्रयोग से अवश्य कठिनता का आभास होता है। विषयवस्तु का प्रतिपादन स्पष्ट है। अनावश्यक अलंकार एवं सुदीर्घ सामासिक पदों का प्रयोग न होने से भावों को समझने में कहीं अवरोध नहीं आता। यत्र-तत्र सहज समागत अलंकारों का प्रयोग शोभादायक है।

इस ग्रन्थ को पढ़ने से ज्ञात होता है कि यह समूचा ग्रन्थ ग्रन्थकार की मौलिक रचना नहीं है। प्रस्तुत ग्रन्थ की बहुत सी गाथायें प्राचीन ग्रन्थों से उद्धृत हैं। ऐसी ५०० से अधिक गाथायें हैं जिनका मूलस्रोत आगम, निर्युक्ति, भाष्य, प्रकरण एवं कर्मग्रन्थ आदि में है। 'भारतीय प्राच्यतत्त्वप्रकाशन समिति' पिंडवाड़ा से प्रकाशित प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रतियों में उद्धृत गाथाओं के पश्चात् ब्रेकेट में उनके मूल स्थानों का स्पष्ट उल्लेख किया है। जिज्ञासु वहाँ अवश्य देखें। उद्धृत गाथाओं के अतिरिक्त भी कुछ ऐसी गाथायें हैं जिनका मूलस्रोत तो नहीं मिलता पर 'हारिभद्रीय आवश्यक वृत्ति' आदि प्राचीन ग्रन्थों में उद्धृत-गाथाओं के रूप में उनका उल्लेख अवश्य मिलता है। इससे स्पष्ट है कि ऐसी गाथायें भी ग्रन्थकार द्वारा रचित नहीं है किन्तु प्राचीन है। इस उद्धरण का उल्लेख भी 'भारतीय प्राच्य तत्त्व प्रकाशन समिति' से प्रकाशित प्रस्तुत ग्रंथ में द्रष्टव्य है। वस्तुतः विषयसंग्रह की दृष्टि से यह आकरग्रन्थ है।

प्रवचनसारोद्धार के प्रणेता—

प्रवचनसारोद्धार के प्रणेता विद्वद्वरेण्य आचार्यदेव श्री नेमिचन्द्रसूरि हैं। उनका जीवनवृत्त अनुपलब्ध है, केवल सत्ताकाल एवं गुरुपरंपरा ही उपलब्ध होती है। यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थ में ग्रन्थकार के समय का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उल्लेख कहीं भी नही हुआ है तथापि उनकी ही दूसरी कृति 'अणंतनाह चरियं' जो कि विक्रम संवत् १२१६ में रचित है, उनके सत्ता-काल का निर्णय करने में सबल साक्ष्य है। इसके अनुसार ग्रन्थकार का समय १२वीं-१३वीं शताब्दी निश्चित होता है। यथा 'अणंतनाह चरियं'—

'तो अम्मएवमुणिवइविणेयसिरि नेमिचंदसूरिहिं।
अब्भुदयकररइयं चरियमिणमणंत जिणरन्नो॥ ४७॥
संसोहियं च ससमय-परसमयन्नूहिं विउसतिलएहिं।
जसदेवसूरिमुणिवइ समंतभद्दाभिधाणेहिं॥ ४८॥

× × ×

रसचंदसूरसंखे वरिसे विक्कमनिवइवइक्कंते।
वइसाहसामबारसि, तिहिए वारंमि सोमस्स॥ ५०॥

आचार्यदेव श्री आम्रदेवसूरि के शिष्य श्री नेमिचन्द्रसूरि के द्वारा अत्यन्त कल्याणकारी अनंतनाथ परमात्मा का चरित्र रचा गया। इस चरित्र का संशोधन स्व-परदर्शन के ज्ञाता विद्वज्जनों में तिलकतुल्य, समन्तभद्र उपनामवाले यशोदेवसूरि ने किया है।

वि.सं. १२१६ की वैशाखकृष्ण १२ सोमवार को प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना पूर्ण हुई।

ग्रन्थकार की गुरु परंपरा—

अपनी गुरु परंपरा का वर्णन ग्रन्थकार ने/स्वयं ने इस ग्रन्थ की तथा अनन्तनाथ चरित्र की प्रशस्ति में स्पष्ट रूप से किया है। यथा—

धम्मधरुद्धरणमहावराहजिणचन्दसूरिसिस्साणं।
सिरिअम्मएवसूरीण पायपंकयपराएहिं॥ १५९५॥
सिरिविजयसेणगणहर-कणिट्ठ-जसदेवसूरि-जिट्ठेहिं।
सिरिनेमिचंदसूरिहिं सविणयं सिस्सभणिएहिं॥ १५९६॥

× × ×

पवयणसारुद्धारो रइओ सपरावबोहकज्जंमि।
जंकिंचि इह अजुत्तं बहुस्सुआ तं विसोहंतु॥ १५९८॥

॥ प्र. सा. प्रशस्ति॥

अनन्तनाथ चरित्र के अनुसार ग्रन्थकार की गुरु परंपरा इस प्रकार है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

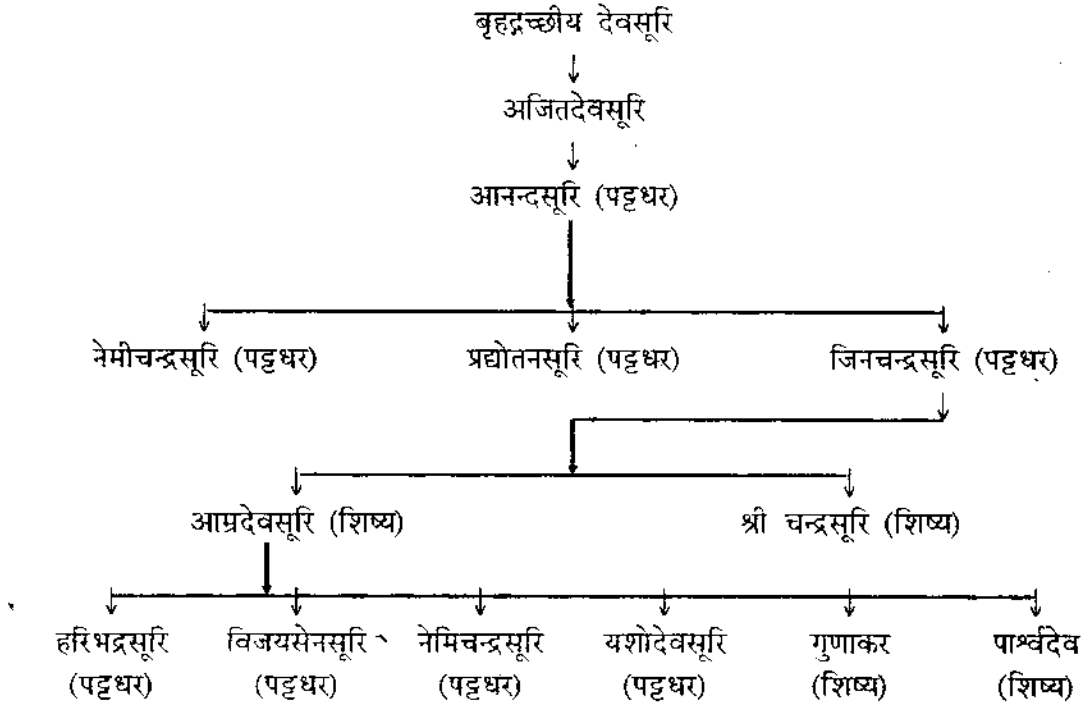

(देखें 'अनन्तनाथ चरित्र' प्रशस्ति)

इस प्रशस्ति से स्पष्ट है कि ग्रन्थकार श्री आम्रदेवसूरि के शिष्य थे। पूर्वोक्त बिन्दुओं के अतिरिक्त विद्वान ग्रन्थकर्त्ता का जन्म कब और कहाँ हुआ था? दीक्षा कब और कहाँ ली थी? आपके माता-पिता कौन थे? आप किस जाति के थे? आपका विहार क्षेत्र कौन सा था? आपका शिष्य-परिवार कितना और कैसा था? ये प्रश्न आज तक अनुत्तरित हैं। इन प्रश्नों को समाहित करने वाला कोई भी संकेत कहीं नजर नहीं आता। यदि कोई इतिहासविज्ञ अपनी प्रतिभा का उपयोग इन तथ्यों को उजागर करने में करें तो इतिहास की बहुत बड़ी सेवा होगी।

आपके द्वारा रचित वर्तमान में तीन ग्रन्थ समुपलब्ध हैं :—१. प्रवचनसारोद्धार, २. अणंतनाहचरियं तथा ३. जीवकुलक जो कि १७ गाथा प्रमाण प्राकृतपद्यमय हैं। जीवकुलक अत्यन्त लघुकृति होने से प्रस्तुत ग्रन्थ के २१४वें द्वार में ही ग्रन्थकार ने समाविष्ट कर दिया है। 'अणंतनाह चरियं' के अतिरिक्त एक अन्य चरित्र की भी आपने रचना की थी, ऐसा 'उपदेशमालावृत्ति' की प्रशस्ति (प्रशस्ति संग्रह पृ. २६) से ज्ञात होता है। पर वह आज तक अप्राप्य है।

विषय-संग्रह की दृष्टि से अनूठा यह ग्रन्थ अध्येता को एक ही साथ अनेक विषयों का ज्ञान कराने में समर्थ है तथा प्रणेता के अगाध आगमिक ज्ञान का सबल साक्ष्य है। आगमों के तलस्पर्शी अध्ययन के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिवाय इतनी पैनी संग्राहक प्रतिभा विकसित हो ही नहीं सकती। वस्तुतः ग्रन्थकार महर्षि की ज्ञानसाधना परमवन्दनीय है। स्वान्तःसुखाय ज्ञानसाधना को समर्पित साधक ही तो श्रुतसमृद्धि के मूलस्रोत हैं।

आचार्यश्री काव्यप्रतिभा के धनी हैं। आर्या जैसे लघुकाय छन्द में विविध विषयों को सरलता से पिरो देना उनकी काव्यकुशलता का परिचायक है। प्रकरण ग्रन्थों में प्रवचनसारोद्धार अतिप्राचीन, विशालकाय एवं प्रमुख ग्रंथ हैं। अनेक ग्रन्थों में इसकी गाथायें प्रमाण रूप में उपलब्ध होती हैं। उपयोगिता की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ का बड़ा महत्त्व है। इसके अध्ययन से सामान्य व्यक्ति भी आगमिक पदार्थों का सुगमता से बोध कर सकता है। जिनरत्नकोश में प्रवचनसारोद्धार का परिचय देते हुए वेलणकर ने लिखा है कि—**'It is a detailed exposition of Jain Philosophy in १५९९ Gathas.'**

टीका एवं टीकाकार—

जैसे चाबी से ताला खुलता है, वैसे टीका ग्रन्थकार के भावों को खोलती है। दूसरों के भावों की यथार्थता को समझकर उन्हें स्पष्ट करना आसान बात नहीं है पर टीकाकार अपने अगाध ज्ञान और बुद्धिकौशल से कठिन को भी आसान बना देता है। प्रस्तुत ग्रन्थ पर 'तत्त्वज्ञानविकाशिनी' नामक टीका है जो वास्तव में तत्त्वों पर सांगोपांग प्रकाश डालने के कारण अपने नाम की सार्थकता सिद्ध करती है।

इस टीका के रचयिता विद्वद्वरेण्य श्री सिद्धसेनसूरिजी है। मूलग्रन्थ की रचना के कुछ वर्षों के पश्चात् ही उन्होंने 'तत्त्वज्ञानविकाशिनी' टीका की रचना की थी। जैसा कि टीकाकार ने स्वयं ने अपनी टीका की प्रशस्ति में इसके रचनाकाल का स्पष्ट उल्लेख किया है।

करिसागररविसंख्ये, विक्रमनृपतिवत्सरे चैत्रे।
पुष्यार्के दिने शुक्लाष्टम्यां वृत्ति समाप्ताऽसौ।

अर्थात प्रस्तुत टीका विक्रम संवत् १२४२, १२४८ अथवा १२७८ में रचित है। 'करि' के स्थान पर यदि 'कर' पाठान्तर है तो कर = २ का प्रतीक होने से टीका का रचनाकाल १२४२ ठहरता है, 'करि' = ८ का प्रतीक होने से रचनाकाल १२४८ ठहरता है तथा 'सागर' शब्द को ७ का प्रतीक मानें तो इसका रचनाकाल १२७८ ठहरता है।

सामान्यतया यह माना जाता है कि टीका का समापन विक्रम संवत् १२४८ की चैत्र सुदी ८ रविपुष्य के दिन हुआ था।

टीका की भाषा सरल, सुबोध, साहित्यिक संस्कृत है। शैली सुगम किंतु विवेचनात्मक है। पदार्थ का विश्लेषण इतना विशद एवं सरल है कि सामान्य पाठक भी मूलग्रन्थ के हार्द तक बड़ी सुगमता से पहुँच सकता है।

टीका १८००० श्लोक प्रमाण है। वास्तव में यह तत्त्वों पर प्रकाश डालने वाली विशद व्याख्या है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'प्रवचनसारोद्धार' की कुल पाँच टीकायें उपलब्ध है—

टीका-नाम	कर्त्ता	परिमाण
१. तत्त्वज्ञानविकाशिनी	श्री सिद्धसेनसूरि	१८००० श्लोक प्रमाण
२. विषमपद व्याख्या	उदयप्रभसूरि	३२०३ श्लोक प्रमाण
३. विषमपद पर्याय	अज्ञातकर्तृक	३३०३ श्लोक प्रमाण
४. विषमपद वृत्ति	अज्ञातकर्तृक	----------
५. विषमपद बालावबोध	पद्ममंदिरगणि	----------

इन सभी टीकाओं में 'तत्त्वविकाशिनी' टीका सर्वाधिक प्राचीन, विशद एवं सुबोध है। इसी टीका का 'हिन्दी अनुवाद' यहाँ प्रस्तुत है।

टीकाकार—

प्रस्तुत टीका के रचयिता आचार्यदेव सिद्धसेनसूरि हैं जो कि चन्द्रगच्छीय है। टीका के अन्त में पूज्यश्री ने अपनी गुरु परंपरा का इस प्रकार वर्णन दिया है—

चन्द्रगच्छीय आचार्यदेव श्री अभयदेवसूरि....धनेश्वरसूरि...अजितसिंहसूरि...श्री देवप्रभसूरि...श्री सिद्धसेनसूरि।

ग्रन्थकार की तरह टीकाकार का जीवनवृत्त भी अनुपलब्ध ही है। केवल समय और उनके द्वारा रचित ग्रन्थसंख्या अवश्य उपलब्ध होती है। प्रस्तुत टीका में स्वरचित अन्य तीन ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। जैसे १. 'तथा चावोचाम स्तुतिषु'.... २. 'तथा चाचक्ष्महि श्री पद्मप्रभचरित्रे'....३. 'अस्मदुपरचिता सामाचारी निरीक्षणीया'। किंतु आज इनमें से एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता।

टीका का अवगाहन करने से विदित होता है कि टीकाकार महर्षि शास्त्रों के समर्थ ज्ञाता है। तभी तो टीका में स्थान-स्थान पर ५०० से अधिक भिन्न-भिन्न शास्त्रों के उद्धरण मिलते हैं। ९० से अधिक उद्धरण तो शास्त्रों के नामोल्लेख पूर्वक दिये हैं।

पदार्थ को समझाने की उनकी शैली अत्यधिक स्पष्ट है। जिस पद के अर्थ को समझाना है सर्वप्रथम उसकी व्याकरण सम्मत व्युत्पत्ति देकर उस पद का पर्यायवाची देते हुए फिर सरल-सुबोध भाषा में उसका अर्थ देते हैं। इतना ही नहीं 'इदमत्र हृदयम्...अयं भावः' ऐसा कहकर अपने शब्दों में पदार्थ का सारांश देकर उसे और अधिक सुस्पष्ट करते हैं। जैसे 'शीलांग' का अर्थ समझाना है तो सर्वप्रथम शील + अंग इस प्रकार शब्दों को अलग करते हैं, पश्चात् शील = संयमः, अंग = अंश इस प्रकार शब्दार्थ बताते हैं, तदनन्तर 'चारित्र के कारणभूत आचरण' शीलांग कहलाते हैं, इस प्रकार शब्द का सारांश देते हैं। फिर उसके भेद-प्रभेद देकर शब्द की विशद व्याख्या करते हैं। 'भावना' को समझाते हुए सर्वप्रथम 'भाव्यते इति भावना' शब्द की व्युत्पत्ति दी। पश्चात् 'भावना-परिणामविशेषा इति' कहकर भावना शब्द का सारांश देते हैं। इस प्रकार टीका में मूलगत भावों को यथाशक्य खोलने का टीकाकार का सर्वत्र प्रयास रहा है।

आपकी भाषा साहित्यिक है, प्रवाहबद्ध है। शैली सुगम किंतु विवेचनात्मक है। टीका का परिशीलन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने से ज्ञात होता है कि आप आगम शास्त्रों के तो पारंगत थे ही पर व्याकरण-साहित्य एवं न्याय-दर्शन के भी प्रकांड विद्वान थे। उन्होंने नय-निक्षेप, कर्मवाद जैसे गंभीर विषयों को बड़ी गहराई से छूआ है तथा उन्हें स्पष्ट करने हेतु नैयायिकों की तर्क-प्रधान शैली का भरपूर उपयोग किया है। विषय को स्पष्ट करने के लिये जहाँ उन्होंने विशेष ऊहापोह की आवश्यकता समझी, वहाँ 'ननु-नच' से प्रश्न उठाकर हाथोंहाथ तर्क-संगत एवं ठोस समाधान दिये हैं।

टीकाकार महर्षि मूलगत भावों की स्पष्टता देने में तो पूर्ण सफल हैं ही पर मूल की आगमों के साथ जहाँ विसंगति है उसे उजागर करने में जरा भी नहीं हिचकते। विसंगति की ओर स्पष्ट अंगुली निर्देश करते हुए उसकी शास्त्र-सम्मत व्याख्या करते हैं। २५४ द्वार की 'परमाणू रहरेणू' (गाथा १३९१) इसका ज्वलन्त उदाहरण है। जहाँ मूलपाठ की एक से अधिक व्याख्या हो सकती है वहाँ सर्वप्रथम गुरुगम से प्राप्त अपने अनुभव के आधार पर बड़े आत्मविश्वास के साथ व्याख्या करते हैं पश्चात् 'अन्ये तु, तथा चाऽपरे'...इत्यादि कहकर अन्य संमत व्याख्या भी देते हैं।

कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है कि टीका अपने आप में एक ग्रन्थ है। विषय को सरल, सुबोध रीति से प्रस्तुत करना, गंभीर विषय को रुचिकर बनाना टीकाकार की विशेषता है। इस दृष्टि से सिद्धसेनसूरि पूर्ण सफल हैं।

वेदना/संवेदना—

व्याकरण-साहित्य एवं न्याय-दर्शन के अध्ययन के पश्चात् प.पू.आगममर्मज्ञा, महान आत्मसाधिका, गुरुवर्याश्री की प्रबल भावना थी कि मैं आगम एवं तत्संबंधी ग्रन्थों का अध्ययन-स्वाध्याय करूँ। उनकी प्रेरणा, आशीर्वाद एवं आगममर्मज्ञता से उत्साहित हो मैंने इस क्षेत्र में अपने कदम धरे। आगम-स्वाध्याय के क्रम में जब मैंने इस ग्रन्थ को पढ़ा, इसके विषय-संग्रह एवं अर्थपूर्ण विशद व्याख्याओं ने मुझे अत्यधिक आकृष्ट किया। मैंने इसे कई बार पढ़ा। पढ़ा ही नहीं, इसका गहराई से अनुशीलन-परिशीलन भी किया। इससे एक चिंतन उभरा कि—इस ग्रंथ में अनेक द्वार एक विषय से संबद्ध हैं, पर वे क्रमबद्ध नहीं हैं, अलग-अलग बिखरे हुए हैं। क्यों नहीं, उनका विषय के अनुरूप संकलन कर, अलग-अलग विभाग बना दिये जाये तथा विषय के अनुरूप उन विभागों का नामकरण कर दिया जाये? इस प्रकार एक विषय से संबद्ध संपूर्ण सामग्री एक स्थान पर उपलब्ध हो जाने से अध्ययन में सुगमता रहेगी।

बस, फिर क्या था! तुरन्त पेन-पेपर उठाया और एक विषय से संबद्ध सभी द्वारों को क्रमबद्ध लिख डाला। इस तरह २७६ द्वार नौ भागों में विभक्त हो गये। प्रत्येक विभाग का विषय के अनुरूप नाम दे दिया। यथा—१. विधि-विभाग, २. आराधना विभाग, ३. सम्यक्त्व और श्रावक धर्म विभाग, ४. साधु-धर्म विभाग, ५. जीवस्वरूप विभाग, ६. कर्म-साहित्य विभाग, ७. तीर्थंकर विभाग, ८. सिद्ध-विभाग तथा ९. द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव विभाग। पर मेरा मन विभागीकरण के औचित्य के प्रति असंदिग्ध नहीं था।

(किस विभाग में कौन-कौन से द्वारों का समावेश होता है, यह विभाग संबंधी द्वारों के अनुक्रम में द्रष्टव्य है।)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आखिर सुयोग मिला। मैंने द्वारों के वर्गीकरण की बात परम श्रद्धेय, आगममर्मज्ञ, प्रसिद्ध लेखक व वक्ता, अनुप्रेक्षा स्वाध्याय के प्रेरक आचार्यदेव श्री विजयभद्रगुप्तसूरीश्वरजी म.सा. के सम्मुख रखी। उन्हें द्वारों का वर्गीकरण दिखाया। वर्गीकरण की पद्धति देखकर वे प्रसन्न ही नहीं अत्यधिक प्रभावित भी हुए। कुछ सोचकर वे आत्मीयता से आप्लावित मुस्कुराहट के साथ बोले—'तुम्हें इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद करना है।' मेरा मन इतना गुरु गंभीर उत्तरदायित्व लेने को प्रस्तुत नहीं था, पर कृपामूर्ति, भाववत्सल आचार्यश्री के आदेश को टालना भी तो मेरे लिये संभव नहीं था। मैंने मौन स्वीकृति दे दी। इस ग्रन्थ के अनुवादन के प्रेरणास्रोत के रूप में वे सदा मेरे स्मृति मन्दिर में विराजमान रहेंगे। श्रद्धा सह अगणित वन्दन है पूज्य चरणों में।

पर यह कार्य मेरी आराध्या, देवी आगममर्मज्ञा, भाववत्सला गुरुवर्याश्री के आशीर्वाद के बिना असंभव था। उनके अन्तर्हृदय के आशीर्वाद से ही मैं यह गुरुतर कार्य पूर्ण करने का साहस जुटा पाई थी। अन्यथा आगमिक ग्रन्थ का सरल, मधुर एवं प्रांजल भाषा में मूलस्पर्शी अनुवाद करना आसान नहीं है। यदि बुद्धि है, प्रतिभा है, अभीष्ट विषय का चुनाव है और आवश्यक साधन-सामग्री उपलब्ध है तो स्वतन्त्र लेखन अपेक्षाकृत आसान है। गुरुमाता के आशीर्वाद एवं सहयोग से कुछ समय तक अनुवाद का काम सरलता से चलता रहा। किंतु इस संसार में किसका समय एक-सा रहा है? किसका सपना साकार हुआ है? मेरा तो योग ही ऐसा है कि बिना श्रम, संघर्ष एवं विलंब के कभी कोई काम पूरा नहीं हुआ तो यह काम शीघ्र कैसे पूरा हो जाता। कुछ ही द्वारों का अनुवाद पूर्ण हुआ था कि गुरुवर्याश्री का स्वास्थ्य अधिक बिगड़ गया। उपचारों के बावजूद दिन-प्रतिदिन उनकी रुग्णावस्था बढ़ती गई। जो नहीं सोचा था वह घटित हो गया। वे देहातीत हो गईं। प्रस्तुत ग्रन्थ को उनके करकमलों में समर्पित करने का मेरा सपना अधूरा रह गया और अनुवाद का कार्य भी वहीं छूट गया। लेखन के प्रति मन में वितृष्णा सी छा गई। प्रियजनों, हितचिन्तकों एवं सहयोगियों की ओर से अनुवाद-पूर्ण करने का लगातार अनुरोध, आग्रह एवं निवेदन होता रहा किंतु हाथ कलम थामने को कतई तैयार नहीं था।

पर परमश्रद्धेय, प्रतिभापुंज, परमतेजोमय व्यक्तित्त्व के धनी, जन-मन-मोहक गणिवर्य श्री मणिप्रभसागर जी म.सा. के स्नेहिल आदेश ने मेरी विश्रान्त लेखन-यात्रा को पुनः गति प्रदान की। अनुवाद की पूर्णता, उन्हीं की प्रेरणा का पावन-प्रसाद है। उनके सहयोग की चर्चा कर मैं उनकी आत्मीयता का मूल्य कम नहीं करना चाहती। वे सहज आत्मीयता की प्रतिमूर्ति के रूप में मेरे मानस-कक्ष में सदा समादृत रहेंगे। वे मेरी चेतना को सदा जगाते रहें, इन्हीं कामनाओं के साथ श्रद्धेय-चरणों में प्रणामांजलि सह समर्चना प्रस्तुत है।

अनुवाद के व्यवधान की कहानी का अन्त यहीं नहीं होता। पू. गुरुवर्या के दिवंगत होने के पश्चात् संघ-समुदाय संबंधी उत्तरदायित्व, दीक्षा, प्रतिष्ठा, उपधान आदि के शृंखलाबद्ध कार्यक्रम, प्रवचन, शिबिर, चातुर्मासिक-आराधनाओं की व्यवस्था, सुदूर प्रदेशों की विहारयात्रा, स्वास्थ्य की प्रतिकूलता आदि कारणों से कई बार लेखन में लंबे समय तक का अन्तराल उपस्थित होता रहा। फिर भी जब-जब समय मिलता कुछ न कुछ लिखने का प्रयास करती रही। मैं जितना शीघ्र इसे पूर्ण करना चाहती थी, प्रकृति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उतनी अधिक अन्तराय उपस्थित करने में तुली हुई थी। **Matter** प्रेस में चला गया। कुछ **Matter Print** होकर संशोधन हेतु मेरे पास पहुँच भी गया था। शेष **Matter** प्रेस वाले के पास ही था। प्रेस में आग लग गई। संशोधन हेतु समागत प्रूफ को छोड़कर शेष सम्पूर्ण **Matter** स्वाहा हो गया। एक बार तो सुनकर झटका लगा और लगना स्वाभाविक भी था। किन-किन व्यस्तताओं और कठिनाइयों के बीच मंद गति से चलती हुई लेखन-यात्रा को मुश्किल से मंजिल मिली थी। उसकी खुशी पूर्णतया अभिव्यक्त भी नहीं कर पाई थी कि इतना बड़ा हादसा घटित हो गया। आहत मन को जैसे-तैसे स्वस्थ किया। साहस जुटाकर थके हाथों को कलम थामने हेतु पुनः सक्रिय किये। अनेक उत्तरदायित्वों के बीच तीव्र गति से चलना मुश्किल था। धीमी गति से आगे बढ़ती हुई यह यात्रा आखिर पूना दादाबाड़ी में 'कुशल गुरुदेव' के सान्निध्य में हर्ष-विषाद के मिश्रित भावों के साथ संपूर्ण हुई।

प्रस्तुत अनुवाद—

मेरा अनुवाद कैसा है? यह सुज्ञ पाठक ही समझेंगे। हाँ, मैंने अपनी ओर से इसे मूल के आसपास ही रखने की कोशिश की है। कठिन स्थलों को सरल, सुबोध एवं स्पष्ट करने के लिए यत्र-तत्र उचित कल्पनाओं का सहारा भी लिया है। यदा-कदा प्रश्नोत्तर शैली भी अपनाई है। जहाँ आवश्यक लगा वहाँ विषय का वर्गीकरण भी किया है और संक्षिप्तीकरण भी। कई विषयों के विवेचना के साथ चित्र भी दिये हैं जिससे पाठक को विषय का सही ज्ञान हो जाये। भूगोल संबंधी विषयों को चित्र देकर समझाया है ताकि पाठक तत्संबंधी स्थान, आकार-प्रकार एवं स्थिति का सही बोध कर सके। गुणस्थान, लेश्या, कर्मस्वरूप, विग्रहगति आदि के भी यथाशक्य चित्र दिये हैं जो आत्मा की ऊंच-नीच दशाओं का यथार्थ परिचय कराते हैं। स्थान-स्थान पर टेबल देकर विषय को एक ही झलक में ग्राह्य बनाने का प्रयास किया है। फिर भी अनुवाद आखिर अनुवाद ही तो है। मैंने जो कुछ किया है उस पर गर्व तो नहीं किंतु सात्त्विक सन्तोष अवश्य है। आगमिक ग्रन्थ के अनुवाद का यह मेरा प्रथम प्रयास है। अनुपयोग एवं अज्ञानतावश इसमें त्रुटियाँ रहना स्वाभाविक हैं। ग्रन्थकार एवं टीकाकार की भावनाओं के विरुद्ध कुछ भी लिखा गया हो तो मैं करबद्ध क्षमा-प्रार्थना करती हूँ— 'मिच्छामि दुक्कडं'।

प्रस्तुत प्रकाशन के क्षणों में पू. गुरुवर्याश्री की पावन-स्मृति मेरी आत्मतृप्ति का अलौकिक अमृत है। जिनकी भाववत्सलता से मेरे जीवन का कण-कण आप्लावित एवं सक्रिय है। वे मेरी चेतना हैं...वे मेरी प्रेरणा हैं, शिक्षा एवं दीक्षा दाता हैं। वे मेरी सांसों का संगीत एवं प्राणों का मंगलगीत हैं। जिनका शिष्यत्व मेरे लिये गौरव का विषय है। मैं उनसे जुड़कर धन्य हूँ। उनसे जो पाया वह उनका ही रहने दूँगी। बस, उनका मंगलमय आशीर्वाद मेरे जीवनपथ को सदा आलोकित करता रहे इन्हीं आकांक्षाओं के साथ आराध्यचरणों में अनन्तशः वन्दन समर्पित है।

प. पू. विदुषीवर्या, गुरुभगिनी विनोदश्री म.सा. (संसारी बड़ी बहिन), कृपामूर्ति प. पू. प्रियदर्शना श्रीजी म. सा., आदर्शसंयमी सेवामूर्ति विनयप्रभाश्रीजी का लेखन-काल में जो अनमोल सहयोग मिला वह मेरे प्रति उनके अनन्य प्रेम का साक्षी है। वे मेरे अपने हैं। उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन कर परायेपन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की प्रतीति कराने का अक्षम्य अपराध नहीं करूँगी। आशीर्वाद सह उनका स्नेहिल सहयोग मुझे सदा मिलता रहे, यही शुभाकांक्षा है।

मेरी अन्तेवासिनी साध्वी श्रद्धांजना का प्रस्तुत कार्य में उल्लेखनीय सहयोग रहा है। इसकी प्रेसकॉपी इसी ने तैयार की है।

साध्वी अमितयशा बड़ी तन्मयता से प्रूफरीडिंग कर ग्रन्थ को यथाशक्य शुद्ध बनाने में उपयोगी बनी है।

साध्वी कल्पलता, साध्वी विनीतप्रज्ञा एवं साध्वी शुद्धांजना के विवेकपूर्ण, मूल्यवान सुझावों का ग्रन्थ को संवारने में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

सदा प्रसन्नवदना साध्वी प्रियंवदा श्रीजी, तपस्विनी साध्वी श्री विनीतयशाश्रीजी का प्रेम कैसे भूला सकती हूँ। उनका जो प्रेम पाया है, उसे अभिव्यक्त कर सीमित नहीं करूँगी।

साध्वी योगांजना, साध्वी शीलांजना, साध्वी दीपमाला एवं साध्वी दीपशिखा की समयोचित निर्मल सेवायें कम स्पृहणीय नहीं है।

इन सभी का **निर्मल**-निश्छल सहयोग मेरी स्मृति में ताजा खिले-मुस्कुराते पुष्पों की तरह सदा महकता रहेगा।

भूमिका लेखन के लिये मानस-चक्षुओं में तैर रहे, प्रज्ञाप्रोज्ज्वल भास्वर व्यक्तित्व के धनी, जैनदर्शन के मूर्धन्य विद्वान डॉ. सागरमलजी जैन की हृदय से कृतज्ञ हूँ। उन्होंने अपने व्यस्त कार्यक्रम में भी समय निकालकर जो लिखा है, वह उनके अप्रतिम पाण्डित्य का परिचायक तो है ही साथ ही मेरे प्रति उनके अगाध अपनत्त्व का भी परिचायक है।

शासनरत्न, प्राणीमित्र श्री कुमारपाल भाई वि. शाह की अभिनन्दनीय स्मृति का अंकन किये बिना मैं कैसे रह सकती हूँ, जो मेरे प्रश्नों एवं अनुवाद-संबंधी कठिनाइयों का समाधान उपलब्ध कराने के सबल माध्यम बने।

विद्वद्वरेण्य ग्रन्थकार एवं महनीय टीकाकार की अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। जिनके सृजन के बिना इस कार्य की प्रस्तुति ही संभव नहीं थी।

एक विशेष बात—तपागच्छीय प. पू. विद्वान मुनिराज श्री मुनिचन्द्र विजय जी म. सा. ने प्रवचनसारोद्धार के गुजराती अनुवाद भाग-२ में मेरे 'हिन्दी अनुवाद' का सादर उल्लेख कर अपनी उदारता एवं गुणानुराग का अद्‌भुत परिचय दिया है। एक अपरिचित साध्वी के प्रति उनकी इतनी सहृदयता वस्तुतः इन क्षणों में मुझे गद्गद् कर रही है। मुनि श्री को स्मृति सह सादर वंदन है।

अन्त में, जिनके सहयोग से इस विशालकाय ग्रन्थ का प्रकाशन हो सका वे संस्थायें 'प्राकृत भारती अकादमी' तथा 'श्री जैन श्वे. नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ' अभिनन्दनीय हैं। दोनों संस्थाओं के सह-संयोग से आज तक अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। मैं इन संस्थाओं के चहुमुंखी विकास की कामना करती हूँ।

इन संस्थाओं के प्रमुख श्री देवेन्द्रराज जी मेहता—सचिव, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, श्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पारसमलजी भंसाली अध्यक्ष, श्री जैन श्वे. नाकोड़ा तीर्थ, मेवानगर एवं साहित्यवाचस्पति महोपाध्याय विनयसागरजी, निदेशक, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर को हार्दिक साधुवाद देती हूँ, जिन्होंने इस ग्रन्थ को जनसुलभ कराने में अदम्य उत्साह दिखाया है। भविष्य में उनके इसी उत्साह की पुनः-पुनः अपेक्षा है।

इस ग्रन्थ का अधिकाधिक स्वाध्याय कर तत्त्वजिज्ञासु आत्मा श्रुतज्ञान को आत्मसात् करें यही शुभेच्छा है।

श्री जिनकुशलसूरि दादाबाड़ी, पूना,
वि.सं.२०५४, माघसुदी १५.

अनुभव गुरु चरणरज
साध्वी हेमप्रभा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारों का अनुक्रम

'गागर में सागर' का उदाहरण प्रस्तुत करने वाले इस ग्रन्थ में अनेक द्वार एक विषय से संबद्ध हैं पर वे क्रमबद्ध नहीं हैं, अलग-अलग बिखरे हुए हैं। मैंने इस ग्रन्थ का परिशीलन किया तब यह चिन्तन उभरा कि क्यों नहीं अलग-अलग बिखरे द्वारों का विषय के अनुरूप संकलन कर, अलग-अलग विभाग बना दिये जाये तथा विषय के अनुरूप विभागों का नामकरण कर दिया जाये? इस प्रकार एक विषय से संबद्ध सामग्री एक स्थान पर उपलब्ध हो जाने से पाठकों को अध्ययन में सुगमता रहेगी। नीचे प्रस्तुत है नौ विभागों में विभक्त २७६ द्वारों की विषयबद्ध सूची।

१. विधि-विभाग

	द्वार का नाम	द्वार संख्या		द्वार का नाम	द्वार संख्या
१.	चैत्यवंदन द्वार	१	६.	दिवस सम्बन्धी वंदन संख्या	७५
२.	वंदन द्वार	२	७.	रात्रि जागरण	१२८
३.	प्रतिक्रमण द्वार	३	८.	आलोचना दाता की गवेषणा	१२९
४.	प्रत्याख्यान द्वार	४	९.	असज्झाय	२६८
५.	निर्यामक मुनि	७१			

२. आराधना-विभाग

	द्वार का नाम	द्वार संख्या		द्वार का नाम	द्वार संख्या
१.	वीशस्थानक	१०	५.	बाईस परिषह	८६
२.	विनय के बावन भेद	६५	६.	कायोत्सर्ग द्वार	५
३.	ब्रह्मचर्य के अठारह भेद	१६८	७.	पच्चीस शुभ-भावना	७२
४.	इन्द्रियजयादि तप	२७१	८.	पच्चीस अशुभ-भावना	७३

३. सम्यक्त्व और श्रावकधर्म-विभाग

	द्वार का नाम	द्वार संख्या		द्वार का नाम	द्वार संख्या
१.	सम्यक्त्व के सड़सठ भेद	१४८	४.	सामायिक के चार आकर्ष	१२२
२.	सम्यक्त्व के प्रकार	१४९	५.	अणुव्रत के भांगे	२३६
३.	श्रुत में सम्यक्त्व	११३	६.	श्रावक प्रतिमा	१५३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. प्राणातिपात के २४३ भेद १६६
८. परिणाम के १०८ भेद १६७
९. गृहस्थ प्रतिक्रमण के १२४ अतिचार ६
१०. श्रावक के २१ गुण २३९

४. साधु-धर्म-विभाग

	द्वार का नाम	द्वार संख्या		द्वार का नाम	द्वार संख्या
१.	मुनि के २७ गुण	२३८	३०.	शय्यातरपिंड कल्प्य	११२
२.	अठारह हजार शीलांगरथ	१२३	३१.	पानी और भोजन की सात एषणा	९६
३.	चरणसित्तरी	६६	३२.	ग्रासैषणा पंचक	९५
४.	करणसित्तरी	६७	३३.	भोजन के भाग	१३२
५.	महाव्रतों की संख्या	७४	३४.	क्षेत्रातीत अकल्प्य	११५
६.	क्षेत्रों में सामायिकादि चारित्रों की संख्या	७६	३५.	मार्गातीत अकल्प्य	११६
७.	निर्ग्रन्थ	९३	३६.	कालातीत अकल्प्य	११७
८.	श्रमण-पंचक	९४	३७.	प्रमाणातीत अकल्प्य	११८
९.	संसारचक्र में निर्ग्रन्थ की प्राप्ति	१०२	३८.	स्थंडिलभूमि का स्वरूप	९१
१०.	पाँच व्यवहार	१२६	३९.	पारिष्ठापनिका और उच्चारकरण दिशा	१०६
११.	जंघाचारण-विद्याचारण की गमनशक्ति	६८	४०.	साधुओं के विहार का स्वरूप	१०३
१२.	आचार्य के ३६ गुण	६४	४१.	अप्रतिबद्ध विहार	१०४
१३.	निर्ग्रन्थ का चार गति में गमन	११४	४२.	वसति की शुद्धि	१३३
१४.	दीक्षा के अयोग्य अठारह प्रकार के पुरुष	१०७	४३.	वृषभ साधुओं द्वारा वसति ग्रहण	१३५
१५.	दीक्षा के अयोग्य बीस प्रकार की स्त्रियाँ	१०८	४४.	स्थितकल्प	७७
१६.	दीक्षा के अयोग्य दश प्रकार के नपुंसक	१०९	४५.	अस्थित कल्प	७८
१७.	दीक्षा के अयोग्य विकलांग	११०	४६.	जात-अजात कल्प	१०५
१८.	स्थविर-कल्पी मुनियों के उपकरणों की संख्या	६१	४७.	दुःखशय्या	११९
			४८.	सुखशय्या	१२०
१९.	साध्वियों के उपकरणों की संख्या	६२	४९.	गुरु शुश्रूषा काल	१३०
२०.	कितने मूल्य का वस्त्र कल्प्य है ?	१११	५०.	ओघ पद विभाग	९९
२१.	वस्तु ग्रहण विधान	१२५	५१.	समाचारी	१००
२२.	पाँच यथाजात	१२७	५२.	मांडली के सात भेद	८९
२३.	दंड पंचक	८१	५३.	दश प्रायश्चित्त	९८
२४.	तृण पंचक	८२	५४.	चक्रवाल समाचारी	१०१
२५.	चर्म पंचक	८३	५५.	भाषा के चार भेद	१३९
२६.	दूष्य पंचक	८४	५६.	वचन के सोलह भेद	१४०
२७.	अवग्रह पंचक	८५	५७.	अप्रशस्त भाषा के छः भेद	२३५
२८.	उपधि प्रक्षालन काल	१३१	५८.	संलेखना	१३४
२९.	भिक्षाचर्या की विधि (भिक्षा मार्ग)	९७	५९.	जिन कल्पियों के उपकरण की संख्या	६०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६०. एक वसति में जिन-कल्पियों की उत्कृष्ट संख्या ६३
६१. यथालंदिक कल्प ७०
६२. परिहार विशुद्धितप ६९

५. जीवस्वरूप-विभाग

	द्वार का नाम	द्वार संख्या		द्वार का नाम	द्वार संख्या
१.	जीव के चौदह भेद	२२२	२८.	नारकों का अवधिज्ञान	१७९
२.	अजीव के चौदह भेद	२२३	२९.	परमाधामी	१८०
३.	जीव संख्या कुलक	२१४	३०.	नरक में से निकले हुए को लब्धि की प्राप्ति	१८१
४.	कुलकोटि संख्या	१५०	३१.	कौन-कौनसे जीव नरक में जाते हैं?	१८२
५.	योनि संख्या	१५१	३२.	एक समय में नरक में उत्पन्न होने वाले जीवों की संख्या	१८३
६.	संज्ञा के तीन भेद	१४४	३३.	एक समय में नरक से च्यवने वाले जीवों की संख्या	१८४
७.	संज्ञा के चार भेद	१४५	३४.	एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय संज्ञी जीवों की कायस्थिति	१८५
८.	संज्ञा के दश भेद	१४६	३५.	संज्ञी जीवों की भवस्थिति	१८६
९.	संज्ञा के पन्द्रह भेद	१४७	३६.	एकेन्द्रियादि जीवों का शरीर प्रमाण	१८७
१०.	प्राण के दश भेद	१७०	३७.	एकेन्द्रियादि जीवों की इन्द्रियों का स्वरूप और विषय-ग्रहण	१८८
११.	जीवों का आहार और श्वास ग्रहण	२०५	३८.	एकेन्द्रियादि जीवों की लेश्या	१८९
१२.	पर्याप्ति के छः भेद	२३२	३९.	एकेन्द्रियादि जीवों की गति	१९०
१३.	समुद्घात के सात भेद	२३१	४०.	एकेन्द्रियादि जीवों की आगति	१९१
१४.	नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवों की विकुर्वणा का उत्कृष्ट काल	२३०	४१.	एकेन्द्रियादि जीवों का जन्म-मरण का विरह काल	१९२
१५.	अनाहारी के चार भेद	२३३	४२.	एकेन्द्रियादि जीवों की जन्म-मरण की संख्या	१९३
१६.	आहारक स्वरूप	२७३	४३.	देवों की स्थिति	१९४
१७.	लब्धियाँ	२७०	४४.	देवों के भवन	१९५
१८.	मरण के सत्रह प्रकार	१५७	४५.	देवों के शरीर की अवगाहना	१९६
१९.	जीव-अजीव का अल्पबहुत्व	२६३	४६.	देवों की लेश्या	१९७
२०.	तिर्यंच, मनुष्य और देव की अपेक्षा कितनी अधिक स्त्रियाँ?	१३७	४७.	देवों का अवधिज्ञान	१९८
२१.	नारकों के सात भेद	१७२	४८.	देवों का प्रविचार	२६६
२२.	नारकों के आवास	१७३	४९.	देवों की उत्पत्ति का विरहकाल	१९९
२३.	नारकों की वेदना	१७४	५०.	देवों के च्यवन का विरह काल	२००
२४.	नारकों का आयुष्य	१७५			
२५.	नारकों का शरीर प्रमाण	१७६			
२६.	नारकों की उत्पत्ति और च्यवन का विरह-काल	१७७			
२७.	नारकों की लेश्या	१७८			

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५१.	एक समय में उत्पत्ति और च्यवन का विरहकाल	२०१	६३.	एक गर्भ के कितने पिता ?	२४६
५२.	देवों की गति	२०२	६४.	कितने समय बाद स्त्री-पुरुष अबीज बनते हैं ?	२४७
५३.	देवों की आगति	२०३	६५.	शुक्र-रुधिर ओजस् आदि का परिमाण	२४८
५४.	पन्द्रह कर्मभूमि	१६३	६६.	मनुष्य भव के लिये अयोग्य जीव	२५०
५५.	तीस अकर्मभूमि	१६४	६७.	भरत क्षेत्र के अधिपति	२०८
५६.	छप्पन अन्तर्द्वीप	२६२	६८.	बलदेव	२०९
५७.	तिर्यंच स्त्री की उत्कृष्ट गर्भस्थिति	२४०	६९.	वासुदेव	२१०
५८.	मनुष्य-स्त्री की उत्कृष्ट गर्भस्थिति	२४१	७०.	प्रतिवासुदेव	२११
५९.	मनुष्य पुरुष की गर्भ की कायस्थिति	२४२	७१.	चौदह रत्न	२१२
६०.	गर्भस्थित जीव का आहार	२४३	७२.	नव-निधि	२१३
६१.	गर्भोत्पत्ति काल	२४४	७३.	युगप्रधान आचार्यों की संख्या	२६४
६२.	एक साथ कितने गर्भ ?	२४५	७४.	अपहरण-अयोग्य व्यक्ति	२६१

६. कर्म-साहित्य विभाग

	द्वार का नाम	द्वार संख्या		द्वार का नाम	द्वार संख्या
१.	आठ कर्म	२१५	११.	उपशम श्रेणि	९०
२.	उत्तर प्रकति १५८	२१६	१२.	मार्गणा १४	२२५
३.	पुण्य प्रकृति ४२	२१९	१३.	उपयोग १२	२२६
४.	पाप-प्रकृति ८२	२२०	१४.	योग १५	२२७
५.	बंध-उदय-उदीरणा और सत्ता का स्वरूप	२१७	१५.	षट्भाव	२२१
६.	अबाधा सहित कर्म-स्थिति	२१८	१६.	षट्स्थान	२६०
७.	चौदह गुणस्थानक	२२४	१७.	सम्यक्त्व आदि उत्तम गुणों की प्राप्ति में उत्कृष्ट अन्तर	२४९
८.	गुणस्थानकों का काल प्रमाण	२२९	१८.	प्रमाद के आठ भेद	२०७
९.	गुणस्थानकों में परलोक गति	२२८	१९.	मद के आठ भेद	१६५
१०.	क्षपक श्रेणि	८९			

७. तीर्थंकर-विभाग

	द्वार का नाम	द्वार संख्या		द्वार का नाम	द्वार संख्या
१.	तीर्थंकरों के नाम	७	७.	आयुष्य	३२
२.	तीर्थंकरों के माता-पिता के नाम	११	८.	आठ महाप्रातिहार्य	३९
३.	माता-पिता की गति	१२	९.	चौतीश अतिशय	४०
४.	तीर्थंकरों का देहमान (शरीर प्रमाण)	२८	१०.	अठारह दोष	४१
५.	लंछन	२९.	११.	दीक्षा-समय का परिवार	३१
६.	वर्ण	३०	१२.	दीक्षा समय का तप	४३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३.	केवलज्ञान समय का तप	४४	२८.	मनःपर्यवज्ञानी मुनियों की संख्या	२२
१४.	निर्वाण समय का तप	४५	२९.	चौदह पूर्वधारी मुनियों की संख्या	२३
१५.	निर्वाण समय का परिवार	३३	३०.	यक्ष नाम	२६
१६.	निर्वाण-गमन-स्थान	३४	३१.	यक्षिणी नाम	२७
१७.	गणधरों के नाम	८	३२.	जिनेश्वरों का अन्तरकाल	३५
१८.	प्रवर्तिनी नाम	९	३३.	तीर्थ-विच्छेद	३६
१९.	२४ तीर्थंकरों के गणधरों की संख्या	१५	३४.	उत्सर्पिणी के अंतिम जिन के तीर्थ का काल प्रमाण	२६५
२०.	साधुओं की संख्या	१६	३५.	विरहमान जिन	१३
२१.	साध्वियों की संख्या	१७	३६.	तीर्थंकरों की उत्कृष्ट जन्म संख्या	१४
२२.	श्रावकों की संख्या	२४	३७.	भावी जिन के नाम	४६
२३.	श्राविकाओं की संख्या	२५	३८.	निक्षेप के चार प्रकार	४२
२४.	वैक्रियलब्धिधारी मुनियों की संख्या	१८	३९.	शाश्वती जिन प्रतिमाओं के नाम	५९
२५.	वादी मुनियों की संख्या	१९	४०.	दश आशातना	३७
२६.	अवधिज्ञानी मुनियों की संख्या	२०	४१.	चौराशी आशातना	३८
२७.	केवलज्ञानी मुनियों की संख्या	२१			

८. सिद्ध विभाग

	द्वार का नाम	द्वार संख्या		द्वार का नाम	द्वार संख्या
१.	सिद्ध के ३१ गुण	२७६	८.	ऊर्ध्वादि सिद्ध संख्या	४७
२.	सिद्ध के १५ भेद	४९	९.	एक समय सिद्ध संख्या	४८
३.	सिद्ध के संस्थान	५४	१०.	निरन्तर सिद्ध गमन संख्या	५२
४.	सिद्धशिला का वर्णन	५५	११.	गृहिलिंगादि सिद्ध संख्या	५१
५.	सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना	५६	१२.	त्रिवेद सिद्ध संख्या	५३
६.	सिद्धों की मध्यम अवगाहना	५७	१३.	सिद्धों की अवगाहना	५०
७.	सिद्धों की जघन्य अवगाहना	५८	१४.	सिद्धि गति का विरह	२०४

९. द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव विभाग

	द्वार का नाम	द्वार संख्या		द्वार का नाम	द्वार संख्या
१.	छः अनन्त	२५६	८.	धान्य की अबीजता	१५४
२.	दश कल्पवृक्ष	१७१	९.	क्षेत्रातीत की अचित्तता	१५५
३.	पाताल-कलश	२७२	१०.	धान्य के २४ नाम	१५६
४.	तमस्काय का स्वरूप	२५५	११.	भक्ष्य-भोजन के १८ भेद	२५९
५.	चैत्य पंचक	७८	१२.	लोक स्वरूप	१४३
६.	पुस्तक पंचक	७९	१३.	अनार्य देश	२७४
७.	प्रासुक जल काल	१३६	१४.	आर्य देश	२७५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५.	नन्दीश्वर द्वीप के जिनालय	२६९	२७.	मास पाँच	१४१
१६.	कृष्णराजी	२६७	२८.	वर्ष पाँच	१४२
१७.	लवण समुद्र की शिखा का प्रमाण	२५३	२९.	सप्तनय	१२४
१८.	मानोन्मान प्रमाण	२५८	३०.	पाखंडियों के ३६३ भेद	२०६
१९.	उत्सेधांगुलादि	२५४	३१.	क्रियास्थान तेरह	१२१
२०.	पल्योपम	१५८	३२.	सात भय स्थान	२३४
२१.	सागरोपम	१५९	३३.	पापस्थानक अठारह	२३७
२२.	अवसर्पिणी का स्वरूप	१६०	३४.	काम के चौबीस प्रकार	१६९
२३.	उत्सर्पिणी का स्वरूप	१६१	३५.	अष्टांगनिमित्त	२५७
२४.	पुद्गल परावर्तन का स्वरूप	१६२	३६.	दश आश्चर्य	१३८
२५.	पूर्वांग का परिमाण	२५१	३७.	दश स्थान व्यवच्छेद	८८
२६.	पूर्व का परिमाण	२५२	३८.	चौदहपूर्व के नाम	९२

¤ * ¤ * ¤

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयानुक्रम

द्वार-संख्या	विषय	पृष्ठांक
	मंगलाचरण	१-६
	द्वार-नामावली	६-२१
१.	चैत्यवन्दन	२२-३८
२.	वन्दनक	३८-७५
३.	प्रतिक्रमण	७५-८१
४.	प्रत्याख्यान	८१-१०७
५.	उत्सर्ग	१०७-११२
६.	व्रत अतिचार	११२-१४९
७.	जिन-नाम	१४९-१५२
८.	गणधर-नाम	१५२-१५३
९.	प्रवर्तिनी नाम	१५३-१५४
१०.	बीसस्थानक	१५४-१५८
११.	माता-पिता नाम	१५८-१५९
१२.	जिन जननी-जनक गति	१५९-१६०
१३.	विहरमानजिन	१६१-
१४.	जन्मसंख्या	१६१-१६२
१५.	गणधर संख्या	१६२-
१६.	श्रमण संख्या	१६२-१६३
१७.	श्रमणी संख्या	१६३-१६४
१८.	वैक्रियलब्धिधारी संख्या	१६४-१६५
१९.	वादी संख्या	१६५-१६६
२०.	अवधिज्ञानी संख्या	१६६-१६७
२१.	केवलज्ञानी संख्या	१६७-१६८
२२.	मनःपर्यवज्ञानी संख्या	१६८-१६९
२३.	चौदहपूर्वी संख्या	१६९-१७०
२४.	श्रावक संख्या	१७०-१७१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वार-संख्या	विषय	पृष्ठांक
२५.	श्राविका संख्या	१७१
२६.	अधिष्ठायक	१७१-१७४
२७.	अधिष्ठायिका	१७५-१७७
२८.	शरीरपरिमाण	१७७
२९.	लांछन	१७७-१७८
३०.	जिन वर्ण	१७९
३१.	व्रती-परिवार	१७९-१८०
३२.	आयु-प्रमाण	१८०
३३.	मोक्ष-परिवार	१८०-१८१
३४.	निर्वाण-स्थल	१८१-१८२
३५.	अन्तरकाल	१८२-१९०
३६.	तीर्थविच्छेद	१९०-१९१
३७.	आशातना-१०	१९१
३८.	आशातना-८४	१९१-१९५
३९.	प्रातिहार्य	१९५-१९८
४०.	अतिशय	१९८-२०१
४१.	अठारह दोष	२०१-२०२
४२.	अर्हच्चतुष्क	२०३
४३.	निष्क्रमण तप	२०३
४४.	केवलज्ञान तप	२०४
४५.	निर्वाण तप	२०४
४६.	भावी तीर्थंकर	२०४-२०७
४७.	तीन लोक में सिद्ध	२०७-२०८
४८.	एक समय में सिद्ध	२०८
४९.	सिद्ध भेद	२०९-२१०
५०.	अवगाहना	२१०-२११
५१.	लिंगसिद्ध	२११-२१२
५२.	निरन्तरसिद्ध	२१२-२१३
५३.	तीन वेद सिद्ध	२१४-२१६
५४.	संस्थान	२१६-२१७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वार-संख्या	विषय	पृष्ठांक
५५.	अवस्थान	२१७-२१८
५६-५८	अवगाहना	२१८-२२०
५९.	शाश्वत-जिन-नाम	२२०
६०.	उपकरण संख्या	२२०-२२३
६१.	स्थविर-उपकरण	२२३-२३४
६२.	साध्वी-उपकरण	२३४-२३८
६३.	जिनकल्पी संख्या	२३८-२४२
६४.	आचार्यगुण	२४२-२५०
६५.	विनय भेद	२५१
६६.	चरण भेद	२५२-२६१
६७.	करण भेद	२६१-३१५
६८.	गमनशक्ति	३१५-३१७
६९.	परिहारविशुद्धि	३१७-३२२
७०.	यथालन्द	३२२-३२८
७१.	निर्यामक	३२८-३३१
७२.	शुभभावना	३३१-३३४
७३.	अशुभभावना	३३४-३३९
७४.	महाव्रत	३३९-३४०
७५.	कृतिकर्म	३४१
७६.	क्षेत्र में चारित्र संख्या	३४१-३४२
७७.	स्थितकल्प	३४२-३४३
७८.	अस्थितकल्प	३४३-३४७
७९.	चैत्य-पञ्चक	३४७-३४९
८०.	पुस्तक-पञ्चक	३५०-३५१
८१.	दण्ड-पञ्चक	३५१-३५३
८२.	तृण-पञ्चक	३५३
८३.	चर्म-पञ्चक	३५४-३५५
८४.	दूष्य-पञ्चक	३५५-३५६
८५.	अवग्रह-पञ्चक	३५६-३५८
८६.	परिषह	३५८-३६५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वार-संख्या	विषय	पृष्ठांक
८७.	मण्डली	३६५
८८.	व्यवच्छेद-१०	३६५-३६६
८९.	क्षपकश्रेणि	३६६-३७५
९०.	उपशमश्रेणि	३७५-३८३
९१.	स्थण्डिल	३८३-३९२
९२.	पूर्वनाम (नाम-पद-संख्या)	३९३-३९६
९३.	निर्ग्रन्थ-पञ्चक	३६६-४०३
९४.	श्रमण-पञ्चक	४०३
९५.	ग्रासैषणा-पञ्चक	४०३-४०७
९६.	पिण्डैषणा-पानैषणा	४०७-४१०
९७.	भिक्षाचर्या-विधि	४१०-४१२
९८	प्रायश्चित्त	४१२-४१८
९९.	ओघसमाचारी	४१८
१००.	पदविभाग समाचारी	४१८-४१९
१०१.	चक्रवाल समाचारी	४१९-४२४
१०२.	भव-निर्ग्रन्थत्व	४२४-४२५
१०३.	विहार-स्वरूप	४२५-४२६
१०४.	अप्रतिबद्ध-विहार	४२६-४२९
१०५.	जाताजातकल्प	४२९-४३०
१०६.	प्रतिस्थापन-उच्चार दिशा	४३०-४३३
१०७.	दीक्षा-अयोग्य पुरुष	४३३-४३७
१०८.	दीक्षा-अयोग्य स्त्री	४३७-४३८
१०९.	दीक्षा-अयोग्य नपुंसक	४३८-४४०
११०.	दीक्षा-अयोग्य विकलांग	४४०

¤ * ¤ * ¤

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन सारोद्धार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

• ऐं नमः •

• श्रीआदिनाथाय नमः •

• श्रीजिनदत्त-मणिधारीजिनचन्द्र-जिनकुशल-जिनचन्द्रगुरुभ्यो नमः •

• प्रेम-अनुभवगुरुवर्याभ्यो नमः •

• श्रीनेमिचन्द्रसूरि प्रणीत •

प्रवचन-सारोद्धार

(हिन्दी-व्याख्या सहित)

श्रीसिद्धसेनसूरि रचित टीका का मङ्गलाचरण

सन्नद्धैरपि यत्तमोभिरखिलैर्न स्पृश्यते कुत्रचित्,
चञ्चत्कालकलाभिरप्यनुकुलं यन्नीयते न क्षयम्।
तेजोभिः स्फुरितैः परैरपि हठादाक्रम्यते यन्न त-
ज्जैनं सर्वजगत्प्रकाशनपटु ज्योतिः परं नन्दतु ॥१॥

(१) चारों ओर फैला हुआ अज्ञानरूपी अंधकार जिसे छू भी नहीं सकता, जगत के संपूर्ण पदार्थों को प्रतिपल क्षय करने वाली काल की कला जिसे क्षय नहीं कर सकती, जिसका तेज अन्य तेजों से कभी मंद नहीं होता, ऐसी विश्व को प्रकाशित करने वाली 'जैनी-ज्योति' (परमात्मा की ज्ञान ज्योति) निरन्तर बढ़ती रहे।

यो ध्यानेन निमूलकाषमकषद् द्वेषादिविद्वेषिणो,
यस्त्रैलोक्यविलोकनैकरसिकं ज्योतिः किमप्यातनोत्।
यः सद्भूतमशेषमर्थमवदत् दुर्वादिवित्रासकृद्,
देवार्च्यः शिवतातिरस्तु स विभुः श्रीवर्धमानः सताम् ॥२॥

(२) शुभध्यान के बल से राग, द्वेषादि शत्रुओं का समूल नाश करने वाले, त्रैलोक्यदर्शिनी केवलज्ञान की ज्योति को प्रकट करने वाले, अन्य दर्शनियों को शंकित करने वाले पदार्थों के यथार्थ स्वरूप के प्रतिपादक, देव, देवेन्द्रों से पूजित, भगवान श्री महावीर प्रभु सत्पुरुषों का कल्याण करें।

स्वगुरूणामादेशं चिन्तामणिसोदरं समासाद्य।
श्रेयस्कृते करोमि प्रवचनसारस्य वृत्तिमिमाम् ॥३॥

(३) चिन्तामणिरत्न के समान (चिन्तित अर्थ को देने से) अपने गुरुदेव की आज्ञा पाकर मैं (सिद्धसेन सूरि) परोपकार के लिये प्रवचन सारोद्धार की 'तत्त्वविकाशिनी' नाम की टीका करता हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मंगल-अभिधेय-प्रयोजन-संबंध—

(४) अपने कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के इच्छुक विवेकी पुरुष अपने इष्टदेव को नमन करके ही शास्त्र रचनादि इच्छित कार्य में प्रवृत्त होते हैं। यद्यपि शारीरिक व मानसिक नमस्कार भी विघ्ननाश करने में समर्थ है तथापि शास्त्रश्रवण की रुचि वाले श्रोतागण सकल विघ्नसमूह के नाशक इष्ट नमस्कारात्मक मङ्गलपूर्वक ही शास्त्रश्रवण में प्रवृत्त हों, यह बात श्रोताओं को बताने के लिये शास्त्र के प्रारम्भ में वाचिक मङ्गल करना आवश्यक है।

(५) शास्त्र के प्रारम्भ में अभिधेय (विषय) का कथन अवश्य करना चाहिये, अतः उसमें बुद्धिमानों की प्रवृत्ति सुगमता से हो। यदि शास्त्र के प्रारम्भ में अभिधेय का कथन नहीं होगा तो संशय के कारण मनुष्य शास्त्र में प्रवृत्ति ही नहीं करेंगे प्रत्युत उसे निरर्थक समझेंगे। जैसे—

प्रतिज्ञा— प्रस्तुत शास्त्र की रचना निरर्थक है।

हेतु— अभिधेय शून्य होने से।

दृष्टान्त— जो अभिधेय शून्य है, वह निरर्थक है। जैसे कौए के दाँत की परीक्षा करना। कहा है—

- विवेकी पुरुष, प्रवृत्ति में निमित्तभूत, अभिधेय (विषय) का श्रवणकर जिज्ञासावश शास्त्र को पढ़ने या सुनने में प्रवृत्त होते हैं।
- विवेकी पुरुष, अज्ञात व अनभिप्रेत विषय में कभी प्रवृत्त नहीं होते, जैसे कौए के दाँत की परीक्षा करना कोई नहीं चाहता।

वस्तुतः शास्त्र के प्रारम्भ में कथित अभिधेय को पढ़कर या सुनकर ही लोग जिज्ञासावश उसे पढ़ने या सुनने में प्रवृत्त होते हैं।

अभिधेय के साथ-साथ शास्त्र का प्रयोजन बतलाना भी आवश्यक है। बिना प्रयोजन कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति शास्त्र में प्रवृत्ति नहीं करता। कहा है— 'मूर्ख व्यक्ति भी निष्प्रयोजन प्रवृत्ति नहीं करता तो विवेकी व्यक्ति बिना प्रयोजन कैसे प्रवृत्ति करेगा?' यदि शास्त्र के प्रारम्भ में प्रयोजन नहीं दिखाया तो बुद्धिमान व्यक्ति यही कहेंगे कि—

प्रतिज्ञा— प्रस्तुत शास्त्र की रचना निरर्थक है।

हेतु— प्रयोजन शून्य होने से।

दृष्टांत— काँटों की शाखा का मर्दन करने की तरह।

शास्त्र-रचना का प्रयास व्यर्थ सिद्ध न हो, इसलिये सभी शास्त्रों के प्रारम्भ में प्रयोजन अवश्य बताना चाहिये।

(६) अभिधेय और प्रयोजन के साथ शास्त्र का सम्बन्ध दिखाना अर्थात् उसे सर्वज्ञमूलक प्रमाणित करना भी आवश्यक है, क्योंकि कोई भी शास्त्र सर्वज्ञ-मूलकता के बिना विद्वानों का आदरणीय नहीं बनता। उसके लिये कहा जा सकता है कि—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिज्ञा— यह शास्त्र अनुपादेय है।
हेतु— क्योंकि सम्बन्ध शून्य है (परम्परागत सम्बन्ध का अभाव है)।
दृष्टांत— कल्पित शास्त्र की तरह।

सर्वज्ञमूलक शास्त्र विद्वानों का विशेष आदरपात्र बनता है अत: शास्त्र के प्रारम्भ में गुरुपरम्परागत सम्बन्ध (गुरुपर्वक्रम) अवश्य दिखाना चाहिये। इसीलिये शास्त्रकार प्रथम श्लोक में मंगल आदि का वर्णन करते हैं।

नमिऊण जुगाइजिणं वोच्छं भव्वाण जाणणनिमित्तं।
पवयणसारुद्धारं गुरूवएसा समासेणं ॥१॥

श्री ऋषभदेव परमात्मा को नमस्कार करके भव्य प्राणियों के ज्ञान के लिये प्रवचन (द्वादशांगी) के सारभूत विषयों का संग्राहक 'प्रवचन-सारोद्धार' नामक ग्रन्थ गुरु के आदेश से संक्षेप में कहूँगा। ॥१॥

बौद्धों का पूर्वपक्ष—

वस्तुत: आपका यह कथन घर में नाचने जैसा है। हाँ, शब्द और अर्थ का कोई सम्बन्ध होता तब तो आपका यह कथन (प्रवचन-सारोद्धार को कहूँगा) युक्तिसङ्गत होता, पर शब्द और अर्थ का कोई सम्बन्ध ही सिद्ध नहीं है। सम्बन्ध दो तरह के हैं—(१) तादात्म्य लक्षण और (२) तदुत्पत्ति लक्षण। पर शब्द और अर्थ के बीच ये दोनों ही सम्बन्ध नहीं घटते।

शब्द और अर्थ का तादात्म्य सम्बन्ध मानें तो यह होगा कि जो अर्थ है वही शब्द है, और जो शब्द है वही अर्थ है। यदि ऐसा होता तो लड्डू का नाम लेते ही मुँह लड्डू से भर जाता। 'छुरी' शब्द बोलते ही मुँह, जीभ कट जाते परन्तु ऐसा नहीं होता, अत: शब्द अर्थ का तादात्म्य सम्बन्ध भी सिद्ध नहीं होता।

यदि तदुत्पत्ति लक्षण सम्बन्ध मानें तो प्रश्न होगा कि शब्द अर्थ से पैदा होता है? या अर्थ शब्द से पैदा होता है? शब्द से अर्थ पैदा नहीं हो सकता। घटादि पदार्थ मिट्टी से पैदा होते देखे जाते हैं, शब्द से नहीं। यदि शब्द से अर्थ का उत्पन्न होना माने तो जगत में कोई दरिद्री ही नहीं रहेगा, 'सुवर्ण' शब्द बोलते ही सामने सोने का ढेर लग जाएगा। 'घट' बनाने के लिए कुम्हार मिट्टी आदि लाने का प्रयास ही क्यों करेगा? घट बोलते ही घड़ों का ढेर लग जाएगा। अत: न तो शब्द से अर्थ पैदा होता है, न अर्थ से शब्द। शब्द हमारे तालु-ओष्ठ-दाँत वगैरह अंगों द्वारा किये गये प्रयत्नों से उत्पन्न होते हैं। इस तरह शब्द और अर्थ के बीच सम्बन्ध का अभाव होने से आपका अभिधेयादि सूचक आदिवाक्य कि 'मैं' भव्य जीवों के लिये कहूँगा, यह निरर्थक है।

बौद्धों के पूर्वपक्ष का निराकरण—

जो हमारी मान्यता नहीं है, उस विषय में उपालंभ देना मात्र कंठशोषण करना है। वास्तव में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हम शब्द और अर्थ के मध्य तादात्म्य या तदुत्पत्ति में से कोई भी सम्बन्ध नहीं मानते। हम शब्द और अर्थ का वाच्य-वाचक सम्बन्ध मानते हैं जिसमें किसी भी प्रकार का दोष नहीं है।

यदि आप शब्द का प्रामाण्य नहीं मानेंगे तो आपके मतानुसार शब्द-प्रामाण्य पर आधारित विश्व का सम्पूर्ण व्यवहार ही नष्ट हो जायेगा।

'जिसमें लोक-व्यवहार का कोई अवकाश न हो, ऐसे मत को सच्चा समझना या मानना व्यामोह मात्र ही है।'

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा सकता है, किन्तु ग्रन्थ-विस्तार के भय से यहाँ अधिक नहीं कहा गया है। (जिज्ञासु **प्रमाणनयतत्त्वालोक आदि** ग्रन्थ में देखें)

- **जुगाईजिणं** इस गाथा का 'युग' पद अवसर्पिणी (काल विशेष) का प्रतीक है। 'युगादिजिन' का अर्थ है—अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव। यहाँ 'युगादिजिन' पद विशेषण है, इसका विशेष्यपद होना चाहिए किन्तु 'ऋषभदेव' ऐसा विशेष्य पद यहाँ अलग नही कहा गया, कारण जहाँ विशेषण प्रौढ़ होता है, वहाँ अलग से विशेष्यपद कहना आवश्यक नहीं होता। प्रौढ़ विशेषण से ही प्रकृत विशेष्य उपस्थित हो जाता है। जैसे—'ध्यान में लीन मन, वचन और काया के व्यापार से रहित (योगी पुरुष) एक अद्वितीय एवं निर्मल स्वरूप के दर्शन करते हैं।' यहाँ प्रौढ़ विशेषणों (Active-adjective) के सामर्थ्य से अनुक्त भी 'योगी-पुरुष' रूप विशेष्य पद स्वतः उपस्थित हो जाता है।
- **भव्यानां**—अपने स्वाभाविक सद्गुणों से मोक्ष-प्राप्ति के योग्य आत्माओं के ज्ञान के लिये।
- **प्रवचनसारोद्धारं**—प्रवचन = द्वादशांगी के सारभूत कतिपय विषयों का उद्धरणरूप/निचोडरूप प्रस्तुत ग्रन्थ।
- **गुरूपदेशाद्** = गुरु के उपदेश से।
- **समासेण** = संक्षेप से।
- **वक्ष्ये** = कहूँगा।

(१) युगादिदेव को नमस्कार सकल कल्याण का मूलभूत भावमंगल है।

(२) 'भव्यों के ज्ञान के लिये'—प्रयोजन कथन है।

(३) 'प्रवचनसारोद्धार को कहूँगा'—अभिधेय कथन है।

द्वादशांगी के सारभूत पदार्थों का प्रतिपादन करने से ही भव्यजीवों को कुछ ज्ञान हो सकता है अतः उन पदार्थों का प्रतिपादन 'सत्त्वानुग्रहरूप' है।

भव्यजीवों पर सात्त्विक अनुग्रह करने में प्रवृत्त व्यक्ति, अवश्य अतिशय सुखसमृद्धि से भरपूर स्वर्गादि सुखों का उपभोग कर मोक्षसुख का वरण करता है। कहा है—

'दुख से सन्तप्त प्राणियों पर, परमात्मा की आज्ञा के अनुरूप उपदेशदान द्वारा जो अनुग्रह करते हैं, वे अतिशीघ्र मोक्ष को प्राप्त करते हैं।'

सारभूत पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होने पर भव्यात्माओं को स्वतः विरक्ति हो जाती है और वे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असार-संसार से मुक्त होने का पुरुषार्थ करते हैं। सफलता मिलने पर एक दिन अवश्य मोक्ष सुख के भागी बनते हैं। कहा है—

'वस्तु के यथार्थस्वरूप का ज्ञान हो जाने से भव्य जीव इस संसार से विरक्त होकर मोक्षानुकूल

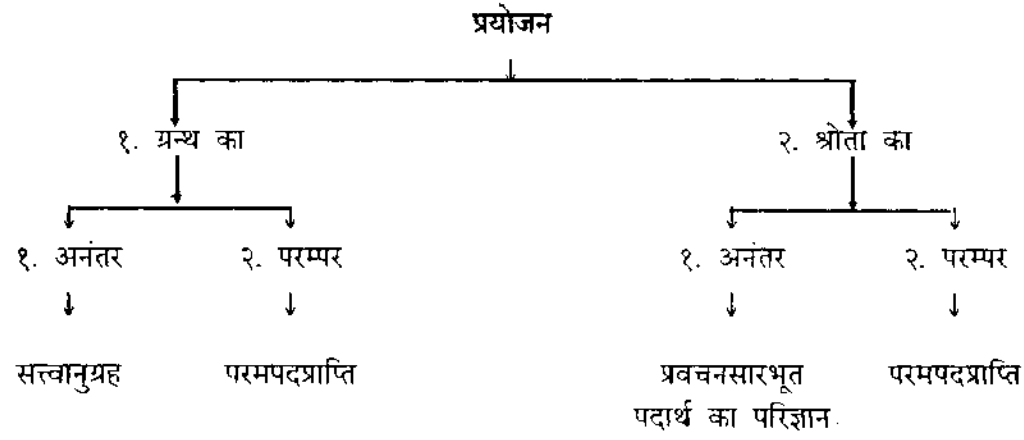

क्रिया में संलग्न हो, शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं।'

● **सम्बन्ध**—दो प्रकार का है—

(i) **उपायोपेय**—यह सम्बन्ध तार्किकों के लिये है। वचनरूप यह शास्त्र उपाय (साधन) है तथा इस शास्त्र के अर्थ का 'परिज्ञान' होना या परम्परया 'मुक्ति पाना' उपेय (साध्य) है।

(ii) **गुरुपर्वक्रम**—यह सम्बन्ध श्रद्धालुओं के लिये है। जैसे आँधी के द्वारा घनघोर बादल नष्ट हो जाते हैं, प्रखर प्रकाशवाला सूर्य उदित हो जाता है, वैसे शुभध्यान द्वारा घनघाती कर्मों का नाश हो जाने से सम्पूर्ण जीव-अजीव आदि पदार्थों का यथार्थ ज्ञान कराने वाला अप्रतिम केवलज्ञान रूपी सूर्य उदित हो जाने पर, धन-धान्यादि समृद्धि के द्वारा अमरपुरी को भी शरमाने वाली **अपापानगरी** में भव्यजनों के नेत्रों को अपार आनंद देने वाले, अनुपम प्राकारों से सुशोभित समवसरण के मध्यभाग में स्थित, अद्‌भुत विविधरत्नों से जड़ित देवरचित सिंहासन पर बिराजमान, अप्रतिम अष्ट-महाप्रातिहार्यरूप अर्हत्संपदा से विभूषित परमात्मा **महावीरदेव** ने सुर-असुर-किन्नर-राजादि की सभा में प्रवचन के सारभूत समस्त पदार्थों को अर्थरूप से फरमाया था। उसी अर्थ को संघ के अधिपति श्री **सुधर्मास्वामी** ने सूत्ररूप में गूंथा। कहा है कि अर्थ से द्वादशांगी का प्रतिपादन तीर्थंकर परमात्मा करते हैं और गणधर भगवंत उसकी सूत्ररूप में रचना करते हैं।

तत्पश्चात् **जंबूस्वामी, प्रभवसूरि, शय्यंभवसूरि, यशोभद्रसूरि, संभूतिविजय, भद्रबाहुस्वामी, आर्य महागिरि, सुहस्तिसूरि, वाचकवर्य उमास्वाति, श्यामाचार्य** आदि सूरिपुंगवों ने स्वरचित ग्रन्थों में पदार्थों का बड़े विस्तार से प्रतिपादन किया। वही परम्परा आज तक चली आ रही है। उन्हीं सूत्रों में से सारभूत पदार्थों को ग्रहण कर मंदबुद्धि आत्माओं के बोध के लिये मैंने इस प्रकरण की रचना की है। 'परोपकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमेशा धर्मवृद्धि और कल्याण के लिये होता है। परोपकार करने में तत्पर ऐसे प्राचीन श्रुतधरों द्वारा प्रतिपादित श्रुत के अनुस्मरणपूर्वक ही मैंने इस प्रकरण की रचना की है।' अतः यह प्रकरण परम्परया सर्वज्ञमूलक है।

इसमें मेरी ओर से नया कुछ भी नहीं रचा गया है। अतः (सर्वज्ञमूलक होने से) यह प्रकरण निर्मलबुद्धि वाले भव्यजीवों के लिये अवश्यमेव उपादेय होगा।

प्रवचन के सारभूत पदार्थों का प्रतिपादन करने वाले २७६ द्वारों का ६४ गाथाओं के द्वारा वर्णन किया जाता है—

२७६ द्वार नामावली

चिइवंदण वंदणयं पडिकमणं पच्चखाणमुस्सग्गो।
चउवीससमहियसयं गिहिपडिक्कमाइयाराणं ॥२॥
भरहंमि भूयसंपइभविस्सतित्थंकराण नामाइं।
एरवयंमिवि ताइं जिणाण संपइभविस्साणं ॥३॥
उसहाइजिणिंदाणं आइमगणहरपवित्तिणीनामा।
अरिहंतऽज्जणठाणा जिणजणणीजणयनामगई ॥४॥
उक्किट्ठजहन्नेहिं संखा विहरंततित्थनाहाणं।
जम्मसमएऽवि संखा उक्किट्ठजहण्णिया तेसिं ॥५॥
जिणगणहर मुणी समणी, वेउव्विय वाइ अवहि केवलिणो।
मणनाणि चउदसपुव्वि, सङ्घ सङ्घीण संखा उ ॥६॥
जिणजक्खा देवीओ तणुमाणं लंछणाणि वन्ना य।
वयपरिवारो सव्वाउयं च सिवगमणपरिवारो ॥७॥
निव्वाणगमणठाणं जिणंतराइं च तित्थवुच्छेओ।
दस चुलसी वा आसायणाउ तह पाडिहेराइं ॥८॥
चउतीसाइसयाणं दोसा अट्ठारसारिहचउक्कं।
निक्खमणे नाणंमि अ निव्वांणमि य जिणाणं तवो ॥९॥
भाविजिणेसरजीवा, संखा उड्ढाहतिरियसिद्धाणं।
तह एक्कसमयसिद्धाण, ते य पन्नरसभेएहिं ॥१०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवगाहणाय सिद्धा उक्किट्ठजहन्नमज्झिमाए अ।
गिहिलिंगअन्नलिंगस्सलिंगसिद्धाण संखाउ ॥११॥
बत्तीसाई सिज्झंति अविरयं जाव अट्ठहीयसयं।
अट्ठसमएहिं एक्केक्कूणं जावेक्कसमयंतं ॥१२॥
थीवेए पुंवेए नपुंसए सिज्झमाणपरिसंखा।
सिद्धाणं संठाणं अवठिइठाणं च सिद्धाणं ॥१३॥
अवगाहणा य तेसिं उक्कोसा मज्झिमा जहन्ना य।
नामाइ चउण्हंपि हु, सासयजिणनाहपडिमाणं ॥१४॥
उवगरणाणं संखा जिणाण थविराण साहुणीणं च।
जिणकप्पियाण संखा उक्किट्ठा एगवसहीए ॥१५॥
छत्तीसं सूरिगुणा विणओ बावन्नभेअपडिभिन्नो।
चरणं करणं जंघाविज्जाचारणगमणसत्ती ॥१६॥
परिहारविसुद्धि अहालंदा निज्जामयाण अडयाला।
पणवीस भावणाओ सुहाउ असुहाउ पणवीसं ॥१७॥
संखा महव्वयाणं किइकम्माण य दिणे तहा खित्ते।
चारित्ताणं संखा ठियकप्पो अठियकप्पो य ॥१८॥
चेइय पुत्थय दंडय तण चम्म दुसाइ पंच पत्तेयं।
पंच अवग्गहभेया परीसहा मंडली सत्त ॥१९॥
दसठाणववच्छेओ खवगस्सेढी य उवसमस्सेढी।
थंडिल्लाण सहस्सो अहिओ चउसहियवीसाए ॥२०॥
पुव्वाणं नामाइं पयसंखासंजुयाइं चउदसवि।
निग्गंथा समणा वि य, पत्तेयं पंच पंचेव ॥२१॥
गासेसणाण पणगं पिंडे पाणे य एसणा सत्त।
भिक्खारिया वीहीणमट्ठगं पायच्छित्ताणं ॥२२॥
सामायारी ओहंमि पयविभागंमि तहय दसहा उ (चक्कवालंमि)।
निग्गंथत्तं जीवस्स पंचवाराओ भववासे ॥२३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साहुविहार सरूवं अप्पडिबद्धो य सो विहेयव्वो ।
जायाअजायकप्पो परिठवणुच्चारकरणदिसा ॥२४॥
अट्ठारस पुरिसेसुं वीसं इत्थीसु दस नपुंसेसुं ।
पव्वावणाअणरिहा तह वियलंगस्सरूवा य ॥२५॥
जं मुल्लं जइकप्पं वत्थं सेज्जायरस्स पिंडो य ।
जत्तिय सुत्ते सम्मं जह निग्गंथावि चउगइया ॥२६॥
खित्ते मग्गे काले तहा पमाणे अईयमक्कप्पं ।
दुहसुहसेज्जचउक्कं तेरस किरियाण ठाणाइं ॥२७॥
एगंमि बहुभवेसु य आगरिसा चउव्विहेऽवि सामइए ।
सीलंगाणऽट्ठारस सहस्स नयसत्तगं चेव ॥२८॥
वत्थग्गहणविहाणं ववहारा पंच तह अहाजायं ।
निसिजागरणंमि विही, आलोयणदाययऽन्नेसा ॥२९॥
गुरुपमुहाणं कीरइ असुद्धसुद्धेहिं जत्तियं कालं ।
उवहिधोयणकालो भोयणभाया वसहिसुद्धी ॥३०॥
संलेहणा दुवालस वरिसे, वसहेण वसहिसंगहणं ।
उसिणस्स फासुयस्सवि जलस्स सच्चित्तया कालो ॥३१॥
तिरिइत्थीओ तिरियाण माणवीओ नराण देवीओ ।
देवाण जग्गुणाओ जत्तियमेत्तेण अहियाओ ॥३२॥
अच्छेरयाण दसगं चउरो भासा उ वयणसोलसगं ।
मासाण पंच भेया भेया वरिसाण पंचेव ॥३३॥
लोगसरूवं सन्नाओ तिन्नि चउरो व दस व पनरस वा ।
तह सत्तसट्ठिलक्खणभेअविसुद्धं च सम्मत्तं ॥३४॥
एगविह दुविह तिविहं चउहा पंचविह दसविहं सम्मं ।
दव्वाइकारगाईउवसमभेएहिं वा सम्मं ॥३५॥
कुलकोडीणं संखा जीवाणं जोणिलक्खचुलसीई ।
तेक्कालाईवित्तत्थविवरणं सड्ढपडिमाउ ॥३६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धन्नाणमबीयत्तं खेत्ताईयाण तह अचित्तत्तं ।
धन्नाइं चउवीसं मरणं सत्तरसभेयं च ॥३७॥
पलिओवम अयरऽवसप्पिणीण उस्सप्पिणीण वि सरूवं ।
दव्वे खेत्ते काले भावे पोग्गलपरावट्टो ॥३८॥
पन्नरस कम्मभूमी अकम्मभूमीउ तीस अट्ठभेया ।
दोन्नि सया तेयाला, भेया पाणाइवायस्स ॥३९॥
परिणामाणं अट्ठोत्तरसयं बंभमट्ठदसभेयं ।
कामाण चउव्वीसा दस पाणा दस य कप्पदुमा ॥४०॥
नरयां नेरइयाणं आवासा वेयणाऽऽउतणुमाणं ।
उप्पत्तिनासविरहो लेसाऽवहि परमहम्मा य ॥४१॥
नरयुव्वट्टाणं लद्धिसंभवो तेसु जेसि उववाओ ।
संखा उप्पज्जंताण तह य उव्वट्टमाणाणं ॥४२॥
कायठिई भवठिइओ एगिंदियविगलसन्निजीवाणं ।
तणुमाणमेसि इंदियसरूवविसया य लेसाओ ॥४३॥
एयाणं जत्थ गई जत्तो ठाणेहिं आगई एसिं ।
उप्पत्तिमरणविरहो जायंतमरंतसंखा य ॥४४॥
भवणवई-वाणमंतर-जोइस-वेमाणवासिदेवाणं ।
ठिइ भवण देहमाणं लेसाओ ओहिनाणं च ॥४५॥
उप्पत्तीए तहुवट्टणाय विरहो इमाण संखाय ।
जम्मि य एयाण गई जत्तो वा आगई एसिं ॥४६॥
विरहो सिद्धि गईए जीवाणाहारगहण ऊसासा ।
तिन्नि सया तेसट्ठा पासंडीणऽट्ठ य पमाया ॥४७॥
भरहाहिवा हलहरा हरिणो पडिवासुदेवरायाणो ।
रयणाइ चउद्दस नवनिहिओ तह जीव संखाओ ॥४८॥
कम्माइं अट्ठ तेसिं उत्तरपयडीण अट्ठवन्नसयं ।
बंधोदयाणुदीरण-सत्ताण य किं पि हु सरूवं ॥४९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कम्मट्ठिइ साबाहा बायालीस-उ पुण्णपयडीओ ।
बासीयं पावपयडीओ भावछक्कं सपडिभेयं ॥५० ॥
जीवाण अजीवाण य गुणाण तह मग्गणाण पत्तेयं ।
चउदसगं उवओगा बारस जोगा य पण्णरस ॥५१ ॥
परलोगगई गुणठाणएसु तह ताण कालपरिमाणं ।
नरयतिरिनरसुराणं उक्कोसविउव्वणाकालो ॥५२ ॥
सत्तेव समुग्घाया छप्पज्जत्तीओऽणहारया चउरो ।
सत्त भयट्ठाणाइं छब्भासा अप्पसत्थाओ ॥५३ ॥
भंगा गिहिव्वयाणं अट्ठारसपावठाणगाइंपि ।
मुणिगुण सत्तावीसा इगवीसा सावयगुणाणं ॥५४ ॥
तेरिच्छीणुक्किट्ठा गब्भठिई तह य सा मणुस्सीणं ।
गब्भस्स य कायठिई गब्भट्ठियजीवआहारो ॥५५ ॥
रिउरुहिरसुक्कजोए जत्तियकालेण गब्भसंभूई ।
जत्तियपुत्ता गब्भे जत्तिय पियरो य पुत्तस्स ॥५६ ॥
महिला गब्भअजोगा जेत्तिय कालेणऽबीयओ पुरिसो ।
सुक्काईण सरीरट्ठियाण सव्वाण परिमाणं ॥५६ ॥
सम्मत्ताईणुत्तमगुणाण लाहंतरं जमुक्कोसं ।
न लहंति माणुसत्तं सत्ता जेऽणंतरुव्वट्टा ॥५८ ॥
पुव्वंगपरीमाणं माणं पुव्वस्स लवणसिहमाणं ।
उस्सेहआयअंगुलपमाणअंगुलपमाणाइं ॥५९ ॥
तमकायसरूवमणंत छक्कगं अट्ठगं निमित्ताणं ।
माणुम्माणपमाणं अट्ठारस भक्खभोज्जाइं ॥६० ॥
छट्ठाणवुड्ढीहाणी अवहरिउं जाइ नेव तीरंति ।
अंतरदीवा जीवाजीवाणं अप्पबहुयं च ॥६१ ॥
संखा निस्सेसजुगप्पहाणसूरीण वीरजिणतित्थे ।
ओसप्पिणीअन्तिमजिणतित्थअविच्छेयमाणं च ॥६२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवाणं पवियारो सरूवमट्ठण्ह कण्हराईणं ।
सज्झायस्स अकरणं नंदीसरदीवठिइभणणं ॥६३॥
लद्धीओ तव पायालकलस आहारगस्सरूवं च ।
देसा अणायरिया आरिया य सिद्धेगतीसगुणा ॥६४॥

२७६. द्वारनाम—

		संक्षिप्त अर्थ
१. चैत्यवन्दन	—	सर्व कल्याण का मूल होने से प्रथम यह द्वार दिया गया। चित्तस्य भावा: कर्माणि वा, (चित्त के भाव अथवा क्रिया) इस अर्थ में 'वर्णदृढ़ादिभ्य: ष्यञि' इस सूत्र से 'चित्त' शब्द से ष्यञ् प्रत्यय होकर चैत्य शब्द बना है। इसका अर्थ है 'जिनप्रतिमा' यद्यपि वे प्रतिमायें चन्द्रकान्तमणि, सूर्यकान्तमणि, मरकतमणि, पन्ना, मोती व पत्थर आदि से निर्मित होती हैं तथापि भाव व क्रिया से चित्त में 'ये साक्षात् तीर्थंकर परमात्मा ही हैं' ऐसी बुद्धि पैदा करने से चैत्य कहलाती हैं। उन चैत्यों का एकाग्रतापूर्वक वन्दन-स्तवन करना चैत्यवन्दन है। इस द्वार में 'चैत्यवन्दन' की विधि बताई गई है।
२. वन्दनक	—	जिसमें वन्दन करने योग्य 'गुरु' की वन्दन विधि बताई गई है वह 'वन्दनक' द्वार है।
३. प्रतिक्रमण	—	प्रति = प्रतिकूल, क्रमण = लौटना, अशुभयोग में प्रवृत्त आत्मा की पुन: शुभयोग में प्रवृत्ति होना प्रतिक्रमण है।
४. प्रत्याख्यान	—	विवक्षित काल मर्यादा सहित अपनी इच्छाओं को रोकने का कथन करना प्रत्याख्यान है। इसके दो भेद हैं—मूलगुण प्रत्याख्यान व उत्तरगुण प्रत्याख्यान। मूल-उत्तरगुण रूप विरतिधर्म का स्वीकार करना क्रमश: मूलगुण, उत्तरगुण प्रत्याख्यान है।
५. उत्सर्ग	—	उत्सर्ग अर्थात् कायोत्सर्ग, जैसे, भामा कहने से 'सत्यभामा' समझ लिया जाता है। 'कायोत्सर्ग' शब्द दो शब्दों से बना है— काया = शरीर, उत्सर्ग = त्याग, अर्थात् श्वासोश्वास, खांसी, छींक आदि १२ आगार, स्थान, मौन व ध्यान रूप क्रिया को छोड़कर अन्य शारीरिक क्रियाओं का त्याग करना कायोत्सर्ग है।
६. व्रत अतिचार	—	गृहस्थ सम्बन्धी एक सौ चौबीस अतिचार।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. जिन-नाम — भरतक्षेत्र सम्बन्धी भूत, भावी और वर्तमान तीर्थंकरों के तथा ऐरावतक्षेत्र सम्बन्धी वर्तमान व भावी तीर्थंकरों के नाम।

८. गणधर-नाम — ऋषभ आदि चौबीस जिनेश्वरों के प्रथम गणधरों के नाम।

९. प्रवर्तिनी नाम — ऋषभ आदि चौबीस जिनेश्वरों की आद्य प्रवर्तिनियों के नाम।

१०. बीसस्थानक — तीर्थंकर नामकर्म के बंधन के निमित्तभूत बीसपदों के नाम।

११. माता-पिता नाम — ऋषभ आदि चौबीस जिनेश्वरों के माता-पिता के नाम।

१२. जिन जननी-जनक गति — माता-पिता की मरणोपरांत गति।

१३. विहरमानजिन — एक समय में जघन्य व उत्कृष्ट कितने तीर्थंकर परमात्मा विचरण करते हैं इनकी संख्या।

१४. जन्मसंख्या — कर्मभूमि में एक साथ कितने तीर्थंकर जघन्य व उत्कृष्ट से जन्म लेते हैं? इसका वर्णन।

१५. गणधर संख्या — चौबीस तीर्थंकरों के गणधरों की संख्या।

१६. श्रमण संख्या — चौबीस तीर्थंकरों का मुनि परिवार।

१७. श्रमणी संख्या — चौबीस तीर्थंकरों का साध्वी परिवार।

१८. वैक्रियलब्धिधारी संख्या — चौबीस तीर्थंकरों के वैक्रियलब्धिधारी मुनियों की संख्या।

१९. वादी संख्या — चौबीस तीर्थंकरों के देवता व असुरों से भी अजेय ऐसे वादियों की संख्या।

२०. अवधिज्ञानी संख्या — चौबीस तीर्थंकरों के अवधिज्ञानी मुनियों की संख्या।

२१. केवलज्ञानी संख्या — चौबीस तीर्थंकरों के केवलज्ञानियों की संख्या।

२२. मनःपर्यवज्ञानी संख्या — चौबीस तीर्थंकरों के मनपर्यवज्ञानियों की संख्या।

२३. चौदहपूर्वी संख्या — चौबीस तीर्थंकरों के चौदहपूर्वियों की संख्या।

२४. श्रावक संख्या — तीर्थंकर परमात्मा के श्रावकों की संख्या।

२५. श्राविका संख्या — तीर्थंकरों की श्राविकाओं की संख्या।

२६. अधिष्ठायक — जिनेश्वरों के अधिष्ठायकों की संख्या।

२७. अधिष्ठायिका — जिनेश्वरों की अधिष्ठायिकाओं की संख्या।

२८. शरीरपरिमाण — जिनेश्वरों के शरीर का प्रमाण।

२९. लांछन — जिनेश्वरों के लांछन।

३०. जिन वर्ण — जिनेश्वरों का वर्ण।

३१. व्रती-परिवार — किस तीर्थंकर ने कितने परिवार के साथ दीक्षा ग्रहण की।

३२. आयु-प्रमाण — चौबीस तीर्थंकर परमात्मा का आयु प्रमाण।

३३. मोक्ष-परिवार — कितने परिवारों के साथ चौबीसों परमात्मा मोक्ष गये?

३४. निर्वाण-स्थल — परमात्मा का निर्वाण स्थान।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३५. अन्तरकाल — एक तीर्थंकर के सिद्धिगमन के पश्चात् कितने समय बाद दूसरे तीर्थंकर सिद्ध हुए। इस प्रकार चौबीस तीर्थंकरों का अन्तरकाल बताना।

३६. तीर्थविच्छेद — साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विध संघ का कब कहां व कितने समय तक विच्छेद रहा?

३७. आशातना-१० — ज्ञान-दर्शन व चारित्र के लाभ का नाश करने वाली दस आशातना।

३८. आशातना-८४ — चौरासी आशातना का वर्णन।

३९. प्रातिहार्य — प्रतिहारियों के द्वारा निर्मित तीर्थंकर परमात्मा के आठ प्रातिहार्यों का वर्णन।

४०. अतिशय — तीर्थंकर परमात्मा के चौंतीस अतिशय।

४१. अठारह दोष — अर्हत्ता के विरोधी अठारह दोष।

४२. अर्हच्चतुष्क — नाम आदि के भेद से अर्हन्त के चार भेद।

४३. निष्क्रमण तप — तीर्थंकरों के दीक्षा के समय का तप।

४४. केवलज्ञान तप — तीर्थंकरों के केवलज्ञान प्राप्ति के समय का तप।

४५. निर्वाण तप — तीर्थंकरों के निर्वाण समय का तप।

४६. भावी तीर्थंकर — भावी तीर्थंकरों के जीव।

४७. तीन लोक में सिद्ध — उर्ध्व, अधो व तिर्यक्लोक में सिद्ध होने वालों की संख्या।

४८. एक समय में सिद्ध — एकसाथ एक समय में सिद्ध होने वालों की संख्या।

४९. सिद्ध भेद — सिद्ध के पन्द्रह भेद।

५०. अवगाहना — जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट अवगाहना वाले जीव एक समय में कितने सिद्ध होते हैं?

५१. लिंगसिद्ध — एक समय में गृहस्थवेश, साधुवेश तथा अन्यतीर्थिकवेश में सिद्ध होने वालों की संख्या।

५२. निरन्तरसिद्ध — एक साथ कितने जीव कितने समय तक निरन्तर सिद्ध हो सकते हैं? जैसे, एक से बत्तीस जीव आठ समय तक निरन्तर सिद्ध होते हैं। इस प्रकार तेतीस से लेकर एक सौ आठ तक निरन्तर सिद्ध होने वालों का वर्णन।

५३. तीन वेद सिद्ध — तीनों वेदों में सिद्ध होने वालों की संख्या।

५४. संस्थान — सिद्धों का संस्थान-आकार।

५५. अवस्थान — सिद्धों के रहने का स्थान।

५६. ५७. ५८. अवगाहना — सिद्धों की जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट अवगाहना।

५९. शाश्वत-जिननाम — चारों शाश्वत जिनप्रतिमाओं के नाम।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६०. उपकरण संख्या — जिनकल्पियों के उपकरणों की संख्या।
६१. स्थविर-उपकरण — गच्छवासी मुनियों की उपकरण संख्या।
६२. साध्वी-उपकरण — साध्वियों की उपकरण संख्या।
६३. जिनकल्पी संख्या — एक वसति में एक साथ रहने वाले जिनकल्पियों की उत्कृष्ट संख्या।
६४. आचार्यगुण — आचार्य के छत्तीस गुण।
६५. विनय भेद — बावन प्रकार का विनय।
६६. चरण भेद — चरण के सत्तर भेद।
६७. करण भेद — करण के सत्तर भेद।
६८. गमनशक्ति — जंघाचारण, विद्याचारण मुनियों की गमनशक्ति।
६९. परिहारविशुद्धि — परिहारविशुद्धितप व करने वाले तपस्वियों का स्वरूप।
७०. यथालन्द — यथालन्दकल्प (आचार) का स्वरूप।
७१. निर्यामक — अनशनी मुनि को आराधना कराने वाले निर्यामकों की संख्या।
७२. शुभभावना — पाँच महाव्रतों की पच्चीस शुभभावना।
७३. अशुभभावना — पच्चीस अशुभ भावना।
७४. महाव्रत — महाव्रतों की संख्या।
७५. कृतिकर्म — दिन में कितनी बार गुरुवन्दन करना।
७६. क्षेत्र में चारित्र संख्या — भरत आदि क्षेत्रों में चारित्र की संख्या। अर्थात् किस क्षेत्र में कितने चारित्र होते हैं।
७७. स्थितकल्प — जिन साध्वाचारों का पालन चौबीस तीर्थंकर परमात्मा के शासन में नियमित रूप से होता हो।
७८. अस्थितकल्प — जिन साध्वाचारों का पालन अनियमित हो।
७९. चैत्य-पञ्चक — पाँच प्रकार की प्रतिमा।
८०. पुस्तक-पञ्चक — पाँच प्रकार की पुस्तक।
८१. दण्ड-पञ्चक — पाँच प्रकार के दण्ड।
८२. तृण-पञ्चक — पाँच प्रकार के तृण।
८३. चर्म-पञ्चक — पाँच प्रकार के चर्म।
८४. दूष्य-पञ्चक — पाँच प्रकार के दूष्यवस्त्र।
८५. अवग्रह-पञ्चक — पाँच प्रकार के अवग्रह।
८६. परिषह — मोक्षार्थी आत्मा जो सहन करते हैं वे परिषह हैं।
८७. मण्डली — 'समूह बैठक' मण्डली है। इसके सात भेद हैं।
८८. व्यवच्छेद-१० — दश वस्तुओं का विच्छेद।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८९. क्षपकश्रेणि — कर्मों के नाश का क्रम।
९०. उपशमश्रेणि — कर्मों के उपशम का क्रम।
९१. स्थण्डिल — साधु योग्य स्थण्डिलभूमि के एक हजार चौबीस प्रकार।
९२. पूर्व १४ — पदसंख्या सहित चौदह पूर्वों के नाम।
९३. निर्ग्रन्थ-पञ्चक — निर्ग्रन्थ के पाँच प्रकार।
९४. श्रमण-पञ्चक — भिक्षु के पाँच प्रकार।
९५. ग्रासैषणा-पञ्चक — निर्दोष भोजन के पाँच प्रकार।
९६. पिण्डैषणा-पानैषणा — निर्दोष भिक्षा के सात प्रकार।
९७. भिक्षाचर्या-विधि — निर्दोष पानी ग्रहण के सात प्रकार।
९८. प्रायश्चित्त — प्रायश्चित्त का स्वरूप व भेद।
९९. ओघसमाचारी — साधु-साध्वी सम्बन्धी सामान्य आचार।
१००. पदविभाग समाचारी — छेदग्रन्थोक्त समाचारी।
१०१. चक्रवाल समाचारी — दश प्रकार की प्रतिदिन करणीय समाचारी-आचरण।
१०२. भव निर्ग्रन्थत्व — संसार में रहते हुए निर्ग्रन्थपना कितनी बार प्राप्त हो सकता है।
१०३. विहार-स्वरूप — मुनियों के विहार का स्वरूप।
१०४. अप्रतिबद्ध-विहार — द्रव्यादि की आसक्ति से रहित, गुरु आज्ञापूर्वक, मासकल्प करते हुए विहार करना।
१०५. जाताजातकल्प — गीतार्थ व अगीतार्थ का आचार।
१०६. प्रतिस्थापन-उच्चार दिशा — परठने व स्थंडिल आदि करने की दिशा।
१०७. दीक्षा-अयोग्य पुरुष — दीक्षा के लिये अयोग्य पुरुष अट्ठारह।
१०८. दीक्षा-अयोग्य स्त्री — दीक्षा के अयोग्य स्त्रियाँ बीस।
१०९. दीक्षा-अयोग्य नपुंसक — दीक्षा के अयोग्य नपुंसक दश।
११०. दीक्षा-अयोग्य विकलांग — विकलांग का स्वरूप।
१११. कल्प्यवस्त्र-मूल्य — कितने मूल्य का वस्त्र मुनियों को लेना कल्पता है।
११२. शय्यातरपिण्ड — शय्यातर पिण्ड का कल्प्याकल्प्य।
११३. श्रुत में सम्यक्त्व — कितने सूत्र के ज्ञाता निश्चित सम्यक्त्वी होते हैं।
११४. चातुर्गतिक निर्ग्रन्थ — कौन से निर्ग्रन्थ मरकर चारों गतियों में जा सकते हैं।
११५. क्षेत्रातीत — क्षेत्रातीत का स्वरूप।
११६. मार्गातीत — मार्गातीत का स्वरूप।
११७. कालातीत — कालातीत का स्वरूप।
११८. प्रमाणातीत — प्रमाणातीत का स्वरूप।
११९. दुःखशय्या — चार प्रकार की दुःखशय्या।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२०. सुखशय्या — चार प्रकार की सुखशय्या।
१२१. क्रियास्थान — तेरह क्रियास्थान।
१२२. आकर्ष — सम्यक्त्व आदि चारों सामायिकों की एक व अनेक भव सम्बन्धी 'आकर्ष' संख्या।
१२३. शीलांग — ब्रह्मचर्य के अठारह हजार अंग।
१२४. सप्तनय — नैगमादि सात नय।
१२५. वस्त्रविधान — वस्त्र ग्रहण करने की विधि।
१२६. व्यवहार-५ — आगमादि पाँच प्रकार के व्यवहार।
१२७. यथाजात — पाँच प्रकार के यथाजात।
१२८. जागरण — रात में जागने की विधि।
१२९. आलोचनादायक — आलोचनादाता गुरु की खोज।
१३०. प्रतिजागरणा — गुरु आदि की सेवा-शुश्रूषा करने की विधि।
१३१. उपधिप्रक्षालन — उपधि धोने का समय।
१३२. भोजनभाग — पेट के छः भागों में से भोजन के कितने भाग हैं?
१३३. वसतिशुद्धि — वसति सम्बन्धी कल्प्याकल्प्य।
१३४. संलेखना — संलेखना की विधि।
१३५. वसतिग्रहण — वसति ग्रहण करने की विधि।
१३६. सचित्तता कालमान — उष्णजल कितने समय बाद पुनः अचित्त हो जाता है?
१३७. स्त्रियां — मनुष्य, तिर्यंच और देव में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ कितना गुणा अधिक हैं तथा कुल स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा कितना गुणा हैं? यह बताना।
१३८. आश्चर्य — दश आश्चर्य इस अवसर्पिणीकाल के।
१३९. भाषा — चार प्रकार की भाषा।
१४०. वचन-भेद — सोलह प्रकार के वचन।
१४१. मासभेद — मास (महीना) के पाँच भेद।
१४२. वर्षभेद — वर्ष के पाँच भेद।
१४३. लोकस्वरूप — चौदह राजलोक प्रमाण लोक का स्वरूप।
१४४. संज्ञा-३ — तीन प्रकार की संज्ञा।
१४५. संज्ञा-४ — चार प्रकार की संज्ञा।
१४६. संज्ञा-१० — दश प्रकार की संज्ञा।
१४७. संज्ञा-१५ — पन्द्रह प्रकार की संज्ञा।
१४८. सम्यक्त्व-भेद — सम्यक्त्व के सड़सठ प्रकार।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४९. सम्यक्त्व — द्विविध, त्रिविध, चतुर्विध, दशविध सम्यक्त्व।
१५०. कुलकोटि — जीवों की कुलकोटि।
१५१. जीव-योनि — जीवों की चौरासी लाख योनियाँ।
१५२. त्रैलोक्यवृत्त-विवरण — षड्द्रव्य संबंधी वर्णन।
१५३. श्राद्धप्रतिमा — श्रावक सम्बन्धी ग्यारह प्रतिमा।
१५४. अबीजत्व — धान्य की अचित्तता।
१५५. क्षेत्रातीत-अचित्तत्व — नमक आदि सचित्त पदार्थ कितना क्षेत्र उल्लंघन करने के पश्चात् अचित्त बनते हैं?
१५६. धान्यसंख्या — चौबीस प्रकार के धान्य।
१५७. मरण — सत्तरह प्रकार का मरण।
१५८. पल्योपम — पल्योपम का स्वरूप।
१५९. सागरोपम — अतर = जिसे तरना शक्य न हो वह 'अतर' अर्थात् सागर। जिस कालखण्ड की तुलना सागर से की जाती है वह सागरोपम है, उसका स्वरूप।
१६०. अवसर्पिणी — अवसर्पिणी का स्वरूप।
१६१. उत्सर्पिणी — उत्सर्पिणी का स्वरूप।
१६२. पुद्गलपरावर्त — द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से चार प्रकार का पुद्गलपरावर्त।
१६३. कर्मभूमि — पन्द्रह कर्मभूमियाँ, जहाँ तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं।
१६४. अकर्मभूमि — जहाँ 'धर्म' शब्द सुनने को नहीं मिलता, ऐसी तीस अकर्मभूमियां हैं।
१६५. मद — आठ मद।
१६६. प्राणातिपात-भेद — दो सौ तैयालीस प्राणातिपात (हिंसा) के भेद।
१६७. परिणाम-भेद — परिणाम = अध्यवसाय विशेष के एक सौ आठ भेद।
१६८. ब्रह्मचर्य-भेद — ब्रह्मचर्य के अठारह भेद।
१६९. काम — काम के चौबीस भेद।
१७०. प्राण — दस प्राण।
१७१. कल्पवृक्ष — दस कल्पवृक्ष।
१७२. नरक — सात नरक।
१७३. नरकावास — नरक के जीवों के रहने के स्थान।
१७४. नरक-वेदना — नारकों की वेदना।
१७५. नरकायु — नारकों की आयु।
१७६. अवगाहना — नारकों का शरीर प्रमाण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७७. विरहकाल — नारकों की उत्पत्ति-नाश का विरहकाल।
१७८. लेश्या — नारकों की लेश्या।
१७९. नारकावधि-ज्ञान — नारकों का अवधिज्ञान।
१८०. परमाधामी — परमाधार्मिक देवों का वर्णन।
१८१. लब्धिसंभव — नरक से निकले हुए जीव कितनी लब्धि प्राप्त कर सकते हैं?
१८२. उपपात — नरक में कौन से जीव उत्पन्न होते हैं?
१८३. उत्पद्यमान — नरक में एक साथ उत्पन्न होने वाले जीवों की संख्या।
१८४. उद्वर्तमान — नरक में एक साथ मरने वाले जीवों की संख्या।
१८५. कायस्थिति — एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, असंज्ञी तथा संज्ञी जीवों की कायस्थिति।
१८६. भवस्थिति — एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, असंज्ञी तथा संज्ञी जीवों की भवस्थिति।
१८७. शरीर परिमाण — एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, असंज्ञी तथा संज्ञी जीवों का शरीर प्रमाण।
१८८. इन्द्रिय-स्वरूप — इन्द्रियों का आकार, विषय आदि।
१८९. लेश्या — एकेन्द्रिय आदि जीवों की लेश्या।
१९०. गति — एकेन्द्रिय आदि जीवों की गति।
१९१. आगति — एकेन्द्रिय आदि जीवों की आगति।
१९२. विरहकाल — पूर्वोक्त जीवों में से एक जीव के जन्म के बाद दूसरा जीव कितने समय में उत्पन्न होता है, एक जीव के मरने के बाद दूसरा जीव कितने समय में मरता है, यह बताना।
१९३. संख्या — एकेन्द्रियादि जीवों की एक साथ जन्मने व मरने की संख्या।
१९४. स्थिति — चारों निकाय के देवों की स्थिति।
१९५. भवन — चारों निकाय के देवों के भवन।
१९६. देहमान — चारों निकाय के देवों का शरीर प्रमाण।
१९७. लेश्या — चारों निकाय के देवों की लेश्या।
१९८. अवधिज्ञान — चारों निकाय के देवों का अवधिज्ञान।
१९९. उत्पत्तिविरह — चारों निकाय के देवों की उत्पत्ति का विरह।
२००. उद्वर्तनाविरह — चारों निकाय के देवों का मरण-विरह।
२०१. जन्म-मरण-संख्या — चारों निकाय के देवों की एक साथ जन्म-मरण की संख्या।
२०२. गति — चारों निकाय के देवों की गति।
२०३. आगति — चारों निकाय के देवों की आगति।
२०४. सिद्धि गति-अन्तर — सिद्धि-गमन का अन्तर अर्थात् एक जीव के सिद्ध होने के पश्चात् कितने समय के बाद दूसरा जीव सिद्ध होता है।
२०५. आहार उच्छ्वास — जीवों के आहार तथा श्वासोश्वास का कालमान।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२०६. पाखण्डी ३६३ — तीन सौ त्रेसठ पाखण्डियों की संख्या।
२०७. प्रमाद — आठ प्रमाद।
२०८. चक्रवर्ती — भरत क्षेत्र के अधिपति अर्थात् चक्रवर्तियों की संख्या।
२०९. बलदेव — बलदेवों की संख्या।
२१०. वासुदेव — वासुदेवों की संख्या।
२११. प्रतिवासुदेव — प्रतिवासुदेवों की संख्या।
२१२. चौदह रत्न — चक्रवर्ती के चौदह रत्न।
२१३. नवनिधि — नव प्रकार की निधियाँ।
२१४. जीवसंख्या — जीवों की संख्या।
२१५. अष्ट कर्म — ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म।
२१६. उत्तरप्रकृति — आठ कर्मों की एक सौ अट्ठावन उत्तरप्रकृति।
२१७. बंधादिस्वरूप — कर्मों के बंध, उदय, उदीरणा व सत्ता का स्वरूप।
२१८. कर्मस्थिति — आठ कर्मों की स्थिति।
२१९. पुण्यप्रकृति — बयालीस पुण्यप्रकृति।
२२०. पापप्रकृति — बयासी पापप्रकृति।
२२१. भावषट्क — भेद सहित औदयिकादि छःभाव।
२२२. जीव भेद — जीव के चौदह भेद।
२२३. अजीव भेद — अजीव के चौदहे भेद।
२२४. गुणस्थान — चौदह गुणस्थान।
२२५. मार्गणास्थान — चौदह मार्गणास्थान।
२२६. उपयोग — बारह उपयोग।
२२७. योग — पन्द्रह योग।
२२८. गति — किस गुणस्थान में मरने वाले की कौनसी गति होती है?
२२९. कालमान — गुणस्थानों का कालमान।
२३०. वैक्रियकाल — नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवों के वैक्रिय का कालमान।
२३१. समुद्घात — सात समुद्घात।
२३२. पर्याप्ति — छः पर्याप्ति।
२३३. अनाहारक — चार अनाहारक।
२३४. भय स्थान — सात भय स्थान।
२३५. अप्रशस्त भाषा — छह प्रकार की अप्रशस्त भाषा।
२३६. अणु व्रत-भंग-भेद — गृहस्थों के व्रत सम्बन्धी भंगे।
२३७. पाप-स्थानक — अठारह पापस्थान।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२३८. मुनि गुण — मुनि के सत्तावीस गुण।
२३९. श्रावक गुण — श्रावक के इक्कीस गुण।
२४०. गर्भस्थिति तिर्यंची की — तिर्यंच स्त्री की उत्कृष्ट गर्भस्थिति।
२४१. गर्भस्थिति मानवी की — मनुष्य स्त्री की उत्कृष्ट गर्भस्थिति।
२४२. गर्भ की काय स्थिति — गर्भ की स्वकाय स्थिति।
२४३. गर्भस्थ का आहार — गर्भस्थित जीव का आहार।
२४४. गर्भोत्पत्ति — स्त्री सम्बन्धी रज व पुरुष सम्बन्धी वीर्य के संयोग में कितने समय बाद गर्भोत्पत्ति होती है।
२४५. कितने पुत्र — एक साथ गर्भ में कितने पुत्र हो सकते हैं?
२४६. कितने पिता — एक पुत्र के कितने पिता हो सकते हैं?
२४७. स्त्री-पुरुष का अबीजत्व काल — कितने वर्ष के बाद स्त्री गर्भधारण के अयोग्य बनती है तथा कितनी उम्र हो जाने के बाद पुरुष निर्वीर्य बन जाता है?
२४८. शुक्रादि का परिमाण — शरीरस्थित शुक्र, रज, आंज, रीढ़ की हड्डियाँ तथा पसलियों का परिमाण।
२४९. सम्यक्त्व का अन्तरकाल — प्राप्त सम्यक्त्व, चारित्र आदि उत्तमगुणों का नाश हो जाने के बाद वे पुनः कितने समय में उपलब्ध हो सकते हैं? यह बताना।
२५०. मानव के अयोग्य जीव — कौन-कौन जीव मरकर मनुष्य नहीं बनते।
२५१. पूर्वांग का परिमाण — पूर्वांग-संख्या का स्वरूप।
२५२. पूर्व का परिमाण — पूर्व का परिमाण।
२५३. लवणशिखा का परिमाण — लवण-समुद्र की शिखा का परिमाण।
२५४. अंगुल-प्रमाण — उत्सेधांगुल, आत्मांगुल व प्रमाणांगुल का प्रमाण।
२५५. तमस्काय — तमस्काय का स्वरूप।
२५६. अनंत-षट्क — छः अनन्त वस्तुयें।
२५७. अष्टांगनिमित्त — निमित्त के आठ अंग।
२५८. मानोन्मानप्रमाण — मान, उन्मान व प्रमाण का स्वरूप।
२५९. भक्ष्य-भोजन — अठारह प्रकार के भक्ष्य-गुडधानादि तथा भोज्य-ओदनादि।
२६०. षड्गुण-हानि-वृद्धि — वस्तु की षड्गुण हानि-वृद्धि का स्वरूप।
२६१. असंहरणीय — देवादि भी जिनका अपहरण नहीं कर सकते ऐसे जीव।
२६२. अन्तर्द्वीप — अन्तरद्वीपों का वर्णन।
२६३. जीवाजीव का अल्पबहुत्व — जीव-अजीव का अल्पबहुत्व।
२६४. युगप्रधान संख्या — भगवान महावीर के शासन में होने वाले युगप्रधान-आचार्यों की संख्या।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२६५. श्रीभद्रकृत्तीर्थप्रमाण — भगवान महावीर का शासन-काल।
२६६. देव-प्रविचार — देवताओं की मैथुन की प्रक्रिया।
२६७. कृष्णराजी — आठ कृष्णराजियों का स्वरूप।
२६८. अस्वाध्याय — असज्झाय का स्वरूप।
२६९. नन्दीश्वरद्वीप — आठवें नन्दीश्वरद्वीप का वर्णन।
२७०. लब्धियाँ — आमर्ष औषधि आदि अट्ठाइस प्रकार की लब्धियां।
२७१. विविध तप — इन्द्रियजय आदि अनेकविध तप।
२७२. पातालकलश — समुद्र के मध्य में रहने वाले पातालकलशों का वर्णन।
२७३. आहारक शरीर — आहारक शरीर का स्वरूप।
२७४. अनार्यदेश — अनार्यदेश का स्वरूप व नाम।
२७५. आर्यदेश — आर्यदेश का स्वरूप व नाम।
२७६. सिद्धगुण — सिद्धों के इकतीस गुण।

पूर्वोक्त द्वार आगमग्रन्थों से उद्धृत हैं। यह ग्रन्थ इन्हीं द्वारों की व्याख्यारूप है।

समय समुद्धरियाणं आसत्थ समत्तिमेसि दाराणं।
नामुक्कित्तण पुव्वा तव्विसय वियारणा नेया ॥६५॥

पूर्वोक्त द्वार आगमों से उद्धृत हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ की समाप्ति पर्यन्त इन्हीं द्वारों का विवेचन किया जायेगा।

¤ * ¤ * ¤

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. द्वार : चैत्यवन्दन—

तिन्नि नीसीहिय तिन्नि य पयाहिणा तिन्नि चेव य पणामा।
तिविहा पूया य तहा अवत्थतियभावणं चेव ॥ ६६ ॥
तिदिसिनिरिक्खणविरई तिविहं भूमिपमज्जणं चेव।
वन्नाइतियं मुद्दातियं च तिविहं च पणिहाणं ॥ ६७ ॥
इय दहतियसंजुत्तं वंदणयं जो जिणाण तिक्कालं।
कुणइ नरो उवउत्तो सो पावइ निज्जरं विउलं ॥ ६८ ॥
घरजिणहरजिणपूआवावारच्चायओ निसीहितिगं।
पुप्फक्खयत्थुईहिं तिविहा पूया मुणेयव्वा ॥ ६९ ॥
होइ छउमत्थकेवलीसिद्धत्तेहिं जिणे अवत्थतिगं।
वन्नत्थाऽऽलंबणओ वन्नाइतियं वियाणिज्जा ॥ ७० ॥
जिणमुद्दा जोगमुद्दा मुत्तासुत्ती उ तिन्नि मुद्दाओ।
कायमणोवयणनिरोहणं च तिविहं च पणिहाणं ॥ ७१ ॥
पंचंगो पणिवाओ थयपाढ़ो होई जोगमुद्दाए।
वंदण जिणमुद्दाए पणिहाणं मुत्तसुत्तीए ॥ ७२ ॥
दो जाणू दुन्नि करा पंचमगं होई उत्तमंगं तु।
संमं संपणिवाओ नेओ पंचंगपणिवाओ ॥ ७३ ॥
अन्नोऽन्नंतरअंगुलि कोसागारेहिं दोहिं हत्थेहिं।
पेट्टोवरिकुप्परसंठिएहिं तह जोगमुद्दत्ति ॥ ७४ ॥
चत्तारि अङ्गुलाइं पुरओ ऊणाइं जत्थ पच्छिमओ।
पायाणं उस्सग्गे एसा पुण होई जिणमुद्दा ॥ ७५ ॥
मुत्तासुत्तीमुद्दा समा जहिं दोवि गब्भिया हत्था।
ते पुण निलाडदेसे लग्गा अण्णे अलग्गत्ति ॥ ७६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दाहिणवामंगठिओ नरनारिणोऽभिवंदए देवे ।
उक्किट्ठ सट्ठिहत्थुग्गहे जहन्नेण करनवगे ॥ ७७ ॥
अट्ठट्ठनवट्ठ य अट्ठवीस सोलस य वीस वीसामा ।
मंगल इरियावहिया सक्कत्थयपमुहदंडेसु ॥ ७८ ॥
पंचपरमेट्ठिमंते पए पए सत्त सम्पया कमसो ।
पज्जन्तसत्तरक्खरपरिमाणा अट्ठमी भणिआ ॥ ७९ ॥
(अंतिम चूलाइतियं सोलस अट्ठ नवक्खर जुयं चेव ।
जो पढइ भत्तिजुत्तो सो पावइ सासयं ठाणं ॥)
इच्छ गम पाण ओसा जे मे एगिंदि अभिहया तस्स ।
इरियाविस्सामेसुं पढमपया हुंति दट्ठव्वा ॥ ८० ॥
अरिहं आइग पुरिसो लोगोऽभय धम्म अप्प जिण सव्वा ।
सक्कत्थयसंपयाणं पढमुल्लिगणपया नेया ॥ ८१ ॥
अरिहं वंदण सद्धा अण्णत्थू सुहुम एव जा ताव ।
अरिहंतचेइयथए विस्सामाणं पया पढ़मा ॥ ८२ ॥
अट्ठावीसा सोलस वीसा य जहक्कमेण निद्दिट्ठा ।
नामजिणट्ठवणाइसु वीसामा पायमाणेणं ॥ ८३ ॥
दुण्णेगं दुण्णि दुगं पंचेव कमेण हुंति अहिगारा ।
सक्कत्थयाइसु इहं थोयव्वविसेसविसया उ ॥ ८४ ॥
पढमं नमोऽत्थु जे अइयसिद्ध अरहंतचेइयाणंति ।
लोगस्स सव्वलोए पुक्खर-तमतिमिर सिद्धाणं ॥ ८५ ॥
जो देवाणवि उज्जितसेल चत्तारि अट्ठ दस दोय ।
वेयावच्चगराण य अहिगारुल्लिगणपयाइं ॥ ८६ ॥
पढमे छट्ठे नवमे दसमे एक्कारसे य भावजिणे ।
तइयंमि पंचमंमि य ठवणजिणे सत्तमे नाणं ॥ ८७ ॥
अट्ठमबीयचउत्थेसु सिद्धदव्वारिहंतनामजिणे ।
वेयावच्चगरसुरे सरेमि बारसमअहिगारे ॥ ८८ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साहूण सत्तवारा होइ अहोरत्तमज्झायारंमि ।
गिहिणो पुण चिइवंदण तिय पंच य सत्त वा वारा ॥ ८९ ॥
पडिक्कमणे चेइहरे भोयणसमयंमि तह य संवरणे ।
पडिक्कमण सुयण पडिबोहकालियं सत्तहा जइणो ॥ ९० ॥
पडिक्कमओ गिहिणो वि हु सत्तविहं पंचहा उ इयरस्स ।
होइ जहन्नेण पुणो तीसुवि संझासु इय तिविहं ॥ ९१ ॥
नवकारेण जहन्ना दण्डकथुइजुअलमज्झिमा नेया ।
उक्कोसाविहिपुव्वगसक्कत्थयपंचनिम्माया ॥ ९२ ॥

—गाथार्थ—

दशत्रिक का स्वरूप—(१) तीन निस्सीहि, (२) तीन प्रदक्षिणा, (३) तीन प्रणाम, (४) तीन पूजा, (५) तीन अवस्थाओं की भावना, (६) तीन दिशाओं के निरीक्षण का त्याग, (७) तीन बार भूमि की प्रमार्जना, (८) वर्णादि त्रिक, (९) मुद्रात्रिक और (१०) प्रणिधानत्रिक।

जो आत्मा दशत्रिक का पालन करते हुए, उपयोगपूर्वक जिनेश्वर परमात्मा की त्रिकाल वन्दना करते हैं वे विपुल निर्जरा के भागी बनते हैं।

घर सम्बन्धी, मन्दिर सम्बन्धी तथा जिन पूजा सम्बन्धी व्यापार-प्रवृत्ति के त्याग रूप क्रमशः तीन निसीहि समझना चाहिये।

पूजा के तीन प्रकार—पुष्प पूजा, अक्षत पूजा, एवं स्तुति रूप तीन पूजा है। परमात्मा की छद्मस्थ, केवली तथा सिद्धरूप अवस्थाओं का चिन्तन करना अवस्थात्रिक है।

अक्षर-उपयोग, अर्थ-उपयोग तथा प्रतिमा-उपयोग रूप आलंबनत्रिक है।

जिनमुद्रा, योगमुद्रा और मुक्ताशुक्ति मुद्रा रूप मुद्रात्रिक है।

मन-वचन और काया का निरोध रूप प्रणिधानत्रिक है।

योगमुद्रा से पञ्चाङ्ग नमस्कार तथा स्तवपाठ होता है। जिनमुद्रा से वंदन तथा मुक्ताशुक्ति मुद्रा से प्रणिधान सूत्र बोला जाता है।

दो जानु, दो हाथ और मस्तक इन पाँच अङ्गों को एकत्रित कर किया जाने वाला नमस्कार पञ्चाङ्ग प्रणिपात कहलाता है।

दोनों हाथों की दस अङ्गुलियों को परस्पर एक-दूसरी के अन्तराल में डालकर, कमलवत् दोनों हाथों का आकार बनाकर कोहनियों को पेट पर रखना योगमुद्रा है।

दोनों पाँवों को इस तरह रखना कि दोनों अङ्गुठों के मध्य चार अङ्गुल का अन्तर रहे और एड़ियों के बीच चार अङ्गुल से कुछ कम अन्तर रहे—यह जिनमुद्रा है। इसका उपयोग कायोत्सर्ग करते समय होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोनों हाथों को कमलाकार बनाकर ललाट को छूते हुए रखना मुक्ताशुक्ति मुद्रा है। किसी का मत है कि हाथों को ललाट से दूर रखना चाहिये॥ ६६-७६॥

अवग्रह—पुरुष प्रतिमा की दाहिनी तरफ एवं स्त्री प्रतिमा की बांई तरफ उत्कृष्ट से साठ हाथ एवं जघन्य से नौ हाथ (शेष मध्यम) दूर रहकर परमात्मा को वन्दन करे॥ ७७॥

नवकारमंत्र, इरियावहि तथा अरिहंतचेइयाणं की आठ-आठ, शक्रस्तव की नौ, लोगस्स की अट्ठावीस, पुक्खरवरदीवड्ढे की सोलह और सिद्धाणं बुद्धाणं की बीस सम्पदा है॥ ७८॥

नवकारमंत्र की सम्पदा—नवकारमंत्र में प्रथम सात सम्पदायें एक-एक पद की हैं और अन्तिम आठवीं सम्पदा सतरह अक्षर की है॥ ७९॥

नवकारमंत्र की अंतिम तीन चूलिकायें क्रमशः सोलह, आठ और नौ अक्षर की हैं। भक्तियुक्त हृदय से उसे जो पढ़ता है, वह शाश्वत स्थान को प्राप्त करता है॥

सम्पदा के प्रथम पदों का ज्ञान होने से अन्य पदों का ज्ञान सहज हो जाता है अतः इस गाथा में इरियावहियं की आठ सम्पदा के प्रथम पद बताये जाते हैं॥ ८०॥

इरियावहियं की सम्पदा—१. इच्छामि पडिक्कमिउं, २. गमणागमणे, ३. पाणक्कमणे, ४. ओसाउत्तिंग, ५. जे मे जीवा विराहिया, ६. एगिंदिया, ७. अभिहया, ८. तस्स उत्तरीकरणेणं से लेकर ठामि काउस्सग्गं पर्यन्त॥ ८१॥

नमुत्थुणं की सम्पदा—१. अरिहंताणं, २. आइगराणं, ३. पुरिसुत्तमाणं, ४. लोगुत्तमाणं, ५. अभयदयाणं, ६. धम्मदयाणं, ७. अप्पडिहय, ८. जिणाणं-जावयाणं, ९. सव्वन्नूणं इत्यादि शक्रस्तव की सम्पदा के प्रथम पद है॥ ८२॥

अरिहंतचेइयाणं की सम्पदा—

'अरिहंतचेइयाणं' की सम्पदाओं के प्रथम पद निम्न हैं—१. अरिहं, २. वंदण, ३. सद्धा, ४. अन्नत्थ, ५. सुहुम, ६. एव, ७. जा, ८. ताव॥

नामस्तव, श्रुतस्तव तथा सिद्धस्तव की सम्पदायें—नामस्तव (लोगस्स), श्रुतस्तव (पुक्खरवरदीवड्ढे) तथा सिद्धस्तव (सिद्धाणं बुद्धाणं) की क्रमशः अट्ठावीस, सोलह और वीस सम्पदा है॥ ८३॥

चैत्यवन्दन के बारह अधिकार—शक्रस्तव के दो, चैत्यस्तव के एक, नामस्तव के दो, श्रुतस्तव के दो तथा सिद्धस्तव के पाँच अधिकार हैं॥ ८४॥

बारह अधिकार के 'आदि' पद—(१) नमोत्थुणं, (२) जे अईयासिद्धा, (३) अरिहंत चेइयाणं, (४) लोगस्स, (५) सव्वलोए, (६) पुक्खरवरदीवड्ढे, (७) तमतिमिर, (८) सिद्धाणं बुद्धाणं, (९) जो देवाणवि देवो, (१०) उज्जितसेलसिहरे, (११) चत्तारि अट्ठ दस दोय, (१२) वेयावच्चगराणं ये बारह अधिकारों के आदि पद हैं॥ ८५-८६॥

कौन से अधिकार में किसको वन्दन है?—पहिले, छट्ठे, नौवें, दशवें तथा ग्यारहवें अधिकार में भावजिन की, तीसरे और पाँचवें अधिकार में स्थापना जिन की, सातवें अधिकार में ज्ञान की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आठवें में सिद्ध की, दूसरे में द्रव्य अरिहंत की, चौथे में नाम जिन की स्तुति एवं बारहवें में वैयावच्च करने वाले देवों का स्मरण है॥ ८७-८८॥

कौन कितनी बार चैत्यवंदन करता है?—अहोरात्रि में मुनियों के सात वार, श्रावकों के सात, पाँच या तीन वार चैत्यवन्दन होते हैं॥ ८९॥

१. सुबह प्रतिक्रमण में, २. मन्दिर में, ३. पच्चक्खाण पालते समय, ४. गौचरी करने के बाद, ५. दैवसिक प्रतिक्रमण में, ६. संथारा पोरिसी करते समय, ७. सवेरे उठने के पश्चात्। मुनियों के ये सात चैत्यवन्दन होते हैं॥ ९०॥

दोनों समय प्रतिक्रमण करने वाले श्रावक के मुनियों की तरह सात चैत्यवन्दन होते हैं। जो श्रावक उभयसन्ध्य प्रतिक्रमण नहीं करता उसके पाँच वार तथा जघन्य तीन बार (त्रिसन्ध्य मन्दिर जाने वाले के) चैत्यवन्दन होते हैं॥ ९१॥

(१) जघन्य चैत्यवन्दन— 'नमो अरिहंताणं' ऐसा बोलना जघन्य चैत्यवन्दन है। चैत्यवन्दन, दण्डक तथा स्तुतियुगल बोलना मध्यम चैत्यवन्दन है। विधिपूर्वक पाँच शक्रस्तव रूप उत्कृष्ट चैत्यवन्दन है॥ ९२॥

—विवेचन—

'निस्सीहि' आदि दश त्रिकों सहित, उपयोगपूर्वक जो व्यक्ति जिनेश्वरदेव की त्रिकालस्तुति, चैत्यवन्दनादि करता है, वह विपुल निर्जरा का भागी बनता है और अन्त में शाश्वतस्थान अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है।

प्रत्येक त्रिक का वर्णन आगे विस्तार से किया जायेगा। यहाँ चैत्यवन्दन की विधि ही बताई जायेगी। सूत्रों की व्याख्या नहीं। जिज्ञासु आत्मा को **ललितविस्तरादि** ग्रन्थों से सूत्रों की व्याख्या जाननी चाहिये। वन्दनक सूत्रादि के विषय में भी यही ज्ञातव्य है।

चैत्यवन्दन करने का इच्छुक, महर्द्धिक श्रावक शासन प्रभावना के लिये योग्य आभरणादि पहिनकर अपनी सर्वऋद्धि, सर्वबल और पुरुषार्थ के साथ मन्दिर में जाय (चैत्यादि में 'आदि' से उपाश्रय समझना)। किन्तु सामान्य वैभववाला मनुष्य अपनी योग्यतानुसार मन्दिर आदि में जाय, अर्थात् वेष-परिधानादि में उद्‌भट न बने (अपने वैभव और मर्यादा के अनुकूल वस्त्र पहिने) ताकि लोकों में उपहास न हो।

चैत्यप्रवेश विधि—

(१) पुष्प, तांबूल आदि सचित्त द्रव्यों का त्याग कर

(२) कडे-कुण्डलादि अचित्त अलङ्करणों को धारणकर

(३) कटिभाग में एकवस्त्र और ऊपर एक उत्तरासंग वस्त्र पहिनकर

(यह विधि मात्र पुरुषों के लिए है। स्त्रियाँ विशेष वस्त्रों से आवृत तथा विनय से अवनत हो मन्दिर में प्रवेश करें।)

(४) जिन प्रतिमा दिखाई देते ही सिर पर अञ्जलि करके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(५) एकाग्रतापूर्वक (इन पाँच अभिगमसहित), 'निस्सीहि' कहते हुए, मन्दिर में प्रवेश करें।

श्री **भगवती सूत्र** में भी 'सच्चित्ताणं दव्वाणं.....' इत्यादि से पाँच अभिगमपूर्वक मन्दिर में प्रवेश करने का कहा है।

श्री **भगवती सूत्र** में जहाँ 'अचित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए' के स्थान पर 'विउसरणयाए' ऐसा पाठ है, वहाँ विउसरणयाए का अर्थ है—'अचित्त' का त्याग करके अर्थात् छत्रादि राजचिह्नों का त्याग करके मन्दिर में प्रवेश करे।

- यदि चैत्यवन्दन करने वाला राजा है तो सचित्तद्रव्यों की तरह अपने छत्रादि अचित्त राजचिह्नों का भी त्याग करके मन्दिर में प्रवेश करे।

सिद्धान्त में कहा है कि— राजा राज्य के चिह्न रूप खड्ग, जूते, छत्र, चामर और मुकुट इन पाँचों का त्याग करके मन्दिर में प्रविष्ट हो।

प्रथम निस्सीहि त्रिक—

(i) प्रथम निस्सीहि मन्दिर के बाह्य द्वार पर, घर सम्बन्धी व शरीर सम्बन्धी कार्यों के त्याग हेतु करे।

(ii) दूसरी निस्सीहि मन्दिर के मध्य भाग में, घर सम्बन्धी बातचीत के त्याग हेतु करे।

(iii) तीसरी निस्सीहि मन्दिर के मूल द्वार पर, घर सम्बन्धी व शरीर सम्बन्धी चिन्तन के त्याग रूप करे।

ग्रन्थकार के मतानुसार—

(१) प्रथम 'निस्सीहि' घर सम्बन्धी सावद्य कार्यों के निषेधरूप है। यह जिन मन्दिर में प्रवेश करते ही बोली जाती है।

(२) दूसरी 'निस्सीहि' जिन-मन्दिर विषयक सावद्य-कार्य पत्थर वगैरह घड़वाना, मन्दिर की सफाई वगैरह करवाना इत्यादि कार्यों के निषेधरूप है। यह तीन प्रदक्षिणा देने के बाद बोली जाती है।

(३) तीसरी 'निस्सीहि' द्रव्य-पूजा करने के निषेधरूप है। यह 'निस्सीहि' जिनेश्वर भगवान की द्रव्य पूजा करने के पश्चात् तथा भावपूजा करने से पहले बोली जाती है।

द्वितीय प्रदक्षिणा त्रिक—

ज्ञान-दर्शन-चरित्र की आराधना के लिये जिनेश्वर भगवान की दाहिनी तरफ से प्रारम्भ कर तीन बार परिक्रमा करना, प्रदक्षिणा त्रिक है। कल्याण के इच्छुक आत्मा को प्रत्येक शुभ कार्य दाहिनी तरफ से ही करना चाहिये।

तीसरा प्रणाम त्रिक—

प्रभु की प्रतिमा के सम्मुख हार्दिक भक्ति-भाव व्यक्त करने के लिये मस्तक से भूमि को छूते हुए तीन बार नमन करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चौथा पूजा त्रिक—

(१) विविध जाति वाले, सुगन्धी पुष्पादि द्वारा— अङ्गपूजा।

(२) उत्तम अक्षत-चावलों द्वारा— अग्रपूजा।

(३) जिनेश्वर परमात्मा के अलौकिक यथार्थ गुणों से भरपूर एवं संवेगजनक स्तुतिओं द्वारा भगवान की पूजा करना— भावपूजा।

'पुष्पादि' में आदि शब्द से अनुपम रत्न, सुवर्ण, मुक्ता के आभरणों से प्रतिमा को अलंकृत करना, विचित्र और पवित्र वस्त्रों से परमात्मा की शोभा बढ़ाना, सरसों, अक्षत आदि उत्तम धान्यों से प्रभु के सन्मुख अष्ट मङ्गल की रचना करना, बलि, औषधि युक्त जल, मङ्गलदीप, दही, घी आदि पदार्थों को परमात्मा के सामने रखना, भगवान के भाल पर गोरोचन-कस्तूरी आदि सुगन्धि-द्रव्यों से तिलक करना, परमात्मा की आरती उतारना इत्यादि भी समझ लेना चाहिये।

पूर्वमहर्षियों का भी कथन है कि— 'सुगन्धी धूप, औषधि मिश्रितजल, सुगन्धी विलेपन, उत्तम पुष्पों की माला, बलि, दीपक, सुवर्ण , रत्न और मोती की मालाओं से परमात्मा का पूजन-अलङ्करणादि करना चाहिये। प्रायः देखा जाता है कि उत्तम साधनों के आलंबन से भाव भी उत्तम बनते हैं। जिनेश्वर देव की पूजा में उत्तम भावों की वृद्धि के लिये ही उत्तम साधनों की आवश्यकता है। इससे अन्य उनका कोई उपयोग नहीं है।'

परमात्मा की पूजा कर लेने के बाद इरियावहियं प्रतिक्रमणपूर्वक शक्रस्तवादि दण्डक सूत्रों से 'चैत्यवन्दन' करके श्रेष्ठ कवि द्वारा निर्मित स्तोत्र से परमात्मा का गुणोत्कीर्तन करना चाहिये।

परमात्मा का स्तोत्र कैसा होना चाहिये?

(१) परमात्मा के शारीरिक गुणों का सूचक, (२) गंभीर,
(३) विविधवर्णसंयुक्त, (४) भाव-विशुद्धि का कारण,
(५) संवेगपरायण, (६) पवित्र,
(७) अपने पाप निवेदन से युक्त, (८) प्रणिधान पुरस्सर,
(९) विचित्र अर्थयुक्त, (१०) अस्खलितादि गुणयुक्त,
(११) महान् बुद्धिशाली कवि द्वारा रचित स्तोत्र से परमात्मा की स्तुति करनी चाहिये।

स्नेहीजनों को देखकर जिनकी आँखों में कभी हर्ष के आँसू नहीं छलके, कष्ट देने वाले शत्रुओं को देखकर जिनकी आँखों में कभी क्रोध नहीं झलका, ध्यानबल से जिनकी आँखों ने समस्त जगत को देखा है, कामदेव के विजेता ऐसे श्री वर्धमान परमात्मा के नेत्र सभी का चिरकाल तक कल्याण करे।

करोड़ों स्वर्णमुद्राओं के दान द्वारा सम्पूर्ण विश्व की दरिद्रता दूर करने वाले, मोह के वंशज अंतर शत्रुओं का नाश करने वाले, निस्पृहभाव से केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिये दुष्कर तप करने वाले, इस प्रकार त्रिविध वीरयश के धारक, त्रैलोक्यगुरु श्री वर्धमान स्वामी की जय हो।

हे कृपारसनिधि! संसार रूपी मरुस्थल में पड़े हुए, नारी रूप मृगमरीचिका में मुग्ध बने हुए मुझे आपके दर्शन प्राप्त हुए हैं। हे जिनेश्वर! अब आप मेरी तृष्णाजन्य पीड़ा को दूर करके मुझे शान्ति प्रदान करें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार अर्थगर्भित स्तोत्र के द्वारा परमात्मा की गुणोत्कीर्तन रूप पूजा करनी चाहिये। परन्तु लज्जा-अपमङ्गलकारक व क्लेशदायक स्तोत्र परमात्मा के सन्मुख नहीं बोलना चाहिये। यथा—'रतिक्रीडा के अन्त में एक हाथ से शेषनाग पर भार देकर खड़ी होती हुई तथा दूसरे हाथ से अपने वस्त्रों को व्यवस्थित करती हुई, बिखरे हुए बालों की लटों के भार को खम्भे पर वहन करती हुई, अत्यन्त कान्तिमान तथा रतिक्रीड़ा से प्रसन्न बने कृष्ण के द्वारा आलिंगन देकर पुनः शय्या पर लाई गई लक्ष्मी का देह तुम्हें पवित्र बनावे।' ऐसे अप्रसिद्ध व अस्पष्ट शब्दों वाली स्तुति कदापि परमात्मा के सम्मुख नहीं करनी चाहिये।

परमात्मा की 'त्रिविध पूजा' में उपलक्षण से अष्टप्रकार की पूजा भी आ जाती है।

अष्टप्रकारी पूजा १. जल पूजा, २. चन्दन पूजा, ३. पुष्प पूजा, ४. धूप पूजा, ५. दीप पूजा, ६. अक्षत पूजा, ७. नैवेद्य पूजा, ८. फल पूजा।

पाँचवाँ अवस्था त्रिक—

परमात्मा की (१) छद्मस्थ अवस्था, (२) कैवल्य अवस्था एवं (३) सिद्ध-अवस्था के स्वरूप का चिन्तन करना।

१. छद्मस्थावस्था-

(i) बाल्यावस्था—अहो प्रभु! आप सचमुच में पुरुषोत्तम हैं। जन्म समय में ५६ दिक्कुमारियों, देवों और देवेन्द्रों ने बड़े समारोह के साथ त्रैलोक्यनाथ के रूप में आपकी पूजा की। मेरु-पर्वत पर करोड़ों देवताओं ने आपका महा-अभिषेक किया। पुण्य की सर्वोच्च स्थिति में एवं अनुपम सम्मान के समय भी आपको अहंकार का लेश नहीं छू सका। धन्य है आपकी महानता को। (यह प्रस्तुत ग्रन्थ में नहीं है)

(ii) राज्यावस्था—परम-प्रभु! मदोन्मत्त हाथी, हेषारव करते हुए घोड़े, हर्षोल्लास को बढ़ाने वाली सुन्दरियाँ एवं अथाह सुख-वैभव से परिपूर्ण साम्राज्य का स्वामित्व पाकर भी आप असंग और अनासक्त रहे। ऐसे अचिन्त्य महिमासंपन्न प्रभु! आपका दर्शन धन्यात्मा ही कर पाते हैं।

(iii) श्रमणावस्था—इसी भव में केवलज्ञान और मोक्ष की प्राप्ति निश्चित है, ऐसा जानते हुए भी मेरे प्यारे प्रभु! आपने जो कठोर चारित्रमार्ग की आराधना की, सतत धर्मध्यान में मग्न रहे, शत्रु-मित्र पर समान भाव रखा, निर्मल चार ज्ञान को धारण किया, तृण, मणि, सुवर्ण, पाषाण को समानरूप से निहाला, अनासक्त भाव से विचरण किया, निदान रहित विविध प्रकार का उग्र तप किया, असह्य-परिषह-उपसर्ग में भी आपकी हृदय रूप गुफा और मुख मुद्रा से सदा प्रशान्तरस छलकता रहा . . . ऐसे प्रभु! आपका दर्शन उत्कट पुण्यशाली आत्मा ही पा सकते हैं।

२. कैवल्य अवस्था— हे त्रिजगगुरु! अनादिकालीन रागादि शत्रुओं का नाशक जो प्रबल-पुरुषार्थ आपने किया, लोकालोक को प्रकाशित करने वाली अनन्त ज्ञान की ज्योति जलाई, देवेन्द्रों की प्रार्थना से देवों द्वारा रचित दिव्य समवसरण में विराजित होकर भव्य-धर्म शासन की स्थापना की तथा भव्यात्माओं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अनेकों संशयों को दूर करने वाली वाणी रूप भागीरथी को प्रवाहित कर, क्रूर कर्म रूपी पिशाच की जंजीरों से जकड़े हुए तथा अनन्त जन्म-मरण के जालिम दुःखों को भोगने वाले भव्यात्माओं को सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति आदि के पुनीत-पथ पर प्रयाण करा कर उन्हें अनन्त कल्याण के भागी बनाये, ऐसी यथार्थ लोकोत्तरचर्या को धारण करने वाले प्रभु ! आपका दर्शन धन्य पुरुष ही पा सकते हैं।

अहो प्रभो ! सर्वश्रेष्ठ तीर्थंकर नाम कर्म के पुण्य प्रभाव से त्रिभुवन में अपूर्व गरिमामय कैसी आपकी अर्हत्संपदा ! तीनों जगत के जीवों की दृष्टि को अपार आनन्द देने वाली कैसी आपकी भव्य देह मुद्रा ! जीवों के मोहमल को दूर करने वाली कैसी आपकी वचन चातुरी ! सद्गुणों से अनुप्राणित और जगत को वश करने वाला कैसा आपका भव्य चारित्र ! वस्तुतः वीतराग परमात्मा की सर्वज्ञ तीर्थंकर अवस्था अनन्त उपकारक और अगम अगोचर है।

३. **सिद्धावस्था**—हे भगवन्त ! आपके सिद्धस्वरूप का ध्यान धन्य आत्मा ही कर सकते हैं। हे सिद्ध प्रभु ! आप लोकालोक प्रकाशक, अनन्त कालीन ज्ञेय पदार्थों के ज्ञाता, अप्रतिहत केवलज्ञान से सम्पन्न हैं। आप उत्तम, निर्दोष अनन्त दर्शन के धारक हैं। आप अनन्त, अमेय सुख के स्वामी एवं अनन्त शक्ति के मालिक हैं। आपकी महिमा अनन्त और अद्‌भुत है। ऐसी सिद्धावस्था की कल्पना भी अधन्य पुरुष, निष्पुण्य आत्मा नहीं कर सकते तो उसके ध्यान की तो बात ही कहाँ है ?

छठा दिशात्याग त्रिक—

दर्शन-पूजन आदि करते समय मन को अधिक एकाग्र करने के लिये एक दिशा को छोड़कर (जिस ओर प्रभु की मूर्ति हो) अन्य सभी दिशाओं में देखने का त्याग करना। अन्यथा परमात्मा के प्रति, क्रिया के प्रति अनादर होगा।

सातवाँ प्रमार्जन त्रिक—

जीवों की रक्षा के लिए चैत्यवन्दन करने के स्थान को प्रथम चक्षु से देखकर फिर वस्त्र से अथवा रजोहरण से तीन बार प्रमार्जन करके बैठना।

आठवाँ वर्णादि त्रिक—

चैत्यवन्दन करते समय 'अ' 'क' आदि अक्षर, अर्थ एवं प्रतिमा इन तीनों में उपयुक्त रहना।

- **आलम्बन**—अष्टप्रातिहार्यरूपी महाविभूति द्वारा जगत् के जीवों को विस्मित करने वाले, कमनीय कान्तिवाले, सभा जनों को विकस्वर नेत्रों से देखते हुए आप ऐसे प्रतीत हो रहे हो मानो उन्हें अमृत के प्रवाह से सींच रहे हो, समृद्धि के कारणभूत, देवेन्द्रों व मनुष्यों द्वारा बड़े हर्षपूर्वक सेवित, श्रेष्ठ महिमावाले ऐसे परमात्मा का आलम्बन लेकर चैत्यवन्दन करना चाहिये।

नौवां मुद्रा त्रिक—

मुद्रा = हस्त आदि शरीर के अवयवों का आकार विशेष। इसके तीन भेद हैं—

(i) जिनमुद्रा, (ii) योगमुद्रा, (iii) मुक्ताशुक्ति मुद्रा।

(i) **जिनमुद्रा**—यह मुद्रा पाँवों से सम्बन्धित है। दोनों पैरों के अग्र-भाग में चार अङ्गुल का और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पीछे भाग में किञ्चित् न्यून अन्तर रखते हुए कायोत्सर्ग आदि करना। 'अरिहंत चेइयाणं' वगैरह सूत्र जिनमुद्रा और योगमुद्रा में बोले जाते हैं।

(ii) **योगमुद्रा**—यह मुद्रा हाथों से सम्बन्धित है। परस्पर एक-दूसरे हाथ की अङ्गुलियों के बीच में अङ्गुलियाँ डालकर 'कमल कोष' की तरह दोनों हथेलियों को जोड़कर दोनों कुहनियों को पेट पर लगा देना योगमुद्रा है। शक्रस्तवादि स्तवना सूत्र योगमुद्रा द्वारा बोले जाते हैं।

(iii) **मुक्ताशुक्ति मुद्रा**—यह मुद्रा भी हाथों से सम्बन्धित है। दोनों हाथों की अंगुलियों को एक दूसरे के अन्तराल में डाल कर मोती की 'सीप' की तरह दोनों ओर से हाथों को उभारकर जोड़ते हुए 'भाल' पर लगाना। इस मुद्रा से प्रणिधान सूत्र (जावंति-चेइआइं,जावंत केवि साहू तथा जयवीयराय) बोले जाते हैं। कुछ आचार्यों के मतानुसार हाथ दोनों आँखों के मध्य भाग में रखकर 'जयवीयराय' बोलना चाहिये।

पञ्चाङ्ग प्रणिपात—दोनों जानु + दोनों हाथ + मस्तक इन पाँचों से भूमितल को छूते हुए प्रणिपात —नमस्कार करना।

(प्रणिपात दण्डकसूत्र के प्रारम्भ में तथा अन्त में किया जाता है) योगमुद्रादि की तरह अङ्गविन्यास विशेष रूप होने से पञ्चाङ्गी भी एकमुद्रा है।

दशवाँ प्रणिधान त्रिक—

कायिक-वाचिक एवं मानसिक अप्रशस्त व्यापार से निवृत्त होकर प्रशस्त व्यापार में प्रवृत्त होना, प्रणिधान कहलाता है। शरीर को सुसंवृत करके कमल-कोष की तरह हाथों को जोड़कर, मन-मन्दिर में अचिन्त्य-चिन्तामणि, सुन्दर चरित्रवाले, वन्दनीय अरिहंत परमात्मा को स्थापित कर मधुरवाणी द्वारा उनकी स्तुति करना। हे त्रिजगत्पति! हे जगत् जन्तुओं के शरणभूत! आपकी कृपा से मेरे अन्दर विवेक जागृत हो, इस संसार से वैराग्य हो, संयम के प्रति प्रीति उत्पन्न हो और गुणार्जन के साथ-साथ परोपकार करने का शुभ प्रयास भी जगे॥ ६६-७६॥

विधि-विशेष — प्रभु के दर्शन करते समय पुरुष वर्ग भगवन्त की प्रतिमा के दाहिनी तरफ और स्त्रियाँ बाई तरफ खड़ी रहें।

उत्कृष्टत: — भगवान् से ६० हाथ दूर, और जघन्यत: नौ हाथ दूर खड़े रहकर चैत्यवन्दनादि करना चाहिये।

- अवग्रह का पालन उच्छ्वास-निश्वासादि से होने वाली आशातनाओं के परिहार के लिये आवश्यक है॥ ७७॥

संपदा — सूत्र बोलते समय ठहरने के स्थान को 'सम्पदा' कहते हैं।

- नमस्कार = ८ सम्पदा
- इरियावहियं = ८ सम्पदा
- नमुत्थुणं = ९ सम्पदा
- अरिहंतचेइयाणं = ८ सम्पदा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- लोगस्स = २८ सम्पदा
- पुक्खरवरदीवड्ढे = १६ सम्पदा
- सिद्धाणं = २० सम्पदा ॥ ७८ ॥

१. नवकार की सम्पदाः ८—

नवकार में प्रथम ५ पद की पाँच सम्पदा,

+ एसो पंच....१ सम्पदा

+ सव्वपावप्प....१ सम्पदा

+ मंगलाणं च सव्वेसिं पढ़मं हवइ मंगलं... १ सम्पदा

कुल = ५+१+१+१=८ सम्पदा

मतान्तर — अन्य मतानुसार नमस्कार मन्त्र की अन्तिम चूलिका की तीन सम्पदा इस प्रकार है। वे क्रमशः १६, ८ और ९ अक्षरों की हैं। भक्तिपूर्वक जो इसका स्मरण करते हैं, वे अवश्य ही शाश्वत-मुक्ति पद का वरण करते हैं।

१ प्रथम पाँच पद की = ५

२ एसो पंच नमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो, दो पद की = १ सम्पदा

३ मंगलाणं च सव्वेसिं = १ सम्पदा

४ पढ़मं हवइ मंगलं = १ सम्पदा

कुल = ८ सम्पदा

प्रश्न—'नमस्कार' में 'हवइ' की जगह 'होइ' क्यों नहीं कहा? कारण 'होइ' कहने में न तो कोई अर्थ भेद होता है, न श्लोक में एक अक्षर अधिक ही होता है अतः 'होइ' कहना चाहिये।

उत्तर—यद्यपि आपका कथन सत्य है, तथापि 'हवइ' यही पाठ ठीक है। क्योंकि **'नमस्कारवलयादि'** ग्रंथों में सर्वमन्त्र और रत्नों का खजाना, चिन्तित अर्थ को देने में कल्पवृक्ष, विषधर के विष और डाकिनी आदि की बाधा को शान्त करने वाला, जगत् को वश करने का अचूक उपाय, १४ पूर्वों का सार ऐसे पञ्च परमेष्ठि की व्याख्या में 'हवइ' ऐसा ही पाठ कहा है, क्योंकि तथाविध कार्य-सिद्धि आदि के लिये की गई 'नमस्कार' की आराधना में ३२ दल वाले कमल की रचना की जाती है और एक-एक कमल की पङ्खुड़ी पर एक-एक अक्षर की स्थापना की जाती है। यदि 'होइ' ऐसा पाठ हो तो ३२ अक्षर होने से कमल की पङ्खुड़ियों पर ही वे पूर्ण हो जायेंगे और कमल की नाभि का भाग अक्षर शून्य रह जायेगा। मंत्र साधना में ऐसी रिक्तता लाभप्रद नहीं होती। कहा है कि यदि यन्त्रादि में एक अक्षर या मात्रा भी न्यूनाधिक हो जाय तो इच्छित फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः 'हवइ' यह पाठ ही ठीक है। ताकि ३३ अक्षर की ३ चूलिका का एक-एक अक्षर ३२ पङ्खुड़ियों पर स्थापित हो जायेगा और एक नाभि प्रदेश में। इसी भाव की सूचक पूर्वाचार्यों की गाथा भी है। 'परमात्मा जिनेश्वर देव के शासन में ६८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अक्षरों वाला नमस्कार मन्त्र सर्व मन्त्रों में प्रधान है। इसके अन्त में ३ चूलिकायें हैं जो क्रमशः १६-८-९ अक्षरों की हैं।'

सम्पदाओं के प्रथमपद ज्ञात हो जाने पर मध्य के पद स्वतः ज्ञात हो जाते हैं। इसी बात को ध्यान में रखते हुए 'इरियावहियं' आदि सूत्रों की सम्पदाओं के प्रथम पद ही बताये गये हैं॥ ७९-८०॥

२. इरियावहियं की सम्पदा : ८

१. इच्छामि पडिक्कमिउं., २. गमणागमणे., ३. पाणक्कमणे., ४. ओसा उत्तिंग., ५. जे मे जीवा विराहिया., ६. एगिंदिया., ७. अभिहया., ८. तस्स उत्तरी....ठामि काऊस्सग्गं॥ ८१॥

नमुत्थुणं की सम्पदा : ९

'नमुत्थुणं' यह क्रिया (नमस्कार) पद होने से सम्पदा में नहीं गिना जाता।

१. 'अरिहंताणं, . भगवंताणं' इन दो पदों की प्रथम स्तोतव्य सम्पदा है। इसका अर्थ है कि अरिहंत भगवंत स्तुति योग्य हैं।

२. 'आइगराणं...सयंसंबुद्धाणं' पर्यंत तीन पदों की स्तोतव्य सम्पदा की प्रधान साधारण-असाधारण गुणरूप दूसरी हेतु सम्पदा है। 'आइगराणं' स्तोतव्य का सामान्य हेतु है, कारण मोक्षावस्था से पूर्व संसारी अवस्था में सभी जीव जन्मधारण करने के स्वभाव वाले हैं, किन्तु तीर्थंकरत्व व स्वयं सम्बोधित्व स्तोतव्य के विशेष गुण हैं। ये गुण अरिहंत भगवंत में ही होते हैं।

३. 'पुरिसुत्तमाणं.....पुरिसवरगंधहत्थीणं' यह चार पद वाली स्तोतव्य सम्पदा की असाधारण (विशेष) हेतु रूप तीसरी सम्पदा है। परमात्मा पुरुषोत्तम, सिंह, पुण्डरीक कमल व गंधहस्ती के गुणों से युक्त होने के कारण स्तोतव्य हैं।

४. 'लोगुत्तमाणं....लोगपज्जोअगराणं' इत्यादि पाँच पदों वाली स्तोतव्य सम्पदा की सामान्य उपयोग रूप चौथी सम्पदा है। तीर्थंकर परमात्मा लोकोत्तमादि गुणों के द्वारा लोकोपयोगी होने से स्तोतव्य हैं।

५. 'अभयदयाणं...बोहिदयाणं' आदि पाँच पदों वाली सामान्य उपयोग सम्पदा की हेतुभूत पाँचवी उपयोग हेतु सम्पदा है। अभयदान, चक्षुदान, मार्गदान, शरणदान व बोधिदान परमात्मा की लोकोपयोगिता में हेतुभूत होने से यह उपयोग हेतु सम्पदा कहलाती है।

६. धम्मदयाणं...आदि पाँच पदों के द्वारा स्तोतव्य सम्पदा की विशेष उपयोग सम्पदा बताई गई है। यह सम्पदा इस बात की सूचक है कि धर्मदान, धर्मदेशना, धर्मनायकता, धर्मसारथिपन, धर्मचक्रवर्तित्व आदि गुणों के द्वारा तीर्थंकर परमात्मा भव्यात्माओं के लिये विशेष उपयोगी हैं।

७. 'अप्पडिहय. ....विअट्टच्छउमाणं' यह दो पदों वाली स्तोतव्य सम्पदा की सातवीं सकारण स्वरूप सम्पदा है। अप्रतिहत ज्ञानदर्शन को धारण करने वाले, छद्मस्थता से रहित आत्मा ही अरिहंत होते हैं।

८. 'जिणाणं जावयाणं...मुत्ताणं मोअगाणं' आदि चार पद वाली आठवीं आत्मतुल्य परकर्तृत्त्व सम्पदा है। प्रभु स्वयं जिन बने, संसार सागर से तरे व मुक्त बने वैसे दूसरों को भी बनाने में समर्थ हैं। यह सम्पदा इसकी सूचक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. 'सव्वन्नूणं...जिअभयाणं' आदि तीन आलापकों वाली नौंवी अभय सम्पदा है। जहाँ प्रधानगुण की विद्यमानता है वहाँ प्रधान फल की प्राप्ति अवश्य होती है। सर्वज्ञता, सर्वदर्शिता आदि प्रधान गुण हैं और वे परमात्मा में विद्यमान हैं अतः उनके फलरूप मोक्ष की प्राप्ति भी उनको अवश्यमेव होती है। मोक्ष निर्भयता का कारण है अतः यह अभय सम्पदा है।

प्रश्न—अरिहंतरूप एक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न स्वभाव वाली ये सम्पदायें कैसे घटित होंगी?

उत्तर—जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु अनंत धर्मात्मक होने से अरिहंत रूप एक व्यक्ति में भी भिन्न-भिन्न स्वभाव वाली पूर्वोक्त सम्पदायें मुख्यवृत्ति से घटित हो सकती हैं। इसमें शङ्का का लेशमात्र भी अवकाश नहीं है।

'प्रत्येक वस्तु अनंतधर्मात्मक है' इसका सविस्तार वर्णन हमारे गुरुदेव **(पू. देवभद्रसूरि)** ने अपने द्वारा रचित **'प्रमाणप्रकाश' 'वादमहार्णव'** आदि ग्रन्थों में किया है जिज्ञासु वहाँ देखें।

कुल मिलाकर शक्रस्तव के ३३ पद हैं। वैसे तो परमात्मा अनन्तगुण सम्पन्न हैं, पर ये सम्पदायें मुख्य गुणों की ही सूचक हैं।

'शक्रस्तव' के अन्त में 'जे अ अईआ सिद्धा' गाथा अवश्य बोलनी चाहिये। **औपपातिक सूत्र** में 'शक्रस्तव' 'जिअभयाणं' तक ही है, अतः इतना ही बोलना चाहिये, ऐसा कथन कदाग्रहपूर्ण होगा, क्योंकि निष्कपट व निरभिमानी गीतार्थ महर्षियों द्वारा यह गाथा स्वीकृत होने से हमारे लिये भी आदरणीय है॥ ८२॥

४. अरिहंतचेइयाणं की सम्पदा : ८

१. अरिहंतचेइयाणं.....करेमि काउस्सग्गं	= २ पद की।
२. वंदणवत्तिआए.....निरुवसग्गवत्तिआए	= ६ पद की।
३. सद्धाए.....ठामि काउस्सग्गं	= ७ पद की।
४. अन्नत्थ.....पित्तमुच्छाए	= ८ पद की।
५. सुहुमेहिं.....दिट्ठिसंचालेहिं	= ३ पद की।
६. एवमाइ.....हुज्ज मे काउस्सग्गं	= ६ पद की।
७. जाव.....न पारेमि	= ४ पद की।
८. ताव.....वोसिरामि	= ६ पद की।

५. चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स.) की सम्पदा = २८ है।

६. श्रुतस्तव (पुक्खरवरदीवड्ढे.) की सम्पदा = १६ है।

७. सिद्धस्तव (सिद्धाणं-बुद्धाणं) की सम्पदा = २० है।

पूर्वोक्त तीनों सूत्रों की पद-सम्पदायें बराबर हैं। क्योंकि सूत्र बोलते समय विराम भी पद के अन्त में ही होता है॥ ८३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिकार १२.

अधिकार अर्थात् प्रस्ताव विशेष। विषय विशेष को लेकर कहना अधिकार कहलाता है।

१. शक्रस्तव = २ अधिकार।
२. अरिहंतचेइयाणं = १ अधिकार।
३. लोगस्स = २ अधिकार।
४. पुक्खरवरदीवड्ढे = २ अधिकार।
५. सिद्धाणं = ५ अधिकार॥ ८४॥

१. अधिकार—नमुत्थुणं.....जियभयाणं।

इस अधिकार में सिद्धिगति को प्राप्त हुए भाव अर्हन्तों को नमस्कार किया गया है।

२. अधिकार—जे अ अईया सिद्धा.....वंदामि।

इस अधिकार में द्रव्य अर्हन्तों को वन्दना की गई है। जो चौंतीस अतिशयों की सम्पदा को प्राप्तकर सिद्ध हो चुके हैं अथवा भविष्य में अतिशय-सम्पदा को प्राप्त होंगे, वे द्रव्य-अर्हन्त कहलाते हैं। इस अधिकार में उन्हें ही वन्दना की जाती है। कहा है—"जो भूत या भावी पदार्थ का कारण है, वह चाहे चेतन हो या अचेतन, तत्त्वज्ञों ने उसे ही द्रव्य माना है।"

प्रश्न—द्रव्य अरिहंत भी अर्हद्भाव को प्राप्त होने पर ही वन्दनीय माने जाते हैं और वह प्रथम अधिकार का विषय है। अतः 'जे अ अईआ सिद्धा' से पुनः उन्हें वन्दना करना पुनरुक्त नहीं होगा क्या?

उत्तर—वर्तमान या भावी जिन अर्हदवस्थापन्न ही वन्दनीय हैं, नहीं कि नरकादि पर्याय में रहे हुए, यह विशेष सूचित करने के लिए ही द्वितीय अधिकार है।

३. अधिकार—अरिहंत चेइयाणं.....ठामि काउस्सग्गं।

यह अधिकार देवगृहादि में विराजमान जिनप्रतिमाओं के वन्दन रूप है।

४. अधिकार—लोगस्स उज्जोअगरे.....सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।

इस अधिकार से अवसर्पिणी काल में हुए ऋषभादि २४ तीर्थंकर परमात्मा, जो भव्यात्माओं के भवसम्बन्धी सकल क्लेश के नाशक हैं, उनकी नामोत्कीर्तन पूर्वक स्तवना की गई है।

५. अधिकार—सव्वलोए अरिहंतचेइयाणं.....ठामि काउस्सग्गं।

यह अधिकार ऊर्ध्व, अधो व मध्यलोकवर्ती शाश्वत-अशाश्वत जिनालयों में विराजमान जिन प्रतिमाओं की वन्दना रूप है।

६. अधिकार—पुक्खरवरदीवड्ढे.....नमंसामि।

यह अधिकार ढ़ाईद्वीपवर्ती भावजिनेश्वरों की स्तवनारूप है।

प्रश्न—प्रस्तुत 'श्रुतस्तव' के अधिकार में अप्रस्तुत 'जिनस्तव' करना कैसे उचित होगा?

उत्तर—श्रुत के मूलकारण तीर्थंकर भगवन्त हैं। कहा है **अत्थं भासइ अरिहा।** सूत्रकर्ता गणधर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवन्तों को अर्थ का प्रतिपादन तीर्थंकर परमात्मा ही करते हैं। इस आगमवचन के अनुसार श्रुतस्तव के अधिकार में जिनस्तव भी प्रस्तुत ही है। तथा श्रुतस्तव के अधिकार में जिनस्तव करना इस बात का द्योतक है कि श्रेयार्थी आत्मा जो कुछ भी करे, तीर्थंकर परमात्मा के नमनपूर्वक ही करे, क्योंकि यही कल्याणप्रद है। अतः श्रुतस्तव के अधिकार में जिनस्तव उपयुक्त है।

७. अधिकार—तमतिमिरपडल. .....धम्मुत्तरं वड्ढओ।

इस अधिकार में श्रुत की स्तवना की गई है।

८. अधिकार—सिद्धाणं बुद्धाणं.....नमो सया सव्वसिद्धाणं।

यह अधिकार सिद्धों की स्तवना रूप है।

९. अधिकार—जो देवा.....नरं व नारिं वा।

इससे वर्तमान तीर्थपति, आसन्न उपकारी भगवान् महावीर की स्तुति की गई है। यह स्तुति, भगवान् महावीर को किया गया एक नमस्कार भी भव्यात्माओं को संसार-समुद्र से पार कर देता है, इस बात की सूचक है।

१०. अधिकार—उज्जितसेलसिहरे.....नमंसामि।

यह अधिकार तीन लोक के तिलक समान भगवान नेमिनाथ की स्तुति रूप है।

११. अधिकार—चत्तारि.....मम दिसंतु।

इस अधिकार में मोक्ष की याचना करते हुए चौबीस तीर्थंकर परमात्मा का ध्यान-चिन्तन किया गया है।

१२. अधिकार—वेयावच्चगराणं....काउस्सग्गं, स्तुतिपर्यंत।

यह अधिकार सम्यग्दृष्टि देवताओं के स्मरण रूप है॥ ८५-८६ ॥

वन्दनीय की अपेक्षा अधिकारों का वर्गीकरण—

प्रश्न—किस अधिकार से किसको वन्दन होता है ?

उत्तर—पहले, छट्ठे, नौवें, दशवें व ग्यारहवें अधिकार में भावजिन की वन्दना है।

भावजिन—तीनों लोकों को चमत्कृत करने वाले, आर्यजनों के नेत्रों को आनन्द देने में परम-उत्सवतुल्य, अपार संसार रूपी समुद्र में डूबते हुए आत्मा को तिराने में नौका समान, कल्पवृक्ष और चिन्तामणिरत्न से भी अधिक महिमामय, निर्मल केवल ज्ञान के आलोक से लोकालोक के स्वरूप को देखने वाले, अष्टप्रातिहार्य रूप अद्भुत समृद्धि का उपभोग करने वाले तीर्थंकर परमात्मा 'भावजिन' कहलाते हैं।

तृतीय अधिकार में अभिप्रेत देवगृहादि में प्रतिष्ठित जिन प्रतिमा की वन्दना है।

पञ्चम अधिकार में भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी, वैमानिक देवों के विमान में प्रतिष्ठित, नन्दीश्वर, मेरुपर्वत, कुलगिरि, अष्टापद, सम्मेतशिखर, शत्रुंजय, गिरनार आदि तीर्थों पर विराजित तथा तीनों लोकों में स्थित शाश्वत-अशाश्वत देवगृहों में स्थापित जिन प्रतिमाओं को वन्दना है।

सातवें अधिकार में सम्पूर्ण कुमत रूपी अन्धकार को नाश करने वाले सम्यग् ज्ञान का स्मरण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आठवें, दूसरे, चौथे व बारहवें अधिकार में क्रमशः सिद्ध परमात्मा, द्रव्यजिन, नामजिन व वैयावृत्य करने वाले सम्यग्दृष्टि देवताओं का स्मरण है।

मूल में 'वेयावच्चगरसुरे सरेमि' ऐसा पाठ है इसका अर्थ है वन्दनीय के रूप में स्मरण करता हूँ॥ ८७-८८॥

प्रश्न—इस प्रकार विधि शुद्ध चैत्यवन्दन अहोरात्रि में साधु एवं श्रावक के द्वारा कितनी बार करना चाहिये?

उत्तर—साधु अहोरात्रि में सात बार चैत्यवन्दन करते हैं—

१. प्रातः प्रतिक्रमण में, २. मन्दिर में,
३. भोजन से पूर्व, ४. भोजन के बाद (चैत्यवन्दन करके प्रत्याख्यान),
५. सायं प्रतिक्रमण में, ६. सोते समय (संथारा पोरिसी का),
७. जगने के बाद।

श्रावक अहोरात्रि में सात, पाँच या तीन बार चैत्यवन्दन करते हैं— दोनों समय प्रतिक्रमण करने वाले श्रावक को साधु की तरह सात बार, जो प्रतिक्रमण नहीं करते वे पाँच बार तथा अन्य श्रावक तीन बार चैत्यवन्दन करते हैं। जघन्य से श्रावक को त्रिकाल चैत्यवन्दन तो अवश्य करना ही चाहिये॥ ८९-९१॥

त्रिविध चैत्यवन्दन : चैत्यवन्दन तीन प्रकार के है :—

१. जघन्य चैत्यवन्दन—'नमो अरिहंताणं' यह एक पद अथवा भावपूर्ण स्तुति बोलकर।

अन्य मतानुसार—मात्र प्रणाम करने से ही जघन्य चैत्यवन्दन होता है। प्रणाम के पाँच प्रकार हैं:—

(i) एकाङ्ग— सिर झुकाना (ii) द्व्यंग— दोनों हाथ जोड़ना
(iii) त्र्यंग— दो हाथ व मस्तक झुकाना (iv) चतुरंग—दोनों घुटने व हाथ नमाना
(v) पञ्चाङ्ग— दो हाथ, दो पाँव तथा सिर झुकाना।

२. मध्यम चैत्यवन्दन—अरिहंत चेइयाणं व स्तुति द्वारा। जैसे वर्तमान में अरिहंतचेइयाणं—अन्नत्थ—काउस्सग्ग (१ नवकार का) करके एक स्तुति बोलते हैं वह मध्यम चैत्यवन्दन है।

अन्य मतानुसार—अन्य विद्वान् मूल**श्लोकगत दण्डकथुइजुयल-मज्झिमा** इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं:— दण्डक अर्थात् शक्रस्तवादि पाँच दण्डक, स्तुतियुगल अर्थात् स्तुति चतुष्टय-चारथुई। पाँच दण्डक व चार स्तुतियों के द्वारा जो वन्दना की जाती है वह मध्यम चैत्यवन्दन है।

३. उत्कृष्ट चैत्यवन्दन—विधिपूर्वक शक्रस्तवादि दण्डक से लेकर 'जयवीयराय' पर्यन्त करना उत्कृष्ट चैत्यवन्दन है।

अन्य मतानुसार—'पाँच शक्रस्तव' द्वारा उत्कृष्ट चैत्यवन्दन होता है।

प्रश्न—पाँच शक्रस्तव किस प्रकार बोले?

उत्तर—परमात्मा का उत्कृष्ट चैत्यवन्दन करने का इच्छुक साधु या श्रावक मन्दिर में जाकर सर्वप्रथम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूमि की प्रतिलेखना कर, परमात्मा की मूर्ति में नयन व मन को एकाग्र करते हुए, संवेग और वैराग्य से रोमाञ्चित शरीर वाला, हर्षावेश से अश्रुपूरितनेत्रकमलवाला, परमात्मा के चरण की वन्दना करने का अवसर मिलना अति दुर्लभ है ऐसा मानने वाला, अङ्गोपाङ्ग का संकोच कर योगमुद्रा से परमात्मा के सम्मुख शक्रस्तव (१) बोले। तत्पश्चात् इरियावहि....अन्नत्थ....पच्चीस श्वासोच्छ्वास प्रमाण (अर्थात् चन्देसु निम्मलयरा तक एक लोगस्स गिने) काउस्सग्ग....प्रकट 'लोगस्स' कहे। तत्पश्चात् दोनों घुटनों को भूमि पर टिकाकर करबद्ध, सुकविकृत जिनेश्वरदेव का चैत्यवन्दन....जंकिंचि....शक्रस्तव (२) .... अरिहंतचेइयाणं....अन्नत्थ....एक नवकार का काउस्सग्ग....स्तुति, लोगस्स....सव्वलोए अरिहंतचेइयाणं.... अन्नत्थ.... एक नवकार का काउस्सग्ग....स्तुति, पुक्खरवरदीवड्ढे....सुअस्सभगवओ करेमि काउस्सग्गं, ...अन्नत्थ....एक नवकार का काउस्सग्ग....स्तुति, सिद्धाणं बुद्धाणं....वेआवच्चगराणं....अन्नत्थ....एक नवकार का काउस्सग्ग....चौथी स्तुति, शक्रस्तव (३) पुनः इसी क्रम से काउस्सग्ग....स्तुति....लोगस्स आदि। चौथी स्तुति के पश्चात् शक्रस्तव (४) जावंति चेइआइं....जावंत केवि साहू....भव्य स्तोत्र-स्तवन....जयवीयराय बोलकर पुनः शक्रस्तव (५) कहे। यह उत्कृष्ट चैत्यवन्दन है। यह इरियावहि प्रतिक्रमणपूर्वक ही होता है जबकि जघन्य और मध्यम चैत्यवन्दन में यह नियम नहीं है॥ ९२॥

२. द्वार : वन्दनक—

मुहणंतयदेहावस्सएसु पणवीस हुंति पत्तेयं।
छट्ठाणा छच्च गुणा छच्चेव हवंति गुरुवयणा॥ ९३॥
अहिगारिणो य पंच य इयरे पंचेव पंच पडिसेहा।
एक्कोऽवग्गह पंचाभिहाण पंचेव आहरणा॥ ९४॥
आसायण तेत्तीसं दोसा बत्तीस कारणा अट्ठ।
बाणउयसयं ठाणाण वंदणे होइ नायव्वं॥ ९५॥
दिट्ठिपडिलेहणेगा नव अक्खोडा नवेव पक्खोडा।
पुरिमिल्ला छच्च भवे मुहपुत्ती होई पणवीसा॥ ९६॥
बाहूसिरमुहहियये पाएसु य हुंति तिन्नि पत्तेयं।
पिट्ठीइ हुंति चउरो, एसा पुण देह-पणवीसा॥ ९७॥
दुओणयं अहाजायं किइकम्मं बारसावयं।
चउस्सिरं तिगुत्तं च दुपवेसं एगनिक्खमणं॥ ९८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इच्छा य अणुण्णवणा अव्वाबाहं च जत्त जवणा य।
अवराहखामणावि य छट्ठाणा हुंति वंदणए॥ ९९॥
विणओवयार माणस्स भंजणा पूअणा गुरुजणस्स।
तित्थयराण य आणा सुयधम्माराहणाऽकिरिआ॥ १००॥
छंदेणऽणुजाणामि तहत्ति तुब्भंपि वट्टए एवं।
अहमवि खामेमि तुमे वयणाइं वंदणऽरिहस्स॥ १०१॥
आयरिय उवज्झाए पवत्ति थेरे तहेव रायणिए।
एएसिं किइकम्मं कायव्वं निज्जरट्ठाए॥ १०२॥
पासत्थो ओसन्नो होइ कुसीलो तहेव संसत्तो।
अहछंदोवि अ एए अवंदणिज्जा जिणमयंमि॥ १०३॥
सो पासत्थो दुविहो सव्वे देसे य होई नायव्वो।
सव्वंमि नाणदंसण-चरणाणं जो उ पासंमि॥ १०४॥
देसंमि य पासत्थो सेज्जायरऽभिहडरायपिण्डं च।
नीयं च अग्गपिंडं भुंजइ निक्कारणे चेव॥ १०५॥
ओसन्नो वि य दुविहो सव्वे देसे य तत्थ सव्वंमि।
अवबद्धपीठ-फलगो ठवियगभोई अ नायव्वो॥ १०६॥
आवस्सयसज्झाए पडिलेहणभिक्खझाणभत्तट्ठे।
आगमणे निग्गमणे ठाणे या निसीयणतुयट्टे॥ १०७॥
आवस्सयाइयाइं न करेइ अहवा विहीणमहियाइं।
गुरुवयणवला य तहा भणिओ देसावसन्नोत्ति॥ १०८॥
तिविहो होइ कुसीलो नाणे तह दंसणे चरित्ते अ।
एसो अवंदणिज्जो पन्नत्तो वीयरागेहिं॥ १०९॥
नाणे नाणायारं जो उ विराहेइ कालमाईयं।
दंसण दंसणयारं चरण कुसीलो इमो होइ॥ ११०॥
कोउय भूईकम्मे पसिणापसिणे निमित्तमाजीवी।
कक्ककरुयाइ लक्खण उवजीवइ विज्जमंताई॥ १११॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सोहग्गाइनिमित्तं परेसिं ण्हवणाइ कोउयं भणियं ।
जरियाइभूइदाणं भूईकम्मं विणिद्दिट्ठं ॥ ११२ ॥
सुविणगविज्जाकहियं आइंखणघंटियाइकहणं वा ।
जं सासइ अन्नेसिं पसिणापसिणं हवइ एयं ॥ ११३ ॥
तीयाइभावकहणं होइ निमित्तं इमं तु आजीवं ।
जाइकुलसिप्पकम्मे, तवगणसुत्ताइ सत्तविहं ॥ ११४ ॥
कक्ककुरुया य माया नियडीए डंभणंति जं भणियं ।
थीलक्खणाइ लक्खण विज्जामंताइया पयडा ॥ ११५ ॥
संसत्तो उ इयाणिं सो पुण गोमत्तलंदए चेव ।
उच्छिट्ठमणुच्छिट्ठं जं किंचिच्छुब्भए सव्वं ॥ ११६ ॥
एमेव मूलुत्तरदोसा य गुणा य जत्तिया केई ।
ते तंमी सन्निहिया संसत्तो भण्णए तम्हा ॥ ११७ ॥
सो दुविगप्पो भणिओ जिणेहिं जियराग-दोसमोहेहिं ।
एगो उ संकिलिट्ठो, असंकिलिट्ठो तहा अन्नो ॥ ११८ ॥
पंचासवप्पसत्तो जो खलु तिहिं गारवेहिं पडिबद्धो ।
इत्थिगिहिसंकिलिट्ठो संसत्तो संकिलिट्ठो उ ॥ ११९ ॥
पासत्थाईएसुं संविग्गेसुं च जत्थ मिलई उ ।
तहि तारिसओ होई पियधम्मो अहव इयरो उ ॥ १२० ॥
उस्सुत्तमायरंतो उस्सुत्तं चेवं पण्णवेमाणो ।
एसो उ अहाच्छंदो इच्छाछंदोत्ति एगट्ठा ॥ १२१ ॥
उस्सुत्तमणुवइट्ठं सच्छंदविगप्पियं अणणुवाई ।
परतत्तिपवत्ती तिंतिणो य इणमो अहाच्छंदो ॥ १२२ ॥
सच्छंदमइविगप्पिय किंची सुहसायविगइपडिबद्धो ।
तिहिं गारवेहिं मज्जइ तं जाणाही अहाछंदं ॥ १२३ ॥
वक्खित्तपराहुत्ते पमत्ते मा कयाइ वंदिज्जा ।
आहारं च करिंते नीहारं वा जइ करेइ ॥ १२४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पसंते आसणत्थे य उवसंते उवट्ठिए।
अणुन्नवित्तु मेहावी, किइकम्मं पउंजए॥ १२५॥
आयप्पमाणमित्तो चउदिसिं होइ उग्गहो गुरुणो।
अणणुन्नायस्स सया न कप्पए तत्थ पविसेउं॥ १२६॥
वंदणचिइकिइकम्मं पूयाकम्मं च विणयकम्मं च।
वंदणयस्स इमाइं हवंति नामाइं पंचेव॥ १२७॥
सीयले खुड्डुए कण्हे, सेवए पालए तहा।
पंचेए दिट्ठंता किइकम्मे हुंति नायव्वा॥ १२८॥
पुरओ पक्खासन्ने गंताचिट्ठणनिसीयणायमणे।
आलोयणऽपडिसुणणे पुव्वालवणे य आलोए॥ १२९॥
तह उवदंस निमंतण खद्धा अयणे तहा अपडिसुणणे।
खद्धत्ति य तत्थगए किं तुम तज्जाय नो सुमणे॥ १३०॥
नो सरसि कहं छित्ता परिसं भित्ता अणुट्ठियाइ कहे।
संथारपायघट्टण चिट्ठोच्चसमासणे यावि॥ १३१॥
पुरओ अग्गपएसे पक्खे पासंमि पच्छ आसन्ने।
गमणेण तिन्नि ठाणेण तिन्नि तिण्णि य निसीयणए॥ १३२॥
विणयब्भंसाइगदूसणाउ आसायणाओ नव एया।
सेहस्स वियारगमे रायणिय पुव्वमायमणे॥ १३३॥
पुव्वं गमणागमणालोए सेहस्स आगयस्स तओ।
राओ सुत्तेसु जागरस्स गुरुभणियऽपडिसुणणा॥ १३४॥
आलवणाए अरिहं पुव्वं सेहस्स आलवेंतस्स।
रायणियाओ एसा तेरसमाऽऽसायणा होइ॥ १३५॥
असणाईयं लद्धुं पुव्वि सेहे तओ य रायणिए।
आलोए चउदसमी एवं उवदंसणे नवरं॥ १३६॥
एवं निमंतणेऽवि य लद्धुं रयणाहिगेण तह सद्धिं।
असणाइ अपुच्छाए खद्धंति बहुं दलंतस्स॥ १३७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संगहगाहाए जो न खद्धसद्दो निरूवीओ वीसुं ।
तं खद्धाइयणपए खद्धत्ति विभज्ज जोएज्जा ॥ १३८ ॥
एवं खद्धाइयणे खद्धं बहुयंति अयणमसणंति ।
आईसद्दा डायं होइ पुणो पत्तसागंतं ॥ १३९ ॥
वन्नाइजुयं उसढं रसियं पुण दाडिमंबगाईयं ।
मणईट्ठं तु मणुन्नं मन्नइ मणसा मणामं तं ॥ १४० ॥
निद्धं नेहवगाढं रुक्खं पुण नेहवज्जियं जाण ।
एवं अप्पडिसुणणे नवरिमिणं दिवसविसयंमि ॥ १४१ ॥
खद्धंति बहु भणंते खरकक्कसगुरुसरेण रायणियं ।
आसायणा उ सेहे तत्थ गए होइमा चउण्णा ॥ १४२ ॥
सेहो गुरुणा भणिओ तत्थ गओ सुणइ देइ उल्लावं ।
एवं किंति च भणई न मत्थएणं तु वंदामि ॥ १४३ ॥
एवं तुमंति भणई कोऽसि तुमं मज्झ चोयणाए उ? ।
एवं तज्जाएणं पडिभणणाऽऽसायणा सेहे ॥ १४४ ॥
अज्जो ! किं न गिलाणं पडिजग्गसि पडिभणाइ किं न तुमं?
रायणिए य कहंते कहं च एवं असुमणत्ते ॥ १४५ ॥
एवं नो सरसि तुमं एसो अत्थो न होइ एवंति ।
एवं कहमच्छिदिय सयमेव कहेउमारभइ ॥ १४६ ॥
तह परिसं चिय भिंदइ तह किंची भणइ जह न सा मिलइ ।
ताए अणुट्ठियाए गुरुभणिअ सवित्थरं भणइ ॥ १४७ ॥
सेज्जं संथारं वा गुरुणो संघट्टिऊण पाएहिं ।
खामेइ न जो सेहो एसा आसायणा तस्स ॥ १४८ ॥
गुरु सेज्जसंथारगचिट्ठणनिसियणतुयट्टणेऽहऽवरा ।
गुरुउच्चसमासणचिट्ठणाइकरणेण दो चरिमा ॥ १४९ ॥
अणाढियं च थद्धं च पविद्धं परिपिंडियं ।
टोलगइ अंकुसं चेव तहा कच्छवरिंगियं ॥ १५० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मच्छुव्वत्तं मणसा पउट्ठं तहय वेइयाबद्धं ।
भयसा चेव भयंतं मित्ती गारव कारणा ॥ १५१ ॥
तेणियं पडिणीयं च रुट्ठं तज्जियमेव च ।
सट्ठं च हिलय चेव तहा विप्पलिउंचियं ॥ १५२ ॥
दिट्ठमदिट्ठं च तहा सिंगं च करमोयणं ।
आलिट्ठमणालिट्ठं ऊणं उत्तरचूलियं ॥ १५३ ॥
मूयं च ढड्ढरं चेव चुडुलियं च अपच्छिमं ।
बत्तीसदोसपरिसुद्धं किइकम्मं पउंजए ॥ १५४ ॥
आयरकरणं आढा तव्विवरीयं अणाढियं होइ ।
दव्वे भावे थद्धो चउभंगो दव्वओ भइओ ॥ १५५ ॥
पविद्धमणुवयारं जं अप्पितो णिजंतिओ होइ ।
जत्थ व तत्थ व उज्झइ कियकिच्चोवक्खरं चेव ॥ १५६ ॥
संपिंडिए व वंदइ परिपिंडियवयणकरणओ वावि ।
टोलोव्व उप्फिडंतो ओसक्कहिसक्कणे कुणइ ॥ १५७ ॥
उवगरणे हत्थंमि व घेत्तु निवेसेइ अंकुसं बिंति ।
ठिउविट्ठरिंगणं जं तं कच्छवरिंगियं जाण ॥ १५८ ॥
उट्ठितनिवेसितो उव्वत्तइ मच्छउव्व जलमज्झे ।
वंदिउकामो वऽन्नं झसो व परियत्तए तुरियं ॥ १५९ ॥
अप्पपरपत्तिएणं मणप्पओसो य वेइयापणगं ।
तं पुण जाणूवरि जाणुहिट्ठाओ जाणुबाहिं वा ॥ १६० ॥
कुणइ करे जाणुं वा एगयरं ठवइ करजुयलमज्झे ।
उच्छंगे करइ करे भयं तु निज्जूहणाईयं ॥ १६१ ॥
भयइ व भयिस्सइत्ति य इअ वंदइ ण्होरयं निवेसंतो ।
एमेव य मित्तीए गारव सिक्खाविणीओऽहं ॥ १६२ ॥
नाणाइ तिगं मोत्तुं कारणमिहलोयसाहयं होइ ।
पूयागारवहेऊं नाणग्गहणे वि एमेव ॥ १६३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हाउं परस्स दिट्ठिं वंदंते तेणियं हवइ एयं ।
तेणोविव अप्पाणं गूहइ ओभावणा मा मे ॥ १६४ ॥
आहारस्स उ काले नीहारस्सावि होइ पडिणीयं ।
रोसेण धमधमंतो जं वंदइ रुट्ठमेयं तु ॥ १६५ ॥
नवि कुप्पसि न पसीयसि कट्ठसिवो चेव तज्जियं एयं ।
सीसंगुलिमाईहि य तज्जेइ गुरुं पणिवयंतो ॥ १६६ ॥
वीसंभट्ठाणमिणं सब्भावजढे सढं भवइ एयं ।
कवडंति कइयवंति य सढयावि य हुंति एगट्ठा ॥ १६७ ॥
गणिवायगजिट्ठज्जत्ति हीलिउं किं तुमे पणमिऊण ।
दरवंदियंमिवि कहं करेइ पलिउंचियं एयं ॥ १६८ ॥
अंतरिओ तमसे वा न वंदई वंदई उ दीसंतो ।
एयं दिट्ठमदिट्ठं सिगं पुण मुद्धपासेहिं ॥ १६९ ॥
करमिच मन्नइ दिंतो वंदणयं आरहंतियकरोत्ति ।
लोयइकराउ मुक्का न मुच्चिमो वंदणकरस्स ॥१७० ॥
आलिद्धमणालिद्धं रयहरणसिरेहिं होइ चउभंगो ।
वयणक्खरेहिं ऊणं जहन्नकालेवि सेसेहिं ॥ १७१ ॥
दाऊण वंदणं मत्थएण वंदामि चूलिया एसा ।
मूयव्व सद्दरहिओ जं वंदइ मूयगं तं तु ॥ १७२ ॥
ढड्ढरसरेण जो पुण सुत्तं घोसेइ ढड्ढरं तमिह ।
चुडलिं व गिण्हिऊणं रयहरणं होइ चुडलिं तु ॥ १७३ ॥
पडिक्कमणे सज्झाए काउस्सग्गेऽवराहपाहुणए ।
आलोयणसंवरणे उत्तमट्ठे य वंदणयं ॥ १७४ ॥

—गाथार्थ—

मुहपत्ति, शरीर और आवश्यक के पच्चीस-पच्चीस स्थान हैं। इच्छा इत्यादि छः स्थान, छः गुण, छंदेण आदि गुरु के छः वचन, पाँच वन्दन करने योग्य (अधिकारी) , पाँच वन्दन के अयोग्य (अनधिकारी) , वन्दन की पाँच निषेधावस्था, एक अवग्रह, वन्दन के पाँच नाम तथा वन्दन के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाँच दृष्टान्त। गुरु की तेतीस आशातना, वन्दन के बत्तीस दोष, वन्दन के आठ कारण। इस प्रकार वन्दन के १९२ स्थान होते हैं॥ ९३-९५॥

मुहपत्ति के २५ स्थान—एक दृष्टि पडिलेहणा, नौ अक्खोडा, नौ पक्खोडा, छः प्रस्फोटक कुल मिलाकर मुहपत्ति के २५ बोल होते हैं॥९६॥

शरीर की २५ पडिलेहणा—दो हाथ, सिर, मुँह, हृदय, दो पाँव इन अङ्गों पर तीन-तीन प्रमार्जना तथा पीठ पर चार पडिलेहणा—इस प्रकार कुल मिलाकर शरीर की २५ पडिलेहणा होती हैं॥ ९७॥

२५ आवश्यक—दो अवनत, एक यथाजात, १२ आवर्त्त, ४ शिरनमन, ३ गुप्ति, २ प्रवेश और १ निष्क्रमण—इस प्रकार वन्दन के २५ आवश्यक हैं॥ ९८॥

वन्दन के छः स्थान—१. इच्छा, २. अनुज्ञा, ३. अव्याबाध, ४. यात्रा, ५. यापना और ६. अपराध की क्षमापना ये छः वन्दन के स्थान हैं॥ ९९॥

वन्दन के छः गुण—१. विनयोपचार, २. मानभञ्जन, ३. गुरुजनों की पूजा, ४. तीर्थंकर की आज्ञा का पालन, ५. श्रुतधर्म की आराधना तथा ६. अक्रियत्व/सिद्धत्व ये वन्दन के छः गुण हैं॥ १००॥

गुरु के छः वचन—१. छंदेण, २. अणुजाणामि, ३. तहत्ति, ४. तुब्भंपि वट्टए, ५. एवं अहमवि खामेमि, ६. तुमं इत्यादि गुरु के शिष्य के प्रति छः वचन हैं॥ १०१॥

वन्दन के अधिकारी पाँच—कर्म की निर्जरा के लिये १. आचार्य, २. उपाध्याय, ३. प्रवर्तक, ४. स्थविर तथा ५. रत्नाधिक को वन्दन करना चाहिये॥ १०२॥

वन्दन के अनधिकारी पाँच—१. पार्श्वस्थ, २. अवसन्न, ३. कुशील, ४. संसक्त और ५. यथाच्छंद—ये पाँच जिनशासन में अवन्दनीय हैं। पार्श्वस्थ के दो भेद हैं—सर्व पार्श्वस्थ और देश पार्श्वस्थ।

सर्वपार्श्वस्थ—जो आत्मा ज्ञान-दर्शन तथा चारित्र से रहित केवल वेषधारी है वह सर्व पार्श्वस्थ है।

देशपार्श्वस्थ—जो निष्कारण शय्यातरपिंड, अभ्याहतपिंड, राजपिंड, नित्यपिंड तथा अग्रपिंड का उपभोग करता है वह देशपार्श्वस्थ है॥ १०३-१०५॥

अवसन्न—अवसन्न दो प्रकार के हैं—सर्व अवसन्न और देश अवसन्न।

सर्व अवसन्न—अवबद्ध पीठ फलक वाला एवं स्थापनाभोजी सर्व अवसन्न है।

देश अवसन्न—आवश्यक, स्वाध्याय, पडिलेहण, भिक्षा, ध्यान, भोजन-मांडली, उपाश्रय में प्रवेश या वहाँ से निर्गमन, कायोत्सर्ग, खड़े होना, बैठना, सोना आदि क्रिया में अविधि होने पर 'मिच्छा मि दुक्कडं' न करना, आवश्यक आदि क्रियायें न करना अथवा न्यूनाधिक करना गुरु के सामने बोलना आदि दोषों से युक्त देश अवसन्न है॥ १०६-१०८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुशील—कुशील के तीन भेद हैं—ज्ञानकुशील, दर्शनकुशील और चारित्रकुशील। वीतराग परमात्मा ने इन तीनों को अवन्दनीय कहा है।

ज्ञानाचार, दर्शनाचार एवं चारित्राचार की विराधना करने वाले क्रमशः ज्ञानकुशील, दर्शनकुशील एवं चारित्रकुशील हैं। चारित्रकुशील निम्न प्रकार का है॥ १०९-११०॥

कौतुककर्म, भूतिकर्म, प्रश्नाप्रश्न, निमित्त, आजीविका, कल्क-कुरुका, लक्षण, विद्या, मंत्र आदि के द्वारा जीवन जीने वाला चारित्रकुशील है॥ १११॥

कौतुककर्म और भूतिकर्म—सौभाग्य (पुत्रादि की प्राप्ति) आदि की प्राप्ति के लिये स्नान आदि कराना कौतुककर्म है। ज्वर आदि रोग से पीड़ित व्यक्ति को भूति अर्थात् भस्म आदि देना भूतिकर्म है॥ ११२॥

प्रश्नाप्रश्न—स्वप्न में जापकृत विद्या द्वारा—कर्णापिशाचिनी आदि विद्या द्वारा अथवा अभिमंत्रित घंटिका आदि के द्वारा किसी से पृष्ट तथा अपृष्ट प्रश्नों का जवाब देना प्रश्नाप्रश्न है॥ ११३॥

निमित्त-जीवी—भूत-भावी और वर्तमानकालीन शुभाशुभ भावों का कथन करना निमित्तजीवीपन है। जाति, कुल, शिल्प, कर्म, तप, गण तथा सूत्र के माध्यम से आजीविका उपार्जित करने वाला आजीवक कहलाता है॥ ११४॥

कल्ककुरुकाजीवी—कल्ककुरुका अर्थात् माया-कपट। कपट करके दूसरों को ठगना। स्त्री-पुरुषादि के लक्षण बताना। विद्या-मंत्र आदि का कथन करना। विद्या और मंत्र का स्वरूप प्रसिद्ध है॥ ११५॥

संसक्त का स्वरूप—जिसमें गुण-दोषों का मिश्रण हो वह संसक्त कहलाता है। पार्श्वस्थादि की तरह वह भी अवन्दनीय है। जैसे गाय के खाने के पात्र में खल-कपास इत्यादि झूठे और बिना झूठे दोनों ही एक साथ मिले हुए रहते हैं वैसे मूल-उत्तर गुण सम्बन्धी दोष तथा अन्य कई दोष होने से साधु संसक्त कहलाता है॥ ११६-११७॥

संसक्त के दो भेद—वीतराग परमात्मा ने संक्लिष्ट और असंक्लिष्ट के भेद से संसक्त दो प्रकार का बताया है। प्राणातिपातादि पाँच आस्रवों में प्रवृत्त, ऋद्धिगारव, रसगारव और सातागारव में आसक्त, स्त्रीभोगी तथा गृहस्थ सम्बन्धी कार्यों में रत क्रमशः स्त्री-संक्लिष्ट तथा गृहि-संक्लिष्ट है॥ ११८-११९॥

पार्श्वस्थादि के साथ रहे तब उनके जैसा अप्रियधर्मी बन जाय तथा संविज्ञ के साथ रहे तब उनके जैसा प्रियधर्मी बन जाय वह असंक्लिष्ट संसक्त है॥ १२०॥

यथाच्छंद का स्वरूप—उत्सूत्र (सूत्रविरुद्ध) आचरण व प्ररूपणा करने वाला यथाच्छंद कहलाता है। ऐसा आत्मा इच्छानुसार बोलता है तथा आचरण करता है॥ १२१॥

जिनेश्वर परमात्मा के द्वारा अनुपदिष्ट, मतिकल्पित एवं आगम से अननुमत जो है वह सब उत्सूत्र है। गृहस्थ के कार्यों में प्रवृत्त दूसरों के अल्प अपराध में भी सतत क्रुद्ध रहने वाला यथाच्छंद है॥ १२२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुख की लालसा से आगम-निरपेक्ष मति-कल्पित आलंबनों को माध्यम बनाकर सतत विकृति का सेवन करने वाला तथा तीनों गारव में आसक्त यथाच्छंद कहलाता है॥ १२३॥

वन्दन के लिये ५ निषेधावस्था—१. गुरु व्याख्यानादि कार्य में व्यग्र हों, २. पराङ्मुख बैठे हों, ३. निद्रा आदि प्रमाद दशा में हों, ४-५. आहार व नीहार कर रहे हों या करने को तत्पर हों॥ १२४॥

वन्दन के लिये योग्य अवस्था—गुरु प्रशांत हों, आसन पर बैठे हों, अप्रमत्त हों, वन्दन करने वालों को 'छंदेण' इत्यादि वचन बोलने में तत्पर हों, ऐसे समय में गुरु की अनुमतिपूर्वक बुद्धिमान आत्मा वन्दन करे॥ १२५॥

गुरु का अवग्रह—चारों दिशा में गुरु का अवग्रह आत्म-प्रमाण अर्थात् साढ़े तीन हाथ परिमाण होता है। गुरु के अवग्रह में उनकी अनुज्ञा के बिना प्रवेश करना नहीं कल्पता है॥ १२६॥

वन्दन के नाम—१. वन्दनकर्म, २. चितिकर्म, ३. कृतिकर्म, ४. पूजाकर्म और ५. विनयकर्म—ये पाँच वन्दन के नाम हैं॥ १२७॥

वन्दन के ५ उदाहरण—द्रव्यवन्दन और भाववन्दन को बताने वाले—१. शीतलाचार्य, २. क्षुल्लकाचार्य, ३. कृष्ण महाराज, ४. सेवक और ५. पालक के उदाहरण हैं॥ १२८॥

गुरु सम्बन्धी ३३ आशातना—(१-९) —आगे, पीछे दांये-बांये गुरु के समीप में चलना, खड़े रहना तथा बैठना, (१०) . प्रथम आचमन, (११) . प्रथम आलोचना, (१२) अश्रवण, (१३) गुरु से पहले बोलना, (१४) गुरु को छोड़कर सर्वप्रथम अन्य के पास गौचरी की आलोचना करना, (१५) सर्वप्रथम दूसरों को गौचरी दिखाना, (१६) गुरु से पहिले दूसरों को आमंत्रण देना, (१७) भिक्षा लाकर गुरु की अनुमति बिना ही दूसरों को अधिक आहार देना, (१८) स्वयं अधिक आहार वापरना, (१९-२०) गुरु के बुलाने पर भी जवाब न देना, (२१) आसन पर बैठे-बैठे ही जवाब देना, (२२) क्या कहते हो? इस प्रकार जवाब देना, (२३) गुरु के साथ तुच्छ शब्द 'तूं' से बात करना, (२४) गुरु के सामने बोलना, (२५) गुरु के प्रवचन से क्रुद्ध होना, (२६) 'आपको यह बात याद नहीं है' गुरु को ऐसा कहना, (२७) गुरु के प्रवचन को बन्द करके श्रोताओं को कहना कि यह बात मैं तुम्हें अच्छी तरह से समझाऊँगा, (२८) प्रवचन-सभा भङ्ग करना, (२९) गुरु द्वारा प्रवचन समाप्त कर देने पर अपनी विद्वत्ता बताने हेतु पुनः प्रवचन प्रारम्भ करना, (३०) गुरु के आसन, संथारा आदि को पाँव लगाना, (३१) गुरु के संथारे पर बैठना, (३२) गुरु से ऊपर बैठना, (३३) गुरु के बराबर बैठना॥ १२९-१३१॥

गुरु के आगे-पीछे और दांई-बाई तरफ समीप में चलना, खड़े रहना व बैठना— ये ९ आशातनायें विनय का भङ्ग करने वाली हैं। आचार्य आदि के साथ स्थंडिलभूमि जाने वाला शिष्य उपाश्रय में आकर गुरु से पहले पाँव इत्यादि धोये तो आशातना लगती है॥ १३२-१३३॥

बाहर से आने के बाद शिष्य गुरु से पहले गमनागमन की आलोचना 'इरियावहिया' करे और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुरु बाद में करे तो आशातना लगती है। रात्रि में गुरु द्वारा पूछने पर 'कौन जाग रहा है?' सुनने पर भी अनसुना करे तो आशातना लगती है॥ १३४॥

गुरु, रत्नाधिक आदि के साथ बात करने से पूर्व ही शिष्य आगन्तुक के साथ बात करे तो आशातना लगती है॥ १३५॥

भिक्षा लाकर प्रथम अन्य के पास आलोचना देकर बाद में गुरु के संमुख आलोचना देने से आशातना लगती है॥ १३६॥

गौचरी के लिये अन्य मुनियों को निमन्त्रित करने के पश्चात् गुरु, रत्नाधिक आदि को निमन्त्रित करना। आहार आदि गुरु को पूछे बिना ही अन्य साधुओं को बाँट देना—आशातना का कारण है। यद्यपि १३०वीं (संग्रहगाथा) गाथा में 'खद्धा' शब्द पृथक् ग्रहण नहीं किया है तथापि 'खद्धाइयण' में (१८वें दोष में) से 'खद्ध' शब्द को पृथक् करके १७वें दोष के रूप में वर्णन किया गया है॥ १३७-१३८॥

'खद्धाइयण' पद में 'खद्ध' शब्द बहुत/प्रचुर के अर्थ में है। 'अयण' शब्द अशन के अर्थ में है। आदि शब्द से 'डाय' का ग्रहण होता है। 'डाय' का अर्थ है—मसालायुक्त वृन्ताक, काचरा, चना आदि 'पत्त' शब्द शाकभाजी का बोधक है।

अच्छे वर्ण, गंध व रसादि से युक्त पके हुए मनोहर अनार, आम आदि फलों को किसी प्रकार अचित्त बनाकर, लुब्ध होकर खाना अथवा अरुचिकर आहार द्वेषपूर्वक खाना। अधिक घी वाला अथवा रूखा-सूखा भी आहार अधिक मात्रा में खाना। गुरु द्वारा शिष्य को पुकारने पर सुना अनसुना करना॥ १३९-१४१॥

'खद्ध' अर्थात् अधिक। गुरु या रत्नाधिक के साथ बार-बार अत्यन्त कठोर एवं तेज आवाज में बोलना आशातना है। गुरु या रत्नाधिक के बुलाने पर अपने स्थान पर बैठे-बैठे ही प्रत्युत्तर देना॥ १४२॥

गुरु के पुकारने पर शिष्य सुने, अपने स्थान से प्रत्युत्तर भी दे, पर मन में विचार करे कि गुरु के पास जाने की क्या आवश्यकता है? ऐसा करने से आशातना लगती है। अतः शिष्य गुरु के पास जाकर 'मत्थएण वंदामि' बोलकर गुरु से बात करे॥ १४३॥

तूं मुझे कहने वाला कौन है? इस प्रकार गुरु के सामने 'तूं' शब्द से बात करे। गुरु ने जो कहा उसी को उलट कर गुरु को जवाब दे, गुरु का अपमान करे इत्यादि आशातना है।

जैसे, गुरु शिष्य को कहे कि हे आर्य! तुम ग्लान की सेवा क्यों नहीं करते? शिष्य सामने कहे कि—तुम ग्लान की सेवा क्यों नहीं करते? गुरु व्याख्यान देते हों उस समय मन में दुर्भाव लावे॥ १४४-१४५॥

गुरु व्याख्यान दे उस समय शिष्य आकर गुरु को कहे कि—आपको याद नहीं है, इसका अर्थ इस प्रकार नहीं होता, यह आशातना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुरु के प्रवचन के बीच सभा को सम्बोधित करके शिष्य कहे—'यह बात मैं तुम्हें अच्छी तरह समझाऊँगा'—ऐसा कहकर गुरु की प्रवचनसभा भङ्ग करे॥ १४६॥

गुरु के प्रवचन के बीच में ऐसा कुछ कहना जैसे, गोचरी का समय हो गया है अथवा सूत्रपोरसी का समय है इत्यादि। जिससे कि प्रवचन-सभा भङ्ग हो जाय। गुरु का व्याख्यान पूर्ण हो जाने के पश्चात् अपनी विद्वत्ता दिखाने के लिये सभा के सम्मुख गुरु द्वारा प्रतिपादित विषय को पुनः विवेचित करना आशातना है॥ १४७॥

गुरु के आसन, संथारादि को पाँव लगाना। पाँव लगाकर अपराध की क्षमायाचना न करना ३ ' है॥ १४८॥

गुरु के शय्या-संथारा आदि पर बैठना, खड़े रहना अथवा सोना आशातना है। गुरु के समक्ष ऊँचे आसन पर बैठना, खड़े रहना या सोना तथा गुरु के समान आसन पर बैठना, खड़े रहना अथवा सोना आशातना है॥ १४९॥

वन्दन के दोष—

अनादृत, स्तब्ध, प्रविद्ध, परिपिंडित, टोलगति, अङ्कुश, कच्छपरिंगित, मत्स्योद्वृत्त, मनसाप्रदुष्ट, वेदिकाबद्ध, भय, भजंत, मैत्री, गौरव, कारण, स्तैन्य, प्रत्यनीक, रुष्ट, तर्जन, शठ, हीलना, विपरिकुंचित, दृष्टादृष्ट, शृंग, कर, मोचन, आश्लिष्ट-अनाश्लिष्ट, न्यून, उत्तरचूलिक, मूक, ढड्डर एवं चूड़लिक इन ३२ दोषों से रहित शुद्ध वन्दन करना चाहिये॥ १५०-१५४॥

आदरपूर्वक वन्दन करना आदृत वन्दन है। 'आदृत' शब्द का आर्ष प्रयोग आढ़ा है। इससे विपरीत वन्दन अनादृत है। अनादरपूर्वक वन्दन करना दोष है। 'मद' पूर्वक वन्दन करना स्तब्ध दोष है। द्रव्य (शरीर) और भाव (मानसिक अध्यवसाय) के भेद से स्तब्ध के दो भेद हैं। अर्थात् द्रव्य स्तब्ध और भाव स्तब्ध की चतुर्भंगी कही गई है॥ १५५॥

प्रविद्ध अर्थात् उपचार रहित वन्दन करना। वन्दन विधि में जो उपचार-विनय आवश्यक है, उसका पालन नहीं करना। वन्दन करते समय व्यवस्थित न होने से वन्दन विधि पूर्ण किये बिना बीच में छोड़कर चले जाना। जैसे सामान ढोने वाला कुली शर्त के अनुसार नियत स्थान पर माल छोड़कर चला जाता है॥ १५६॥

एक ही वन्दन से आचार्य आदि अनेक को वन्दन करना। अथवा पद, सम्पदा आदि का ध्यान रखे बिना सूत्रों का उच्चारण करना। अथवा दोनों हाथ जंघा पर रखकर वन्दन करना परिपिंडित दोष है। टिड्डी की तरह आगे-पीछे डोलते हुए वन्दन करना टोलगति दोष है॥ १५७॥

गुरु का हाथ या उपकरण आदि पकड़कर बिठाना फिर वन्दन करना अङ्कुश वन्दन है। कछुवे की तरह रेंगते हुए वन्दन करना कच्छपरिंगित वन्दन है॥ १५८॥

वन्दन करते समय उठते और बैठते वक्त पानी में मछली की तरह ऊँचा-नीचा होना अथवा एक आचार्य आदि को वन्दन करके समीपवर्ती दूसरे को वन्दन करने के लिये मछली की तरह पलट जाना मत्स्योद्वृत्त वन्दन है॥ १५९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्व या पर के निमित्त से उत्पन्न मन-प्रद्वेष से युक्त वन्दन मन-प्रद्वेष दोषयुक्त वन्दन है। दोनों घुटनों पर हाथ रखकर अथवा नीचे हाथ रखकर अथवा दोनों पसलियों पर हाथ रखकर अथवा गोद में हाथ रखकर अथवा बायां या दायां घुटना दोनों हाथ के मध्य रखकर वन्दन करना, वेदिका पञ्चक दोष युक्त वंदन है। वन्दन नहीं करूँगा तो गुरु गच्छ से निकाल देंगे, इत्यादि भय से वन्दन करना, भय दोष है॥ १६०-१६१॥

'आचार्य मेरी पूछताछ करते हैं, भविष्य में भी करेंगे' इस लोभ से 'हे आचार्य भगवन्! हम आपको वन्दन करते हैं,' इस प्रकार एहसान लादते हुए वन्दन करना भजमान वन्दन है।

इसी प्रकार मैत्री वन्दन है। यथा—वन्दन करूँगा तो आचार्य मेरे मित्र बन जायेंगे—इस भाव से वन्दन करना। वन्दन करने से सभी लोग मुझे सुशिक्षित और विनीत समझेंगे, मन में ऐसा भाव रखकर वन्दन करना गौरव वन्दन है॥ १६२॥

रत्नत्रय की प्राप्ति के सिवाय लौकिक कारण—ऐहिक वस्तुओं को पाने की इच्छा से वन्दन करना, कारणदोष युक्त वन्दन है। अथवा सत्कार-सम्मान, प्रशंसा आदि पाने की इच्छा से ज्ञान ग्रहण करने के लिये गुरु को वन्दन करना कारणदोष युक्त वन्दन कहलाता है॥ १६३॥

अपनी अपभ्राजना के भय से दूसरों की दृष्टि से बचते हुए चोर की तरह छुपकर वन्दन करना स्तैन्य वन्दन है॥ १६४॥

गौचरी के समय, लघुनीति-बड़ी नीति के लिये जाते समय वन्दन करना, प्रत्यनीक वन्दन है। क्रोधावेश में वन्दन करना रुष्ट-दोष-युक्त वन्दन है॥ १६५॥

काष्ठ प्रतिमा की तरह न तो आप अवंदक पर रुष्ट होते हो और न वन्दन करने वाले पर तुष्ट होते हो—इस प्रकार तिरस्कारपूर्वक गुरु को वन्दन करना तर्जित दोष युक्त वन्दन है। अथवा वन्दन करते हुए सिर, अङ्गुली, भृकुटी आदि से गुरु की तर्जना करना भी तर्जित वन्दन कहलाता है॥ १६६॥

वन्दन विश्वास का स्थान है। इसे यथावत् करने से मैं श्रावकों का विश्वासपात्र बनूँगा। इस प्रकार सद्भाव से रहित होकर वन्दन करना शठ वन्दन है। कपट, कैतव और शठता सभी एकार्थक हैं॥ १६७॥

हे गणि!, हे वाचक!, हे ज्येष्ठार्य! आपको वन्दन करने से क्या लाभ है? इस प्रकार हीलना करते हुए गुरु को वन्दन करना, हीलित वन्दन है। वन्दन करते-करते बीच में ही विकथा करना विपरिकुंचित वन्दन है॥ १६८॥

भीड़ में या अन्धकार में चुपचाप बैठे या खड़े रहना पर वन्दन नहीं करना, कोई देखे तो वन्दन करना, यह दृष्टादृष्ट दोष है। द्वादशावर्त्त वन्दन करते समय 'अहो कायं काय' इत्यादि आवर्त्त करते हुए हाथ ललाट के मध्य में न लगाकर ललाट की दाईं-बाईं ओर लगाना शृंग दोषयुक्त वन्दन है॥ १६९॥

जैसे राजा का कर देय होता है वैसे वन्दन को भी अरिहंत परमात्मा का अवश्य देय कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानकर करना कर दोष है। दीक्षा लेने से हम लौकिक कर से तो मुक्त हो गये पर अरिहंत परमात्मा के वन्दन रूप कर से अभी मुक्त नहीं हो पाये, ऐसा मानकर वन्दन करना मोचन दोष है॥ १७० ॥

रजोहरण और ललाट को आवर्त्त करते समय स्पर्श करना या न करना—इसके ४ भङ्ग होते हैं। इसमें ३ भांगों में आश्लिष्ट-अनाश्लिष्ट दोष लगता है। वन्दन करते समय अतिशीघ्रता में अक्षर-वाक्य, आवश्यक आदि न्यून बोलना या करना न्यूनदोष युक्त वन्दन है॥ १७१ ॥

वन्दन पूर्ण करने के बाद ऊँचे स्वर से 'मत्थएण वंदामि' बोलना उत्तरचूड दोष है। गूंगे की तरह सूत्रों का मन्-मन् उच्चारण करते हुए वन्दन करना मूकदोष युक्त वंदन है॥ १७२ ॥

अत्यधिक उच्च स्वर में सूत्र बोलते हुए वन्दन करना ढड्डर दोष है। जलती हुई लकड़ी की तरह रजोहरण को घुमाते हुए वन्दन करना चूडलिक दोष है॥ १७३ ॥

वन्दन के कारण—

वन्दन के ८ कारण हैं—१. प्रतिक्रमण, २. स्वाध्याय, ३. काउस्सग्ग, ४. अपराध की क्षमायाचना, ५. प्राघूर्णक (मेहमान) बड़े मुनियों का आगमन ६. आलोचना ७. पूर्वकृत पच्चक्खाण के आगारों का संक्षेप, ८. अनशन, संलेखना आदि॥ १७४॥

—विवेचन—

उपद्वार—

१. मुहपत्ति,	५. गुण,	९. प्रतिषेध,	१३. आशातना,
२. देह,	६. गुरुवचन,	१०. अवग्रह,	१४. दोष,
३. आवश्यक,	७. अधिकारी,	११. अभिधान,	१५. कारण।
४. स्थान,	८. अनधिकारी,	१२. उदाहरण,	

१. मुहपत्ति—इसे मुखानन्तक भी कहते हैं। मुखस्य = मुख का, अनन्तक = वस्त्र अर्थात् मुहपत्ति। इससे सम्बन्धित २५ स्थान हैं। यद्यपि ये स्थान प्रसिद्ध होने से मूल में नहीं बताये हैं तथापि शिष्यों के अनुग्रहार्थ टीकाकार महर्षि बता रहे हैं।

- वन्दन करने का इच्छुक भव्यात्मा गुरु को खमासमण देकर अनुमतिपूर्वक उत्कटिक आसन से बैठकर मुहपत्ति खोले व देखे....१ दृष्टिपडिलेहण।
- मुहपत्ति को पलटकर देखे तथा बायें हाथ तरफ के भाग को इस प्रकार उपयोग-पूर्वक झाड़े, जैसे किसी लगी हुई वस्तु को गिरा रहे हों। पुनः दूसरी ओर पलटकर भी इसी प्रकार करें। ये पूर्वक्रिया रूप 'पुरिम' कहलाते हैं। दोनों ओर तीन-तीन बार होते हैं....६ पुरिम।
- पुरिम करने के बाद 'मुहपत्ति' को बायें हाथ पर डालकर दायें हाथ से बीच से इस प्रकार खींचे कि 'मुहपत्ति' के दो पट हो जायें। तत्पश्चात् दायें हाथ की अङ्गुलियों के बीच दो या तीन 'वधूटक' करें। वधूटक—बहू जैसे घूंघट निकालती है वैसा ही अङ्गुलियों के अन्तराल में मुहपत्ति का झूलता हुआ आकार बनाना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- **अक्खोडा**—आकर्षण करना, खींचकर लाना। यहाँ अक्खोडा का यही अर्थ ठीक बैठता है। क्योंकि सुदेव, सुगुरु, सुधर्म, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति व कायगुप्ति को ग्रहण करना है। आत्मा में लाना है। अक्खोडा के द्वारा हम यही भाव प्रकट करते हैं। वधूटक (दायें हाथ पर) करने के पश्चात् दोनों जंघाओं के बीच रहे हुए बायें हाथ पर हथेली का स्पर्श न करते हुए, जैसे किसी को अन्दर ले जा रहे हों-इस प्रकार मुहपत्ति से, कलाई से लेकर कुहनी तक हाथ की तीन बार प्रमार्जना करें। प्रत्येक प्रमार्जन में ३-३ अक्खोडा होने से ३ × ३ = ९ अक्खोडा हैं।
- **पक्खोडा**—प्रस्फोटक = झाड़ना, गिराना इसमें लगी हुई वस्तु को झाड़ने....गिराने का भाव है। वधूटक की हुई मुहपत्ति वाले दायें हाथ से बायें हाथ पर ऊपर से नीचे की ओर मुहपत्ति द्वारा स्पर्श करते हुए इस प्रकार प्रमार्जन करना जैसे किसी लगी हुई वस्तु को झाड़ रहे हों। यहाँ भी प्रत्येक प्रमार्जना में ३-३ पक्खोडा होने से ३ × ३ = ९ पक्खोडा हैं।
- ये अक्खोडा-पक्खोडा क्रमशः एक-दूसरे के अन्तराल में होते हैं। जैसे— पहले ३ अक्खोडा फिर ३ पक्खोडा, फिर अक्खोडा....पक्खोडा इस प्रकार दोनों तीन-तीन बार किये जाते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर मुहपत्ति पडिलेहण के - १ दृष्टिपडिलेहण + ६ पुरिम + ९ अक्खोडा + ९ पक्खोडा = २५ स्थान हुए॥ ९६ ॥

२. **देह (शरीर)** —शरीर से सम्बन्धित पडिलेहण के २५ प्रकार हैं। यद्यपि ये भी मूल में नहीं हैं तथापि टीका में बताये गये हैं।

- दायें हाथ के वधूटक द्वारा सर्वप्रथम बायें हाथ के मध्य में, दायीं तरफ व बायीं तरफ क्रमशः प्रमार्जना करना.... १ त्रिक।
- फिर बायें हाथ के वधूटक द्वारा दायें हाथ की पूर्ववत् प्रमार्जना करना.....२ त्रिक।
- तत्पश्चात् 'वधूटक' खोलकर मुहपत्ति के दोनों किनारों को दोनों हाथ से पकड़कर मस्तक के मध्य, बायें और दायें अनुक्रम से प्रमार्जना करना..... ३ त्रिक।
- इसी क्रम से (सिर की तरह) मुख व हृदय की प्रमार्जना करना....४-५वाँ त्रिक।
- मुहपत्ति को समेटकर दायें हाथ में लेकर दायें खम्भे से पीठ के ऊपर के दायें भाग का प्रमार्जन करना। इसी तरह बायीं ओर करना.....२ प्रमार्जन।
- बायें हाथ में ग्रहण की हुई मुहपत्ति द्वारा दायीं कक्षा (काँख) से पीठ के नीचे के भाग की प्रमार्जना करना। इसी तरह दायें हाथ में मुहपत्ति लेकर बायीं ओर करना..... २ प्रमार्जन।
- तत्पश्चात् दायें हाथ में वधूटक की हुई मुहपत्ति के द्वारा दायें-बायें पाँवों के मध्य, दायें व बायें भाग की क्रमशः प्रमार्जना करना.....३ त्रिकद्वय।
- इस प्रकार सात त्रिक + एक चतुष्क = २५ पडिलेहण । ये पुरुष के होती हैं। स्त्रियों के गोप्य अवयव आवृत होने से दो हाथ, दो पाँव और मुख की ही प्रमार्जना उपयुक्त है। दो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हाथ की = ६ प्रमार्जना, दो पाँव की = ६ प्रमार्जना व मुख की ३ प्रमार्जना, कुल पन्द्रह होती हैं।

- **टीका** में **'गोप्यावयवविलोकनरक्षणाय'** पाठ है। इसमें विलोकन शब्द इस बात का द्योतक है कि कक्षा, हृदय आदि गोप्य अवयव स्वयं व्यक्ति को भी नहीं देखना चाहिये, क्योंकि इन्हें देखना रागवर्धक है। यदि दूसरों को दिखाने का ही निषेध होता तो 'विलोकनाय' के स्थान पर 'प्रदर्शनाय' ऐसा ही प्रयोग करते। अत: स्त्री को अपने गोप्य-अवयवों को सदा आवृत ही रखना चाहिये ॥ ९७ ॥[१]

३. **आवश्यक**—आवश्यक के २५ स्थान हैं। इनका वर्णन स्वयं ग्रन्थकार ने दिया है। अवश्य करने योग्य क्रिया आवश्यक कहलाती है। वे इस प्रकार हैं—

- **अवनमन**—सिर झुकाकर नमन करना अवनमन है। गुरुवन्दन में दो अवनमन हैं।
  (i) 'इच्छामि खमासमणो.....अणुजाणह' इन पदों के द्वारा गुरु के अवग्रह में प्रवेश करने हेतु आज्ञा माँगते हुए सिर झुकाना प्रथम 'अवनमन' है।
  (ii) दूसरी बार के वन्दन में पुन: इन्हीं पदों के उच्चारणपूर्वक सिर झुकाना।
- **यथाजात**—जिस आकार में जन्म लिया था, उस आकार से युक्त होकर वन्दन करना 'यथाजात' आवश्यक है। जन्म दो प्रकार का है।
  (i) **भवजन्म**—माता के गर्भ से बाहर आना।
  (ii) **दीक्षाजन्म**—संसारमायारूपी स्त्री की कुक्षि से बाहर आना। यहाँ दोनों ही जन्म का प्रयोजन है। दीक्षा लेते समय मुनि के चोलपट्टा, रजोहरण व मुहपत्ति ये तीन उपकरण ही होते हैं वैसे द्वादशावर्त वन्दन करते समय भी मुनि तीन ही उपकरण रखे। 'भवजन्म' के समय बच्चे के दोनों हाथ ललाट पर लगे हुए होते हैं, वैसे ही वन्दन करते समय शिष्य भी दोनों हाथ ललाट पर लगाते हुए विनम्र मुद्रा से गुरुवन्दन करे। भवजन्म और दीक्षाजन्म दोनों प्रकार के जन्म के आकार से युक्त होकर वन्दन करना 'यथाजात' वन्दन कहलाता है।
- **आवर्त्त**—सूत्रोच्चारणपूर्वक विशेष प्रकार की शारीरिक क्रिया। सूत्र बोलते हुए, मुहपत्ति या चरवले पर कल्पित गुरु के चरण कमल को स्पर्श कर, हाथों को मस्तक पर लगाना आवर्त्त कहलाता है।

---

१. यद्यपि इस ग्रन्थ में साध्वीजी की देह पडिलेहण अलग से नहीं बताई तथापि ज्ञानविमलसूरिकृत भाष्य के बालावबोध में साध्वीजी की १८ पडिलेहण बताई हैं। १५ स्त्री की तरह तथा प्रतिक्रमण करते समय साध्वीजी का सिर खुल्ला रखने का व्यवहार होने से ३ पडिलेहण अधिक होती है। अत: साध्वीजी के १५ + ३ = १८ पडिलेहण होती हैं।
यद्यपि इस ग्रन्थ में पाँवों की प्रमार्जना मुहपत्ति द्वारा करने का कहा है तथापि वर्तमान में ऐसा व्यवहार नहीं है। वर्तमान में तो ओघे या चरवले से ही पाँवों की पडिलेहण की जाती है। उपयुक्त भी यही लगता है। मुँह पर रखने योग्य मुहपत्ति को पाँवों पर लगाना योग्य नहीं लगता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वन्दन में प्रथम बार....अहो....कायं....कायसंफासं....३ आवर्त्त।

वन्दन में प्रथम बार....जत्ता भे....जवणि.... जं च भे.... ३ आवर्त्त।

इस प्रकार दूसरी बार के वन्दन में भी ६ आवर्त्त होते हैं। कुल ६+६ = १२ आवर्त्त हुए।

'अहोकायं....' आदि शब्द बोलने की विशिष्ट रीति है। जैसे—

अ— आसन पर रखे हुए चरवले, मुहपत्ति अथवा रजोहरण पर कल्पित गुरुचरणों को, दोनों हाथों की दसों अङ्गुलिओं से स्पर्श करते हुए बोला जाता है।

हो— दसों अङ्गुलिओं से ललाट को स्पर्श करते हुए बोला जाता है।

का— चरवले आदि को स्पर्श करते हुए बोला जाता है।

यं— ललाट को स्पर्श करते हुए बोला जाता है।

का— चरवले आदि को स्पर्श करते हुए बोला जाता है।

य— ललाट को स्पर्श करते हुए बोला जाता है।

ज— गुरुचरणों की स्थापना को स्पर्श करते हुए अनुदात्त स्वर से बोला जाता है।

त्ता— चरणों की स्थापना से उठाये हुए दोनों हाथों को चरवले, रजोहरण और ललाट के बीच में सीधे चौड़े करते हुए स्वरित स्वर से बोला जाता है।

भे— दृष्टि गुरु के समक्ष रखकर दोनों हाथ ललाट पर लगाते हुए उदात्तस्वर में बोला जाता है।

ज— चरण स्थापना को स्पर्श करते हुए अनुदात्त स्वर से बोला जाता है।

व— मध्य में हाथों को सीधे चौड़े करते हुए स्वरित स्वर में बोला जाता है।

णि— ललाट को स्पर्श करते हुए उदात्त स्वर में बोला जाता है।

ज्जं— चरणस्थापना को स्पर्श करते हुए अनुदात्त स्वर में बोला जाता है।

च— मध्य में हाथों को सीधे चौड़े करके स्वरित स्वर में बोला जाता है।

भे— ललाट को स्पर्श करते हुए उदात्त स्वर में बोला जाता है।

- **सिरनमन**—सिर झुकाना वन्दन देते समय। वन्दन के बीच चार बार सिर-नमन होता है। दो शिष्य के तथा दो गुरु के होते हैं।
- खामेमि खमासमणो....देवसियं वइक्कमं....शिष्य का....१.
- अहमवि खामेमि तुमं....गुरु का....२.

इस प्रकार दुबारा वन्दन करते समय शिष्य का व गुरु का १....१ नमन।

- **अन्यमत में**—'कायसंफासं' पद बोलकर, हाथ मुहपत्ति पर स्थापन कर उस पर मस्तक लगाना यह एक 'सिरनमन'। इसी प्रकार दूसरी बार की वन्दना में दूसरा 'सिरनमन'। 'खामेमि खमासमणो' बोलते हुए मस्तक लगाना तीसरा 'सिरनमन' व पुनः वन्दन देते समय वही पद बोलते हुए चौथा 'सिरनमन'। इस मतानुसार चारों 'सिरनमन' शिष्य के ही हैं। वर्तमान में भी यही व्यवहार प्रचलित है।
- **त्रिगुप्त**—मन-वचन और काया की गुप्तिपूर्वक वन्दन त्रिगुप्त वन्दन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(i) मन की एकाग्रता पूर्वक वन्दन करना.....मनगुप्ति।

(ii) सूत्रों का अस्खलित उच्चारण करते हुए वन्दन करना.....वचनगुप्ति।

(iii) दोष रहित आवर्त्त करना.....कायगुप्ति।

- **प्रवेश**—गुरु के मर्यादित क्षेत्र में वन्दना के लिये प्रवेश करना। वन्दन करते हुए प्रवेश दो बार होता है।

  (i) प्रथम वन्दन के समय गुरु की अनुज्ञा लेकर 'निसीहिआए' बोलते हुए गुरु के 'अवग्रह' में प्रवेश करना...१ प्रवेश।

  (ii) इसी प्रकार दूसरे वन्दन के समय प्रवेश करना...२ प्रवेश।

- **निष्क्रमण**—गुरु के अवग्रह में से बाहर निकलना, 'निष्क्रमण' आवश्यक है। यह वन्दन में एक बार ही होता है कारण प्रथम बार 'आवर्त्त' करके 'आवस्सिआए' बोलते हुए अवग्रह से बाहर निकलना होता है। पर दुबारा वन्दन में आवर्त्त करने के बाद अवग्रह में रहकर ही सूत्र बोलना होता है। यही विधि मार्ग है। कुल आवश्यक—

अवनत	यथाजात	आवर्त्त	शिरनमन	गुप्ति	प्रवेश	निष्क्रमण	कुल
२	१	१२	४	३	२	१	२५

४. षट्स्थान—१. इच्छा, २. अनुज्ञापना, ३. अव्याबाध, ४. यात्रा, ५. यापना व ६. क्षामणा—गुरु वन्दन के ये छः स्थान हैं।

(i) **इच्छा**—'इच्छामि.....' इत्यादि बोलकर शिष्य सर्वप्रथम गुरु को वन्दन करने की अपनी इच्छा प्रकट करता है अतः इच्छा शिष्य का प्रथम वन्दन स्थान है। नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव के भेद से इच्छा के छः प्रकार हैं। नाम-इच्छा और स्थापना-इच्छा सुगम होने से यहाँ नहीं बताई गई है। शेष भेद बताये हैं—

(अ) **द्रव्य-इच्छा**—सचित्त-शिष्यादि, अचित्त-उपधि आदि व मिश्र-उपधि सहित शिष्यादि की अभिलाषा अथवा अनुपयुक्त शिष्य का 'इच्छामि खमासमणो.....' आदि बोलना।

(ब) **क्षेत्र-इच्छा**—मगध आदि क्षेत्र विषयक इच्छा।

(स) **काल-इच्छा**—रात-दिन आदि कालविषयक इच्छा। जैसे—अभिसारिका, चोर व परस्त्रीगामी रात को पसन्द करते हैं। नट-नर्तक आदि सुकाल चाहते हैं। पर, अनाज के व्यापारी अकाल की कामना करते हैं।

(द) **भाव-इच्छा**—भाव-इच्छा के दो भेद हैं—प्रशस्त इच्छा व अप्रशस्त इच्छा। **प्रशस्त इच्छा**—ज्ञानादि को पाने की इच्छा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अप्रशस्त इच्छा—स्त्री आदि का अनुराग।

यहाँ वन्दन के सम्बन्ध में प्रशस्त भाव-इच्छा उपयोगी है।

(ii) **अनुज्ञापना**—इसके भी इच्छा की तरह छः भेद हैं। प्रथम दो सुगम होने से नहीं बताये। अनुज्ञापना का अर्थ है— सम्मति, आज्ञा आदि।

(अ) **द्रव्य-अनुज्ञापना**—इसके तीन भेद हैं- लौकिक, लोकोत्तर व कुप्रावचनिक।

♣ **लौकिक अनुज्ञा**—सचित्त-अचित्त व मिश्र तीन प्रकार की है:—

♥ अश्व-हाथी आदि सचित्त जीवों की अनुज्ञा.....प्रथम।

♥ मोती-रत्न आदि अचित्त पदार्थों की अनुज्ञा.....द्वितीय।

♥ विविध अलङ्कारों से विभूषित स्त्री-विषयक अनुज्ञा.....तृतीय।

♣ **लोकोत्तर अनुज्ञा**—इसके भी पूर्ववत् तीन भेद हैं-

♥ शिष्य आदि की आज्ञा देना.....प्रथम।

♥ वस्त्रादि की आज्ञा देना.....द्वितीय।

♥ वस्त्रादि सहित शिष्यादि की अनुज्ञा.....तृतीय।

♣ **कुप्रावचनिक-अनुज्ञा**—यह भी पूर्ववत् तीन प्रकार की है-

(ब) **क्षेत्र-अनुज्ञापना**—जितने क्षेत्र की अनुज्ञा दी जाय अथवा जिस क्षेत्र में अनुज्ञा की व्याख्या की जाय वह क्षेत्र-अनुज्ञापना है।

(स) **काल-अनुज्ञापना**—जिस काल की आज्ञा दी जाय अथवा जिस काल में अनुज्ञा की व्याख्या की जाय।

(द) **भाव-अनुज्ञापना**—'आचारांग' आदि आगमग्रन्थों की अनुज्ञा देना। यहाँ यही अनुज्ञा उपयोगी है।

(iii) **अव्याबाध**—जहाँ किसी प्रकार की बाधा न हो, वह अव्याबाध वन्दन है। बाधा के दो प्रकार हैं—द्रव्यबाधा और भावबाधा।

(अ) **द्रव्य-बाधा**—खड्ग आदि शस्त्रों के द्वारा होने वाले आघात से जन्य वेदना।

(ब) **भाव-बाधा**—मिथ्यात्वादि से जन्य भवदुःख।

पूर्वोक्त दोनों प्रकार की बाधा जहाँ नहीं है ऐसा वन्दन अव्याबाध वन्दन है। वन्दन की अव्याबाधता 'बहुसुभेण भे' से स्पष्ट होती है।

(iv) **यात्रा**—शुभ-प्रवृत्ति। इसके दो भेद हैं—द्रव्य यात्रा और भाव यात्रा।

(अ) **द्रव्य यात्रा**—तापस आदि मिथ्यादृष्टियों की क्रिया में प्रवृत्ति।

(ब) **भाव यात्रा**—मुनियों की अपनी-अपनी क्रिया में प्रवृत्ति।

(v) **यापना**—निर्वाह करना। इसके भी दो भेद हैं- द्रव्ययापना और भावयापना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(अ) **द्रव्ययापना**—मिश्री, दाख, गुड़ आदि उत्तम औषधियों के द्वारा शरीर को समाधि पहुँचाना।

(ब) **भाववापना**—इन्द्रिय-संयम व मन की शान्ति के द्वारा शरीर को समाधि पहुँचाना।

(vi) **क्षामणा**—क्षमापना करना। इसके भी दो भेद हैं:— द्रव्यक्षमापना व भावक्षमापना।

(अ) **द्रव्यक्षमापना**—दुर्भाव से युक्त व्यक्ति का वर्तमान भव सम्बन्धी हानि से डर कर क्षमापना करना।

(ब) **भावक्षमापना**—भवभीरु, मोक्षाभिलाषी आत्मा की क्षमापना।

गुरुवन्दन करने से क्या लाभ मिलता है जिसके लिये हम इतना कष्ट उठाते हैं? इस प्रश्न के समाधान हेतु अगला उपद्वार है॥ ९९॥

५. **छः गुण**—गुरुवन्दन के छः लाभ हैं—

(१) गुरु का विनय (२) मानभङ्ग

(३) गुरुजनों की पूजा (४) तीर्थंकर की आज्ञा का पालन

(५) श्रुतधर्म की आराधना (६) सिद्धपद

१. क्लेशप्रद अष्टकर्मों का नाश करने वाला विनय है। गुरुवन्दन से विनय धर्म की आराधना होती है।

२. वन्दन क्रिया से अभिमान का नाश होता है (जाति आदि के मद से उन्मत्त बना आत्मा न देव को मानता है, न गुरु को नमस्कार करता है, न किसी की प्रशंसा ही करता है)।

३. वन्दन-क्रिया से गुरुजनों की भाव-पूजा होती है।

४. वन्दन-क्रिया से कल्याण का मूल कारण जिनाज्ञा की आराधना होती है क्योंकि भगवान् ने विनय को ही धर्म का मूल कहा है 'विणय मूलो हि धम्मो।'

५. श्रुत-धर्म की आराधना होती है, क्योंकि श्रुतज्ञान वन्दनपूर्वक ग्रहण किया जाता है।

६. वन्दन क्रिया से आत्मा परम्परया सिद्ध बनती है। यहाँ वन्दन का अर्थ है-वन्दनरूप-विनय।

- **उक्तञ्च परमर्षिभिः—'भंते! समणं वा माहणं वा वंदमाणस्स वा पज्जुवासमाणस्स वंदणा पज्जुवासणा य किं फला पन्नत्ता? गोयमा! सवणफला, से णं सवणे किं फले पण्णत्ते, गोयमा! नाणफले, से णं नाणे किं फले? गोयमा! विन्नाणफले, विन्नाणे पच्चक्खाणफले, पच्चक्खाणे संजमफले, संजमे अणण्हयफले (अनाश्रव), अणण्हए तवफले, तवे वोदाणफले, वोदाणे अकिरियाफले, अकिरिया सिद्धिगइगमणफलत्ति।**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

● हे भगवन्! साधु-पुरुषों की वन्दना, उपासना का क्या लाभ है? हे गौतम! साधु-पुरुषों की वन्दना, उपासना के १० लाभ (फल) है—

१. श्रवण फल २. ज्ञान-फल ३. विज्ञान-फल ४. प्रत्याख्यान फल ५. संयम-फल ६. आश्रवरोध-फल अर्थात् संवर ७. तप-फल ८. निर्जरा-फल ९. अक्रिया-फल १०. सिद्धिगमन-फल॥ १००॥

६. **गुरुवचन**—वंदन के इच्छुक शिष्य द्वारा वन्दन की अनुज्ञा माँगने पर, गुरु जो प्रत्युत्तर देते है वे गुरुवचन कहलाते हैं और वे छः हैं।

चूर्णिकारमते—

♥ १. **शिष्य**—'इच्छामि खंमासमणो....निसीहिआए' वन्दन करने की आज्ञा माँगना।

♥ **गुरु**—'छंदेण' वन्दन कराना मुझे इष्ट है, कहकर आज्ञा देना। यदि गुरु क्षोभ या बाधा युक्त हैं तो 'प्रतीक्षस्व'-प्रतीक्षा करो कहते हैं। क्षोभ या बाधा का कारण बताने योग्य होता है तो बताते हैं अन्यथा नहीं।

वृत्तिकारमते—वन्दन कराना है तो 'छंदेण' ही कहते हैं पर क्षोभादि है तो 'त्रिविधेन' अर्थात् मन, वचन, काया से वन्दन करना निषिद्ध है, ऐसा कहते हैं। तब शिष्य संक्षेप में वन्दन करता है।

♣ २. **शिष्य**—'अणुजाणह मे मि उग्गहं' गुरु के अवग्रह में प्रवेश करने की आज्ञा माँगना।

♥ **गुरु**—'अणुजाणामि' अवग्रह में प्रवेश करने की आज्ञा देना।

♣ ३. **शिष्य**—निस्सीहि....दिवसो वइक्कंतो' इन बारह पदों के द्वारा गुरु को रात्रि या दिवस सम्बन्धी सुखशाता पूछना।

♥ **गुरु**—'तहत्ति' जैसा तुम कह रहे हो, वैसा ही मेरा रात अथवा दिन व्यतीत हुआ है।

♣ ४. **शिष्य**—'जत्ता भे' आपकी संयम यात्रा सुखपूर्वक चल रही है?

♥ **गुरु**—'तुब्भंपि वट्टए' हाँ, मेरी तो सुखपूर्वक चल रही है, पर तुम्हारी भी सुखपूर्वक चल रही है न?

♣ ५. **शिष्य**—'जवणिज्जं च भे' आपके शारीरिक व मानसिक शाता है?

♥ **गुरु**—'एवं' हाँ, शाता है।

♣ ६. **शिष्य**—'खामेमि खमासमणो! देवसिअं वइक्कमं' हे क्षमाश्रमण! आज दिन या रात में मेरे से आपका जो कुछ भी अपराध हुआ हो तो मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

♥ **गुरु**—मैं भी प्रमादवश हुए दोषों के लिये तुम से क्षमा माँगता हूँ ॥ १०१ ॥

७. **अधिकारी**—वन्दन करने योग्य। आचार्य आदि पाँच वन्दन करने योग्य हैं। कहा है—'कर्म निर्जरा के लिये आचार्य आदि पाँचों को वन्दन करना चाहिये।

(i) **आचार्य**—कल्याण के इच्छुक आत्मा जिनकी सेवा करते हैं वे आचार्य हैं। आचार्य सूत्र-अर्थ के ज्ञाता, प्रशस्त लक्षण वाले, स्थैर्य, धैर्य व गांभीर्यादि गुणों से भूषित होते हैं।

(ii) **उपाध्याय**—जिनके पास आकर शिष्यगण अध्ययन करते हैं वे उपाध्याय हैं। कहा है—जो सम्यग् दर्शन, ज्ञान व चारित्र से सम्पन्न, सूत्र, अर्थ व तदुभय के ज्ञाता, आचार्य पद के योग्य तथा आगमों की वाचना देने वाले हों, वे उपाध्याय हैं।

(iii) **प्रवर्तक**—तप, संयमादि योगों में से जो जिसके लिये योग्य है उसे वहाँ प्रवृत्त करने वाले तथा गच्छ के हितचिन्तक प्रवर्तक हैं।

(iv) **स्थविर**—रत्नत्रय की आराधना में शिथिल बनते हुए साधुओं को इहलोक-परलोक सम्बन्धी दुःखों व कष्टों को बताकर रत्नत्रय में स्थिर करने वाले स्थविर हैं।

(v) **रत्नाधिक**—जो दीक्षा पर्याय में बड़े हों ॥ १०२ ॥

८. **अनधिकारी**—वन्दन के अयोग्य। पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त व यथाच्छंद ये पाँच जिनशासन में अवन्दनीय हैं।

१. **पासत्थ**—इस शब्द से संस्कृत के दो शब्द निकलते हैं- पार्श्वस्थ व पाशस्थ।

- **पार्श्वस्थ**—ज्ञान-दर्शन व चारित्र के समीप रहते हुए भी उनका उपयोग कुछ भी नहीं करने वाला। अर्थात् रत्नत्रय की आराधना से रहित।
- **पाशस्थ**—कर्मबंध के हेतुभूत मिथ्यात्व आदि के जाल में फँसा हुआ। इसके दो भेद हैं—सर्वपासत्थो और देशपासत्थो।
- **सर्वपासत्थ**—ज्ञान-दर्शन चारित्रादि गुणों से रहित, मात्र वेषधारी।
- **देशपासत्थ**—निष्कारण शय्यातरपिंड, राजपिंड, नित्यपिंड का भोक्ता, कुलनिश्रा रखने वाला, स्थापनाकुलों में जाने वाला।
- **शय्यातर-पिंड**—'बसति' दाता का आहार।
- **अग्रपिंड**—पकाकर सीधे नीचे उतारे गये भात आदि का ऊपरी भाग।
- **नित्यपिंड**—आप मेरे घर आना, मैं आपको नित्य भिक्षा दूँगा। इस प्रकार निमन्त्रण देने वाले के घर का आहार।
- **स्थापना-कुल**—गुरु, आचार्य आदि की भिक्षा के योग्य कुल।
- **कुलनिश्रा**—अपने द्वारा प्रतिबोधित कुलों से ही भिक्षा ग्रहण करना ॥ १०३-१०५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. **अवसन्न**—दस प्रकार की साधु समाचारी के पालन में शिथिल।

अवसन्न के दो प्रकार हैं—(१) सर्वतः और (२) देशतः।

१. **सर्वतः**—जहां 'उउबद्ध' ऐसा पाठ है वहां अर्थ है कि शेष-काल (चातुर्मास के सिवाय) में भी पाट आदि का उपयोग करने वाला सर्वतः अवसन्न है। अवबद्ध पीठफलक तथा स्थापना-भोजी, सर्वतः अवसन्न हैं।

(i) **अवबद्ध-पीठफलक**—अवबद्ध अर्थात् छोटे-छोटे बाँस व लकड़ी के टुकड़ों को डोरी से बाँध कर बनाया हुआ संथारा। चातुर्मास में एक लकड़ी से निष्पन्न पाट न मिलने पर यदि इसका उपयोग करना पड़े तो उसे १५ दिन में एक बार खोलकर अवश्य पडिलेहणा करनी चाहिये, किन्तु जो ऐसा नहीं करता है वह 'अवबद्ध-पीठफलक' कहलाता है। अथवा—सारे दिन संथारा बिछाकर रखने वाला अथवा संथारा नहीं बिछाने वाला भी अवबद्धपीठफलक है।

(ii) **स्थापना भोजी**—साधु के निमित्त रखी हुई वस्तु को लेने वाला।

२. **देशतः**—प्रतिक्रमण, पडिलेहण तथा दशविध समाचारी का पालन न करने वाला, न्यूनाधिक करने वाला या गुरु के भय से करने वाला।

प्रतिक्रमण, पड़िलेहण, स्वाध्याय, गमनागमन का कायोत्सर्ग आदि विधिपूर्वक न करने वाला, न्यूनाधिक करने वाला, नहीं करने वाला या प्रतिषिद्ध काल में करने वाला, प्रमादवश अथवा सुखशीलता से गौचरी नहीं जाने वाला, उपयोग-शून्य भ्रमण करने वाला, अकल्प्य वस्तु ग्रहण करने वाला, मैंने क्या किया? मुझे क्या करना चाहिये? करने योग्य मैं क्या नहीं करता? इस प्रकार का शुभ-ध्यान न करने वाला, प्रत्युत अशुभ ध्यान करने वाला, मंडली में गौचरी नहीं करने वाला, कौए, सियार इत्यादि को देकर गौचरी करने वाला, संयोजना आदि दोषों से युक्त भोजन करने वाला, 'देशतः अवसन्न' कहलाता है।

अन्यमते—गुरु के पास पच्चक्खाण न करने वाला, गुरु के सामने कठोर वचन बोलने वाला, उपाश्रय से बाहर आते-जाते निस्सीहि, आवस्सही न बोलने वाला, गमनागमन सम्बन्धी काउस्सग्ग न करने वाला अथवा दोषयुक्त करने वाला, बैठते या सोते संडासा प्रमार्जनादि न करने वाला, समाचारी के विपरीत आचरण करने वाला, गुरु द्वारा प्रायश्चित्त देने पर गुरु के सामने कठोर वचन बोलने वाला, गुरु का आदेश 'तहत्ति' करके स्वीकार न करने वाला, लगे हुए दोषों का मिच्छा मि दुक्कड़ं न देने वाला, बिना पडिलेहण-प्रमार्जन के वस्तु को उठाने/रखनेवाला, गुरु की वैयावच्च न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने वाला, बिना वन्दन के ही प्रत्याख्यान करने वाला, इस प्रकार समाचारी का पालन न करने वाला या विपरीत पालन करने वाला 'देशावसन्न' है ॥ १०६-१०८ ॥

३. **कुशील**—'कुत्सितं शीलं अस्य इति कुशीलः ।' कुत्सित चारित्रवाला कुशील है। उसके तीन भेद हैं—

(१) **ज्ञानकुशील**—काल-विनय इत्यादि अष्टविध ज्ञानाचार की विराधना करने वाला ज्ञानकुशील है।

(२) **दर्शनकुशील**—निःशंकिय...इत्यादि अष्टविध दर्शनाचार की विराधना करने वाला दर्शनकुशील है।

(३) **चारित्र-कुशील**—१. कौतुककर्म, २. भूति-कर्म, ३. प्रश्नाप्रश्न, निमित्त, ४. आजीविका, ५. कल्ककुरुका, ६. लक्षण, ७. विद्या, ८. मंत्रादि के प्रयोग से चारित्र को मलिन बनाने वाला चारित्रकुशील है ॥ १०९-१११ ॥

(i) **कौतुक**—लोकप्रियता अर्जित करने के लिये या संतान प्राप्ति के लिये त्रिपथ, चतुष्पथ पर अनेक औषधियों से मिश्रित जलादि द्वारा स्त्रियों को स्नान कराना, उनके शरीर पर जड़ी बूंटी आदि बाँधना अथवा आश्चर्यकारी करतब दिखाना, जैसे बड़े-बड़े गोले मुँह से निगलकर कान-नाक आदि से पुनः निकालना, मुँह से आग निकालना इत्यादि कौतुक कर्म है।

(ii) **भूतिकर्म**—ज्वर आदि रोगों के तावीज, डोरे आदि करना, रोगी की शय्या को चारों ओर से अभिमंत्रित करना आदि ॥ ११२ ॥

(iii) **प्रश्नाप्रश्न**—पूछे गये या बिना पूछे गये प्रश्नों का कर्णपिशाचिनी आदि विद्या द्वारा या मंत्राभिषिक्त घंटिका द्वारा स्वप्न में समाधान करना ॥ ११३ ॥

(iv) **निमित्त**—भूत, भविष्य या वर्तमान विषयक लाभालाभ बताना। (देखो २५७वाँ द्वार)

(v) **आजीवक**—जाति आदि के द्वारा आजीविका चलाने वाला।

- **(अ) जाति उपजीवी**—भीनमाल जाति वाले सेठ को देखकर कहे कि मैं भी भीनमाल जाति का हूँ, यह सुनकर सेठ भी साधु को अपनी जाति का समझ कर भिक्षादि से उसका सत्कार करे।
- **(ब) कुलोपजीवी**—'मैं भी तुम्हारे कुल का हूँ' ऐसा कहकर भिक्षा ग्रहण करे।
- **(स) शिल्प**—यह शिल्प मैंने भी इसी आचार्य से सीखा है अथवा मुझे भी आता है।
- **(द) कर्म**—यह काम मुझे भी आता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- ♣ (य) **तप**—मैं भी तपस्वी हूँ।
- ♣ (र) **गण**—मैं भी मल्लकगण का हूँ। 'गण' के स्थान पर किसी प्रति में 'गुण' ऐसा पाठ है, वह 'निशीथ' आदि के पाठ का विरोधी होने से अशुद्ध है।
- ♣ (ल) **सूत्र**— मैंने इतने सूत्रों का अभ्यास किया है, इत्यादि कहकर भिक्षा ग्रहण करें।

- कुल = पिता सम्बन्धी उग्रादिकुल। शिल्प = आचार्य द्वारा सीखा हुआ विज्ञान।
- कर्म = स्वयं सीखा हुआ। सूत्र = कालिक आदि॥ ११४॥

(vi) **कल्ककुरुका**—कपट से दूसरों को ठगना।

अन्यमते— **कल्क**—कुछ भागों में या पूरे शरीर पर लोद्र वगैरे का उबटन लगाना। त्वचा सम्बन्धी रोगों में चमड़ी पर क्षारादि लगाना।

कुरुका—हाथ-पैर आदि धोना या पूरा स्नान करना अर्थात् उबटनादि लगाकर स्नान करना।

(vii) **लक्षण**—स्त्री पुरुष के शारीरिक लक्षणों को बताना। यथा—

अस्थिष्वर्थाः सुखं मांसे, त्वचि भोगा स्त्रियोऽक्षिषु।
गतौ यानं स्वरे चाज्ञा सर्वं सत्त्वे प्रतिष्ठितम्॥

हड्डियों के चिकनेपन में धन, मांस में सुख, त्वचा में भोग, नेत्रों में नारी, गति में वाहन, स्वर में आज्ञा तथा सत्त्व में सभी प्रतिष्ठित हैं।

(viii) **विद्यामंत्र**—विद्या, मंत्र आदि का स्वयं प्रयोग करना या दूसरों को बताना। **विद्या**—जिसकी अधिष्ठात्री देवी हो। **मंत्र**—जिसका अधिष्ठायक देव हो। अथवा साधना करने से सिद्ध हो, वह विद्या। बिना साधना के ही सिद्ध हो, वह मन्त्र।

मूलकर्म—पुरुषद्वेषिणी को अद्वेषिणी बनाना और अद्वेषिणी को द्वेषिणी बनाना। गर्भपात, गर्भधारण आदि कराना।

चूर्णयोग—किसी को वश करने के लिये चूर्णादि का प्रयोग करना। इनके अतिरिक्त अन्य भी शरीर-विभूषादि, चारित्र को दूषित करने वाले काम करने वाला चारित्रकुशील है॥ ११५॥

४. **संसक्त**—गुण और दोष दोनों से मिश्रित। जिस तरह गाय के चारे में झूठा और बिना झूठा दोनों तरह का खल-कपास होता है, वैसे संसक्त साधु गुण-दोष दोनों से मिश्रित संयम वाला होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) **संक्लिष्ट**—हिंसादि महास्रवों में रत, ऋद्धिगारव, रसगारव एवं सातागारव से गर्वित संक्लिष्ट है। यह दो प्रकार का है—

(क) स्त्री का सेवन करने वाला 'स्त्री संक्लिष्ट'

(ख) गृहस्थ सम्बन्धी पुत्र-पुत्री, पशु, धन, धान्यादि की चिन्ता में रत 'गृहि संक्लिष्ट'।

(२) **असंक्लिष्ट**—जिसके साथ रहे वैसा आचरण करने वाला। संविज्ञ के साथ संविज्ञ जैसा, पार्श्वस्थ के साथ पार्श्वस्थ जैसा आचरण करने वाला। यह प्रियधर्मी व अप्रियधर्मी दो प्रकार का होता है॥ ११६-१२०॥

५. **यथाच्छन्द**—सूत्र से विपरीत आचरण एवं प्ररूपणा करने वाला 'यथाच्छन्द' है, इसे 'इच्छाच्छन्द' भी कहते हैं।

जिनेश्वर देव के वचन से विरुद्ध, स्वबुद्धि से कल्पित सिद्धान्त-बाह्य जो भी है, वह उत्सूत्र कहलाता है। स्वयं उत्सूत्र का आचरण करने वाला तथा दूसरों के प्रति उत्सूत्र की प्ररूपणा करने वाला **'यथाच्छन्द'** है।

- गृहस्थ सम्बन्धी कार्यों को करने, कराने एवं अनुमोदन करने वाला (परचिन्तारत)
- किसी के अल्प अपराध में भारी क्रोध करने वाला, बार-बार झिड़कने वाला।
- आगम से निरपेक्ष केवल अपनी मति-कल्पना से स्वाध्याय आदि किसी एक सरल अनुष्ठान को पकड़कर शेष आराधना के प्रति उपेक्षा बरतने वाला, सुखलिप्सु एवं विगयसेवी।
- ऋद्धि, रस, साता गारव से गर्वित यथाछन्द है।

कुछ लोग पार्श्वस्थ को सर्वथा अचारित्री मानते हैं; किन्तु उनका कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जब उसमें चारित्र का सर्वथा अभाव ही है तो उसके सर्वतः और देशतः ये दो भेद करना ही व्यर्थ है। पार्श्वस्थ के दो भेद करने से सिद्ध होता है कि वह सातिचार चारित्री भी होता है। यह कल्पनामात्र नहीं है, किन्तु **निशीथचूर्णि** में कहा है—'जो सूत्रपौरूषी, अर्थपौरूषी नहीं करता, जिसका दर्शन अतिचार युक्त है, जो निरतिचार-चारित्र का पालन नहीं करता, ऐसा पार्श्वस्थ, सुखपूर्वक रहता है।' इससे स्पष्ट है कि पार्श्वस्थ में सर्वथा चारित्र का अभाव नहीं होता किन्तु सातिचार चारित्र की सत्ता होती है॥ १२१-१२३॥

९. पाँच प्रतिषेध—जिन स्थानों में वन्दना नहीं होती वे पाँच हैं। जिन्हें वन्दना कर रहे हैं वे यदि—

१. व्यग्र (व्याक्षिप्त) हों अर्थात् सभा में देशनादि देने में दत्तचित्त हों।

२. पराङ्मुख हो अर्थात् संमुख बैठे हुए न हों।

३. प्रमत्त हों (क्रोध, निद्रादि प्रमाद से युक्त)

४. आहार करते हों।

५. नीहार-उच्चार करते हों।

- ऐसे समय वन्दन करने से क्रमशः निम्न दोष लगते हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. धर्म का अन्तराय, २. वन्दन की अनवधारणा, ३. प्रकोप, ४. आहार का अन्तराय, ५. लज्जा के कारण, स्थंडिल आदि का अवरोध ॥ १२४ ॥

गुरु को ऐसे समय वन्दन करना चाहिये—

१. प्रशांत हों।

२. आसन पर बैठे हों।

३. उपशान्त (क्रोधादि प्रमाद रहित अप्रमत्त) हों।

४. 'छन्देन' इत्यादि वचन कहने को तत्पर हों ॥ १२५ ॥

१०. **अवग्रह**—अनुज्ञापित क्षेत्र। चारों दिशाओं में साढ़े तीन हाथ का गुरु का अवग्रह है, उसमें गुरु की अनुज्ञा बिना प्रवेश नहीं करना चाहिये। नाम, स्थापनादि भेद से इसके छः भेद हैं।

छः अवग्रह—

नाम—'अवग्रह' ऐसा किसी का नाम।

स्थापना—यह अवग्रह है, ऐसी स्थापना करना।

द्रव्य—मुक्ताफलादि को ग्रहण करना।

क्षेत्र—जो जिस क्षेत्र को ग्रहण करे वह क्षेत्रावग्रह है। अवग्रहीत क्षेत्र से लेकर एक कोश अधिक एक योजन तक के क्षेत्र का अवग्रह में समावेश होता है।

काल—जिस काल में जितने समय तक एक स्थान में रहने का नियम हो उतना समय वहाँ रहना काल-अवग्रह है। जैसे शीतोष्ण काल में एक मास का अवग्रह है, वर्षाकाल में चार मास का अवग्रह है। अर्थात् सर्दी व गर्मी में साधु एक स्थान पर एक महीना रह सकता है व वर्षाकाल में चार महीना रह सकता है अतः यह काल की दृष्टि से अवग्रह है।

भाव—प्रशस्त, अप्रशस्त। ज्ञानादि प्रशस्त अवग्रह हैं। क्रोधादि अप्रशस्त अवग्रह हैं।

अवग्रह के अन्य भी प्रकार हैं, जो आगे कहे जायेंगे ॥ १२६ ॥

११. **पाँच अभिधान—**

(१) **वन्दन कर्म**—प्रशस्त मन, वचन, काया के द्वारा गुरु को वन्दन करना। इसके दो भेद हैं—

(i) **द्रव्य वन्दन**—उपयोग-शून्य सम्यक्त्वी का वन्दन।

(ii) **भाव-वन्दन**—उपयोग-युक्त सम्यक्त्वी का वन्दन।

(२) **चितिकर्म**—रजोहरणादि उपधि-सहित वन्दनादि शुभ-क्रिया से शुभ कर्म का संचय कराने वाला कर्म अथवा कारण में कार्य का उपचार करने से 'रजोहरण' आदि उपधि का संग्रह करना भी चितिकर्म है। इसके दो भेद हैं—

(i) **द्रव्य चितिकर्म**—उपयोग-शून्य सम्यक्त्वी की रजोहरणादि उपधि-पूर्वक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वन्दनादि शुभ-क्रिया तथा तापसादि के योग्य उपकरणों का संचय करके तापस-योग्य क्रिया द्रव्य चितिकर्म है।

(ii) **भाव चितिकर्म**—उपयोगयुक्त सम्यक्त्वी की रजोहरणादि उपकरणपूर्वक वन्दनादि शुभक्रिया भाव चितिकर्म है।

(३) **कृति कर्म**—वन्दन-क्रिया, नमन क्रिया। यह दो प्रकार का है:—

(i) **द्रव्य कृतिकर्म**—उपयोग शून्य सम्यक्त्वी की तथा निह्नवादि की नमन क्रिया।

(ii) **भाव कृतिकर्म**—उपयोग युक्त सम्यक्त्वी की नमन क्रिया।

(४) **पूजा कर्म**—मन, वचन, काया का प्रशस्त व्यापार। यह भी दो प्रकार का है:—

(i) **द्रव्य पूजा कर्म**—उपयोग शून्य सम्यक्त्वी एवं निह्नव आदि का प्रशस्त व्यापार।

(ii) **भाव पूजा कर्म**—उपयोग-युक्त सम्यक्त्वी का प्रशस्त व्यापार।

(५) **विनय कर्म**—अष्टविध कर्म का नाश करने वाली गुरु के अनुकूल प्रवृत्ति। यह भी दो प्रकार की है—

(i) **द्रव्य विनय कर्म**—उपयोग शून्य सम्यक्त्वी एवं निह्नव आदि की गुरु के अनुकूल प्रवृत्ति।

(ii) **भाव विनयकर्म**—उपयोग युक्त सम्यक्त्वी की गुरु के अनुकूल प्रवृत्ति॥ १२७॥

१२. पाँच दृष्टान्त

(१) शीतलाचार्य का दृष्टान्त—

श्रीपुर नगर में शीतल नाम का राजा था। उसकी गति हंस की तरह सुन्दर, उसका मातृ-पितृ पक्ष हंस की दोनों पाँखों की तरह उज्ज्वल एवं निष्कलङ्क था। जैसे हंस क्षीरसागर में निवास करता है, वैसे राजा भी सर्वज्ञ के शासन रूपी क्षीरसागर में निरन्तर अवगाहन करता था। उस राजा के परम-सौभाग्य-शालिनी शृंगारमञ्जरी नाम की एक बहन थी। शृंगारमञ्जरी के पति का नाम विक्रमसिंह था। उसके शुभ लक्षणों से युक्त चार पुत्र थे। कुछ समय पश्चात् धर्मघोषसूरि के उपदेश से विरक्त बने राजा ने दीक्षा ग्रहण की। शीतल मुनि गुरु निश्रा में रहकर अध्ययन करते हुए परम गीतार्थ बने। गुरु ने शीतल मुनि को सुयोग्य जानकर आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया।

इधर अपनी माता की प्रेरणा व मामा के त्याग-वैराग्य की प्रशंसा सुनकर शृंगारमञ्जरी के चारों पुत्रों ने स्थविर मुनि के पास दीक्षा ग्रहण कर ली।

ज्ञान-ध्यान करते हुए वे भी परम गीतार्थ बने। एक बार वे चारों ही विचरण करते हुए मामा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनि को वन्दन करने हेतु अवंति गये। संध्या हो जाने से वे नगरी के बाहर ही ठहर गये। किसी श्रावक के द्वारा शीतलसूरि को मुनियों (भानजे) के आगमन का समाचार मिला।

रात में कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े उन चारों मुनियों को केवलज्ञान हो गया। सवेरे सूर्योदय के बाद शीतलसूरि उन चारों के आने की प्रतीक्षा करते रहे किन्तु एक प्रहर दिन बीतने के बाद भी जब वे नहीं आये तो बेसब्र होकर वे स्वयं उनसे मिलने के लिये चल पड़े। शीतलसूरि के समीप आने पर भी वे चारों केवलज्ञानी मुनि यथावत् ही खड़े रहे। एकदम पास आने के बाद भी उन चारों मुनियों का यह व्यवहार देखकर शीतलसूरि से नहीं रहा गया और वे बोले, 'क्या तुम्हें वन्दना भी मैं ही करूंगा?' मुनियों ने बड़ी सौम्यता से जवाब दिया कि 'सुखं भवतु।' वास्तविकता से अनजान शीतलसूरि यह सुनकर बड़े क्रुद्ध हुए और उन्हें दुष्ट व निर्लज्ज समझकर आवेश में वन्दन करने लगे। तब केवलज्ञानी मुनियों ने कहा- 'आवेशवश होने के कारण यह तुम्हारा द्रव्य वन्दन है, भाव वन्दन नहीं। अब भाव वन्दन करिये।' मुनियों की यह बात सुनकर शीतलसूरि एकदम चौंक पड़े। आश्चर्य हुआ कि इन्होंने मेरे भावों को कैसे जाना? उन्होंने पूछा—'तुमने मेरे भावों को कैसे जाना?' मुनियों ने केवलज्ञान होने की बात कही। यह सुनकर शीतलसूरि को घोर पश्चात्ताप हुआ कि मैंने केवलज्ञानियों की भयंकर आशातना की है। पश्चात्ताप करते हुए केवलज्ञानियों को उन्होंने इस प्रकार वन्दन किया कि उन्हें भी केवलज्ञान हो गया। शीतलाचार्य का प्रथम बार का क्रोधयुक्त वन्दन द्रव्यवन्दन था। दूसरी बार का वन्दन भाव-वन्दन था।

२. 'क्षुल्लक' का दृष्टान्त—

एक गच्छ में गुणसुन्दर नाम के आचार्य थे। एक बार अपना अन्तिम समय नजदीक जानकर एक सुयोग्य 'क्षुल्लक' मुनि को संघ की सहमति से अपने पद पर प्रतिष्ठित किया। गच्छ में सभी ने उनकी आज्ञा को शिरोधार्य किया और वे भी स्थविर मुनियों के पास ज्ञानाभ्यास करने लगे। एकदा मोहनीय के प्रबल उदय से क्षुल्लकमुनि को चारित्र छोड़ने का भाव पैदा हुआ। वे स्थंडिल के बहाने मुनियों के साथ जंगल की ओर गये। साथ में आये हुए मुनियों को दूर खड़ा करके स्वयं जंगल में आगे बढ़ चले। चलते-चलते पुष्प-फलादि से समृद्ध एक वन खण्ड में आये। वहाँ कुछ देर विश्राम के लिये बैठे। वहाँ उन्होंने देखा कि बकुलादि उत्तम वृक्षों को छोड़कर लोग नीरस शमीवृक्ष की पूजा कर रहे हैं। यह देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ, किन्तु सोचने पर स्पष्ट हुआ कि शमीवृक्ष की पूजा के पीछे इसके चारों ओर घिरी हुई पीठिका ही कारण है। बस, इस दृश्य ने उनके भावों को एकदम मोड़ दिया। वे सहसा संभले और अपने जीवन के बारे में सोचने लगे कि मेरे आदर-सत्कार का कारण भी गुरु प्रदत्त यह पद है, अन्यथा मेरे से भी अधिक ज्ञानी, गुणी, संयमी मुनि गच्छ में विद्यमान हैं। उन्हें अपने दुर्भाव पर घोर पश्चात्ताप हुआ और वे पुनः वसति में लौट आये। गीतार्थ मुनियों के संमुख अपने दुर्भाव की अन्तःकरण-पूर्वक आलोचना की। चारित्र त्याग की इच्छा के समय क्षुल्लकमुनि का रजोहरणादि उपधि का संचय द्रव्य चितिकर्म और प्रायश्चित्त के समय रजोहरणादि उपधि का संचय भाव चितिकर्म हुआ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. कृष्ण और वीरक शालवी का दृष्टान्त—

कृष्ण-वासुदेव का वीरक नामक सेवक था। उसका नियम था कि कृष्ण महाराजा का मुँह देखने के बाद ही भोजन करना। चातुर्मास में कृष्ण जी महल से बाहर नहीं निकलते थे। अतः वीरा को उनके दर्शन के अभाव में भूखा रहना पड़ा। इससे वह अत्यन्त कृश हो गया। चार महीने बाद जब कृष्ण के दर्शन हुए तो उन्होंने वीरा की दुर्बलता का कारण पूछा। वीरा ने अपनी बात बताई। यह सुनकर कृष्ण ने उसे महल में बे-रोक-टोक आने की अनुमति प्रदान कर दी।

भगवान नेमिनाथ के उपदेश से यथार्थ बोध को प्राप्त कर कृष्ण अपनी विवाह योग्य पुत्रियों को पूछते कि 'रानी बनना है या दासी'। जो राजकुमारी कहती कि मुझे रानी बनना है उसे भगवान नेमिनाथ के पास दीक्षा दिलाते। किन्तु एक दिन माता से सीख पाई हुई एक राजकुमारी ने कृष्णजी के पूछने पर कहा कि 'मैं तो दासी बनूँगी।' यह सुनकर उसे शिक्षा देने हेतु कृष्ण ने उसकी शादी सालवी के साथ कर दी और वीरा को समझा दिया कि 'राजकुमारी' से घर का पूरा काम कराना, कृष्ण की आज्ञानुसार वीरा ने भी ऐसा ही किया। कोमलांगी राजकुमारी थोड़े दिनों में ही दुःखी हो गई व पिता के पास आकर दुखड़ा रोने लगी कि "कृपया, मुझे वहाँ से मुक्त करा दीजिये, मैं भी रानी बनूँगी।" श्रीकृष्ण ने वीरक से अनुमति लेकर, उस राजकुमारी को भी बड़े महोत्सव पूर्वक भगवान नेमिनाथ के पास दीक्षा दिलाई।

एक बार नेमिनाथ परमात्मा पुनः द्वारिका में पधारे। कृष्णजी अपने परिवार के साथ भगवान को वन्दन करने गये। कृष्णजी ने अठारह हजार मुनियों को वन्दन किया। वीरक ने भी कृष्ण की शर्म से उनके साथ सभी को वन्दन किया।

कृष्ण का वन्दन भाव-कृतिकर्म था। क्योंकि इससे उनके चार नरक के बन्धन टूटे। क्षायिक सम्यक्त्व या तीर्थंकर नामकर्म का लाभ हुआ। वीरक का वन्दन द्रव्य-कृतिकर्म था क्योंकि उसका वन्दन अनुकरण रूप था।

४. विनयकर्म में पालक और शाम्ब का दृष्टान्त—

द्वारिका नगरी में भगवान नेमिनाथ का पदार्पण हुआ। कृष्ण जी ने अपने पुत्रों को कहा कि 'जो प्रभु को सर्वप्रथम वन्दन करेगा उसे मैं अपना अश्वरत्न इनाम में दूँगा।' यह सुनकर कृष्णजी के पुत्र शाम्ब कुमार ने प्रातः जल्दी उठकर शय्या में बैठे-बैठे ही भगवान को वन्दन किया किन्तु राजकुमार पालक, अश्वरत्न को पाने के लालच में प्रातःकाल जल्दी उठकर अश्वरत्न पर बैठकर भगवान के पास वन्दन करने गया। जब कृष्ण जी भगवान को वन्दन करने गये तो उन्होंने पूछा- 'हे प्रभु! आज आपको सर्वप्रथम वन्दना किसने की?' प्रभु ने कहा—'सर्वप्रथम द्रव्य वन्दना पालक ने की और सर्वप्रथम भाव-वन्दना शाम्ब ने की।' भगवान के मुँह से शाम्ब कुमार की वन्दना वास्तविक जानकर कृष्ण ने अपना अश्वरत्न उसे दिया। यहाँ पालक का द्रव्य विनय कर्म और शाम्ब कुमार का भाव विनय कर्म है।

५. पूजा कर्म पर दो राजसेवकों का दृष्टांत—

एक राजा के दो सेवक थे। उनमें गाँव की सीमा को लेकर परस्पर विवाद चल रहा था। उसका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फैसला कराने के लिये दोनों ने राजा के पास जाने का निर्णय किया। वे दोनों जा रहे थे कि रास्ते में उन्हें मुनि के दर्शन हुए। एक ने विचार किया कि मुनि के दर्शन से मेरा काम अवश्य सिद्ध होगा और वह मुनि को प्रदक्षिणापूर्वक वन्दन करके राज-दरबार में गया। दूसरे सेवक ने उसके देखा-देखी मुनि को वन्दना की राजसभा में चर्चा-विचारणा करते हुए भाव-पूर्वक वन्दन करने वाले के पक्ष में निर्णय हुआ और दूसरे सेवक की पराजय हुई।

प्रथम राजसेवक का भाव-पूर्वक वन्दन भाव-पूजा कर्म तथा अनुकरण रूप होने से दूसरे का द्रव्य पूजा कर्म है ॥ १२८ ॥

१३. गुरुसम्बन्धी आशातना ३३—

१, २, ३. पुरओ — बिना कारण गुरु के आगे चलना, खड़े रहना या बैठना = ३

४, ५, ६. पक्खासन्न — बिना कारण गुरु के पीछे/नजदीक में चलना, खड़े रहना या बैठना = ३

७, ८. गंताचिट्ठण-निसीयण — बिना कारण गुरु के दायें/बायें चलना, खड़े रहना, बैठना = ३ विनयभङ्ग आगे चलने से गुरु को पीठ, पीछे नजदीक चलने से खांसी, छींक आदि के कारण थूक आदि उछलने से आशातना, दायें-बायें चलने से गुरु की बराबरी। इसी तरह खड़े रहने व बैठने के भी दोष समझना।

९. अपवाद — **मार्गदर्शनादिके तु कारणे न दोषः** रास्ता दिखाने के लिये आगे चलने में कोई दोष नहीं है।

१०. आयमण — स्थंडिल से लौटकर आचार्य से पहले हाथ-पाँव धोना।

११. आलोयण — स्थंडिलादि बहिर्भूमि से लौटकर गुरु से पहले गमन-आगमन विषयक आलोचना करना।

१२. अप्पडिसुणण — रात में 'रत्नाधिक' पूछे कि कौन सो रहा है? कौन जग रहा है? तब जागृत होने पर भी जवाब न देना।

१३. पुव्वालवण — गुरु के साथ बातचीत करने आये हुए व्यक्ति से गुरु से पूर्व शिष्य का बातचीत करना।

१४. आलोए — भिक्षादि लाकर पहले अन्य के समक्ष आलोचना करके पश्चात् गुरु के समक्ष आलोचना करना।

१५. उवदंस — गौचरी आदि पहले अन्य मुनि को बताकर पश्चात् गुरु को दिखाना।

१६. निमंतण — गौचरी आदि लाकर गुरु को निमन्त्रण देने से पहले अन्य साधुओं को निमन्त्रण देना।

१७. खद्ध — गौचरी लाने के बाद आचार्य, गुरु आदि के योग्य अशनादि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनसे पूछे बिना ही अन्य साधुओं को रुचि-अनुसार प्रचुर मात्रा में बाँटना।

प्रश्न—आशातना की संग्राहक गाथा में 'खद्ध' शब्द नहीं है तो सत्तरहवीं आशातना के रूप में इसकी व्याख्या कैसे की?

उत्तर—१८वां 'खद्धाइयण' दोष है। सूत्र शैली की विचित्रता के कारण 'खद्धाइयण' में से 'खद्ध' शब्द अलग करके १७वाँ 'खद्ध' दोष बनाया जाता है। इस प्रकार 'खद्ध' शब्द का पुनरावर्तन होता है। इसलिये विवरण गाथा में सूत्रकार ने स्वयं कहा है कि 'यद्यपि आशातना की संग्राहक गाथा में 'खद्ध' शब्द अलग नहीं कहा गया है तथापि 'खद्धाइयण' में से इसे अलग करके १७वाँ दोष अलग से बनाया गया है।

१८. खद्धाइयण — इस आशातना का विवरण **दशाश्रुतस्कंध** के अनुसार बताया गया है—रत्नाधिक के साथ गोचरी करते हुए शिष्य का सुसंस्कृत वृन्ताक, ककड़ी, छौले आदि भाजीयुक्त शाक प्रचुरमात्रा में ले लेकर खाना। शुभ वर्ण, गन्ध रसादि से युक्त किसी प्रकार अचित्त किये हुए अनार, आम्र आदि फलों को उठा- उठाकर खाना। भव्य, अभव्य, रूखे-सूखे, चिकने-चुपड़े आहार में से जो कुछ प्रिय लगे वह प्रचुरमात्रा में खाना। इस प्रकार रत्नाधिक के साथ बैठकर अच्छा-अच्छा इच्छानुसार खाना, आशातना का कारण है।

अन्यमते — भिक्षा में से आचार्य को थोड़ा देकर शेष स्निग्ध, मधुर, मनोज्ञ भोजन, शाक आदि स्वयं खा लेना 'खद्धाइयण' दोष है।

१९. अपडिसुणण — आचार्य की आवाज सुनकर भी प्रत्युत्तर न देना (यह आशातना दिन से सम्बन्धित है पूर्व में जो 'अप्रतिश्रवण' रूप आशातना कही वह रात्रि सम्बन्धी है)।

२०. खद्धन्ति — रत्नाधिक के साथ कर्कश व तीखी आवाज में बोलना।

२१. तत्थगय — गुरु व रत्नाधिक के बुलाने पर आसन पर बैठे-बैठे ही प्रत्युत्तर देना।

२२. किं — आचार्य के बुलाने पर क्या है? क्या कहते हो? ऐसा बोलना। वस्तुतः आचार्य द्वारा आवाज देने पर, शिष्य को तुरन्त वहाँ जाकर 'मत्थएण वंदामि' कहकर गुरु के सम्मुख खड़ा रहना चाहिये।

२३. तम्हं — रत्नाधिक को 'तूं' ऐसे एकवचन से सम्बोधित करना। कहना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि मुझे उपदेश देने वाले तुम कौन होते हो? वस्तुतः गुरु को 'भगवान! श्रीपूज्य!' आदि शब्दों से सम्बोधित करना चाहिये।

२४. तज्जाय — गुरु जिन शब्दों में कहे, पुनः उन्हीं शब्दों में गुरु के सामने जवाब देना। आचार्य कहे—'तू बीमार की सेवा क्यों नहीं करता?' शिष्य जवाब दे—तुम क्यों नहीं करते? आचार्य कहे—'तू प्रमादी है' शिष्य कहे—'तुम आलसी हो।'

२५. नोसुमण — वस्तुतः गुरु के प्रवचनादि की प्रशंसा करनी चाहिये कि 'अहो! आपने बहुत अच्छा कहा।' किन्तु शिष्य प्रशंसा न करके गुरु व्याख्यान देते हों तब मन बिगाड़े, मुँह बिगाड़े।

२६. नोसरसि — गुरु व्याख्यान देते हों तब शिष्य बीच में कहे- 'आपको याद नहीं है, इसका अर्थ इस तरह नहीं है।'

२७. कहंमणछित्ता — चालू व्याख्यान के बीच 'अब मैं कथा कहूँगा,' ऐसा कहकर गुरु का व्याख्यान भङ्ग करे।

२८. परिसंभित्ता — पर्षदा जब प्रवचन में तन्मय हो रही हो तब ऐसा कहकर कि 'प्रवचन कितना लम्बा करोगे, अब गोचरी का समय हो गया है, सूत्र-पोरसी का समय हो गया है' इस तरह प्रवचन सभा भङ्ग करना।

२९. अणुट्ठियाएकह — गुरु के प्रवचन के बीच अपनी विद्वत्ता बताने हेतु शिष्य द्वारा सभा को यह कहना कि 'देखो, आप अच्छी तरह से नहीं समझे होंगे, मैं आपको अच्छी तरह विस्तार से समझाता हूँ।'

३०. संथार पायघट्टण — गुरु के संथारे, शय्या आदि को पैर लगने पर या अनुमति के बिना छूने पर क्षमायाचना नहीं करना। शय्या = शरीर प्रमाण बिछौना, संथारा = ढाई हाथ प्रमाण।

३१. चिट्ठ — गुरु के संथारे पर सोना, बैठना या करवट बदलना।

३२. उच्चासण — गुरु के संमुख ऊँचे आसन पर बैठना।

३३. समासण — गुरु के सामने समान आसन पर बैठना॥ १२९-१४९ ॥

१४. दोष- ३२ — निम्न ३२ दोषों से रहित वन्दना करना शुद्ध वन्दन है।

१. अनाढ़िय — अनादर से उत्सुकता के बिना वन्दना करना।

२. थद्ध — जात्यादि मद से गर्वित होकर वन्दना करना स्तब्ध दोष युक्त वंदन है। द्रव्य और भाव के भेद से गर्वित दो तरह के हैं। इनकी चतुर्भंगी बनती है।

— चतुर्भंगी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

— १. द्रव्य से गर्वित, भाव से नहीं। वायुजन्य पीड़ादि के कारण शरीर से गर्वित पर भाव से विनम्र।

— २. भाव से गर्वित, द्रव्य से नहीं। भाव से गर्वित, शरीर से विनम्र।

— ३. द्रव्य से गर्वित, भाव से गर्वित। शरीर व भाव दोनों से गर्वित।

— ४. द्रव्य से नहीं, भाव से भी नहीं—शरीर-भाव दोनों से विनम्र चौथा भांगा सर्वशुद्ध है। दूसरा व तीसरा भांगा सर्वथा अशुद्ध। प्रथम भांगा शुद्धाशुद्ध। कोई उदर-पृष्ठ में शूलादि से पीड़ित होने के कारण द्रव्य से स्तब्ध रहता हो फिर भी भाव से अक्कड़ न हो तो प्रथम भङ्ग भी शुद्ध है। यदि निष्कारण स्तब्ध रहे तो अशुद्ध है।

३. पविद्ध — जैसे-तैसे वन्दन करना अथवा आधा वन्दन करके भग जाना। जैसे—एक गाड़ी वाला घरेलू सामान लेकर दूसरे गाँव जा रहा था। वहाँ पहुँच कर उसने मालिक से कहा कि गाँव आ गया है। अतः अपनी शर्त पूरी हो गई। मालिक ने कहा—थोड़ी देर प्रतीक्षा करो जब तक मैं सामान रखने का उचित स्थान खोज लूँ। लेकिन वह सामान रास्ते में ही उतारकर भग गया, वैसे साधु भी वन्दन अधूरा छोड़कर भग जाय।

४. परिपिंडिय — साथ में बैठे हुए सभी आचार्यों को एक ही विधि से वन्दन करना अथवा घुटनों पर हाथ टेककर अव्यक्त सूत्रोच्चारपूर्वक वन्दन करना।

५. टोलगइ — टिड्डी की तरह आगे-पीछे कूदते हुए वन्दन करना।

६. अंकुस — अङ्कुश से जैसे हाथी को वश किया जाता है, वैसे सोये हुए, खड़े या काम में व्यग्र आचार्य या गुरु को चोलपट्टक या हाथ पकड़ कर अवज्ञा से खींचते हुए जबर्दस्ती वन्दन करना। आशातना का कारण होने से ऐसा नहीं करना चाहिये, किन्तु प्रणाम करके कहे कि 'उपविशन्तु भगवन्तो येन वन्दनकं प्रयच्छामि' भगवन्! आप विराजिये, जिससे कि मैं वन्दन कर सकूँ। ऐसा कहकर गुरु को बिठायें, फिर वन्दन करे।

— **आवश्यक वृत्ति मते**—दोनों हाथों में अङ्कुश की तरह रजोहरण पकड़कर वन्दन करना वह 'अङ्कुश वन्दन' कहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

— **अन्यमत**—अङ्कुश से पीड़ित हाथी की तरह सिर को उंचा-नीचा करते हुए वन्दन करना। पूर्वोक्त दोनों मत सूत्रानुयायी नहीं है (तत्त्वं केवलीगम्यं)।

७. कच्छवरिंगिय — कछुए की तरह आगे-पीछे खिसकते हुए वन्दन करना।

८. मच्छुव्वत्त — एक आचार्य को वन्दन करके पास में बैठे हुए दूसरे आचार्य को वन्दन करने के लिए वहाँ बैठे-बैठे ही मत्स्य की तरह शरीर पलट कर वन्दन करना।

९. मणसापउट्ठ — प्रद्वेषपूर्वक वन्दन करना। प्रद्वेष दो प्रकार से :

(१) **आत्मप्रत्यय** — गुरु द्वारा शिष्य को साक्षात् उपालंभ देने से उत्पन्न प्रद्वेष।

(२) **परप्रत्यय** — गुरु द्वारा शिष्य के सम्बन्धी, मित्रादि के समक्ष शिष्य के सम्बन्ध में अप्रिय बात कह देने से उत्पन्न प्रद्वेष।

१०. वेइयाबद्ध — घुटनों पर हाथ टेककर, घुटनों से बाहर या गोद में हाथ रखकर, बायें पैर को दोनों हाथों के बीच रखकर अथवा दायें पैर को दोनों हाथों के बीच रखकर वन्दन करना।

११. भयसा — यदि मैं वन्दन नहीं करूँगा तो गुरु मुझे गच्छ बाहर कर देंगे, इस भय से वन्दन करना। भय के अन्य हेतु भी यथासंभव समझ लेना चाहिए।

१२. भयन्त — हे आचार्य महाराज! हम आपको वन्दन करने के लिये खड़े हैं, इस तरह गुरु पर एहसान चढ़ाते हुए वन्दन करना अर्थात् गुरु मेरे अनुकूल हैं, भविष्य में भी मेरे अनुकूल रहेंगे, इस अभिप्राय से वन्दन करना।

१३. मित्ती — आचार्य के साथ मैत्री (प्रीति) चाहते हुए वन्दन करना।

१४. गारव — 'वन्दनादि समाचारी में मैं कुशल हूँ।' अन्य साधु ऐसा समझे। इस प्रकार प्रशंसा पाने के लिये आवर्तादि व्यवस्थित करते हुए वन्दन करना।

१५. कारण — ज्ञान, दर्शन, चारित्र के लाभ को छोड़कर इहलौकिक वस्त्र, कम्बल आदि वस्तुओं की अभिलाषा से गुरु को वन्दन करना।

प्रश्न—ज्ञानादि की चाह से वन्दन करना शुद्ध वन्दन है क्या?

उत्तर—यदि वन्दन के पीछे यह आशय हो कि मैं ज्ञानादि को प्राप्त करूँगा तो लोग मुझे मानेंगे, पूजेंगे, मेरा गौरव करेंगे, इस प्रकार ज्ञानादि के लिये किया जाने वाला वन्दन भी अशुद्ध ही है। केवल ज्ञानादि की प्राप्ति के लिये किया जाने वाला वन्दन शुद्ध वन्दन है। आदि पद से दर्शन व चारित्र का ग्रहण होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६. तेणिय — दूसरा कोई श्रावक या साधु न देखे इस तरह चोरी छुपे वन्दन करना। दूसरे यदि देखेंगे तो कहेंगे कि—'अहो ! ये विद्वान् होते हुए भी वन्दन करते हैं। इससे मेरी अपभ्राजना होगी।'

१७. पडिणीय — आहार, नीहार के समय वन्दन करना, प्रत्यनीक वन्दन है।

१८. रुट्ठ — क्रोधावेश में वन्दन करना, रुष्ट वन्दन है।

१९. तज्जिय — तुम कठपुतली की तरह हो, न तो वन्दन करने से खुश होते हो, न नाराज। फिर तुम्हें वन्दन करने से क्या लाभ? इस प्रकार तर्जना करते हुए वन्दन करना अथवा 'अभी लोगों के बीच मेरे से वन्दन करवालो, किन्तु अकेले में बताऊँगा' इस प्रकार मस्तक, भृकुटी, अङ्गुली आदि से तर्जना करते हुए वन्दन करना।

२०. सढ — लोकों में विश्वास पैदा करने के लिये, बिना भाव से कपटपूर्वक वन्दन करना, शठ वन्दन कहलाता है।

२१. हीलिय — हे गणि ! वाचक ! ज्येष्ठार्य ! आपको वन्दन करने से क्या लाभ है? इस प्रकार हीलना करते हुए वन्दन करना।

२२. विपलियउंचिय — विकथा करते हुए वन्दन करना यह 'विपरीत कुंचित वन्दन' है।

२३. दिट्ठमदिट्ठ — वन्दन करते समय, सबके पीछे जाकर बैठ जाना और कोई देखे तो वन्दन करना अन्यथा बैठे रहना, यह 'दृष्टादृष्ट' वन्दन है।

२४. सिंग — अहो-कायं-काय' वगैरह आवर्त्त ललाट के मध्य में न करते हुए बायें, दायें भाग पर करना, 'शृंग-वन्दन' है। जहाँ 'सिंगं पुण कुम्भपासेहिं' ऐसा पाठ है वहाँ कुंभ का अर्थ ललाट होने से यही अर्थ समझना।

२५. कर — राज्य के 'कर' की तरह वन्दन को गुरु का 'कर' समझकर करना।

२६. तम्मोयण — अरे ! संयम लिया इसलिये लौकिक कर से तो मुक्त हो गये किन्तु अरिहंत के कर से अभी भी मुक्त नहीं हुए ऐसा समझ कर वन्दन करना।

२७. आलिट्ठमणालिट्ठ — आवर्त्त के समय रजोहरण तथा मस्तक को हाथ से स्पर्श करना चाहिये किन्तु ऐसा न करना।

— **चतुर्भंगी—**

— १. रजोहरण स्पर्श करना, मस्तक स्पर्श करना।

— २. रजोहरण स्पर्श करना, मस्तक स्पर्श नहीं करना।

— ३. मस्तक स्पर्श करना, रजोहरण स्पर्श नहीं करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

— ४. रजोहरण स्पर्श नहीं करना, मस्तक भी स्पर्श नहीं करना।
— इन चारों भांगों में से प्रथम भांगा शुद्ध शेष तीनों अशुद्ध हैं।

२८. उण — अक्षर, वाक्य, पद न्यूनाधिक बोलते हुए वन्दन करना अथवा उत्सुकतावश जल्दी-जल्दी वन्दन समाप्त करना। 'अवनमन' आदि आवश्यक न्यून करना, वह आवश्यक 'न्यून-वन्दन' कहलाता है।

२९. उत्तरचूलिय — वन्दन करने के बाद 'मत्थएण-वंदामि' जोर से बोलना, यह 'उत्तरचूल वन्दन' कहलाता है।

३०. मूय — वन्दन करते समय सूत्र, आवर्तों का स्पष्ट उच्चारण नहीं करना, किन्तु गूंगे की तरह मन में बोलते हुए वन्दन करना, 'मूक-वन्दन' कहलाता है।

३१. ढड्ढर — वन्दन करते समय सूत्र जोर-जोर से बोलना, यह 'तीव्र-स्वर वन्दन' कहलाता है।

३२. चुडलिय — रजोहरण को अलात (जलते हुए काष्ठ) की तरह गोल घुमाते हुए वन्दन करना ॥ १५०-१७३ ॥

१५ आठ कारण (वन्दन करने के)

— १. प्रतिक्रमण के समय वन्दन करना। (**प्रतीपं क्रमणं प्रतिक्रमणं, अपराध- स्थानेभ्यो गुणस्थानेषु निवर्तनम्,** विपरीत दिशा में लौटना अर्थात् पाप स्थानों से गुणस्थानों की ओर लौटना प्रतिक्रमण है।
— २. वाचना आदि लेते समय वन्दन करना।
— ३. आयंबिल का विसर्जन कर विगय के परिभोग के लिये कायोत्सर्ग करने हेतु वन्दन करना।
— ४. अपराध की (गुरु का अविनय हुआ हो तो) क्षमा माँगने से पूर्व वन्दन करना।
— ५. प्राघूर्णक मुनि के आने पर यदि प्राघूर्णक बड़ा हो तो स्थित लघु साधु द्वारा उन्हें वन्दन करना और प्राघूर्णक (पाहुणे) मुनि छोटे हों तो उनके द्वारा स्थित बड़े मुनियों को वन्दन करना। (वन्दन करने वाला मुनि आचार्य को पूछकर वन्दन करे)।
— **अत्र चायं विधि—**
— आने वाले मुनि (प्राघूर्णक = पाहुने) दो तरह के होते हैं-
— १. सांभोगिक और २. असांभोगिक
— समान समाचारी-क्रियानुष्ठान होने के कारण जिनके साथ खान-पान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि का व्यवहार हो सके ऐसे मुनि सांभोगिक हैं। इसके विपरीत असांभोगिक कहलाते हैं।

— यदि आने वाले सांभोगिक हैं, तो आचार्य को पूछकर स्थित मुनि उन्हें वन्दन करे (ज्येष्ठ हो तो) । यदि आने वाले असांभोगिक हैं तो पहले आचार्य को वन्दन कर उनकी अनुमति लेकर पश्चात् आगन्तुक मुनियों को वन्दन करें या उनसे वन्दन करावें।

— ६. गुरु को आलोचना देते समय वन्दन करना।

— ७. बहुत आगार वाले एकासण आदि के पच्चक्खाण का संवरण रूप तिविहारादि का पच्चक्खाण लेते समय अथवा वन्दन करके गुरु से नवकारसी, पोरसी आदि का पच्चक्खाण ले लिया हो परन्तु अजीर्ण आदि के कारण उपवास की भावना हो जाय तो उपवास का पच्चक्खाण लेते समय वन्दन करना।

— ८. अनशन-संलेखना करते समय वन्दन करना।

— इनमें से कुछ वन्दन नियत हैं और कुछ अनियत हैं। तथाविध कारण से किये जाते हैं अन्यथा नहीं॥ १७४॥

३. द्वार

प्रतिक्रमण—

चिइवंदण उस्सग्गो पोत्तियपडिलेह वंदणालोए।
सुत्तं वंदण खामण वंदणय चरित्तउस्सग्गो॥ १७५॥
दंसणनाणुस्सग्गो सुयदेवयखेत्तदेवयाणं च।
पुत्तियवंदण थुइतिय सक्कत्थय थोत्त देवसियं॥ १७६॥
मिच्छादुक्कड पणिवाय-दंडयं काउसग्गतियं करणं।
पुत्तिय वंदण आलोय सुत्त वंदणय खामणयं॥ १७७॥
वंदणयं गाहातियपाढो छम्मासियस्स उस्सग्गो।
पुत्तिय वंदण नियमो थुइतिय चिइवंदणा राओ॥ १७८॥
णवरं पढमो चरणे दंसणसुद्धीय बीय उस्सग्गो।
सुअनाणस्स तईओ नवरं चिंतेइ तत्थ इमं॥ १७९॥
तइए निसाइयारं चिंतइ चरिमंमि किं तवं काहं?।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छम्मासा एगदिणाइ हाणि जा पोरिसि नमो वा ॥ १८० ॥
मुहपोत्तीवंदणयं संबुद्धाखामणं तहालोए ।
वंदण पत्तेयं खामणाणि वंदणयसुत्तं च ॥ १८१ ॥
सुत्तं अब्भुट्ठाणं उस्सग्गो पुत्तिवंदणं तह य ।
पज्जंते खामणयं एस विही पक्खिपडिक्कमणे ॥ १८२ ॥
चत्तारि दो दुवालस वीसं चत्ता य हुंति उज्जोया ।
देसिय राइय पक्खिय चाउम्मासे य वरिसे य ॥ १८३ ॥
पणवीस अद्धतेरस सलोग पन्नतरी य बोद्धव्वा ।
सयमेगं पणवीस बे बावण्णा य वरिसंमि ॥ १८४ ॥
साय सयं गोसद्धं तिन्नेव सया हवंति पक्खंमि ।
पंच य चाउम्मासे वरिसे अट्ठोत्तरसहस्सा ॥ १८५ ॥
देवसिय-चाउमासिय-संवच्छरिएसु पडिक्कमण-मज्झे ।
मुणिणो खामिज्जंति तिन्नि तहा पंच सत्त कमा ॥ १८६ ॥

—गाथार्थ—

दैवसिक प्रतिक्रमण विधि—चैत्यवन्दन, कायोत्सर्ग, मुहपत्ति-प्रतिलेखन, वन्दन, आलोचना, प्रतिक्रमणसूत्र वन्दन, क्षमापना वन्दन, चारित्र, दर्शन एवं ज्ञानविशुद्धि निमित्त क्रमशः कायोत्सर्ग, श्रुतदेवता तथा क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग, मुहपत्ति-प्रतिलेखन, स्तुति-त्रिक, शक्रस्तव और दिवस सम्बन्धी अतिचारों की शुद्धि के लिये कायोत्सर्ग करना यह दैवसिक प्रतिक्रमण की विधि है ॥ १७५-१७६ ॥

रात्रिक प्रतिक्रमण विधि—रात्रि सम्बन्धी अतिचारों का 'मिच्छा मि दुक्कडं' देकर णमुत्थुणं बोलना, तीन कायोत्सर्ग करना, मुहपत्ति की प्रतिलेखना करके वन्दन देना, आलोचना करना, प्रतिक्रमण सूत्र बोलकर वन्दन देकर क्षमापना करना। पुनः वन्दन देकर 'आयरिय उवज्झाए' इत्यादि तीन गाथा बोलना। तत्पश्चात् छमासी तपनिमित्त कायोत्सर्ग करना। फिर मुहपत्ति की प्रतिलेखना, वन्दन, प्रत्याख्यान, स्तुति-त्रिक एवं चैत्यवन्दन करना रात्रिक प्रतिक्रमण की विधि है।

प्रथम कायोत्सर्ग चारित्र शुद्धि के लिये, द्वितीय कायोत्सर्ग दर्शन शुद्धि के लिये एवं तृतीय कायोत्सर्ग श्रुतज्ञान की शुद्धि के लिये है। तृतीय कायोत्सर्ग में रात्रि सम्बन्धी अतिचारों का चिन्तन करे। अन्तिम कायोत्सर्ग में 'मैं कौन सा तप कर सकता हूँ?' इसका चिन्तन करे। एक दिन न्यून छः महीने के तप से लेकर यावत् पोरसी, नवकारसी तक तप करने का चिन्तन करे।
॥१७७--१८० ॥

पाक्षिकादि प्रतिक्रमण विधि—पाक्षिक मुहपत्ति पडिलेहण करके वन्दन देना, संबुद्धा खामणा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना, आलोचना करके पुनः वन्दन देना, प्रत्येक खामणा करके वन्दन देकर क्रमशः पक्खीसूत्र एवं श्रमणसूत्र बोलना। फिर अभ्युत्थान, कायोत्सर्ग, मुहपत्ति पडिलेहण, वन्दन, समाप्ति वन्दन देना। यह विधि पाक्षिक प्रतिक्रमण की है॥ १८१-१८२॥

किस प्रतिक्रमण में कितने लोगस्स का काउस्सग्ग होता है?—**दैवसिक प्रतिक्रमण में चार, रात्रिक प्रतिक्रमण में दो, पाक्षिक प्रतिक्रमण में बारह, चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में बीस और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में चालीस लोगस्स का कायोत्सर्ग किया जाता है॥ १८३॥**

पच्चीस, साढ़ा बारह, पचहत्तर, एक सौ पच्चीस और दो सौ बावन श्लोक प्रमाण कायोत्सर्ग क्रमशः दैवसिक, रात्रिक आदि प्रतिक्रमण में होते हैं॥ १८४॥

दैवसिक प्रतिक्रमण में सौ, रात्रिक प्रतिक्रमण में पचास, पाक्षिक प्रतिक्रमण में तीन सौ, चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में पाँच सौ तथा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में एक हजार आठ श्वासोश्वास प्रमाण कायोत्सर्ग होता है॥ १८५॥

किस प्रतिक्रमण में कितने खामणे होते हैं?—**दैवसिक, चातुर्मासिक तथा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में क्रमशः तीन, पाँच तथा सात खामणा होते हैं॥ १८६॥**

—विवेचन—

प्रतिक्रमण (प्रतिकूलं क्रमणं = प्रतिक्रमणं)

त्रिविध प्रतिक्रमण (अतीत, अनागत, वर्तमान काल की अपेक्षा से)

शुभ योग में से अशुभ योग में गये हुए आत्मा का पुनः शुभ योग में आना, क्षायोपशमिक भाव से औदयिक भाव में वर्तमान आत्मा का पुनः 'क्षायोपशमिक' भाव में आना, प्रतिक्रमण है। प्रति = वापस, क्रमणं = लौटना। पापाचरण से रहित मुनि की मोक्षफलदायी शुभ योगों में प्रवृत्ति 'प्रतिक्रमण' है।

प्रश्न—प्रतिक्रमण अतीतकालीन पाप का प्रायश्चित्त रूप है, जैसा कि कहा है—**'अईयं पडिक्कमामि पडुपन्नं संवरेमि अणागयं पच्चक्खामि'** अर्थात् अतीत का प्रतिक्रमण होता है, वर्तमानकालीन पाप को रोकने के लिये संवर है तथा भावी पाप से बचने के लिये प्रत्याख्यान किया जाता है तो आप प्रतिक्रमण को त्रैकालिक कैसे कह रहे हैं?

उत्तर—यहाँ 'प्रतिक्रमण' शब्द का अर्थ अशुभ योग की निवृत्ति मात्र है। कहा है—

'मिच्छत्तपडिक्कमणं तहेव अस्संजमे य पडिक्कमणं।

कसायाण पडिक्कमणं जोगाण य अप्पसत्थाणं॥'

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय व अशुभ योगों से निवृत्त होना प्रतिक्रमण है।

१. निन्दा करने से—अशुभ योग निवृत्तिरूप 'अतीत विषयक प्रतिक्रमण' होता है।

२. संवर करने से—अशुभ योग निवृत्तिरूप वर्तमान विषयक प्रतिक्रमण होता है।

३. प्रत्याख्यान करने से—अशुभ योग निवृत्तिरूप 'अनागत विषयक' प्रतिक्रमण होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः त्रिविध प्रतिक्रमण कहने में कोई दोष नहीं है।

पञ्चविध प्रतिक्रमण—

१. दैवसिक २. रात्रिक ३. पाक्षिक ४. चातुर्मासिक ५. सांवत्सरिक।

भरत, ऐरवत क्षेत्र में प्रथम और अन्तिम जिन के समय में ये पाँचों ही प्रतिक्रमण नियत हैं। महाविदेह में तथा भरत, ऐरवत में २२ तीर्थंकरों के समय में ये प्रतिक्रमण अनियत हैं। अर्थात् दोष लगे तो ही प्रतिक्रमण होता है अन्यथा नहीं। कहा है कि—

'प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय नियत प्रतिक्रमण करना यही धर्म है, जबकि मध्य के २२ तीर्थंकरों के समय में दोष लगा हो तो प्रतिक्रमण करना अन्यथा नहीं, यही धर्म है।'

दैवसिक-प्रतिक्रमण-विधि—

ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार, इन पञ्चविध आचारों की शुद्धि के लिये साधु और श्रावक को प्रतिक्रमण करना चाहिये। गुरु हो तो प्रतिक्रमण गुरु के साथ में करें अन्यथा अकेले ही करें।

त्रस, स्थावर जीवों से रहित, प्रतिलेखित, प्रमार्जित भूमि में बैठकर इरियावहिया, चैत्यवन्दन करके आचार्य आदि को खमासमण देते हुए भूमि-निवेशित-सिर से समस्त दैवसिक अतिचारों का 'मिच्छामि दुक्कडं' (सवस्स वि देवसिअं) करें। तत्पश्चात् करेमि भंते, इच्छामि-ठामि, दैवसिक-अतिचारो के चिंतन-हेतु काउस्सग्ग करे (गोचरी आदि के लिये भ्रमण करने वाले साधु एक बार अतिचारों का चिंतन करें, किन्तु गुरु दो बार चिंतन करे क्योंकि भ्रमणशील होने से साधुओं के अधिक अतिचार लगने की सम्भावना है, अतः साधुओं को चिंतन करने में समय लगता है) गुरु अल्प भ्रमणशील होने से उनके अल्प अतिचार लगते हैं, प्रकट लोगस्स कहे। बैठकर मुहपत्ति पडिलेहण, वन्दन, अतिचारों की आलोचना, बैठकर (नमस्कारपूर्वक) सामायिक सूत्र, साधु श्रमणसूत्र (पगामसज्झाय) बोले और श्रावक अपना सूत्र (वन्दित्तुसूत्र) बोले, वन्दन, खामणा (विधि—गुरु से लेकर अनुक्रम से सभी बड़ों को खमावे। परम्परा यह है कि यदि पाँच का गण हो तो तीन तक खमावे, पाँच से कम का गण हो तो मात्र गुरु को ही खमावे) वान्दणा (यह वन्दन आचार्य आदि का आश्रय करने के लिये किया जाता है अतः यह वन्दन अल्लियावण-वन्दन कहलाता है) फिर चारित्र विशुद्धि निमित्त काउस्सग्ग (दो लोगस्स), दर्शन विशुद्धि निमित्त कायोत्सर्ग (एक लोगस्स), ज्ञान-विशुद्धि निमित्त कायोत्सर्ग (एक लोगस्स), श्रुत-समृद्धि निमित्त श्रुतदेवता का काउस्सग्ग (एक नवकार) प्रगट स्तुति, सर्व विघ्न नाश हेतु क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग (एक नवकार) प्रकट स्तुति, नमस्कारपूर्वक बैठकर मुहपत्ति पडिलेहण, वांदणा (मङ्गल निमित्त), तत्पश्चात् 'इच्छामो अणुसट्ठिं' बोलकर तीन स्तुति बोलें, पहली स्तुति गुरु बोले, बाद में सभी लोग समवेत स्वर से तीन स्तुति बोले। तत्पश्चात् शक्रस्तव, स्तोत्र (स्तवन) दैवसिक अतिचारों की विशुद्धि के लिये चार लोगस्स का कायोत्सर्ग करे। इस प्रकार दैवसिक प्रतिक्रमण की विधि सम्पूर्ण होती है॥ १७५-१७६॥

प्राभातिक-प्रतिक्रमण-विधि

सर्वप्रथम भूमिनिवेशित सिर से रात्रि सम्बन्धि अतिचारों का मिच्छामि दुक्कडं करें। नमुत्थुणं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बोलकर खड़ा होकर करेमि-भंते आदि बोले, चारित्र विशुद्धि निमित्त कायोत्सर्ग (एक लोगस्स), प्रकट लोगस्स, दर्शन विशुद्धि निमित्त कायोत्सर्ग (एक लोगस्स), प्रकट पुक्खरवरदी; ज्ञानशुद्धि निमित्त कायोत्सर्ग (इस कायोत्सर्ग में रात्रि सम्बन्धी अतिचारों का चिन्तन), प्रकट सिद्धस्तव, बैठकर मुखवस्त्रिका पडिलेहण, वांदणा, अतिचारों की आलोचना, बैठकर नमस्कारपूर्वक सामायिकादि सूत्र (साधु पगामसज्झाय और श्रावक वंदित्तु सूत्र) बोले, वांदणा, खामणा, वांदणा, आयरियउवज्झाय (गाथात्रय), करेमि-भंते, इच्छामि-ठामि, तत्पश्चात् छमासी तप चिंतन निमित्त कायोत्सर्ग करे.....सर्वप्रथम संकल्प करे—'जिससे संयम के अनुष्ठानों को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे, मैं ऐसा तप स्वीकार करता हूँ।' फिर चिंतन करे कि भगवान महावीर के शासन में उत्कृष्ट तप गणधरों ने छः महीने का बताया है, हे आत्मन्! क्या तू ऐसा तप करने में समर्थ है? यदि नहीं, तो एक दिन कम छः महीने का तप करने में समर्थ है? दो दिन कम छः महीने का तप करने में समर्थ है? इस प्रकार कम करते-करते पाँच महीने.....चार महीने.....तीन महीने.....दो महीने.....एक महीने तक की पृच्छा करे, फिर एक दिन कम एक महीने.....दो दिन कम एक महीने, इस प्रकार कम करते-करते तेरह दिन कम एक महीने की पृच्छा करे। उसके बाद चौंतीस भक्त.....बत्तीस भक्त.....तीस भक्त.....इस प्रकार दो-दो कम करते हुए चतुर्थ भक्त तक पृच्छा करे। यदि इतनी भी शक्ति न हो तो आयंबिल, नीवि, एकासणा यावत् नवकारसी तक की पृच्छा करे। इनमें से जो भी तप करना हो, उसका मन में संकल्प करके कायोत्सर्ग पारे। प्रकट लोगस्स कहे, बैठकर मुखवस्त्रिका पडिलेहण, वांदणा देकर संकल्प के अनुसार प्रत्याख्यान करे। फिर मंद स्वर से तीन स्तुति बोले (जोर से बोलने से गिरोली आदि हिंसक जानवर जगकर हिंसा करेंगे), चैत्यवन्दन करे।

प्रश्न—दैवसिक प्रतिक्रमण में पहले कायोत्सर्ग में अतिचारों का चिंतन होता है फिर पिछले तीन काउस्सग्ग क्रमशः चारित्रशुद्धि, दर्शनशुद्धि एवं ज्ञानशुद्धि के लिये किये जाते हैं किन्तु प्राभातिक प्रतिक्रमण में विपरीत किया जाता है। ऐसा क्यों?

उत्तर—प्राभातिक प्रतिक्रमण में पहले चारित्रशुद्धि और दर्शनशुद्धि हेतु कायोत्सर्ग करने के बाद ही अतिचारों के चिन्तन हेतु कायोत्सर्ग करना चाहिये। कारण अतिचारों के चिन्तन में सतर्कता एवं सजगता अति आवश्यक है। प्रतिक्रमण के प्रारम्भ में तुरन्त नींद से जगने के कारण आँखों में सहज नींद, आलस व प्रमाद की सम्भावना रहती है। ऐसी स्थिति में अतिचारों का अच्छी तरह स्मरण नहीं हो सकता तथा नींद आने से परस्पर साधुओं का संघट्टा होने की भी सम्भावना रहती है। अतः सवेरे अतिचारों के चिन्तन का कायोत्सर्ग बाद में ही करना चाहिये। इससे बाद में होने वाली वन्दनादि क्रिया भी सजगता से होती है। आगम में भी कहा है कि—

निद्दामत्तो न सरइ अइयारे कायघट्टणाऽऽलोए।
किइअकरणदोसा वा गोसाई तिन्नि उस्सग्गा॥ ॥१७७-१८०॥

पाक्षिक प्रतिक्रमण विधि—

चतुर्दशी के दिन दैवसिक प्रतिक्रमण, 'तिविहेण पडिक्कंतो वंदामि जिणे चउवीसं' तक करने के बाद 'देवसियं आलोइयं पडिक्कंतं इच्छाकारेण संदिसह भगवन् पक्खिय मुहपत्ति पडिलेहुं? इस प्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदेश माँगे, गुरु कहे पडिलेह, तब खमासमण देकर मुहपत्ति पडिलेहण करे, वन्दना, संबुद्धा खामणा अर्थात् पाँच गीतार्थों को खामणा, पाक्षिक आलोचना (अतिचार), गुरु पाक्षिक में चतुर्थभक्त की आलोचना दें, (चातुर्मासिक में छट्ठ और सांवत्सरिक में अट्ठम की)। तत्पश्चात् वांदणा, प्रत्येक खामणा, वांदणा, गुरु की आज्ञा से एक मुनि खड़ा रहकर पाक्षिक सूत्र बोले (शेष मुनि खड़े-खड़े मौन से सुने यदि कोई बाल-वृद्ध खड़ा न रह सके तो खमासमण देकर गुरु की अनुमति से नीचे बैठे और प्रमाद रहित, बढ़ते शुभ-भावों से सूत्र सुने), बैठकर प्रतिक्रमण सूत्र बोले, फिर खड़े होकर 'करेमि भंते' सूत्र बोलकर बारह लोगस्स का कायोत्सर्ग करे, प्रकट लोगस्स कहे, मुहपत्ति पडिलेहण, वांदणा, पाँच बड़ों को खामणा॥ १८१-१८२॥

चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमण की भी यही विधि है, मात्र निम्न अन्तर है—

चातुर्मासिक प्रतिक्रमण	संबुद्धाखामणा ७	काउस्सग्ग लोगस्स-२०
सांवत्सरिक प्रतिक्रमण	संबुद्धाखामणा ७	काउस्सग्ग लोगस्स-४० ऊपर १ नवकार

इन तीनों प्रतिक्रमण में श्रुतदेवता के काउस्सग्ग के स्थान में भुवनदेवता का काउस्सग्ग किया जाता है। शेष विधि दैवसिक प्रतिक्रमण की तरह समझना।

प्रतिक्रमण में लोगस्स संख्या (चंदेसु निम्मलयरा तक)

	दैवसिक	रात्रिक	पाक्षिक	चातुर्मासिक	वार्षिक
लोग्गस	४	२	१२	२०	४०
श्लोक	२५	$१२\frac{१}{२}$	७५	१२५	२५०+२ नवकार के
पाद	१००	५०	३००	५००	१००८

चंदेसु निम्मलयरा तक लोगस्स के $६\frac{१}{४}$ श्लोक होते हैं। दैवसिक प्रतिक्रमण में चार लोगस्स का काउस्सग्ग होता है, अतः $६\frac{१}{४} \times ४ = २५$ श्लोक। इसी तरह रात्रि आदि प्रतिक्रमण में भी समझना।

वार्षिक प्रतिक्रमण में ४० लोगस्स का काउस्सग्ग है, इसको $६\frac{१}{४}$ से गुणा करने पर $६\frac{१}{४} \times ४०$ = २५० होते हैं। ८ उच्छ्वास वाले नवकार के दो श्लोक उसमें मिलाने से २५२ श्लोक होते हैं। १००८ पाद में १००० पाद लोगस्स के और ८ पाद नवकार के होते हैं। नवकार के ८ पाद होने से उसके दो श्लोक माने जाते हैं क्योंकि १ श्लोक के ४ पाद होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किस प्रतिक्रमण में कितने खामणे?

	दैवसिक	रात्रिक	पाक्षिक	चातुर्मासिक	सांवत्सरिक
ग्रन्थकार	३	३	३	५	७
आवश्यक चूर्णि	३	३	३ या सभी	५	७
वृद्ध परम्परा-पाक्षिकवृत्तौ	३	३	५	७	७
जघन्यत:	३-५	३-५	३-५	७	७
उत्कृष्टत:	३-५	३-५	सभी	सभी	सभी

पूर्वोक्त संख्या संबुद्धा, प्रत्येक और समाप्ता तीनों स्थानों की समझना ॥ १८३-१८६ ॥

४ द्वार : प्रत्याख्यान—

भावि अईयं कोडिसहियं च नियंटियं च सागारं।
विगयागारं परिमाणवं निरवसेसमट्ठमयं ॥ १८७ ॥
साकेयं च तहऽद्धा पच्चक्खाणं च दसमयं।
संकेयं अट्ठहा होइ अद्धायं दसहा भवे ॥ १८८ ॥
होही पज्जोसवणा तत्थ य न तवो हवेज्ज काउं मे।
गुरुगणगिलाणसिक्खगतवस्सिकज्जाउलत्तेण ॥ १८९ ॥
इअ चिंतिअ पुव्वं जो कुणइ तवं तं अणागयं बिंति।
तमइक्कंतं तेणेव हेउणा तवइ जं उड्डं ॥ १९० ॥
गोसे अब्भत्तट्ठं जो काउं तं कुणइ बीयगोसेऽवि।
इय कोडीदुग-मिलणे कोडीसहियं तु नामेण ॥ १९१ ॥
हट्ठेण गिलाणेण व अमुगतवो अमुगदिणंमि नियमेणं।
कायव्वोत्ति नियंटिय-पच्चक्खाणं जिणा बिंति ॥ १९२ ॥
चउदसपुव्विसु जिणकप्पिएसु पढमंमि चेव संघयणे।
एय वोच्छिन्नं चिय थेरावि तया करेसी य ॥ १९३ ॥
महतरयागाराई-आगारेहिं जुयं तु सागारं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगारविरहियं पुण भणियमणागारनामंति ॥ १९४ ॥
किंतु अणाभोगो इह सहसागारो अ दुन्नि भणिअव्वा ।
जेण तिणाइ खिविज्जा मुहंमि निवडिज्ज वा कह वि ॥ १९५ ॥
इय कयआगार-दुगंपि सेसआगाररहिअमणागारं ।
दुब्भिक्खवित्तिकंतारगाढ-रोगाइए कुज्जा ॥ १९६ ॥
दत्तीहि व कवलेहि व घरेहिं भिक्खाहिं अहव दव्वेहिं ।
जो भत्तपरिच्चायं करेइ परिमाण कडमेयं ॥ १९७ ॥
सव्वं असणं सव्वं च पाणगं खाइमंपि सव्वंपि ।
वोसिरइ साइमंपि हु सव्वं जं निरवसेसं तं ॥ १९८ ॥
केयं गिहंति सह तेण जे उ तेसिमिमं तु साकेयं ।
अहवा केयं चिंधं सकेयमेवाहु साकेयं ॥ १९९ ॥
अंगुट्ठी-गंठि-मुट्ठि-घरसेयुस्सासथिवुग-जोइक्खे ।
पच्चक्खाणविचाले किच्चमिणमभिग्गहेसुवि य ॥ २०० ॥
अद्धा कालो तस्स य पमाणमद्धं तु जं भवे तमिह ।
अद्धापच्चक्खाणं दसमं तं पुण इमं भणियं ॥ २०१ ॥
नवकारपोरिसीए पुरिमड्ढेकासणेगठाणे य ।
आयंबिलऽभत्तट्ठे चरिमे य अभिग्गहे विगइ ॥ २०२ ॥
दो चेव नमोक्कारे आगारा छच्च पोरसीए उ ।
सत्तेव य पुरिमड्ढे एक्कासणगंमि अट्ठेव ॥ २०३ ॥
सत्तेगट्ठाणस्स उ अट्ठेव य अंबिलंमि आगारा ।
पंचेव अब्भत्तट्ठे छप्पाणे चरिम चत्तारि ॥ २०४ ॥
पंच चउरो अभिग्गहि निव्विइए अट्ठ नव य आगारा ।
अप्पाउरणे पंच उ हवंति सेसेसु चत्तारि ॥ २०५ ॥
नवणीओगाहिमगे अद्दवदहिपिसियघयगुडे चेव ।
नव आगारा एसिं सेसदवाणं च अट्ठेव ॥ २०६ ॥
असणं ओयण सत्थुगसग्गजगाराइ खज्जगविही य ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खीराइ सूरणाई मंडगपभिई य विन्नेयं ॥ २०७ ॥
पाणं सोवीरजवोदगाइ चित्तं सुराइयं चेव ।
आउक्काओ सव्वो कक्कडगजलाइयं च तहा ॥ २०८ ॥
भत्तोसं दंताई खज्जूरगनालिकेरदक्खाई ।
कक्कडि अंबगफणसाइ बहुविहं खाइमं नेयं ॥ २०९ ॥
दंतवणं तंबोलं चित्तं तुलसीकुहेडगाईयं ।
महुपिप्पलिसुंठाई अणेगहा साइमं नेयं ॥ २१० ॥
पाणंमि सरयविगई खाइम पक्कन्नअंसओ भणिओ ।
साइमि गुलमहुविगई सेसाओ सत्त असणंमि ॥ २११ ॥
फासियं पालियं चेव, सोहियं तीरियं तहा ।
कित्तियमाराहियं चेव, जएज्जा एरिसम्मि उ ॥ २१२ ॥
उचिए काले विहिणा पत्तं जं फासियं तयं भणियं ।
तह पालियं च असइं सम्मं उवओगपडियरियं ॥ २१३ ॥
गुरुदत्तसेसभोयणसेवणयाए य सोहियं जाण ।
पुण्णेवि थेवकालावत्थाणा तीरियं होइ ॥ २१४ ॥
भोयणकाले अमुगं पच्चक्खायंति भुंज कित्तीयं ।
आराहियं पयारेहिं सम्ममेएहिं निट्ठवियं ॥ २१५ ॥
वयभंगे गुरुदोसो थेवस्सवि पालणा गुणकरी उ ।
गुरुलाघवं च नेयं धम्मंमि अओ उ आगारा ॥ २१६ ॥
दुद्धं दहि नवणीयं घयं तहा तेल्लमेव गुड मज्जं ।
महु मंसं चेव तहा ओगाहिमगं च विगईओ ॥ २१७ ॥
गोमहिसुट्टीपसूणं एलग खीराणि पंच चत्तारि ।
दहिमाइयाइं जम्हा उट्टीणं ताणि नो हुंति ॥ २१८ ॥
चत्तारि हुंति तेल्ला तिल अयसि कुसुंभ सरिसवाणं च ।
विगईओ सेसाणं डोलाईणं न विगईओ ॥ २१९ ॥
दवगुडपिंडगुडा दो मज्जं पुण कट्ठपिट्ठनिप्फन्नं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मच्छियकुत्तियभामरभेयं च महुं तिहा होई ॥ २२० ॥
जलथलखहयरमंसं चम्मं वस सोणियं तिभेयं च ।
आइल्ल तिण्णि चलचल ओगाहिमगं च विगईओ ॥ २२१ ॥
खीरदहीवियडाणं चत्तारि उ अंगुलाणि संसट्ठं ।
फाणियतिल्लघयाणं अंगुलमेगं तु संसट्ठं ॥ २२२ ॥
महुपुग्गलरसयाणं अद्धंगुलयं तु होइ संसट्ठं ।
गुलपुग्गलनवणीए अद्दामलयं तु संसट्ठं ॥ २२३ ॥
विगई विगइगयाणि य अणंतकायाणि वज्जवत्थूणि ।
दस तीसं बत्तीसं बावीसं सुणह वन्नेमि ॥ २२४ ॥
दुद्ध दहि तिल नवणीय घय गुड महु मंस मज्ज पक्कं च ।
पण चउ चउ चउ चउ दुगतिग तिगदुग एगपडिभिन्नं ॥ २२५ ॥
दव्वहया विगइगयं विगई पुण तेण तं हयं दव्वं ।
उद्धरिए तत्तंमि य उक्किट्ठदव्वं इमं अन्ने ॥ २२६ ॥
अह पेया दुद्धट्टी दुद्धवलेही य दुद्धसाडी य ।
पंच य विगइगयाइं दुद्धंमि य खीरिसहियाइं ॥ २२७ ॥
अंबिल-जुयंमि दुद्धे दुद्धट्टी दक्खमीसरद्धंमि ।
पयसाडी तह तंडुल-चुण्णय-सिद्धंमि अवलेही ॥ २२८ ॥
दहिए विगइ-गयाइं घोलवडां घोल सिहरिणि करंबो ।
लवण-कण-दहियमहियं संगरि-गाइंमि अप्पडिए ॥ २२९ ॥
पक्कघयं घयकिट्टी पक्कोसहि उवरि तरिय सप्पि च ।
निब्भंजणवीसंदणगाइं घय-विगइविगइ-गया ॥ २३० ॥
तेल्लमली तिलकुट्टी दद्धं तेल्लं तहो सहोव्वरियं ।
लक्खाइदव्वपक्कं तेल्लं तेल्लंमि पंचेव ॥ २३१ ॥
अद्धकड्ढिइक्खुरसो गुलपाणीयं च सक्करा-खंडं ।
पायगुलं च गुलविगई विगइगयाइं च पंचेव ॥ २३२ ॥
एगं एगस्सुवरिं तिन्नोवरि बीयगं च जं पक्कं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुप्पेणं तेणं चिय तइयं गुलहाणियापभिई ॥ २३३ ॥
चउत्थं जलेण सिद्धा लप्पसिया पंचमं तु पूयलिया ।
चोप्पडियताविआए परिपक्कं तीस मीलिएसु ॥ २३४ ॥
आवस्सय-चुण्णीए परिभणियं एत्थ वण्णियं कहियं ।
कहियव्वं कुसलाणं पउंजियव्वं तु कारणिए ॥ २३५ ॥
सव्वा हु कंदजाई सूरणकंदो य वज्जकंदो य ।
अल्लहलिद्दा य तहा अद्दं तह अल्लकच्चूरो ॥ २३६ ॥
सत्तावरी विराली कुमारि तह थोहरी गलोई य ।
ल्हसणं वंसगरिल्ला गज्जर तह लोणओ लोढो ॥ २३७ ॥
गिरिकन्नि किसलपत्ता खरिंसुया थेग अल्लमुत्था य ।
तह लोणरुक्खछल्ली खेल्लुडो अमयवल्ली य ॥ २३८ ॥
मूला तह भूमिरुहा विरूह तह ढक्कवत्थुलो पढमो ।
सूयरवल्लो य तहा पल्लंको कोमलंबिलिया ॥ २३९ ॥
आलू तह पिंडालू हवंति एए अणंतनामेहिं ।
अण्णमणंतं नेयं लक्खण-जुत्तीइ समयाओ ॥ २४० ॥
घोसाडकरीरंकुरतिंदुयअइकोमलंबगाईणि ।
वरुणवडनिंबगाईण अंकुराइं अणंताइं ॥ २४१ ॥
गूढसिर-संधि-पव्वं समभंगमहीरुगं च छिन्नरुहं ।
साहारणं सरीरं तव्विवरीयं च पत्तेयं ॥ २४२ ॥
चक्कं व भज्जमाणस्स जस्स गंठी हवेज्ज चुन्नघणो ।
तं पुढवीसरिसभेयं अणंतजीवं वियाणाहि ॥ २४३ ॥
गूढसिरागं पत्तं सच्छीरं जं च होइ निच्छीरं ।
जं पि य पयावसंधिं अणंतजीवं वियाणाहि ॥ २४४
पंचुंबरि चउविगई हिम विस करगे य सव्वमट्टी य ।
रयणी-भोयणगं चिय बहुबीय अणंतसंधाणं ॥ २४५ ॥
घोलवडा वायंगण अमुणिअनामाणि फुल्ल-फलयाणि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुच्छफलं चलियरसं वज्जह वज्जाणि बावीसं ॥ २४६ ॥

—गाथार्थ—

प्रत्याख्यान के १० प्रकार—१. भविष्यकाल सम्बन्धी, २. भूतकाल सम्बन्धी, ३. कोटि सहित, ४. नियन्त्रित, ५. आगार सहित, ६. आगार रहित, ७. परिमाण युक्त, ८. निरवशेष, ९. संकेत युक्त तथा १०. अद्धाप्रत्याख्यान—इस प्रकार दशविध प्रत्याख्यान होता है।

संकेत पच्चक्खाण आठ प्रकार का तथा अद्धा प्रत्याख्यान दश प्रकार का है। १८७-१८८। दशविध पच्चक्खाण का स्वरूप बताते हैं—

१. भावी पच्चक्खाण का स्वरूप इस प्रकार है—पर्युषण पर्व में अट्ठम करना आवश्यक है पर उस समय आचार्य, गण, ग्लान, नूतन दीक्षित तपस्वी आदि की वैयावच्च का महान कार्य होने से अट्ठम तप करना शक्य न हो तो पर्युषण से पूर्व कर लेना अनागत तप है।

२. इन्हीं कारणों से पर्युषण पर्व बीतने के बाद अट्ठम आदि तप करना अतीत तप है। १८९-१९०।

३. आज प्रातःकाल उपवास का पच्चक्खाण किया हो, दूसरे दिन प्रातःकाल पुनः उपवास का पच्चक्खाण करना कोटि सहित पच्चक्खाण है। यहाँ दो प्रत्याख्यान का छोर परस्पर मिलता है अतः यह कोटि सहित पच्चक्खाण कहलाता है। १९१।

४. स्वस्थ रहूँ या अस्वस्थ रहूँ, दिन में मुझे विशेष पच्चक्खाण करना ही है—इस प्रकार नियमपूर्वक पच्चक्खाण करना नियन्त्रित पच्चक्खाण है। १९२॥

नियन्त्रित पच्चक्खाण सर्वकालिक नहीं होता पर जिस काल में चौदह पूर्वधर, जिनकल्पी तथा प्रथम संघयणी होते हैं उस काल में ही होता है, अतः वर्तमान काल में इस प्रत्याख्यान का विच्छेद हो गया है॥ १९३॥

५-६. 'महत्तरागारेणं' आदि आगारों से युक्त पच्चक्खाण साकार-आगार सहित पच्चक्खाण है और इन आगारों से रहित पच्चक्खाण आगार रहित पच्चक्खाण है॥ १९४॥

किन्तु आगार रहित पच्चक्खाण में भी 'अन्नत्थणाभोगेणं' एवं 'सहसागारेणं' ये दो आगार तो अवश्य ही बोलना चाहिये। कारण, घास, जल की बूँदें आदि मुँह में अचानक डालने की या पड़ने की सम्भावना रहती है। ये दो आगार होने पर भी 'महत्तरागारेणं' आदि आगार रहित होने से तथाविध पच्चक्खाण आगार रहित कहलाता है॥ १९५-१९६॥

७. दत्ति, कवल, घर, भिक्षा और द्रव्य के परिमाण वाला, पच्चक्खाण परिमाणकृत पच्चक्खाण है॥ १९७॥

८. जिस पच्चक्खाण में अशन, पान, खादिम और स्वादिम—इन चारों प्रकार के आहार का त्याग होता है वह निरवशेष पच्चक्खाण कहलाता है॥ १९८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. केत = घर। जो घर सहित है वह गृहस्थ है। उसका पच्चक्खाण साकेत पच्चक्खाण कहलाता है। अथवा केत = चिह्न। चिह्न सहित जो पच्चक्खाण वह साकेत पच्चक्खाण है।

अंगूठी, ग्रन्थि, मुट्ठी, प्रस्वेद बिन्दु, श्वासोच्छ्वास, पानी की बूँदे, दीपक आदि का अभिग्रह करना साकेत पच्चक्खाण है। यह पच्चक्खाण नवकारसी, पोरसी आदि पच्चक्खाणों के साथ भी किया जाता है और केवल अभिग्रह के रूप में भी किया जा सकता है॥ १९९-२००॥

१०. अद्धा अर्थात् काल, मुहूर्त्त, प्रहर आदि के परिमाण से युक्त पच्चक्खाण दसवां अद्धा पच्चक्खाण है। इस प्रकार पच्चक्खाण के दश भेद समझना चाहिये॥ २०१॥

नवकारसी, पोरिसी, पुरिमड्ड, एकाशन, एकलठाणा, आयंबिल, उपवास, दिवसचरिम-भवचरिम, अभिग्रह एवं विगय—दश प्रकार का अद्धापच्चक्खाण है॥ २०२॥

नवकारसी के दो, पोरिसी के छः, पुरिमड्ड के सात, एकाशन के आठ, एकलठाणा के सात, आयंबिल के आठ, उपवास के पाँच, पाणस्स के छः, चरम पच्चक्खाण के चार, अभिग्रह के पाँच या चार, नीवि के आठ अथवा नौ आगार होते हैं। अभिग्रह के सम्बन्ध में यह विशेष है कि प्रावरण अभिग्रह के पाँच आगार हैं और शेष अभिग्रह के चार आगार हैं॥ २०३-२०५॥

मक्खन, घी व तेल में तली हुई वस्तु, दही, मांस, घी, गुड़ आदि कठिन द्रव्य में नौ आगार हैं तथा प्रवाही विगय जैसे दूध, तेल आदि में आठ आगार हैं॥ २०६॥

ओदन आदि अनाज, सत्तू आदि चूर्ण (आटा), मूँग आदि कठोल, राब आदि खाद्य पदार्थ, खाजा, खीर आदि पक्वान्न, आदु आदि सब्जियाँ, मालपूआ आदि अशन आहार रूप है।। २०७॥

काञ्जी, जौ आदि का पानी, अनेक प्रकार की सुरा, कुआं, बावड़ी, तालाब आदि का जल, ककड़ी, तरबूज आदि का पानी, पानक रूप है॥ २०८॥

सेके हुए गेहूँ, चणा आदि, दाँतों के लिये हितकारी गूँद, खांड, गन्ना आदि, खजूर, नारियल, द्राक्ष आदि, ककड़ी, आम, फणस आदि फल—ये सब खादिम हैं॥ २०९॥

दातुन (नीम-बब्बूल आदि का), पान, सुपारी आदि अनेक प्रकार के मुखवास, तुलसी के पत्ते, अदरक, जीरा, हल्दी आदि, शहद, पीपल सूंठ आदि अनेक प्रकार के स्वादिम हैं॥ २१०॥

सरक विगय का पानाहार में, पक्वान्न में डाले हुए गूंद के फूले आदि का खादिम में, गुड़, शहद आदि का खादिम में तथा शेष सात विगय (घी, तेल, दूध, दही, मक्खन, पक्वान्न और मांस) का अशन में समावेश होता है॥ २११॥

स्पर्शित, पालित, शोभित, तीरित, कीर्तित एवं आराधित प्रत्याख्यान विशुद्ध होता है। इसके लिये प्रयत्न करना चाहिये॥ २१२॥

उचित काल में विधिपूर्वक ग्रहण किया गया पच्चक्खाण स्पर्शित कहलाता है। सतत उपयोग और सतर्कतापूर्वक पालन किया गया पच्चक्खाण पालित कहलाता है॥ २१३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्याख्यान पूर्ण होने पर गुरु द्वारा प्रदत्त शेष भोजन करना शोभित पच्चक्खाण है। प्रत्याख्यान का समय पूर्ण हो जाने पर भी कुछ समय पर्यन्त प्रत्याख्यान में रहना तीरित प्रत्याख्यान है॥ २१४॥

गोचरी के समय, किये हुए पच्चक्खाण की स्मृतिपूर्वक आहार करना कीर्तित पच्चक्खाण है। स्पर्शित आदि छः कारणों द्वारा पूर्ण किया गया पच्चक्खाण आराधित कहलाता है॥ २१५॥

स्वीकृत व्रत का भङ्ग करना महान अपराध है। अल्प भी व्रत का पालन लाभ का कारण है। अतः लाभालाभ का विवेक करते हुए पच्चक्खाण में आगार रखना आवश्यक है॥ २१६॥

दूध, दही, मक्खन, घी, तेल, गुड़, शराब, शहद, मांस और तली हुई वस्तु--ये दश विगय हैं॥ २१७॥

गाय, भैंस, उंटड़ी, बकरी और घेटी (भेड़) के भेद से दूध पाँच प्रकार का है। उंटड़ी को छोड़कर दही आदि चार प्रकार के ही होते हैं॥ २१८॥

तिल, अलसी, कुसुंभा और सरसों के भेद से तेल भी चार प्रकार का है। डोला आदि का तेल विगय रूप नहीं है॥ २१९॥

गुड़ विगई के दो भेद हैं—द्रव गुड़ और कठिन गुड़। शराब के भी दो भेद हैं—गन्ने के रस से तथा आटे से बनी हुई शराब। शहद के तीन भेद हैं—मधुमक्खी, कीट एवं भ्रमर से निर्मित शहद॥ २२०॥

मांस तीन प्रकार का है—जलचर, स्थलचर एवं खेचर सम्बन्धी मांस अथवा चर्म रूप, चरबी रूप और रक्त रूप मांस। घी और तेल में छन्-छन् शब्द करते हुए जो वस्तु तली जाती है, वह भाषा में कडाई-विगय अथवा अवगाह विगय कहलाती है। प्रथम के तीन पावे (घाण) ही कडाइ-विगय माने जाते हैं, उसके पीछे के नहीं॥ २२१॥

चार अङ्गुल प्रमाण ऊपर तैरते हुए दूध दही और मदिरा से मिश्रित भात आदि संसृष्ट कहलाते हैं, विगय रूप नहीं माने जाते। इससे अल्प भी अधिक होने पर वे विगय रूप हो जाते हैं। प्रवाही गुड़, घी और तेल से एक अङ्गुल प्रमाण मिश्रित कूर आदि संसृष्टद्रव्य माने जाते हैं॥ २२२॥

अर्ध अङ्गुल प्रमाण शहद या मांस के रस से मिश्रित वस्तु संसृष्टद्रव्य हैं, विगय रूप नहीं होती। गुड़, मांस और मक्खन के आर्द्रामलक प्रमाण टुकड़ों से मिश्रित भात आदि विगय रूप नहीं माने जाते॥ २२३॥

दस विगय, तीस विकृतिगत, बावीस अभक्ष्य और बत्तीस अनंतकाय का यथावस्थित वर्णन करता हूँ, जिज्ञासु आत्मा सुने॥ २२४॥

दूध, दही, तेल, मक्खन, घी, गुड़, शहद, मांस, शराब और पक्वान्न दस विगय हैं। इनके क्रमशः पाँच, चार, चार, चार, चार, दो, तीन, तीन, दो और एक भेद हैं॥ २२५॥

चावल आदि डालकर बनाई गई खीर आदि निर्वीर्य हो जाने के कारण विकृतिगत (निवियाता रूप) हो जाती है। अतः उसे द्रव्य ही माना जाता है, विगय नहीं माना जाता। खाजा आदि तलने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के बाद बचे हुए तप्त घी में दलिया आदि डालकर बनाया हुआ पक्वान्न उत्कृष्ट द्रव्य कहलाता है, विगय नहीं कहलाता, ऐसा किसी का मत है॥ २२६॥

पेया, दुग्धाटी, दुग्धावलेहिका, दुग्धसाटिका तथा खीर ये पाँच दूध के निवियाते हैं॥ २२७॥

खटाई डालकर बनाई हुई दूध की वस्तु दुग्धाटी, द्राक्ष डालकर उबाला हुआ दूध पयसाटी, दूध में चावल का आटा डालकर बनाई हुई राब आदि अवलेहिका है॥ २२८॥

घोलवड़ा, घोल, श्रीखण्ड, करबा, लवण युक्त मन्थन किया हुआ सांगरी आदि से युक्त अथवा रहित दही निवियाता है॥ २२९॥

औषधि डालकर पकाया हुआ घी, घी की किट्टी, घी में पकी हुई औषध के ऊपर की तरी, पूरी आदि तलने के बाद बचा हुआ घी तथा विस्यंदन—ये पाँच घी के निवियाते हैं॥ २३०॥

तेल की मलाई, तिलकुट्टी, पूड़ी आदि तलने के बाद बचा हुआ तेल, औषध पकाने के बाद उसके ऊपर से उतारा हुआ तेल, लाक्षा आदि डालकर पकाया हुआ तेल—ये पाँच तेल के निवियाते हैं॥ २३१॥

आधा उकाला हुआ गन्ने का रस, गुड़ का पानी, मिश्री, गुड़ की चासनी और शक्कर—ये पाँच गुड़ के निवियाते हैं॥ २३२॥

एक पावा निकालने के बाद के पावे, तीन पावे निकालने के बाद के पावे, गुड़धानी आदि, जल लापसी तथा तवे पर घी या तेल का पोता देकर बनाई हुई पूड़ी (टिकड़ा) आदि—ये पाँच पक्वान्न विगय के निवियाते हैं॥ २३३-२३४॥

आवश्यक चूर्णि में वर्णित निवियातों की चर्चा यहाँ सामान्य रूप से की गई है। यह चर्चा योग्य बुद्धिमान आत्माओं को ही कहने योग्य है तथा आगाढ़ कारण हो तो ही निवियातों का सेवन करने योग्य है॥ २३५॥

अनन्तकाय—सभी जाति के कंद; जैसे सूरणकंद, वज्रकंद, कच्ची हल्दी, अदरक, नरकचूर, सतावरी, विरालिका, कुंआरपाठा, थूहर, गिलोय, लहसुन, बंसकारेला, गाजर, लवणक, भिस, गिरिकर्णिका, किसलयपत्र, खरिंसुका, थेगी, हरा मोत्था, लवण वृक्ष की छाल, खल्लुडका, अमृतवेल, मूला, भूमिरूह, विरूढ, बथुआ, शूकरबेल, पालक, कोमल इमली, आलू, पिंडालू आदि अनन्तकाय हैं। अन्य भी अनेक प्रकार के अनन्तकाय हैं जिन्हें सिद्धान्त में कथित लक्षण के अनुसार जानना चाहिये। जैसे घोषातकी, करीर का अङ्कुर, जिसमें गुठली न पड़ी हो ऐसे आम-इमली आदि के फल, वरुण, वट, नीम आदि वृक्षों के अङ्कुर अनन्तकाय हैं॥ २३६-२४१॥

जिस वनस्पति की नसें, संधि और पर्व गुप्त होते हैं, तोड़ने पर जिसके समान भाग होते हैं, तोड़ने पर जिसमें तन्तु न निकलते हों, जो काटने पर भी पुनः उत्पन्न हो जाती हों, ऐसी वनस्पति अनन्तकाय (साधारण) है और इससे विपरीत लक्षण युक्त वनस्पति प्रत्येक कहलाती है॥ २४२॥

जिसे तोड़ने पर कुंभार के चक्र की तरह समान भाग होते हों, जिस वनस्पति का पर्व (गांठ) तोड़ने पर चूर्ण उड़ता हो, उसे अनन्तकाय समझना चाहिये॥ २४३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसके पत्ते दूध वाले या दूध रहित हों पर जिसकी नसें गुप्त हों, जिसका सन्धि स्थान उष्म हो ऐसी वनस्पति अनन्तकाय समझना चाहिये ॥ २४४ ॥

अभक्ष्य—५ उदुंबर, ४ विगय, बर्फ, जहर, गड्डे, सभी प्रकार की मिट्टी, रात्रिभोजन, बहुबीज, अनन्तकाय, आचार, दहीवड़े, बेंगन, अज्ञातफल, तुच्छ फल एवं चलितरस—ये २२ अभक्ष्य हैं ॥ २४५-२४६ ॥

—विवेचन—

प्रति = अविरति से प्रतिकूल । आ = मर्यादा । आख्यान = कथन । अर्थात् मर्यादापूर्वक आगार रखते हुए अविरति का त्याग करना प्रत्याख्यान है ।

प्रत्याख्यान — इसके दो भेद हैं । मूलगुण प्रत्याख्यान व उत्तरगुण प्रत्याख्यान ।

मूलगुण प्रत्याख्यान — साधु के लिये पञ्च महाव्रत, श्रावक के लिये पाँच अणुव्रत ।

उत्तरगुण प्रत्याख्यान — साधु के लिये पिंडविशुद्धि आदि, श्रावक के लिये गुणव्रत व शिक्षाव्रत ।

प्रत्याख्यान लेने की विधि—

शिष्य विनयपूर्वक, उपयोगपूर्वक एवं मौनपूर्वक गुरु से प्रत्याख्यान ग्रहण करे । प्रत्याख्यान लेने वाले और प्रत्याख्यान देने वाले दोनों ही प्रत्याख्यान के स्वरूप को अच्छी तरह से जानने वाले होने चाहिये । यहाँ चतुर्भंगी बनती है—

१. शिष्य ज्ञानी, गुरु ज्ञानी
२. शिष्य अज्ञानी, गुरु ज्ञानी
३. शिष्य ज्ञानी, गुरु अज्ञानी
४. शिष्य अज्ञानी, गुरु अज्ञानी

- प्रथम भांगा शुद्ध है ।
- दूसरा भांगा भी शुद्ध है । (यदि ज्ञानी गुरु अपने अज्ञानी शिष्य को संक्षेप में समझाकर पच्चक्खाण करावे तो शुद्ध है अन्यथा अशुद्ध है) ।
- तीसरा भांगा अशुद्ध है । (तथाविध ज्ञानी गुरु के न मिलने पर उनके प्रति बहुमान रखते हुए गुरु के सम्बन्धी पिता, माता, काका, मामा, भ्राता और शिष्यादि यद्यपि वे अज्ञ हैं तथापि उनकी साक्षी से प्रत्याख्यान करे तो तीसरा भांगा भी शुद्ध है)
- चौथा भांगा अशुद्ध ही है ।

प्रतिदिन उपयोगी होने से यहाँ सर्वप्रथम उत्तरगुण के प्रत्याख्यानों का वर्णन किया जाता है ॥१८७-१८८ ॥

उत्तरगुण के प्रत्याख्यान के दस प्रकार—

१. भावी—पर्युषण पर्व में करने योग्य अट्ठम आदि तप उस समय गुरु, गच्छ, ग्लान, शैक्षक-नूतनदीक्षित, तपस्वी आदि की सेवा-शुश्रूषा का काम होने से पर्युषण से पहले करना अनागत तप है ॥ १८९-१९० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. अतीत—पर्युषणादि पर्व में करने योग्य तपश्चर्या कारणवश पर्युषणादि बीतने के बाद करना अतीत तप है।

३. **कोटि सहित**—जिसमें दो तप के छोर मिलते हों, अर्थात् दो तप की संधि से युक्त पच्चक्खाण कोटि सहित कहलाते हैं, जैसे उपवास के पारणे दूसरे उपवास का पच्चक्खाण करना अथवा उपवास के पारणे आयंबिल, नींवि आदि का पच्चक्खाण करना। दोनों तप समान हों तो पच्चक्खाण समकोटि कहलाता है, जैसे उपवास की पूर्णाहुति के समय दूसरे उपवास का पच्चक्खाण लेना। समान न हो तो विषम कोटि कहलाता है, जैसे—उपवास की पूर्णाहुति के समय आयंबिल, नीवि इत्यादि का पच्चक्खाण लेना॥ १९१॥

४. **नियन्त्रित पच्चक्खाण**—जो पच्चक्खाण, रोगी हो चाहे निरोगी सभी को नियत समय पर निश्चित रूप से करना पड़ता हो वह नियन्त्रित पच्चक्खाण है। यह पच्चक्खाण चौदह पूर्वी, जिनकल्पी व प्रथम संघयणवालों के समय में ही होता है। वर्तमान में यह पच्चक्खाण नहीं होता।

प्रश्न—यह पच्चक्खाण उस समय में जिनकल्पी और चौदहपूर्वी ही करते थे या अन्य भी?

उत्तर—उस समय यह पच्चक्खाण प्रथम संघयणी, स्थविर-कल्पी मुनि भी करते थे किन्तु जिन-कल्प और चौदह-पूर्व के विच्छेद के साथ यह पच्चक्खाण भी विच्छिन्न हो गया है॥ १९२-१९३॥

५. **साकार**—आकार (मर्यादा) सहित पच्चक्खाण। आहार आदि का त्याग कर देने पर भी महत्त्वपूर्ण कारणों से आहार आदि ग्रहण करना पड़े तो भी प्रत्याख्यान भङ्ग नहीं होता।

६. **अनाकार**—अनाभोग और सहसाकार इन दो आगारों को छोड़कर शेष सभी आगारों से रहित पच्चक्खाण। अकाल के समय में भिक्षा न मिलने पर यह पच्चक्खाण (अनशन) करके शरीर त्याग किया जाता है। जिससे शरीर का निर्वाह हो वह वृत्ति है। कांतारवृत्ति का अर्थ है जैसे जंगल में घूमने पर भी भिक्षा नहीं मिलती वैसे ब्राह्मण आदि अदाताओं से युक्त तथा शासन द्वेषी लोकों से भावित सिणवल्ली आदि गांवों में भिक्षा न मिलने पर यह पच्चक्खाण किया जाता है। असाध्य रोग में 'आदि' शब्द से सिंहशावक आदि के द्वारा कृत उपद्रव के समय भी यह अनाकार पच्चक्खाण किया जाता है।

- अनाभोग और सहसा ये दो आगार तो इस पच्चक्खाण में भी हैं क्योंकि इन अपवादों का सेवन इच्छापूर्वक नहीं होता, पर अकस्मात् हो जाता है॥१९४-१९६॥

७. **परिमाण-व्रत**—दात, कवल, घर, भिक्षा, द्रव्य आदि के परिमाण पूर्वक आहार आदि का त्याग करना, परिमाणकृत पच्चक्खाण कहलाता है।

(अ) दात—हाथ या पात्र में से सतत धाराबद्ध जो भिक्षा गिरे वह एक दात। बीच में धार टूट जाय और पुनः गिरे यह दूसरी दात। इस प्रकार आहार-पाणी के विषय में दात का परिमाण करना, यह दत्ती परिमाण पच्चक्खाण कहलाता है।

(ब) कवल-परिमाण—छोटे नींबू-प्रमाण भोजनपिण्ड अथवा जितना पिण्ड आसानी से मुँह में समा सके, जिसे खाने पर मुख-विकृत न बने, इतना भोजन पिण्ड कवल कहलाता है। कवल का परिमाण करके आहार आदि करना, कवल-परिमाण-पच्चक्खाण है। सामान्यतः पुरुष का आहार बत्तीस कवल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिमाण और स्त्री का आहार अठावीस कवल परिमाण माना गया है। पुरुष के १-२-३ से इकतीस कवल तक और स्त्री के १-२-३ से सत्ताईस कवल तक कवल-परिमाण पच्चक्खाण होता है।

(स) इतने घर से ही आहार ग्रहण करना, यह गृह-परिमाण कृत पच्चक्खाण है।

(द) संसृष्ट आदि भिक्षा का परिमाण करना भिक्षा परिमाण पच्चक्खाण है।

(च) अमुक द्रव्य ही भिक्षा में ग्रहण करना, यह द्रव्य-परिमाणकृत-पच्चक्खाण है॥ १९७॥

८. **निरवशेष**—अशन—भात, रोटी, लड्डु, खाजा आदि, पान—खजूर, दाख आदि का पानी-खादिम—नारियल, फल, गुड़धाना आदि, स्वादिम—इलायची, कपूर, लौंग, सुपारी, हरड़े, पान आदि चारों प्रकार के आहार का सर्वथा त्याग। यह पच्चक्खाण विशेषतः अन्त समय में किया जाता है॥ १९८॥

९. **साकेत**—केत = घर, जिसके घर है ऐसे गृहस्थ के योग्य पच्चक्खाण साकेत पच्चक्खाण। यह अर्थ केवल गृहस्थ से सम्बन्धित है। इसका दूसरा अर्थ है—केत = चिह्न, अर्थात् चिह्न सहित पच्चक्खाण साकेत पच्चक्खाण है। यह साधु और श्रावक दोनों के विषय में समान है। यह पच्चक्खाण चिह्न के भेद से आठ प्रकार का है। नवकारसी, पोरसी आदि का पच्चक्खाण पूर्ण हो गया, किन्तु अभी तक भोजन सामग्री तैयार नहीं है, अतः एक क्षण भी पच्चक्खाण बिना व्यर्थ न चला जाय, इस आशय से आठ चिह्नों में से किसी एक चिह्न का संकल्प कर विरति में रहना। जैसे जब तक अंगूठा, मुट्ठी या गांठ खुली न करे, घर में प्रवेश न करे, शरीर का पसीना न सूख जाय, इतने श्वासोश्वास न ले ले, बर्तन आदि पर लगे जल-बिन्दु न सूख जाय, जलता हुआ दीपक न बुझ जाए, तब तक का पच्चक्खाण।

पूर्वोक्त पच्चक्खाण नवकारसी आदि पच्चक्खाण के साथ भी हो सकते हैं और अलग से भी हो सकते हैं, जैसे भोजन आदि करने के बाद अभिग्रह के रूप में ये पच्चक्खाण किये जा सकते हैं। मुनियों के भी ये पच्चक्खाण होते हैं, जैसे पोरिसी आदि का पच्चक्खाण आ गया, किन्तु गुरु अभी तक मंडली में नहीं आये हों अथवा गृहस्थ के आ जाने से गोचरी नहीं की जा सकती हो, ऐसी स्थिति में बिना पच्चक्खाण के एक क्षण भी व्यर्थ न चला जाय अतः साधु भी अङ्गुष्ठसहियं आदि का पच्चक्खाण करते हैं॥ १९९-२००॥

१०. **अद्धा पच्चक्खाण**—अद्धा = काल, मुहूर्त, समय। काल परिमाण सहित पच्चक्खाण, अद्धा-पच्चक्खाण कहलाता है।

इसके १० भेद हैं— १. नवकारसी, २. पोरिसी, ३. पुरिमड्ढ, ४. एकासण, ५. एकलठाणा, ६. आयंबिल, ७. उपवास, ८. दिवसचरिम, ९. अभिग्रह, १०. नीवि।

प्रश्न—एकाशनादि के पच्चक्खाण स्वयं काल-परिमाण युक्त न होने से अद्धा-पच्चक्खाण कैसे कहलायेंगे?

उत्तर—यद्यपि एकाशनादि का पच्चक्खाण स्वयं काल परिमाण युक्त नहीं है तथापि अद्धा-प्रत्याख्यान के बिना नहीं किये जाते, अतः वे भी उन्हीं के अन्तर्गत माने जाते हैं॥ २००-२०१॥

प्रत्येक प्रत्याख्यान आगार (अपवाद) सहित करना चाहिये। अन्यथा पच्चक्खाण भङ्ग होने की सम्भावना रहती है। किस पच्चक्खाण में कितने आगार होते हैं? यह बताया जाता है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. **नवकारसी**—दो आगार— (१) अनाभोग और (२) सहसाकार।

प्रश्न—नवकारसी पच्चक्खाण में काल का कोई प्रमाण नहीं बताया गया है अतः यह अद्धा-पच्चक्खाण कैसे कहलायेगा? लगता है यह संकेत प्रत्याख्यान हो।

उत्तर—आपकी बात सत्य है। नवकारसी पच्चक्खाण का अर्थ है नमस्कार सहित पच्चक्खाण। यहाँ सहित शब्द मुहूर्त का निर्देशक है। अतः इसका अर्थ होता है नमस्कार सहित, मुहूर्त-युक्त पच्चक्खाण। इस प्रकार काल प्रमाण युक्त होने से नवकारसी का पच्चक्खाण भी अद्धा पच्चक्खाण कहलाता है।

प्रश्न—नवकारसी पच्चक्खाण में मुहूर्त शब्द का कहीं भी उल्लेख नहीं है तो वह किसी विशेषण का विशेष्य कैसे बन सकता है? जब आकाश-पुष्प स्वयं ही सत्य नहीं है तो उसकी सुगन्ध की चर्चा कैसे हो सकती है?

उत्तर—नवकारसी पच्चक्खाण अद्धा पच्चक्खाण के अन्तर्गत है। पोरिसी पच्चक्खाण काल प्रमाण युक्त है। अतः उसका पूर्वभावी नवकारसी पच्चक्खाण भी काल प्रमाण-युक्त होना चाहिये। नवकारसी अल्प आगार वाला होने से अल्पकालिक होना चाहिये। यद्यपि यहाँ नवकारसी का काल प्रमाण नहीं बताया, फिर भी अध्याहार से उसका अल्प में अल्प एक मुहूर्त का काल अवश्य समझना।

प्रश्न—नवकारसी पच्चक्खाण का काल एक मुहूर्त ही क्यों लिया?

उत्तर—नवकारसी पच्चक्खाण में दो ही आगार हैं। अतः काल प्रमाण भी अल्प ही होना चाहिये और पच्चक्खाण की दृष्टि से मुहूर्त सबसे अल्प काल है। दूसरी बात यह है कि काल (मुहूर्त) पूर्ण होने पर भी यदि नवकार-मंत्र न गिना हो तो यह पच्चक्खाण पूर्ण नहीं होता। वैसे नमस्कार गिन लिया हो किन्तु पच्चक्खाण का काल पूर्ण न हुआ हो तो भी पच्चक्खाण पूर्ण नहीं होता, क्योंकि यह पच्चक्खाण नमस्कार सहित व कालप्रमाणयुक्त है। इससे सिद्ध होता है कि 'एक मुहूर्त प्रमाण नमस्कार सहित प्रत्याख्यान' नवकारसी पच्चक्खाण है।

प्रश्न—इस पच्चक्खाण में सूर्योदय का प्रथम मुहूर्त ही क्यों लिया?

उत्तर—पच्चक्खाण में 'सूरे उग्गए' ऐसा पद होने से प्रथम मुहूर्त ही लिया गया है, 'आगमवचनात्।' सूर्योदय से लेकर नमस्कार-सहित एक मुहूर्त का पच्चक्खाण नवकारसी है। पच्चक्खाण देते समय गुरु 'पच्चक्खाइ' बोलते हैं और शिष्य 'पच्चक्खामि'। अन्त में गुरु कहते हैं 'वोसिरे' और शिष्य कहता है 'वोसिरामि'। नवकारसी पच्चक्खाण चार प्रकार के आहार का त्याग-रूप है क्योंकि यह रात्रि-भोजन के पच्चक्खाण की पूर्तिरूप है। पच्चक्खाण भङ्ग न हो जाय इसलिये इसमें दो आगार रखे गये हैं—

(i) अनाभोग = सर्वथा विस्मृति और (ii) अकस्मात्।

२. **पौरुषी पच्चक्खाण**—

जिस समय धूप में खड़े होने पर अपनी छाया पुरुष प्रमाण अर्थात् स्व-शरीर प्रमाण पड़े, उस समय तक का पच्चक्खाण पौरुषी कहलाता है। अर्थात् सूर्योदय से एक प्रहर तक अशन आदि चारों आहार का त्याग करना।

इसके छः आगार हैं- १. **अनाभोग**, २. **सहसाकार** पूर्ववत्, ३. **प्रच्छन्नकाल**—बादल धूल....पर्वत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि के द्वारा सूर्य ढक जाने से, समय का सही ज्ञान न हो पाने के कारण पोरिसी पच्चक्खाण आने से पूर्व ही पार लिया हो तो भी पच्चक्खाण भङ्ग नहीं होता। हाँ, पच्चक्खाण पालने के बाद खाते-खाते भी यदि मालूम पड़ जाय कि समय पूर्ण नहीं हुआ है तो उसी समय रुक जाना चाहिये। समयपूर्ण होने पर ही पुनः खाना चाहिये। समय पूर्ण नहीं हुआ, ऐसा जानते हुए भी यदि खाता रहे तो प्रत्याख्यान भङ्ग होता है।

४. **दिशामोह**—पूर्व को पश्चिम समझकर अपूर्ण पोरिसी में पच्चक्खाण पाल ले तो भी पच्चक्खाण भङ्ग नहीं होता है। शेष पूर्ववत्।

५. **साधुवचन**—'उद्घाट पौरुषी' ऐसा साधु का वचन सुनकर एक प्रहर पूर्ण हो गया ऐसा समझकर प्रत्याख्यान पाल ले तो भी पच्चक्खाण भङ्ग नहीं होता। शेष पूर्ववत्।

६. **सर्वसमाधिप्रत्यय**—पोरिसी पच्चक्खाण करने के बाद अचानक पेट, सिर इत्यादि में असह्य पीड़ा होने पर आर्त्त-रौद्र ध्यान से बचने के लिये अपूर्ण पच्चक्खाण में औषध, पथ्य आदि लेना पड़े तो भी पच्चक्खाण भङ्ग नहीं होता।

सर्वसमाधि = आर्त्त-रौद्रध्यान का निराकरण, प्रत्यय = कारण, अर्थात् आर्त्त रौद्र ध्यान का निराकरण ही कारण है जिसमें वह 'सर्वसमाधिप्रत्यय' है।

पोरिसी पच्चक्खाण करने वाले वैद्य, डॉक्टर आदि को रोगी की समाधि के लिये घर से जल्दी जाना हो और वे पच्चक्खाण आने से पूर्व भोजनादि कर लें तो कोई दोष नहीं है किन्तु खाना आधा खाया हो और मालूम पड़ जाय कि साधु या रोगी समाधि पूर्वक मर गया तो उसी समय खाना बन्द कर दे। प्रत्याख्यान का समय पूर्ण होने पर ही पुनः खाये। इस प्रकार न करने से प्रत्याख्यान भङ्ग होता है।

३. पुरिमड्ढ प्रत्याख्यान—

दिन के पूर्वार्द्ध तक का पच्चक्खाण अर्थात् दो प्रहर तक का पच्चक्खाण। इसमें ७ आगार हैं। छः आगार पूर्ववत् ७वाँ **महत्तरागारेणं**—पच्चक्खाण से होने वाली निर्जरा की अपेक्षा अधिक निर्जरा के लिये पच्चक्खाण पूर्ण होने से पूर्व पार लेना (ग्लान, चैत्य, संघादि का ऐसा कार्य, जो दूसरों से सम्भव न हो, जिसे एक मात्र वही व्यक्ति करने में समर्थ हो)। नवकारसी आदि पच्चक्खाण में यह आगार नही है, क्योंकि नवकारसी का समय प्रमाण अति अल्प है और इस पच्चक्खाण में समय अधिक होने से 'महत्तर' का आगार रखा गया है।

अवड्ढ प्रत्याख्यान—अपराह्न के आधे भाग तक का पच्चक्खाण अवड्ढ कहलाता है। अर्थात् तीन प्रहर तक का पच्चक्खाण। शेष सभी पुरिमड्ढ की तरह है।

४. एकासन प्रत्याख्यान—

इसमें आठ आगार हैं। एक आसन से बैठकर एक वक्त भोजन करना (जिसमें नाभि के नीचे का भाग हिलना नहीं चाहिये। चार आगार पूर्ववत् (i) अनाभोग (ii) सहसाकार (iii) महत्तर (iv) सर्वसमाधिप्रत्यय व शेष आगार निम्न हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(v) **सागरियाआगारेणं**—गृहस्थ के सामने साधु को भोजन करना नहीं कल्पता है। कहा हैं—**प्रवचनाद्युपघातसंभवात्**-अर्थात् शासन की हीलना की सम्भावना होने से।

'छक्कायदयावंतोऽपि संजओ दुल्लहं कुणइ बोहिं।
आहारे नीहारे दुगुंछिए पिंडगहणे य॥'

साधु की अच्छी, बुरी गोचरी देखकर गृहस्थ को दुर्भाव पैदा हो सकता है। अच्छी गोचरी देखकर गृहस्थ सोचे कि अच्छा-अच्छा खाना यही साधु-जीवन है क्या? रूखा-सूखा आहार देखकर संयम लेने का भाव ही उतर जाय। अतः साधु को अपनी गोचरी गृहस्थ को कभी नहीं दिखाना चाहिये। इससे मुनि दुर्लभ-बोधि होता है।

एकासणा करते समय यदि कोई गृहस्थ आ जाय और वह जल्दी जाने वाला हो, तब तो मुनि कुछ समय प्रतीक्षा करे, अन्यथा उस स्थान से उठकर अन्यत्र जाकर एकासणा पूर्ण करे। अगर मुनि लम्बे समय तक वहीं बैठा गृहस्थ के जाने की प्रतीक्षा करता रहे तो स्वाध्याय में बाधा होगी।

श्रावकों के लिये सागारिक वह कहलाता है जिसकी नजर लगती हो। ऐसा व्यक्ति सामने आकर बैठ जाय तो एकासन करते हुए उठ जाना चाहिये। इससे पच्चक्खाण भङ्ग नहीं होता।

(vi) **आउंटणपसारेणं**—पीड़ादि के कारण यदि पैर आदि का संकोचन, प्रसारण करना पड़े तो भी प्रत्याख्यान भङ्ग नहीं होता।

(vii) **गुरुऽब्भुट्ठाणेणं**—गुरु या मेहमान (जो सम्मान योग्य हो) के आने पर खड़ा होना आवश्यक है। अतः एकासान करते-करते खड़ा हो जाय तो भी पच्चक्खाण भङ्ग नहीं होता।

(viii) **पारिट्ठावणियागारेणं**— परठने योग्य गोचरी गुरु की आज्ञा से एकासन से उठने के बाद पुनः ग्रहण करे तो भी पच्चक्खाण भङ्ग नहीं होता। परठने में दोष है जबकि वापरने में गुण है।

५. एकस्थान प्रत्याख्यान—

इसके सात आगार हैं। पूर्वोक्त आगारों में से 'आकुंचन-प्रसारण' का आगार इसमें नहीं होता। भोजन करते समय जिस स्थिति में बैठा हो, अन्त तक उसी स्थिति में बैठे रहना। मात्र जिसमें मुख और हाथ का ही संचालन हो, वह पच्चक्खाण एकस्थान कहलाता है।

६. आचाम्ल प्रत्याख्यान—

इसमें आठ आगार हैं। जिसमें अवश्रामण (काञ्जी आदि) और आम्ल रस का त्याग होता है, वह आचाम्ल प्रत्याख्यान है।

(i) **लेवालेवेणं**—लेप = विगय व काञ्जी आदि के द्वारा लिप्त पात्र। अलेप = हाथ आदि के द्वारा निर्लेप किया हुआ पात्र। अर्थात् पहले जिस पात्र में विगय, काञ्जी आदि रखी हो और बाद में उसे खाली कर निर्लेप कर दिया हो, फिर भी उसमें विगय के कण रह गये हो, ऐसे पात्र में आयंबिल का भोजन डालकर गृहस्थ साधु को देवे तो साधु उसे ग्रहण कर सकता है। भोजन में विगय के अवयव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आने पर भी पच्चक्खाण भङ्ग नहीं होता। आहार के भेद से आयंबिल तीन प्रकार का है—भात, उड़द तथा सत्तू खाकर किया जाता है।

(ii) **उक्खित्तविवेगेणं**—उत्क्षिप्त = अलग करने योग्य विगय आदि। विवेक = सर्वथा त्याग। आयंबिल के भोजन से अग्राह्य द्रव्य को अलग कर देने पर शेष भोजन आयंबिल में ग्रहण किया जा सकता है। इससे पच्चक्खाण भङ्ग नहीं होता। अग्राह्य द्रव्य से अलग हो सकें वे कण अवश्य अलग कर देने चाहिये। उन्हें जान बूझकर अलग न करें तो पच्चक्खाण भङ्ग हो जाता है।

(iii) **गिहित्थसंसिट्ठेणं**—विगयादि से संसृष्ट पात्र से दिया हुआ अकल्पनीय द्रव्य से मिश्रित भोजन आयंबिल में उपयोग करे तो भी पच्चक्खाण भङ्ग नहीं होता। इसमें अकल्प्य रस अधिक मात्रा में नहीं होना चाहिये।

(iv) अनाभोग (v) सहसाकार (vi) पारिस्थापनिक (vii) महत्तर (viii) सर्वसमाधिप्रत्यय। ये पाँच पूर्ववत् समझना।

७. अभक्तार्थ प्रत्याख्यान—

सूर्योदय से जो पच्चक्खाण किया जाता है, वह अभक्तार्थ कहलाता है। यह पच्चक्खाण सूर्योदय से होता है अतः भोजन के बाद नहीं हो सकता। भक्त = भोजन। जिसमें भोजन नहीं होता वह अभक्तार्थ यानि उपवास। इसमें पाँच आगार हैं—

(i) अन्नत्थणाभोग (ii) सहसाकार (iii) पारिट्ठावणियागार (iv) महत्तरागार (v) सव्वसमाहिवत्तियागार। इनके अर्थ पूर्ववत् समझना।

तिविहार उपवास हो तो पारिष्ठापनिक आगार बोलना चाहिये। चउविहार उपवास हो और गोचरी के साथ पानी भी अधिक हो तो पारिष्ठापनिक आगार बोलना चाहिये। यदि पानी अधिक न हो तो यह आगार नहीं बोलना चाहिये क्योंकि पानी के बिना 'पारिट्ठावणिया' लेना नहीं कल्पता।

पानक प्रत्याख्यान—छः आगार। तिविहार प्रत्याख्यान में पानी से सम्बन्धित ये छः आगार बोले जाते हैं- पोरिसी, पुरिमड्ढ, एकासन, एकलठाणा, आयंबिल, उपवास आदि उत्सर्गतः चउविहार ही होते हैं। यदि ये पच्चक्खाण तिविहार करे तो पानी के छः आगार अवश्य बोलना चाहिये।

१. **लेपकृत**—अनाज, खजूर, दाख आदि का धोवण जो कि बर्तन को कुछ चिकना बनाता है ऐसा पानी उपवास आदि पच्चक्खाण में ले सकते हैं।

२. **अलेपकृत**—काञ्जी, छाछ के ऊपर का पानी।

३. **अच्छेन**—तीन उकाले वाला गरम निर्मल जल, फलादि का धोवण, फूलादि का निर्मल जल व अन्य अचित्त जल।

४. **बहुलेन**—तिल या तन्दुलादि का धोवण।

५. **संसिक्थ**—सिक्थ = कण। जिस पानी में पके हुए चावलादि के कण रह गये हों।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. **असिक्थ**—पूर्वोक्त जल छानने के बाद असिक्थ कहलाता है। पूर्वोक्त जल पीने पर भी उपवासादि का भङ्ग नहीं होता।

८. प्रत्याख्यान—

दिन के अन्त में या भव के अन्त में किया जाने वाला पच्चक्खाण क्रमशः दिवसचरिम व भवचरिम कहलाता है। दिवसचरिम प्रत्याख्यान—इसमें अन्नत्थणा., सहसा., महत्तरा., सव्वसमाहि. ये चार आगार होते हैं।

प्रश्न—एकासन आदि पच्चक्खाण से ही काम चल सकता है। कारण, इसमें एक ही समय खाने की छूट है। फिर दिवसचरिम पच्चक्खाण लेने का क्या प्रयोजन है?

उत्तर—एकासन आदि के पच्चक्खाण आठ आगार वाले हैं तथा 'दिवसचरिम' पच्चक्खाण चार आगार वाले हैं। अतः एकासनादि के पच्चक्खाण का संक्षेप करने के लिये शाम को 'दिवसचरिम' पच्चक्खाण करना आवश्यक है। इससे सिद्ध है कि एकासनादि के पच्चक्खाण दिवस सम्बन्धी ही हैं क्योंकि मुनियों के तो वैसे भी रात्रिभोजन का आजीवन त्याग होता है। गृहस्थ की अपेक्षा से दिवसचरिम पच्चक्खाण अहोरात्रि का होता है। क्योंकि दिवस शब्द का प्रयोग 'अहोरात्रि' के पर्यायरूप में भी होता है। जैसे कोई पाँच 'अहोरात्रि' तक घर से बाहर रहा हो तो वह यही कहेगा कि हम पाँच दिन से घर आये हैं।

जिन्हें आजीवन रात्रिभोजन का त्याग है, उनके लिये भी रात्रिभोजन विरमण व्रत का स्मारक होने से 'दिवसचरिम' पच्चक्खाण सार्थक है।

भवचरिम प्रत्याख्यान—

भव के अन्त में करने योग्य पच्चक्खाण। इसके भी पूर्वोक्त चार आगार हैं। यदि आवश्यकता न हो तो इस पच्चक्खाण में अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं— ये दो ही आगार पर्याप्त हैं। कारण अनाभोग से या सहसा अंगुली, तृण आदि की मुँह में जाने की सम्भावना रहती है। यह पच्चक्खाण आगार रहित भी हो सकता है। यदि थोड़ी सी सावधानी रहे तो पूर्वोक्त दोनों आगारों का परिहार सम्भव हो सकता है।

९. अभिग्रह प्रत्याख्यान—

विशेष द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव का संकल्प करते हुए प्रत्याख्यान करना अभिग्रह प्रत्याख्यान कहलाता है। जैसे—कटोरी, चम्मच आदि से ही भिक्षा ग्रहण करूँगा....द्रव्य अभिग्रह।

अमुक घर से.....गली से.....गाँव से लूँगा.....क्षेत्र अभिग्रह।

अमुक समय में भिक्षा ग्रहण करूँगा.....काल अभिग्रह।

खड़े-खड़े, बैठे-बैठे, गाते-गाते देगा तो ही लूँगा.....भाव अभिग्रह।

इसके चार या पाँच आगार हैं— दांडा प्रमार्जनादि रूप अभिग्रह में अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं आदि चार आगार हैं। यदि किसी मुनि के नग्न रहने का अभिग्रह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है तो वहाँ एक आगार 'चोलपट्टागारेणं' अधिक बढ़ जाता है। कारण, गृहस्थ आदि के आने पर सर्वथा नग्न रहना उचित नहीं लगता। कम से कम एक चोलपट्टा तो अवश्य ही पहनना पड़ता है। अतः यह आगार रखना आवश्यक है ताकि पच्चक्खाण भङ्ग न हो।

१०. निर्विकृतिक-प्रत्याख्यान—

मन को विकृत करने वाली अथवा विगति-दुर्गति में ले जाने वाली विकृतियाँ जिसमें से निकल चुकी हों, वह निर्विकृतिक पच्चक्खाण कहलाता है। इसमें आठ या नौ आगार होते हैं। 'अन्नत्थाणाभोगेणं, सहसागारेणं, लेवालेवेणं, गिहत्थसंसट्ठेणं, उक्खित्तविवेगेणं, पडुच्चमक्खिएणं, पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरई।' 'पडुच्चमक्खिएणं' को छोड़कर शेष आगारों की व्याख्या पूर्ववत् समझना।

- **पडुच्चमक्खिएणं**—सर्वथा रूखी नहीं, पर नरम रहे इसलिये अङ्गुली आदि से अति अल्प घी लेकर चुपड़ी हुई रोटी आदि कि जिन्हें खाने में घी का यत्किंचित् भी स्वाद न आता हो, वह 'नीवि' में खाना कल्प्य है। यदि घी आदि की धार देकर रोटी आदि चुपड़ी हो तो नीवि में खाना नहीं कल्पता। नीवि के भोजन के साथ रखी हुई विगय जैसे पिण्डीभूत दही, गुड़ आदि जो कि अलग हो सकती है, वहाँ नीवि में नौ आगार होते हैं। पर जहाँ विगय - जैसे द्रवीभूत घी, गुड़ आदि, अलग हो ही नहीं सकते, वहाँ 'उक्खित्तविवेगेणं' का कोई उपयोग न होने से आठ ही आगार होते हैं।

प्रश्न—यहाँ नीवि के ही आगार बताये विगय के नहीं, तो विगय के कितने आगार हैं?

उत्तर—नीवि और विगय के आगार समान हैं। इसलिये 'विगय' के आगार अलग से नहीं बताये। जैसे सूत्र में एकासन, पोरिसी व पुरिमड्ढ के आगार अलग नहीं बताये वैसे ही यहाँ समझना।

और भी अनेक प्रकार के पच्चक्खाण हैं। यद्यपि सभी सूत्र में बताना सम्भव नहीं है तथापि अप्रमाद का कारण होने से यथाशक्य अवश्य करने चाहिये।

- **अशनादि का स्वरूप**—अशन, पान आदि शब्दों का अर्थ दो तरह से किया गया है (i) व्याकरणसम्मत, (ii) आगमसम्मत।

(i) व्याकरणसम्मत—'अशन' अर्थात् जो खाया जाय। 'अश् भोजने' धातु से कर्म में 'ल्युट्' प्रत्यय होकर 'अशन' शब्द बना है। 'पान' अर्थात् जो पीया जाय। यह भी पूर्ववत् 'ल्युट्' प्रत्यय से बना है। खादिम और स्वादिम का अर्थ है खाने योग्य और स्वाद लेने योग्य। खाद् और स्वाद् धातु से इमम् प्रत्यय लगकर खादिम व स्वादिम शब्द बने हैं।

(ii) आगमसम्मत— अशन — क्षुधा को शीघ्र शान्त करने वाला।

पान — दशविध प्राणों का उपकारक।

खादिम— मुखरूपी आकाश में समा जाने वाला।

स्वादिम— जो अपने रसादि गुणों का तथा कर्त्ता के संयमादि गुणों का आस्वादन-चर्वण कराये वह स्वादिम है। अथवा आस्वादन करते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समय जो स्वगत रसादि गुणों का व स्वादकर्त्ता के संयमादि गुणों का नाश करे, वह स्वादिम है।

अशनादि शब्दों का यह निर्वचन कल्पित नहीं है, किन्तु व्याकरण सिद्ध है, भ्रमर, सिंह आदि शब्दों की तरह (जो भ्रमणशील है वह भ्रमर। हिंसा करे वह सिंह) ये शब्द 'पृषोदरादिगण' से सिद्ध हैं।

प्रश्न—व्युत्पत्ति के भेद से खाद्य पदार्थों का अशनादि के रूप में चार भेद करना उचित नहीं है। यद्यपि ओदन के लिए भोजन करने का, काञ्जी आदि के लिये पीने का, खजूर आदि के लिये खाने का तथा गुड़ादि के लिये स्वाद लेने का प्रयोग होता है तथापि सभी शब्द भोजनार्थक होने से वास्तव में एकार्थक ही हैं। अतः अशन-पान आदि अलग-अलग चार भेद करना व्यर्थ है।

समाधान—आपका कथन सत्य है पर विशेष ज्ञानरहित बालजीवों के लिये खाद्य पदार्थों का अशनादि के रूप में वर्गीकरण आवश्यक है। इससे वे पदार्थों का ज्ञान व विवक्षित द्रव्यों का त्याग सुगमता से कर सकते हैं। व्यवहार में भी देखा जाता है कि भोजनक्रिया समान होने पर भी भिन्न-भिन्न पदार्थों के लिये भिन्न-भिन्न क्रिया पदों का प्रयोग होता है जैसे, भात, रोटी आदि के लिये कहा जाता है कि - इन्हें भात आदि का भोजन कराओ। पानक के लिये-इन्हें दाख आदि का रस पिलाओ। गुड़धानी आदि के लिये-इन्हें गुड़धानी, खजूर, नारियल आदि खिलाओ। तांबूल आदि के लिये-इन्हें सुगन्धित तांबूल आदि का आस्वादन कराओ। वैसे यहाँ भी खाद्य पदार्थों का अशनादि के रूप में वर्गीकरण करना न्याय संगत है॥ २०२-२०६॥

- **अशन**—भात (चावल) आदि धान्य, सत्तु = भुंजे हुए यव, चना आदि का चूर्ण, मूँग आदि कठोल, राब आदि पेया, खाद्य विशेष, मालपूए, लड्डू, सूंखड़ी, घेवर, लापसी, सीरा आदि पक्वान्न, खीर, दही, घी, छाछ, कढ़ी, रसाला-पेय पक्वान्न विशेष (जो दही, खांड, शहद, घी, काली मिर्च से बनाया हुआ व कपूरादि सुगन्धी द्रव्यों से सुगन्धित होता है), सूरण, अदरक आदि वनस्पतियों से निर्मित व्यंजन, अनेक प्रकार की रोटी, पूड़ी, खाजा, ठोठिका, कुल्लरिका, इडुरिका, चूरमा आदि पक्वान्न विशेष॥ २०७॥
- **पान**—काञ्जी, यव, गेहूँ अनेक प्रकार के चावल, कोदरी आदि का धोवण, अनेक प्रकार की मदिरा, सिरके आदि, कुआ, तालाब नदी आदि का जल, ककड़ी, तरबूज, खजूर, दाख, इमली आदि का जल, इक्षुरस आदि पीने योग्य वस्तु पान है॥ २०८॥
- **खादिम**—भूंजे हुए चने, गेहूँ आदि। दाँतों को व्यायाम देने वाले गूँद, चने, फूली, चिरौंजीदाने, गंडेरी, मिश्री, खजूर, नारियल, दाख, अखरोट, बादाम, ककड़ी, आम, कटहल, केले, अमरूद आदि फल। 'दन्त' का अर्थ देशविशेष में प्रसिद्ध गुड़ादि डालकर बनाया हुआ 'द्रव्य विशेष' भी है जिसे चबाने से दाँतों का व्यायाम हो जाता है। जिसे खाने से भूख पूर्ण रूपेण तो समाप्त नहीं होती, पर कुछ देर के लिये शान्त अवश्य हो जाती है, वे पदार्थ खादिम कहलाते हैं॥ २०९॥
- **स्वादिम**—दाँतों को स्वच्छ बनाने वाला दातून (नीम, बबूल आदि की लकड़ी), पान, सुपारी,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इलायची आदि। तुलसीपत्र, पिण्डालु, जीरा, शहद, पीपल, सूंठ, गुड़, काली मिर्च, अजमोद, हरड़े, बहेड़ा, आंवला आदि अनेक प्रकार की स्वादिम वस्तुयें हैं॥ २१०॥

अशन आदि में विगयों का समावेश—

१. अशन—दूध, दही, घी, तेल, मिठाई, मक्खन आदि।
२. पान —मदिरादि।
३. खादिम —गुड़धानादि में डाले गये गूँद के फूले आदि।
४. स्वादिम —गुड़, शहद आदि॥ २११॥

प्रत्याख्यान शुद्धि के कारण—

१. फासिअं — प्रत्याख्यान सूत्रों के अर्थ को अच्छी तरह जानने वाले साधु या श्रावक, सूर्योदय से पूर्व ही आत्मसाक्षी से प्रभुप्रतिमा व स्थापनाचार्य के समक्ष स्वयं प्रत्याख्यान करले। तत्पश्चात् सूत्रसम्मत विधि से संयमनिष्ठ गुरु के पास वन्दनपूर्वक, राग द्वेष, विकथा से रहित होकर, उपयोगपूर्वक, हाथ जोड़कर मन्द स्वर से गुरु के शब्दों का उच्चारण करते हुए पुनः पच्चक्खाण ग्रहण करें।

२. पालिअं — ग्रहण किये हुए प्रत्याख्यान का उपयोगपूर्वक पालन करना।

३. सोहिअं — पच्चक्खाण पूर्ण होने के बाद गुरु आदि की गोचरी में से बची हुई गोचरी करना। इससे प्रत्याख्यान शोभित होता है।

४. तीरिअं — प्रत्याख्यान का काल पूर्ण हो जाने पर भी कुछ समय ठहरकर बाद में प्रत्याख्यान पालना।

५. किट्टिअं — पच्चक्खाण का काल पूर्ण होने के बाद भोजन करते समय यह स्मरण करना कि मैंने पच्चक्खाण लिया था वह पूर्ण हो चुका है, अब मैं भोजन करूँगा।

६. आराहिअं — पूर्वोक्त सभी प्रकारों से युक्त पच्चक्खाण मैंने पूर्ण किया है। क्योंकि जिनेश्वर परमात्मा की यही आज्ञा है। जिनेश्वर परमात्मा की आज्ञा सहित व प्रमाद रहित प्रत्याख्यान महती कर्मनिर्जरा का कारण होता है अतः ऐसे प्रत्याख्यान करने में अवश्य प्रयत्न करना चाहिये॥ २१२-२१५॥

- प्रत्याख्यान 'आगारपूर्वक' ही करना चाहिये, अन्यथा भङ्ग हो जाने पर महान् दोष लगता है। कहा है—नियम भङ्ग करने पर, भगवान की आज्ञा की महती विराधना होने से अशुभ कर्मों का बंधन होता है। प्रत्युत परिणामविशुद्धि का कारण होने से भगवदाज्ञा का पालन, महान् कर्मनिर्जरा करने वाला है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्याख्यान सम्बन्धी लाभ-हानि—

प्रत्याख्यान के विषय में संयम धर्म से सम्बन्धित लाभ-हानि अर्थात् सारासार का ज्ञान अवश्य रखना चाहिये। जैसे-किसी ने उपवास किया पर असमाधि हो गई। तपस्वी सहन नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में लाभ-हानि का विचार कर उसे औषध आदि देकर समाधि पहुँचानी चाहिये। इसमें कोई दोष नहीं है। अन्यथा आर्त्त-रौद्र ध्यान में पड़कर वह दुर्गति का भागी बन सकता है। समाधि पहुँचाना कर्म निर्जरा का कारण है। एकान्त आग्रह अपकारी होने से अशुभ है। इसीलिये पच्चक्खाण में आगार रखे जाते हैं॥ २१६॥

विगय—१० — छः विगय, चार महाविगय।

छः विगय — १. दूध, २. दही, ३. घी, ४. तेल, ५. गुड़-शक्कर, ६. तलने पर फूलकर ऊपर आने वाली वस्तु, जैसे पूड़ी, खाजा आदि।

चार महाविगय — १. मांस, २. मक्खन, ३. शराब, ४. शहद॥ २१७॥

१. दूध — गाय, भैंस, बकरी, ऊँटडी व भेड़ का दूध। (स्त्री का दूध विगय में नहीं आता।)

२-४ दही, मक्खन व घी — ये तीनों गाय, भैंस, बकरी व गाड़र के ही होते हैं (ऊँटडी के दूध का दही व घी नहीं बनता)॥ २१८॥

५. तेल — तिल, अलसी, कुसुंभा व सरसों का तेल विगय है। (मूँगफली, खसखस, नारियल, एरण्डी, सीसम का तेल विगय नहीं है)॥ २१९॥

६. गुड़ — द्रव एवं पिंड दोनों प्रकार का गुड़ विगय है।

७. शराब — (अ) लकड़ी—इक्षु रस आदि से बना हुआ।
— (ब) भात, कोदरी आदि के चूर्ण से बना हुआ।

८. शहद — (अ) मधु मक्खियों से बनाया हुआ।
— (ब) कुन्तिका से निर्मित।(कुन्तिका एक प्रकार की भ्रमरी है)
— (स) भ्रमर से निर्मित॥ २२०॥

९. मांस — (अ) जलचर (मछली आदि का)
— (ब) स्थलचर (बकरी, भैंस, सूअर, खरगोश, हिरण आदि का)।
— (स) खेचर (लावा, चिड़िया आदि का) अथवा
— (द) चर्म, चर्बी और रक्त इन तीनों का भी मांस में समावेश होता है।

१०. कड़ाही — घी या तेल में तलने के बाद जो वस्तु शब्द करती हुई फूलकर ऊपर आती है, वह पक्वान्न विगय है। उसके तीन पावे निकालने के बाद शेष जितने भी पावे निकलते हैं, वे निर्विकृतिक कहलाते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। ये योगोद्वहन की नीवि में लेना कल्पते हैं। यदि एक ही मालपूए या खाजे से पूरी कड़ाही भर जाय तो पहले पावे के अतिरिक्त सभी पावे निर्विगयाते कहलाते हैं। यदि दूसरा, तीसरा पावा निकालने के बाद तुरन्त कड़ाही में नया घी या तेल डाल दिया हो तो पुनः पूर्ववत् निकालने के बाद ही निविगयाता समझना ॥ २२१ ॥

मन को विकृत बनाने के कारण ये विकृतियाँ कहलाती हैं।

गृहस्थ संसृष्ट आगार का विशेष स्वरूप—

१. गृहस्थ ने अपने लिये दूध-चावल या दही-चावल मिश्रित किये वे 'गृहस्थ संसृष्ट' है। चावल में डाले हुए दूध-दही चार अङ्गुल ऊपर तक पहुँचे तब तक वे निर्विगय हैं, इससे ऊपर पहुँचने पर वे विगय बन जाते हैं। नीवि के पच्चक्खाण में ऐसा खाना नहीं कल्पता है।

२. कूर, ठोठिका आदि पर गुड़ादि का रस एक अङ्गुल ऊपर तक हो तो वह वस्तु निर्विगय कहलाती है, इससे अधिक ऊपर हो तो विगय।

३. तेल, घी आदि का भी इसी तरह समझना।

४. शराब और मांस आधा अङ्गुल ऊपर हो वहाँ तक निर्विगय, उससे ऊपर हो तो विगय।

५. गुड़, मांस और मक्खन के आर्द्र आंवले जितने पिण्डों से संसृष्ट ओदन आदि निर्विगय कहलाते हैं। यदि आंवले से बड़ा एक भी टुकड़ा चावल आदि में मिला हो तो वे 'विगय' हैं। आर्द्रामलक का अर्थ है शणवृक्ष की कली ॥ २२२-२२३ ॥

प्रत्याख्यान से सम्बन्धित विशेष बातें बताते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि विगय, निविगयाते, अनन्तकाय तथा अभक्ष्य क्रमशः दस, तीस, बत्तीस व बाईस होते हैं। इनका मैं वर्णन करता हूँ, आप सुनें।

यहाँ 'शृणुत' क्रिया पद इस बात का द्योतक है कि श्रोता रूप में उपस्थित भव्यात्माओं को ही धर्मोपदेश दिया जाता है, अनुपस्थितों को नहीं। कहा है — कितना भी प्रिय क्यों न हो, अनुपस्थित श्रोता को धर्मोपदेश नहीं देना चाहिये। ऐसा करने वाले का मुँह बुझी हुई आग को फूँक देने वाले के मुँह की तरह कान्ति रहित हो जाता है।

'वर्णयामि' का अर्थ है कि परोपकारी आचार्य भगवन्तों के द्वारा प्रतिपादित जीवादि तत्त्वों का श्रवण करने से ही भव्यात्माओं में विवेक प्रकट होता है। कहा है कि - यह कल्याणकारी है या पापकारी है, श्रवण से ही भव्यात्मा जानते हैं। जानने के पश्चात् जो कल्याणकारी है उसका आचरण करते हैं ॥ २२४ ॥

विगय—१०

दूध, दही, तेल, मक्खन, घी, गुड़, शहद, मांस, मदिरा व कड़ाई विगय ये दस विगय हैं। इनके पूर्वोक्त पाँच, चार, चार, चार, चार, दो, तीन, तीन, दो और एक भेद है ॥ २२५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चावल आदि से मिश्रित दूध आदि विगय नहीं कहलाते पर द्रव्य कहलाते हैं। अतः नीवि के पच्चक्खाण में ऐसा द्रव्य ग्रहण किया जा सकता है।

खाजा आदि तलने के बाद चूल्हे पर रखे हुए तप्त घी-तेल में आटा आदि सेक कर बनाई गई वस्तु निर्विगय कहलाती है। ऐसा अन्य आचार्यों का मानना है। गीतार्थों का अभिप्राय है कि चूल्हे से नीचे उतारने के बाद ठण्डे हुए घृतादि में आटा आदि डालकर बनाई हुई वस्तु तथाविध पाक के अभाव में निर्विगय है। चूल्हे पर रहे हुए तप्त घी में बनी हुई वस्तु अच्छी तरह परिपक्व होने से विगय ही है॥ २२६॥ हमने इस गाथा की इस प्रकार व्याख्या की है निद्रान लोग ज्ञान के अनुसार अन्यथा भी व्याख्या कर सकते हैं।

निवियाता—३० — दस विगय के तीस निवियाते होते हैं।

- **दूध के पाँच निवियाते**—पेया, दुग्धाटी, दुग्धावलेहिका, दुग्धसाटिका व खीर।
  - **१. पेया** — दूध की काञ्जी।
  - **२. दुग्धाटी** — खट्टा पदार्थ डालकर बनाया गया दूध जैसे पनीर आदि।
  - **अन्ये तु** — कई आचार्यों के अनुसार गाय, भैंस की प्रसूति के बाद जो जमा हुआ दूध निकलता है, जिसे भाषा में 'चीका' कहते हैं, वही दुग्धाटी है।
  - **३. अवलेहिका** — चावल का आटा डालकर बनाया हुआ दूध।
  - **४. दुग्ध-साटिका** — दाख डालकर औटाया हुआ दूध।
  - **५. खीर** — चावल डालकर उबाला हुआ दूध॥ २२७-२२८॥
- **दही के पाँच निवियाते**—
  - **१. घोलवड़ा** — कपड़े से छने हुए दही में डाले हुए बड़े, जैसे दहीबड़े आदि।
  - **२. घोल** — कपड़े से छना हुआ दही।
  - **३. श्रीखण्ड** — मथा हुआ शक्करयुक्त दही।
  - **४. करंबक** — दही से युक्त कूर, चावल आदि।
  - **५. रजिका** — नमक डालकर मथा हुआ दही। ऐसा दही, सांगरी आदि डालने पर तो निवियाता है ही पर बिना डाले भी निवियाता बनता है॥ २२९॥
- **घी के पाँच निवियाते**—
  - **१. औषध पक्व** — औषध डालकर पकाया हुआ घी।
  - **२. घृतकिट्टिका** — घी के पीछे बचा हुआ मैल (कीटा)।
  - **३. घृतपक्व** — औषधादि पकाने के बाद उस पर आई हुई घी की तरी।
  - **४. निर्भंजन** — पक्वान्न तलने के बाद बचा हुआ (जला हुआ) घी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. विस्यंदन — दही की मलाई और आटा मिलाकर बनाया हुआ द्रव्य विशेष। ऐसा द्रव्य सपादलक्ष देश में बनाया जाता है॥ २३०॥

- **तेल के पाँच निवियाते—**

१. तेल मलिका — तेल का मैल (कीटा)।
२. तिलकुट्टि — गुड़-शक्कर मिलाकर तिल को कूटकर बनाया गया पदार्थ।
३. दग्धतेल — जला हुआ तेल।
४. तेल — औषध डालकर पकाये हुए तेल के ऊपर आई हुई तरी।
५. पक्वतेल — लाक्षादि द्रव्य डालकर पकाया हुआ तेल॥ २३१॥

- **गुड़ के पाँच निवियाते—**

— १. आधा पका हुआ इक्षुरस (गन्ने का रस)।
— २. गुड़ का पानी।
— ३. शक्कर।
— ४. खांड।
— ५. गुड़ की चासणी॥ २३२॥

- **पक्वान्न के पाँच निवियाते—**

— १. जिससे पूरी कढ़ाई भर जाय, इतना बड़ा मालपूआ निकालने के बाद जितने भी मालपूए निकलें वे सभी निर्विकृतिक हैं।
— २. पूड़ी आदि के तीन पावे निकालने के बाद चौथे पावे से निकलने वाली पूड़ी आदि निर्विकृतिक है। (बीच में नया घी डाला हो, तो फिर तीन पावे निकालने आवश्यक है)।
— ३. गुड़धाणादि। गुड़ आदि की चासनी बनाकर उसमें फूलियां आदि डालकर बनाये गये लड्डू आदि।
— ४. जल लापसी—सुंवाली आदि तलने के बाद चिकनी कढ़ाई में सेककर बनायी हुई लापसी।
— ५. घी, तेल का पोता देकर बनाई हुई पूरी आदि।

दूधपाक आदि विगय नहीं है किन्तु गरिष्ठ द्रव्य है। इनका उपयोग महापुरुषों को भी विकारी बना देता है तो हमारे जैसे सामान्य व्यक्तियों का तो कहना ही क्या? निवियातों के निष्कारण उपयोग से कर्म की उत्कृष्ट निर्जरा नहीं होती है। अतः निष्कारण निवियातों का उपयोग नहीं करना चाहिये॥ २३३॥

निवियातों का स्वरूप आचार्यों ने मति-कल्पना से नहीं कहा है, किन्तु **आवश्यक चूर्णि** में इनका वर्णन है। निवियातों के उपयोग में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि बिना किसी आगाढ़ कारण के उनका उपयोग न हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपवाद—विविध तपश्चर्या करने से जिनका शरीर क्षीण हो चुका हो, पेट रूक्ष हो गया हो, स्वाध्याय, अध्ययन आदि करने में समर्थ न हो, ऐसी आत्मा यदि निविियातों का उपयोग करे तो दोष नहीं है। प्रत्युत इससे कर्म-निर्जरा होती है। कहा है कि 'निविियातों का उपयोग अनिवार्य संयोगों में ही करना चाहिये सामान्य परिस्थितियों में नहीं। जिनका शरीर एकदम क्षीण हो गया हो, उन्हीं को निविियाता ग्रहण करना कल्पता है, परन्तु जिन्होंने इन्द्रियों के निग्रह के लिये विगय का त्याग किया है, उन्हें निविियाता ग्रहण करना नहीं कल्पता। जो विगय का त्याग करके स्निग्ध, मधुर एवं उत्कृष्ट द्रव्य-रूप निविियातों का भक्षण करते हैं, उन्हें विगय त्याग का अति-तुच्छ फल मिलता है। कुछ ऐसे भी लोग हैं, जो सामान्य कारण में भी निविियातों का उपयोग करते हैं, तिल के लड्डू, तिलपट्टी, खोपरा, दही का मट्ठा, खीर, घी के पक्वान्न, मालपूआ, दूध, दही, करबा, पेया आदि का निष्कारण सेवन करते हैं, पर जन्म, जरा मृत्यु से भयंकर संसारवास से उद्विग्न चित्तवाले गीतार्थों को यह बात कदापि इष्ट नहीं है। दुःख रूपी दावानल से संतप्त जीवों को भव रूपी जंगल से पार करने में जिनाज्ञा के अतिरिक्त दूसरा कोई समर्थ नहीं है।

विकृति विकार पैदा करती है। उससे मोहनीय कर्म की उदीरणा होती है। मोह की उदीर्णावस्था में चित्त को कितना भी वश में रखा जाये, किन्तु वह अकार्य में प्रवृत्त हुए बिना नहीं रहता। दावानल से संतप्त कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं होगा जो प्रतीकार के साधन रहते हुए भी उसका प्रतीकार नहीं करे। मोहाग्नि से संतप्त व्यक्ति के लिये भी यही समझना। दुर्गति से डरने वाले मुनि को विगय या निविियाता का उपयोग नहीं करना चाहिये। कारण विकृतियाँ विकारोत्पादक होने से अवश्य दुर्गति में ले जाती हैं॥ २३५॥

३२ अनन्तकायिक—कन्दजातिरनन्तकायिका इति :—

कन्द—वृक्ष का भूमिगत अवयव सामान्यतः कंद कहलाता है। यहाँ 'कंद' आर्द्र लेना चाहिये। शुष्क कंद निर्जीव होने से अनन्तकायिक नहीं होता।

कंद—भूमि में जितने कंद उत्पन्न होते हैं, सब अनन्तकाय हैं।ये बत्तीस हैं:—

१. सूरणकंद, २. वज्रकंद, ३. आर्द्रहल्दी, ४. अदरक, ५. हराकचूर, ६. शतावरी, ७. विराली, ८. कुंआरपाठा, ९. थूहर, १०. गिलोय, ११. लहसुन, १२. बांस का अङ्कुर, १३. गाजर, १४. लवणक (जिसे जलाकर साजी बनाते है), १५. पद्मिनीकंद, १६. गिरिकर्णिका (लता विशेष), १७. किसलय (सभी कोमल पत्ते), १८. कसेरु, १९. थेगकंद व भाजी, २०. हरा मोथा, २१. लवणवृक्ष की छाल, २२. खिलोड़ी (कंद विशेष), २३. अमृतबेल, २४. पालक की भाजी, २५. जिसमें बीज न पड़ा हो ऐसी कोमल इमली, २६. मूला, २७. भूमिस्फोट (छत्राकार), २८. अङ्कुरित धान्य, २९. बथुवे की भाजी (प्रथम उगी हुई नहीं कि काटने के बाद दुबारा उगी हुई), ३०. शूकरबेल (बड़ी बेल), ३१. आलू , ३२. पिण्डालू ,

- पूर्वोक्त बत्तीस अनन्तकाय आर्यदेश में प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त कई वनस्पतियाँ ऐसी हैं जिनमें अनन्तकाय के शास्त्रोक्त लक्षण घटते हैं, जैसे घोषातकी व करीर के अङ्कुर, अतिकोमल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसमें गुठली न बंधी हो ऐसे इमली व आम के फल, वरुण, बड़ और नीम के अङ्कुर ये भी अनन्तकाय ही हैं ॥ २३६-२४१ ॥

अनन्तकाय के लक्षण—

१. जिस वनस्पति के पत्ते, तने, नाल, शाखादि की सन्धियाँ व गांठे गुप्त हों।

२. जिन शाखा व पत्तों को तोड़ने पर टुकड़ों के मुँह एकदम समतल हो।

३. जिस वनस्पति को काटने या तोड़ने पर बीच में तन्तु न निकलते हों।

४. जो वनस्पति काटकर सुखा देने पर भी जलादि सामग्री को उपलब्ध कर पुनः उग जाती हो, जैसे गडूची, आलू आदि।

५. जिस वनस्पति के मूल, स्कंध, छाल, शाखा, पत्र व पुष्पादि के संधिस्थान कुंभकार के चक्र की तरह समतल हो।

६. जिस वनस्पति के गांठ-पर्व को तोड़ने पर उसमें से सफेद चूर्ण उड़ता हुआ दिखाई देता हो।

- समभङ्ग का अर्थ है क्यारी आदि में जमी हुई पपड़ी तथा चिकनी खड़ी से बना हुआ चाक टूटने पर जैसे समान टूटता है वैसे टूटने वाली वनस्पति अनन्तकाय है।

७. जिस वनस्पति के पत्ते क्षीर रहित अथवा सहित हों पर जिनकी नसें स्पष्ट दिखाई न दें तथा जिसकी गांठे गर्म हों।

८. क्वचित् 'पणट्ठसन्धि' ऐसा भी पाठ है। उसका अर्थ है कि जिस वनस्पति के पत्तों के मध्य संधि सर्वथा दिखाई न देती हो। पूर्वोक्त सभी लक्षणों से युक्त वनस्पति अनन्तकायिक है ॥ २४२-२४४ ॥

२२ अभक्ष्य—

१-५ पाँच उदुम्बर — बड़, पीपल, पिलंखण, कठुंबर, गूलर इन पाँचों के फल अभक्ष्य हैं। क्योंकि इनमें मच्छर जैसे अति सूक्ष्म असंख्य जीव होते हैं।

६-७ महाविगय — मदिरा, मांस, मधु व मक्खन। इनमें तद्वर्ण के असंख्य संमूर्च्छिम जीव होते हैं।

१०. हिम — बरफ अभक्ष्य है क्योंकि यह असंख्य अप्काय जीवों का पिंड है।

११. विष — जहर अभक्ष्य है। इसे खाने से उदर में स्थित कृमि नष्ट हो जाते हैं। चेतना मूर्च्छित हो जाती है।

१२. करका — ओले जो आकाश से गिरते हैं, अभक्ष्य हैं। अप्काय जीवों का पिंड हैं।

१३. मिट्टी — सभी जाति की कच्ची मिट्टी। इसमें मेंढक आदि पञ्चेन्द्रिय जीव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्पन्न होते हैं। खड़ी आदि खाने से आमाशय दूषित होता है। यह अनेक रोगों की उत्पत्ति का कारण है।

१४. रात्रि भोजन — यह भी अभक्ष्य है। अनेक जीवों की हिंसा का निमित्त होने से इहभव व परभव दोनों में दुःख का कारण बनता है।

१५. बहुबीज — जिस में बीज अधिक हों, जैसे—खसखस, पंपोटा आदि में प्रतिबीज जीव होने से अत्यधिक जीव हिंसा का कारण है।

१६. अनन्तकाय — सभी अनन्तकाय अनन्त जीवों के पिंड होने से सर्वथा अभक्ष्य हैं।

१७. संधान — बिल्व, केरी, नींबू आदि के आचार अभक्ष्य हैं क्योंकि इनमें दो इन्द्रिय जीव उत्पन्न हो जाते हैं।

१८. द्विदल — जिसके दो दल होते हैं और जिन्हें पेलने पर तेल नहीं निकलता वे द्विदल धान्य हैं। उनसे बनी हुई वस्तुयें जैसे बड़े, पूड़ी, गट्टे आदि कच्चे दूध, दही या छाछ के साथ खाना अभक्ष्य है, कारण इसमें त्रस जीवों की हिंसा होती है।

१९. बैंगन — अधिक निद्राकारक व कामोद्दीपक होने से अभक्ष्य है।

२०. अज्ञात फल — जिन पुष्प-फलों को कोई न जानता हो उसे कदापि नहीं खाना चाहिये क्योंकि उससे व्रतभंग व मृत्यु की संभावना है।

२१. तुच्छफल — जिन फल, पुष्प व पत्तों में खाना थोड़ा और फेंकना अधिक हो वे तुच्छ—असार कहलाते हैं। जैसे, मधूक, बिल्व आदि के फल, अरणि, महुआ, शिग्रु आदि के पुष्प तथा वर्षाकाल में भाजी अभक्ष्य है। हिंसा का कारण होने से।

अथवा — अपक्व चौले आदि की फलियाँ जिन्हें खाने से तृप्ति नहीं होती प्रत्युत बहुत से दोष लगते हैं, अभक्ष्य हैं।

२२. चलित रस — जिसका स्वाद बदल गया हो, जिससे दुर्गन्ध आती हो ऐसी वस्तु अभक्ष्य है, जैसे, बासी भात आदि, दो दिन का दही, छाछ आदि। जीवाकुल हो जाने से हिंसा का कारण हैं॥ २४५-२४६ ॥

- दयालु भव्यात्माओं के द्वारा इन बाईस अभक्ष्यों का अवश्य त्याग करना चाहिये।

५ द्वार : उत्सर्ग—

घोडग लया य खम्भे कुड्डे माले य सबरि बहुनियले।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लंबुत्तर थण उड्ढी संजइ खलिणे य वायस कविट्ठे ॥ २४७ ॥
सीसोकंपिय मूई अंगुलिभमुहा य वारुणी पेहा ।
एए काउस्सग्गे हवंति दोसा इगुणवीसं ॥ २४८ ॥
आसोव्व विसमपायं आउंटावित्तु ठाइ उस्सग्गे ।
कंपइ काउस्सग्गे लयव्व खर-पवण-संगेणं ॥ २४९ ॥
खंभे वा कुड्डे वा अवठंभिय कुणइ काउस्सग्गं तु ।
माले य उत्तमंगं अवठंभिय कुणइ उस्सग्गं ॥ २५० ॥
सबरी वसणविरहिया करेहि सागारिअं जह ठएइ ।
ठइऊण गुज्झदेसं करेहि इअ कुणइ उस्सग्गं ॥ २५१ ॥
अवणामिउत्तमंगो काउस्सग्गं जहा कुलवहुव्व ।
नियलियआ विव चरणे वित्थारिय अहव मेलविउं ॥ २५२ ॥
काऊण चोलपट्टं अविहीए नाहिमंडलस्सुवरिं ।
हेट्ठा य जाणुमेत्तं चिट्ठइ लंबुत्तरुस्सग्गं ॥ २५३ ॥
पच्छाइऊण य थणे चोलग-पट्टेण ठाइ उस्सग्गं ।
दंसाइरक्खणट्ठा अहवाऽणाभोग-दोसेणं ॥ २५४ ॥
मेलित्तु पण्हियाओ चलणे वित्थारिऊण बाहिरओ ।
काउस्सग्गं एसो बाहिरउड्ढी मुणेयव्वो ॥ २५५ ॥
अंगुट्ठे मेलविउं वित्थारिय पण्हिआउ बाहिंति ।
काउस्सग्गं एसो भणिओ अब्भितरुड्ढित्ति ॥ २५६ ॥
कप्पं वा पट्टं वा पाउणिउं संजइव्व उस्सग्गं ।
ठाइ य खलिणं व जहा रयहरणं अग्गओ काउं ॥ २५७ ॥
भामेइ तह य दिट्ठिं चलचित्तो वायसोव्व उस्सग्गे ।
छप्पइयाण भएणं कुणइ य पट्टं कविट्ठं च ॥ २५८ ॥
सीसं पकंपमाणो जक्खाइट्ठोव्व कुणइ उस्सग्गं ।
मूउव्व हूहुयंतो तहेव छिज्जंतमाईसु ॥ २५९ ॥
अंगुलिभमुहाओऽवि अ चालितो कुणइ तहय उस्सग्गं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आलावग-गणणट्ठं संठवणत्थं च जोगाणं ॥ २६० ॥
काउस्सग्गंमि ठिओ सुरा जहा बुडबुडेइ अव्वत्तं ।
अणुपेहंतो तह वानरोव्व चालेइ ओट्ठपुडे ॥ २६१ ॥
एए काउस्सग्गं कुणमाणेण विबुहेण दोसा उ ।
सम्मं परिहरियव्वा जिणपडिसिद्धत्ति काऊणं ॥ २६२ ॥

—गाथार्थ—

१. घोटक, २. लता, ३. स्तंभ कुड्य, ४ माल, ५ शबरी, ६ वधू, ७. निगड़, ८. लंबोत्तर, ९. स्तन, १०. ऊर्ध्विका, ११. संयती, १२. खलीन, १३. वायस, १४. कपित्थ, १५. शीर्षोत्कंपित, १६. मूक, १७. अङ्गुली-भृकुटी, १८. वारुणी और १९. प्रेक्षा—ये १९ काउस्सग्ग के दोष हैं॥ २४७-२४८ ॥

१. घोड़े की तरह पाँव टेढ़ा रखकर अथवा संकुचित करके काउस्सग्ग करना घोटक दोष हैं। २. हवा से हिलने वाली लता की तरह हिलते हुए काउस्सग्ग करना लता दोष है॥ २४९ ॥

३. खंभा अथवा दीवार का सहारा लेकर काउस्सग्ग करना स्तंभ-कुड्य दोष है। ४. छत के सहारे सिर टिकाकर काउस्सग्ग करना माल दोष है॥ २५० ॥

५. निर्वस्त्र भीलणी दूसरों को देखकर जैसे हाथों से अपना गुप्तांग ढक लेती है वैसे गुप्तांग के आगे हाथ रखकर काउस्सग्ग करना शबरी दोष है॥ २५१ ॥

६. कुलवधू की तरह सिर झुकाकर काउस्सग्ग करना वधू दोष है। ७. बेडी डाले हुए कैदी की तरह पाँव एकदम पास रखकर या फैलाकर कायोत्सर्ग करना निगड़ दोष है॥ २५२ ॥

८. नाभि से ऊपर तथा घुटनों से नीचे तक का चोलपट्टा पहनकर काउस्सग्ग करना लंबोत्तर दोष है॥ २५३ ॥

९. मच्छर आदि से रक्षण करने के लिये अथवा अनाभोग से स्तनों को चोल पट्टे से ढक कर काउस्सग्ग करना स्तन दोष है॥ २५४ ॥

१०. ऊर्ध्विका बाह्य और आभ्यन्तर दो प्रकार का है। पाँवों की एड़ियों को मिलाकर दोनों पञ्जों को अलग रखकर काउस्सग्ग करना बाह्य ऊर्ध्विका दोष है॥ २५५ ॥

पाँवों के दोनों अंगूठों को मिलाकर, एड़ियों को अलग रखकर काउस्सग्ग करना आभ्यन्तर 'ऊर्ध्विका' है॥ २५६ ॥

११. चद्दर या चोलपट्टे से साध्वी की तरह कंधे ढककर काउस्सग्ग करना संयती दोष है। १२. घोड़े की लगाम की तरह रजोहरण को आगे रखकर काउस्सग्ग करना खलीन दोष है॥ २५७ ॥

१३. चञ्चल चित्त कौए की तरह काउस्सग्ग में आँखे घुमाना वायस दोष है। १४. 'जूं' के भय से कपड़ों को चारों तरफ से एकत्रित करके काउस्सग्ग करना कपित्थ दोष है॥ २५८ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५. भूताविष्ट व्यक्ति जैसे सिर हिलाता है वैसे सिर हिलाते हुए काउस्सग्ग करना शीर्षोत्कंपित दोष है। १६. अपने सम्मुख होने वाले छेदन-भेदन को बन्द करने के लिये मूक की तरह काउस्सग्ग में हूं हूं करना मूक दोष है॥ २५९॥

१७. काउस्सग्ग में आलापकों की गणना करने के लिये अङ्गुली घुमाना, भौंहे चलाकर संकेत करना, भौंहे नचाना अङ्गुलीभ्रू दोष है॥ २६०॥

१८. शराबी की तरह बड़-बड़ करते हुए काउस्सग्ग करना वारुणी दोष है। १९. बन्दर की तरह होठ फड़फड़ाते हुए काउस्सग्ग करना प्रेक्षा दोष है॥ २६१॥

काउस्सग्ग करते हुए, पंडित आत्माओं के द्वारा जिनेश्वर परमात्मा द्वारा प्रतिषिद्ध इन १९ दोषों का पूर्णरूपेण अवश्य परित्याग करना चाहिये॥ २६२॥

—विवेचन—

स्थान, मौन व ध्यान के अतिरिक्त (श्वासोच्छ्वास आदि क्रियाओं को छोड़कर जब तक 'णमो अरिहंताणं' बोलकर कायोत्सर्ग पूर्ण न करें तब तक) अन्य सभी क्रियाओं का त्याग करना कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग दो हेतु से होता है- (१) चेष्टाजन्य और (२) अभिभवजन्य।

(१) **चेष्टाजन्य** — गमनागमनादि क्रिया के बाद इरियावही करके कायोत्सर्ग करना।

(२) **अभिभवजन्य** — देव-दानव आदि कृत उपसर्ग के निवारण हेतु कायोत्सर्ग करना।

- दोष रहित कायोत्सर्ग निर्जरा का हेतु है, अतः १९ दोषों से रहित कायोत्सर्ग करना चाहिये। वे दोष निम्न हैं—

१. **घोटक** — घोड़े की तरह एक पांव का घुटना झुकाकर खड़े रहना।

२. **लता** — हवा से लता हिलती है, वैसे कायोत्सर्ग में शरीर हिलाना॥२४९॥

३. **स्तंभकुड्य** — कायोत्सर्ग करते समय खंभे या भींत से टिक कर खड़े रहना।

४. **माल** — छत से सिर लगाकर खड़े रहना॥२५०॥

५. **शबरी** — नग्न भीलनी जिस प्रकार अपने गुप्तांग को हाथ से छुपाने का प्रयास करती है वैसे हाथ रखकर कायोत्सर्ग करना॥२५१॥

६. **वधू** — कुलवधू की तरह सिर झुकाकर कायोत्सर्ग करना।

७. **निगड़** — बेड़ी पहने हुए की तरह दोनों पैर दूर-दूर या एकदम नजदीक रखकर कायोत्सर्ग करना॥२५२॥

८. **लम्बोत्तर** — नाभि से ऊपर और घुटने से नीचे तक चोलपट्टा पहन कर कायोत्सर्ग करना॥२५३॥

९. **स्तन** — कायोत्सर्ग के समय डांस, मच्छर आदि के दंश के भय से चोलपट्टे से छाती ढकना अथवा अज्ञानता से ऐसा करना॥२५४॥

१०. **ऊर्ध्विका** — (i) **बाह्य ऊर्ध्विका**:—एड़ी मिलाकर पाँवों के पञ्जे दूर रखकर गाड़ी की उध की तरह कायोत्सर्ग करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

— (ii) आभ्यन्तर ऊर्ध्विका:—दोनों पाँवों के अङ्गुठों को मिलाकर व एड़ियों को फैलाकर कायोत्सर्ग करना ॥२५५-२५६ ॥

११. संयती — साध्वी की तरह चोलपट्टा या चादर कंधे पर ओढ़कर कायोत्सर्ग करना।

१२. खलीन — घोड़े के लगाम की तरह ओघे या चरवले को पकड़कर काउस्सग्ग करना। अथवा लगाम से दुःखी घोड़े की तरह शिर ऊँचा-नीचा करते हुए काउस्सग्ग करना ॥२५७ ॥

१३. वायस — कौए की तरह चारों दिशाओं में दृष्टि घुमाते हुए कायोत्सर्ग करना।

१४. कपित्थ — जूं न आ जाय इस भय से अपने कपड़ों को इकट्ठा करके दोनों जांघों के बीच दबाकर कायोत्सर्ग करना ॥२५८ ॥

अन्यमते: — कबीठ फल की तरह गोल-गोल मुट्ठी बन्द करके कायोत्सर्ग करना।

१५. शीर्षोत्कंपित — जैसे भूत लगा हो, इस तरह शिर धुनाते हुए कायोत्सर्ग करना।

१६. मूक — कायोत्सर्ग में रहे हुए व्यक्ति के पास यदि कोई वनस्पति आदि का छेदन-भेदन कर रहा हो तो कायोत्सर्ग में ही गूंगे की तरह हूं...हूं करना ॥२५९ ॥

१७. अङ्गुलिकाभ्रू — नवकार की गणना के लिये पौर पर अङ्गुलि घुमाना, किसी अन्य कार्य का सूचन करने हेतु भृकुटि से इशारा करना अथवा यूँ ही भौंहे नचाना ॥२६० ॥

१८. वारुणी — शराबी की तरह बुड़-बुड़ करते हुए अथवा घूरते हुए काउस्सग्ग करना।

१९. प्रेक्षा — बन्दर की तरह होठ फड़फड़ाकर कायोत्सर्ग करना ॥२६१ ॥

- जो लोग कायोत्सर्ग के २१ दोष मानते हैं, उनके मतानुसार स्तंभ व कुड्य दोष तथा अङ्गुलि व भ्रू दोष अलग-अलग हैं।
- **अन्य कुछ दोष—**

१. समय बीतने के बाद कायोत्सर्ग करना।
२. व्याक्षिप्त चित्त से कायोत्सर्ग करना।
३. लुब्ध-चित्त से कायोत्सर्ग करना।
४. सावद्य-चित्त से कायोत्सर्ग करना।
५. विमूढ़-चित्त से कायोत्सर्ग करना।
६. पट्टकादि के ऊपर पैर रखकर कायोत्सर्ग करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. कायोत्सर्ग में थूंकना।
८. शरीर का अनावश्यक स्पर्श करना।
९. अङ्गोपाङ्ग अव्यवस्थित रखकर कायोत्सर्ग करना।
१०. अविधि से कायोत्सर्ग करना।
११. व्रत की अपेक्षा से रहित कायोत्सर्ग करना।

● पूर्वोक्त दोषों से रहित कायोत्सर्ग करना चाहिये। ऐसी जिनाज्ञा है।

अपवाद — शरीर पर प्रकाश पड़ता हो तो कमली आदि ओढ़ने से, वर्षा आदि की बूँदे गिरती हों तो कायोत्सर्ग में एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने से कायोत्सर्ग भङ्ग नहीं होता।

प्रश्न—'णमो अरिहंताणं' बोलकर कायोत्सर्ग पारकर ही प्रावरण आदि का ग्रहण क्यों नहीं करते?

उत्तर—'णमो अरिहंताणं' बोलकर काउस्सग्ग पालना, काउस्सग्ग की पूर्णता नहीं है। पर जितने श्वासोच्छ्वास का काउस्सग्ग है, उतने श्वासोच्छ्वास पूर्ण होने के बाद ही नमस्कार बोलना, काउस्सग्ग की पूर्णता है। उतने समय के बाद यदि 'नमस्कार' बिना बोले काउस्सग्ग पाल ले तो काउस्सग्ग भङ्ग हो जाता है। वैसे काउस्सग्ग पूर्ण हुए बिना 'नमस्कार' बोलने पर भी काउस्सग्ग भङ्ग होता है। बिल्ली, चूहा आदि बीच से निकलता हो और आगे-पीछे सरके तो भी कायोत्सर्ग भङ्ग नहीं होता। राजभय, चोरभय की स्थिति में, स्वयं या दूसरे को सांप आदि डसा हो ऐसे समय में अपूर्ण कायोत्सर्ग पाले तो भी कायोत्सर्ग भङ्ग नहीं होता ॥२६२॥

६. द्वार : व्रत-अतिचार—

पण संलेहण पन्नरस कम्म नाणाइ अट्ठ पत्तेयं।
बारस तव विरियतिगं पण सम्म वयाइं पत्तेयं ॥२६३॥
इहपरलोयासंसप्पओग मरणं च जीविआसंसा।
कामे भोगे व तहा मरणंते पंच अइआरा ॥२६४॥
भाडी फोडी साडी वणअंगारस्सरूवकम्माइं।
वाणिज्जाणि अ विसलक्खदंतरसकेसविसयाणि ॥२६५॥
दवदाण जंतवाहण निल्लंछण असइपोससहियाणि।
सजलासयसोसाणि अ कम्माइं हवंति पन्नरस ॥२६६॥
काले विणए बहुमाणोवहाणे तहा अनिण्हवणे।
वंजण अत्थ तदुभए अट्ठविहो नाणमायारो ॥२६७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निस्संकिय निक्कंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उवबूह थिरीकरणे वच्छल्ल पभावणे अट्ठ ॥२६८॥
पणिहाण जोगजुत्तो पंचहिं समिईहिं तीहिं गुत्तीहिं।
चरणायारो विवरीययाई तिण्हंपि अइयारा ॥२६९॥
अणसणमूणोअरिया वित्तीसंखेवणं रसच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होह ॥२७०॥
पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं उस्सग्गोऽवि य अब्भितरओ तवो होइ ॥२७१॥
सम्ममकरणे बारस तवाइयारा तिगं तु विरिअस्स।
मणवयकाया पावपउत्ता विरियतिगअइयारा ॥२७२॥
संका कंखा य तहा वितिगिच्छा अन्नतित्थियपसंसा।
परतित्थिओवसेवणमइयारा पंच सम्मत्ते ॥२७३॥
पढमवये अइआरा नरतिरिआणऽन्नपाणवोच्छेओ।
बंधो वहो य अइभाररोवणं तह छविच्छेओ ॥२७४॥
सहसा कलंकणं रहसदूसणं दारमंतभेयं च।
तह कूडलेहकरणं मुसोवएसो मुसे दोसा ॥२७५॥
चोराणीयं चोरप्पयोगजं कूडमाणतुलकरणं।
रिउरज्जव्ववहारो सरिसजुई तइयवयदोसा ॥२७६॥
भुंजइ इतरपरिग्गहमपरिग्गहियं थियं चउत्थवए।
कामे तिव्वहिलासो अणंगकीला परविवाहो ॥२७७॥
जोएइ खेत्तवत्थूणि रुप्पकणयाइ देइ सयणाणं।
धणधन्नाइ परघरे बंधइ जा नियमपज्जंतो ॥२७८॥
दुपयाइं चउप्पयाइं गब्भं गाहेइ कुप्पसंखं च।
अप्पधणं बहुमोल्लं करेइ पंचमवए दोसा ॥२७९॥
तिरियं अहो य उड्ढं दिसिवयसंखाअइक्कमे तिन्नि।
दिसिवयदोसा तह सइविम्हरणं खित्तवुड्ढी य ॥२८०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अप्पक्कं दुप्पक्कं सच्चित्तं तह सच्चित्तपडिबद्धं।
तुच्छोसहिभक्खणयं दोसा उवभोगपरिभोगे ॥२८१ ॥
कुक्कुइयं मोहरियं भोगुवभोगाइरेग कंदप्पा।
जुत्ताहिगरणमेए अइयाराऽणत्थदंडवए ॥२८२ ॥
काय मणो वयणाणं दुप्पणिहाणं सईअकरणं च।
अणवट्ठियकरणं चिय सामइए पंच अइयारा ॥२८३ ॥
आणयणं पेसवणं सद्दणुवाओ य रूवअणुवाओ।
बहिपोग्गलपक्खेवो दोसा देसावगासस्स ॥२८४ ॥
अप्पडिलेहिय अप्पमज्जियं च सेज्जाइ थंडिलाणि तहा।
संमं च अणणुपालण मइयारापोसहे पंच ॥२८५ ॥
सच्चित्ते निक्खिवणं सच्चित्तपिहणं च अन्नववएसो।
मच्छरइयं च कालाईयं दोसाऽतिहिविभाए ॥२८६ ॥

—गाथार्थ—

१२४ अतिचार—५ संलेखना के, १५ कर्मादान के, ८ ज्ञानाचार के, ८ दर्शनाचार के, ८ चारित्राचार के, १२ तपाचार के, ३ वीर्याचार के, ५ सम्यक्त्व के तथा ६० बारह व्रतों के—इस प्रकार कुल मिलाकर १२४ अतिचार हैं ॥२६३ ॥

संलेखना के ५ अतिचार—१. इहलोकाशंस प्रयोग, २. परलोकाशंस प्रयोग, ३. मरणाशंस प्रयोग, ४. जीविताशंस प्रयोग तथा ५. कामभोगाशंस प्रयोग—ये पाँच संलेखना के अतिचार हैं ॥२६४ ॥

कर्मादान के १५ अतिचार—१. भाटक कर्म, २. स्फोटक कर्म, ३. साडी कर्म, ४. वन कर्म, ५. अङ्गार कर्म—ये ५ कर्म हैं। १. विषवाणिज्य, २. लाक्षावाणिज्य, ३. दंतवाणिज्य, ४. रस वाणिज्य, ५. केश वाणिज्य—ये पाँच वाणिज्य अर्थात् व्यापार रूप हैं। १. दवदान कर्म, २. यंत्रवाहन कर्म, ३. निर्लांछन कर्म, ४. असतिपोषण कर्म, ५. जलाशय-शोषण कर्म—ये ५ सामान्य कर्म हैं। कुल मिलाकर ये १५ कर्मादान हैं ॥२६५-२६६ ॥

ज्ञानाचार के ८ अतिचार—१. काल, २. विनय, ३. बहुमान, ४. उपधान, ५. अनिह्नवण, ६. व्यंजन, ७. अर्थ और ८. तदुभय—यह आठ प्रकार का ज्ञानाचार है। इससे विपरीत व्यवहार करना ज्ञानाचार के अतिचार हैं ॥२६७ ॥

दर्शनाचार के ८ अतिचार—१. निःशंकित, २. निष्कांक्षित, ३. निर्विचिकित्सा, ४. अमूढ़ दृष्टि, ५. उपबृंहणा, ६. स्थिरीकरण, ७. वात्सल्य एवं ८. प्रभावना—ये आठ दर्शन के आचार हैं। इनसे विपरीत करना दर्शनाचार के अतिचार हैं ॥२६८ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चारित्राचार के ८ अतिचार—प्रणिधान और योगपूर्वक पाँच समिति तथा तीन गुप्ति का पालन करना चारित्राचार है। इससे विपरीत आचरण करना चारित्राचार के अतिचार हैं॥२६९॥

तपाचार के १२ अतिचार—१. अनशन, २. ऊनोदरी, ३. वृत्ति संक्षेप, ४. रसत्याग, ५. कायक्लेश और ६. संलीनता—ये छः बाह्य तप हैं। १. प्रायश्चित्त, २. विनय, ३. वैयावच्च, ४. स्वाध्याय, ५. ध्यान तथा ६. कायोत्सर्ग—ये छः आभ्यन्तर तप हैं। पूर्वोक्त बारह प्रकार के तप का उचित पालन न करना तपाचार के अतिचार हैं।

वीर्याचार के ३ तीन अतिचार—मन-वचन और काया की दुष्प्रवृत्ति—ये वीर्याचार के तीन अतिचार हैं॥२७०-२७२॥

सम्यक्त्व के ५ अतिचार—१. शंका, २. कांक्षा, ३. विचिकित्सा, ४. अन्यतीर्थ प्रशंसा, ५. परतीर्थी की सेवा—ये पाँच सम्यक्त्व के अतिचार हैं॥२७३॥

प्रथमव्रत के अतिचार—१. मनुष्य व तिर्यंचों के भोजन-पानी का अन्तराय करना, २. बन्धन से बाँधना, ३. वध करना, ४. अतिभार लादना, ५. त्वचादि का छेदन करना—ये पाँच प्रथमव्रत के अतिचार हैं॥२७४॥

द्वितीयव्रत के ५ अतिचार—१. सहसाकलंक दान, २. रहस्यदूषण, ३. स्त्री का मंत्र भेद, ४. कूटलेखकरण, ५. मृषोपदेश—ये पाँच द्वितीयव्रत के अतिचार हैं॥२७५॥

तृतीयव्रत के ५ अतिचार—१. चौरानीत, २. चौर प्रयोग, ३. झूठा माप-तौल, ४. शत्रु के साथ व्यवहार, ५. मिलावट करना—ये पाँच तृतीयव्रत के अतिचार हैं॥२७६॥

चतुर्थव्रत के ५ अतिचार—१. इत्वरपरिगृहीतागमन, २. अपरिगृहीतागमन, ३. तीव्रकामाभिलाष, ४. अनंगक्रीड़ा तथा ५. पर-विवाहकरण—ये पाँच चतुर्थव्रत के अतिचार हैं॥२७७॥

पंचमव्रत के ५ अतिचार—१. क्षेत्र और घर एकत्रित करना, २. अतिरिक्त सोना-चाँदी स्वजनों को देना, ३. धन-धान्य आदि दूसरों के घर रखना, ४. द्विपद-चतुष्पद (स्त्री-गाय-भैंस आदि) को गर्भधारण करवाना, ५. अल्प मूल्य वाली वस्तु को बहुमूल्य वाली बनाकर वस्तु की संख्या में वृद्धि न होने देना—ये पंचमव्रत के पाँच अतिचार हैं॥२७८-२७९॥

षष्ठव्रत के ५ अतिचार—१-३. तिर्यक्, अधो और ऊर्ध्व दिशा में गमनागमन के नियम का उल्लंघन करना—ये दिशाव्रत के तीन अतिचार हैं। ४. दिशा परिमाण की विस्मृति होना तथा ५. क्षेत्रवृद्धि करना—ये पाँच दिशाव्रत के अतिचार हैं॥२८०॥

सप्तमव्रत के ५ अतिचार—१. अपक्वाहार, २. दुष्पक्वाहार, ३. सचित्त आहार, ४. सचित्त प्रतिबद्ध आहार तथा ५. तुच्छौषधि भक्षण—ये पाँच सप्तमव्रत के अतिचार हैं॥२८१॥

अष्टमव्रत के ५ अतिचार—१. कौत्कुच्य २. मौखरिक ३. भोग-उपभोगातिरेक ४. कन्दर्प एवं ५. युक्ताधिकरण—ये पाँच अनर्थदण्ड के अतिचार हैं॥२८२॥

नवमव्रत के ५ अतिचार—१-३. मन-वचन-काया का दुष्प्रणिधान, ४. सामायिक की विस्मृति तथा ५. अनवस्थितकरण—ये पाँच सामायिकव्रत के अतिचार हैं॥२८३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दशमव्रत के ५ अतिचार—**१. आनयन, २. प्रेषण, ३. शब्दानुपात, ४. रूपानुपात, ५. पुद्गलप्रक्षेप—ये पाँच देशावकाशिकव्रत के अतिचार हैं ॥२८४॥**

एकादशव्रत के ५ अतिचार—**१. अप्रमार्जित शय्या, २. दुष्प्रमार्जित शय्या, ३. अप्रमार्जित स्थंडिल, ४. दुष्प्रमार्जित स्थंडिल तथा ५. अननुपालन—ये पाँच पौषध व्रत के अतिचार हैं ॥२८५॥**

द्वादशव्रत के ५ अतिचार—**१. सचित्तनिक्षेप, २. सचित्तपिधान, ३. अन्य व्यपदेश, ४. मात्सर्य और ५. कालातिक्रम—ये पाँच बारहवें अतिथिसंविभाग व्रत के अतिचार हैं ॥२८६॥**

—विवेचन—

५ संलेखना के अतिचार	१५ कर्मादान के अतिचार	८ ज्ञानाचार के अतिचार
८ दर्शनाचार के अतिचार	८ चरित्राचार के अतिचार	१२ तपाचार के अतिचार
३ वीर्याचार के अतिचार	५ सम्यक्त्व के अतिचार	६० बारहव्रत के अतिचार

संलेखना के ५ अतिचार

१. इहलोक आशंसा — मनुष्य की अपेक्षा से मानव समूह इहलोक है, उससे भिन्न देव समूह परलोक है। आशंसा का अर्थ है—अभिलाषा। इहलोक-आशंसा का अर्थ है अनशनादि आराधना के फलस्वरूप अगले जन्म में इस जीवन की अपेक्षा उच्च जीवन की कामना करना। जैसे, मैं अगले जन्म में हाथी, घोड़ों से सुशोभित सैंकड़ों अश्वशालाओं से युक्त, सुवर्ण, रत्न, मणि, माणिक्य की समृद्धि से कुबेर के भण्डार को जीतने वाले खजानों वाला राजाधिराज बनूँ....बुद्धिमान महामन्त्री बनूँ....समृद्धिशाली सेठ बनूँ आदि।

२. परलोक आशंसा — अपनी आराधना के फलस्वरूप अगले जन्म में देव-देवेन्द्र आदि पद की कामना करना।

परलोकाशंसा में वर्तमान जीवन की अपेक्षा भविष्य में ऊँची पर्याय वाले जीवन की अभिलाषा करना है। जैसे मनुष्य होकर देवभव की कामना करना। जबकि इहलोक आशंसा में वर्तमान जीवन की अपेक्षा समान पर्याय वाले ऐश्वर्ययुक्त जीवन की अगले जन्म के लिये इच्छा करना। जैसे आराधना के फलस्वरूप अगले जन्म में चक्रवर्ती राजा आदि बनने की अभिलाषा रखना।

३. मरण-आशंसा — ऐसे भावनाहीन क्षेत्र में अनशन स्वीकार किया कि जहां शासन की प्रभावना करने वाला पूजादि समारोह नहीं हो सकता। ऐसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थिति में अनशनी यह भावना करे कि अब मैं शीघ्र मरूँ तो अच्छा होगा। अथवा, असह्य व्याधि से ऊबकर जल्दी मरने की चाह करना।

४. जीवित आशंसा — अनशन लेने के बाद, कपूर, चन्दन, वस्त्र वगैरह द्वारा होने वाली विशिष्ट पूजा, अपने दर्शन के लिये उमड़ते मानव समूह को देखकर तथा लोकों के प्रशंसा वचन को सुनकर विचारे कि 'मैं चिरकाल अनशनी के रूप में जीवित रहूँ, मेरे निमित्त से लम्बे काल तक शासन की प्रभावना होती रहे।'

५. काम-भोग आशंसा — काम = शब्द, रूप। भोग = गंध, रस, स्पर्श।
इसमें इहलोक और परलोक दोनों से सम्बन्धित काम-भोग की आकांक्षा रहती है। अतः यह १-२ से भिन्न है।

- इस प्रकार के धर्माराधन के फलस्वरूप मुझे जन्मान्तर में विशिष्ट काम-भोग मिले ऐसी आशंसा रखना।
- पूर्वोक्त पाँच संलेखना के अतिचार हैं। आशंसा करने से विधिपूर्वक की गई आराधना भी सदोष हो जाती है। अतः इन पाँचों का त्याग करना चाहिये।

आशंसा विनिर्मुक्तोऽनुष्ठानं सर्वमाचरेत्।
मोक्षे भवे च सर्वत्र, निःस्पृहो मुनिसत्तमः॥

अर्थ—मोक्ष और संसार के प्रति निस्पृह, मुनिश्रेष्ठ, सभी अनुष्ठान निष्काम भाव से करे॥ २६४॥

कर्मादान १५—जिनके द्वारा आत्मा कर्मों का बन्धन करता है वे कर्मादान हैं।

१. अङ्गारकर्म — अग्निकाय के आरम्भ से निष्पन्न वस्तुओं के क्रय-विक्रय द्वारा आजीविका करना। जैसे कोयला, ईंट आदि बनाकर बेचना। कुम्भार, लुहार, सुनार एवं भड़भूँजा आदि का धन्धा करना।

२. वनकर्म — आजीविका के लिये कटे, बिना कटे पेड़, पत्ते, पुष्प, फलादि को बेचना। किसी के मतानुसार मूँग, चना आदि की दाल बनाना, गेहूँ, जौ आदि को दलना, पीसना वनकर्म है। यहाँ इसे स्फोटकर्म माना है।

३. शकटकर्म — गाड़ी, रथ आदि वाहन तथा उनके अवयव जैसे, पहिये, धुरी आदि स्वयं बनाना अथवा बनवाकर बेचना।

४. स्फोटकर्म — आजीविका के लिये कुँआ, बावड़ी, तालाब आदि खुदवाना, हल चलाना, पत्थर फोड़ना, घड़ना, खान खुदवाना, गेहूँ, जौ, चना, मूँग, उड़द आदि को दलना-पीसना, चांवल खांडना, कनी करना आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. भाटककर्म — अपने वाहनों से दूसरों का माल ढोना, बैलगाड़ी आदि वाहनों को किराये पर देना भाटककर्म है।

६. विषवाणिज्य — सभी प्रकार के जहर, प्राणघातक—धनुष-बाण, तलवार, छुरी, भाला, कुदाली, फावड़ा आदि का व्यापार करना। यह जीवहिंसा का कारण होने से पाप है।

७. लाक्षा-वाणिज्य — जिसमें असंख्य जीवों की हिंसा होती है ऐसी लाख, धातकी, नील, पारा, हरताल, वज्रलेप आदि का व्यापार करना।

८. दंतवाणिज्य — हाथी दाँत, शंख, सीप, चर्म, केश, कस्तूरी, कौड़ी, भेरी आदि लाने के लिये पहले से भील आदि को पैसे देकर नियुक्त करना। स्वयं जंगल में जाकर खरीदना ताकि भील आदि हाथी, मृग आदि को मारकर दाँत, कस्तूरी आदि उपलब्ध करा सके। फिर उनका व्यापार करना।

९. केशवाणिज्य — दास-दासी, हाथी-घोड़ा, गाय-भैंस, ऊँट-गधा आदि द्विपद, चतुष्पद जीवों का क्रय-विक्रय कर आजीविका चलाना। सजीव का विक्रय केशवाणिज्य है और निर्जीव का विक्रय दंतवाणिज्य है।

१०. रसवाणिज्य — शहद, मक्खन, मांस, मदिरा, दूध, दही, घी, तेल आदि का व्यापार करके आजीविका चलाना।

११. दवदान — तृणादि को जलाने के लिये आग लगाना। यह सहेतुक व अहेतुक दो तरह का है जैसे, कई जंगली लोक पुण्यबुद्धि से अपने परिवारे को कह जाते हैं कि मेरे मरने के पश्चात् मेरे कल्याण के लिये इतने दीपोत्सव करना अर्थात् इतने तृणादि जलाना। नये तृण उगाने के लिये पुराने तृण जलाना ताकि गायों के लिये ताजा चारा पैदा हो। खेत को नई फसल के लिये साफ करने हेतु जलाना।

१२. यंत्रवाहन — तिल, गन्ना, सरसों, एरण्डी, मूँगफली आदि को यन्त्र से पीलना, अरहट्ट आदि से जल निकालना। शिला-लोढा, ऊखल-मूशल आदि का विक्रय करना। पीलने से तिलादि में रहे हुए जीवों की हिंसा होती है अतः ऐसा व्यापार सदोष है। लौकिक दृष्टि से भी यह त्याज्य है। कहा है कि—

दशसूनासमश्चक्री, दशचक्रिसमो ध्वजः।
दशध्वजसमा वेश्या, दशवेश्यासमो नृपः॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ — चूल्हे-घट्टी से दशगुणा अधिक हिंसा का स्थान घाणी-चालक है। उससे दशगुणा अधिक हिंसक एक शराब बनाने वाला है। उससे दशगुणा अधिक हिंसा का स्थान एक वेश्या है व उससे दशगुणा अधिक पाप का स्थान एक राजा है।

१३. निर्लांछनकर्म — गाय, भैंस, ऊँट, बैल आदि के अङ्गों को छिदवाना, नासिकावेध करवाना, बैल आदि को गाड़ी में जोतने के लिये नपुंसक बनाना, ऊँट की पीठ गलवाना, गायों के कर्णकम्बल आदि का छेदन करना।

१४. असतीपोषण — बिल्ली, तोता, मोर, बन्दर, कुत्ता, दासी, वेश्या तथा नपुंसक आदि कुशील प्राणियों का पोषण करना।

१५. जलाशयशोषण — तालाब, कुँआं, बावड़ी आदि का पानी सुखाना। इससे अप्काय जीवों के साथ मछली आदि त्रस जीवों का भी नाश होता है।

- पूर्वोक्त पन्द्रह कर्मादान का सेवन करने से जीवों की महती विराधना होती है अतः ये सर्वथा त्याज्य है। इनकी गणना उपलक्षणमात्र है अतः ऐसे सावद्यकार्य जो भी हैं सभी त्याज्य समझना चाहिये।
- इन कर्मादानों की आसेवना का त्याग कर देने पर यदि अज्ञानतावश सेवन हो जाय तो अतिचार लगता है॥ २६५-२६६॥

ज्ञानाचार के आठ अतिचार—

ज्ञान के आचार में मलिनता आना ज्ञानातिचार है। ज्ञान के आचार आठ हैं। अतिचारों को जानने से पूर्व यदि आचार को जान लें तो अतिचारों को जानना सुगम होगा। इसी प्रकार दर्शन व ज्ञान सम्बन्धी अतिचारों के विषय में समझना।

१. काल — अङ्गप्रविष्ट, अनंग-प्रविष्ट आदि आगमों को पढ़ने का जो समय निश्चित है, उन आगमों का उसी समय स्वाध्याय करना काल विषयक आचार है। समय पर किया गया काम फलदायक होता है, जैसे, समय पर की गई खेती। अन्यथा दोषों की सम्भावना रहती है।

२. विनय — ज्ञान व ज्ञान के साधन, पुस्तक, पेन आदि का आदर करते हुए पढ़ना तथा ज्ञानी को आसन देना, उनकी आज्ञा का पालन करना आदि।

३. बहुमान — ज्ञान व ज्ञानी के प्रति आन्तरिक प्रीति रखते हुए पढ़ना।

४. उपधान — उप = समीप में, धीयते = धारण करना। सूत्रादि को पढ़ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के लिए किया जाने वाला तप विशेष उपधान है अर्थात् जिस सूत्र, अध्ययन व उद्देशक को पढ़ने के लिये जो तप बताया गया है, उस सूत्रादि को उस तप पूर्वक पढ़ना उपधान है।

५. अनिह्नवण — क्या पढ़ रहे हैं? और किससे पढ़ रहे हैं? इन तथ्यों का अपलाप (छुपाना) न करते हुए पढ़ना। अभिमानवश अपनी लघुता के डर से श्रुत व श्रुतदाता का अपलाप करते हुए आगमादि नहीं पढ़ने चाहिये।

६. व्यंजन — अक्षर, शब्द, वाक्य वगैरह का सम्यक् उपयोग रखते हुए सूत्रादि पढ़ना।

७. अर्थ — जिसका जो अर्थ है, सम्यक् उपयोगपूर्वक उसका वही अर्थ करते हुए सूत्र पढ़ना।

८. तदुभय — शब्द व अर्थ इन दोनों को सम्यक् उपयोगपूर्वक संबद्ध करते हुए पढ़ना।

यह आठ प्रकार का श्रुतज्ञान का आचार है। इससे विपरीत आचरण अतिचार है॥ २६७॥

दर्शनाचार के आठ अतिचार—

१. निःशंकित — जिन वचन के प्रति सन्देह रहित।

२. निःकांक्षित — अन्य दर्शन के प्रति रुचि रहित।

३. निर्विचिकित्सा — युक्ति व आगमसिद्ध धर्मक्रियाओं के फल में सन्देह न रखना। निर्विचिकित्सा के स्थान पर 'निर्विद्वत्जुगुप्सा' ऐसा भी पाठ है। उसका अर्थ है कि मल मलिन गात्र वाले साधु-साध्वियों को देखकर 'ये गन्दे हैं,' 'ये घृणित हैं,' इस प्रकार की जुगुप्सा न करना।

४. अमूढ़ता — तप-विद्या, मंत्र-तंत्र की विशिष्टता वाले कुतीर्थियों की ऋद्धि-सिद्धि देखकर सम्यक् श्रद्धा से विचलित न होना।

५. उपबृंहणा — किसी के तप, वैयावच्च, सेवा आदि सद्गुणों की प्रशंसा करके उनके सद्गुणों को उत्तरोत्तर बढ़ाना।

६. स्थिरीकरण — धर्म-मार्ग में अस्थिर व्यक्ति को मधुर वचनों से पुनः धर्म में स्थिर करना।

७. वात्सल्य — जिनकी देव गुरु धर्म सम्बन्धी मान्यता समान है, ऐसे स्वधर्मियों का भोजन वस्त्रादि से सम्मान करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. प्रभावना — धर्मकथा, वादी-विजय, दुष्कर-तप की आराधना आदि के द्वारा जिन शासन की प्रभावना करना।

- यद्यपि जिन शासन शाश्वत, जिन प्ररूपित, देव-देवेन्द्रों से नमस्कृत होने से स्वयं प्रकाशमान है, तथापि अपने सम्यक्त्व की निर्मलता के इच्छुक आत्मा अपने किसी प्रभावशाली गुण से शासन की प्रभावना करते हैं। उदाहरणार्थ वज्रस्वामी आदि की तरह। पूर्वोक्त आचारों से विपरीत आचरण दर्शनाचार के अतिचार हैं॥ २६८॥

चारित्राचार के आठ अतिचार—

चित्त की स्वस्थतापूर्वक मन-वचन व काया का व्यापार-प्रणिधान योग है, उससे युक्त पाँच समिति और तीन गुप्ति का पालन करना चारित्राचार है। इससे विपरीत आचरण चारित्राचार के अतिचार हैं॥ २६९॥

ज्ञानाचार, दर्शनाचार व चारित्राचार से विपरीत आचरण करना ज्ञानादि के अतिचार हैं। आचारों से विपरीत आचरण तभी होता है जब हमारा भाव दूषित हो। अतः चित्त की मलिनता ही अतिचार है।

तपाचार के १२ अतिचार— छः बाह्य, छः आभ्यन्तर—

१. अनशन — आहार त्याग (न + अशन = अनशन)। इसके दो भेद हैं—इत्वरिक व यावत्कथिक।

(i) इत्वरिक — परिमित काल तक आहार का त्याग करना इत्वरिक अनशन है। जैसे नवकारसी से लेकर प्रथमजिन के शासन में १२ मास का, मध्यवर्ती २२ जिन के शासन में ८ मास का तथा चरमजिन के शासन में ६ मास का उपवास होता है।

(ii) यावत्कथिक — आजीवन आहार का त्याग करना यावत्कथिक अनशन है। चेष्टा व उपाधि के भेद से यह तीन प्रकार का है, पादपोपगमन, इंगितमरण तथा भक्तपरिज्ञा। इन तीनों का स्वरूप १५७वें द्वार में देखें।

२. ऊनोदरी — अपनी आवश्यकता से कुछ कम आहार ग्रहण करना। इसके दो भेद हैं—द्रव्य और भाव।

- द्रव्य उनोदरी—यह आहार, पानी व उपकरण के भेद से ३ प्रकार की है।

आहार ऊनोदरी — अपने आहार-प्रमाण से कम खाना आहार ऊनोदरी है। पुरुष का आहारमान ३२ कवल तथा स्त्री का २८ कवल है। कवल का प्रमाण छोटे नींबू जितना है अथवा जितना ग्रास लेने पर मुँह विकृत न बने वह कवल का प्रमाण है, इससे कम खाना उनोदरी है। यह ऊनोदरी अल्पाहारादि के भेद से ५ प्रकार की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(i) अल्पाहारा — जघन्य से १ कवल, उत्कृष्ट ८ कवल तथा मध्यम २ से ७ कवल तक खाना।

(ii) अपार्धा — जघन्य ७ कवल, उत्कृष्ट १२ कवल तथा मध्यम १० से १२ कवल खाना।

(iii) द्विभाग — जघन्य १३ कवल, उत्कृष्ट १६ कवल तथा मध्यम १४ कवल से १६ कवल खाना।

(iv) प्राप्ता — जघन्य १७ कवल, उत्कृष्ट २४ कवल तथा मध्यम १८ से २३ कवल खाना।

(v) किंचित् न्यूना — जघन्य २५ कवल, उत्कृष्ट ३१ कवल तथा मध्यम १७ से ३० कवल खाना।

जल की ऊनोदरी भी आहार की तरह समझना।

उपकरण ऊणोदरी — उपकरणों (वस्त्र-पात्र आदि) में कटौती करना, उपकरण ऊणोदरी है। यह ऊणोदरी जिनकल्पी व जिनकल्प के अभ्यासी मुनियों से सम्बन्धित है। स्थविरकल्पियों के ऐसी ऊणोदरी नहीं होती, क्योंकि आवश्यक उपकरण के अभाव में उनका संयम पालन अशक्य है। हाँ, आवश्यक उपकरणों से अधिक उपकरण न रखना, यह ऊणोदरी स्थविरकल्पियों के भी होती है। जो संयम पालन में उपकारी बनते हैं वे उपकरण हैं, इससे अधिक अधिकरण हैं।

भाव ऊणोदरी — अपने अन्तःकरण को जिनवचन से भावित बनाकर क्रोधादि का त्याग करना।

३. वृत्तिसंक्षेप — वृत्ति = जिसके द्वारा जीवन चले ऐसी भिक्षा, संक्षेप = संकोच। अर्थात् अभिग्रहपूर्वक आहार-पानी ग्रहण करना। अभिग्रह के अनेक रूप हैं— द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः व भावतः।

द्रव्यतः — मैं आज लेपकारी (जिससे पात्र लिप्त बनता हो), अलेपकारी (जिससे पात्र लिप्त न बनता हो), द्रव्य विशेष जैसे भाले की अणी पर रखा हुआ मालपूआ आदि मिलेगा तो ही मैं भिक्षा लूँगा अथवा चम्मच, कटोरी आदि से दी गई भिक्षा ही लूँगा अन्यथा नहीं। इस प्रकार द्रव्य विषयक अभिग्रहपूर्वक भिक्षा लेना।

क्षेत्रतः — क्षेत्र सम्बन्धी अभिग्रहपूर्वक भिक्षा ग्रहण करना। जैसे एक, दो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घर से, स्वग्राम या परग्राम से, अमुक मोहल्ले से ही भिक्षा लूँगा। दाता एक पाँव देहली के भीतर व एक पाँव देहली के बाहर रखकर भिक्षा देगा तो ही लूँगा। स्वगाँव, परगाँव या इतने घरों से तथा भिक्षागमन की जो आठ भूमि है पेटा, अर्द्ध- पेटा आदि उसमें से किसी एक भूमि से भिक्षा ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं।

कालतः — पूर्वाह्न आदिकाल में, सभी भिक्षुओं के द्वारा भिक्षा ले आने के बाद भिक्षा लेने जाऊँगा। भिक्षाकाल से पूर्व, भिक्षाकाल के बाद में अथवा भिक्षाकाल में जो आहारादि मिलेगा वही लूँगा अन्यथा नहीं लूँगा। इस प्रकार काल विषयक अभिग्रह धारण करना।

कहा है — भिक्षा देने वाले और लेने वाले को यत्किंचित् भी अप्रीति न हो इसलिये भिक्षाकाल से पूर्व अथवा पश्चात् गोचरी के लिए भ्रमण न करे, प्रत्युत पूर्वकर्म-पश्चात्कर्म आदि दोषों से बचने के लिए भिक्षाकाल में ही भ्रमण करे।

भावतः — दाता हँसता, गाता या रोता हुआ भिक्षा देगा तो ही लूँगा....बन्धन बद्ध देगा तो ही लूँगा, ऊपर उठाये हुए भाजन से अथवा नीचे रखे हुए भाजन से भिक्षा देगा तो ही लूँगा अन्यथा नहीं। दूर रहकर, समीप आकर, पराङ्मुख होकर, सुशोभित होकर या ऐसे ही भिक्षा देगा तो लूँगा।

४. रसत्याग — विशिष्ट रस वाले व विकार के हेतुभूत दूध, घी आदि का त्याग करना।

५. कायक्लेश — वीरासन, उत्कटुकासन, लोच आदि परीषहों का शास्त्रसंमत विधि से सहन करना। क्योंकि ये भव-वैराग्य के निमित्त हैं। काययोग का निरोध, जीवों पर दया, परलोकदृष्टि व दूसरों का बहुमान ये वीरासनादि के गुण हैं। शारीरिक मूर्च्छा का त्याग, पूर्वकर्म, पश्चात्कर्म का परिहार, सहिष्णुता का विकास व नरकादि के दुःख का चिन्तन करने से संसार से वैराग्य होता है। ये लोच के गुण हैं।

६. संलीनता — इन्द्रिय आदि का संगोपन। इसके ४ प्रकार हैं—

(i) इन्द्रिय संलीनता — पाँच इन्द्रियों के अच्छे बुरे विषयों के प्रति राग-द्वेष न करना।

(ii) कषाय-संलीनता — उदित कषायों को निष्फल करना तथा सत्तागत कषायों को तथाविध अध्यवसायों के द्वारा उदय में न आने देना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(iii) योग-संलीनता — मन, वचन, काया की अशुभ प्रवृत्ति को रोकते हुए उन्हें शुभ प्रवृत्ति में लगाना।

(iv) विविक्तशय्यासनता — स्त्री, पशु, नपुंसक आदि से रहित स्थान में वास करना। सोने-बैठने के लिए एषणीय पाट आदि ग्रहण करना।

- पूर्वोक्त सभी तप बाह्य हैं क्योंकि ये द्रव्यादि सापेक्ष हैं। प्रायः इनमें शरीर को सहन करना पड़ता है। सामान्यजन भी इन्हें तपरूप मानते हैं तथा अन्यदर्शनी भी इन्हें अपनी कल्पना के अनुसार करते हैं॥ २७०॥

७. प्रायश्चित्त — चित्त = जीव, प्रायः = अधिकांश अर्थात् मूल-उत्तर गुण सम्बन्धी अतिचारों के कारण कर्ममल से मलिन बनी हुई आत्मा को निर्मल बनाने वाला तप प्रायश्चित्त है।

प्रायश्चित्त के दस प्रकार — आलोचना, प्रतिक्रमण, मिश्र, विवेक, कायोत्सर्ग, तप, छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पारांचिक। इनका विवेचन ९८वें द्वार में द्रष्टव्य है।

८. विनय — जिसके पालन से आठ कर्म दूर होते हैं वह विनय-तप है। यह सात प्रकार का है—

(i-v) ज्ञान विनय — मति आदि पाँच प्रकार के ज्ञान की भक्ति, बहुमान, ज्ञान द्वारा प्ररूपित पदार्थों में श्रद्धा, ज्ञान को विधि पूर्वक ग्रहण करना तथा उसका सतत अभ्यास करना ज्ञान-विनय है।

(v) दर्शन विनय — दर्शन विनय दो प्रकार का है—
(i) दर्शनगुणाधिक की शुश्रूषा करना, **(ii)** उनकी किसी प्रकार की आशातना न करना।

शुश्रूषा विनय — दर्शनी का सत्कार, अभ्युत्थान, सम्मान, आसनाभिग्रह, आसनदान, कृतिकर्म, अञ्जलिग्रह आदि करना। दर्शनी आ रहे हों तो उनके सम्मुख जाना, बैठे हों तो उनकी सेवा करना, जा रहे हों तो उनका अनुगमन करना।

सत्कार = स्तवन, नमन आदि। अभ्युत्थान = विनय करने योग्य आत्माओं को देखकर आसन छोड़कर खड़े हो जाना। सन्मान = वस्त्र-पात्र आदि देकर सम्मान करना। आसनाभिग्रह = गुणाधिक या गुरु के आने पर आसन लाकर विनती करना कि "आप इस पर बिराजिये।" आसनदान = गुरु या गुणाधिक एक स्थान से दूसरे स्थान पर पधारे तब उनके पीछे आसन लेकर जाना। कृतिकर्म = वन्दन। अञ्जलिग्रह = हाथ जोड़ना।

अनाशातना विनय — आशातना त्यागरूप विनय १५ प्रकार का है। तीर्थंकर, धर्म, आचार्य, वाचक, स्थविर, कुल, गण, संघ, सांभोगिक (एक समाचारी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाले), क्रियावान, मति आदि ५ ज्ञान की भक्ति, बहुमान व प्रशंसा करना (वर्णवाद)।

भक्ति = बाह्य सेवा-सत्कार।

बहुमान = आन्तरिक प्रीति। वर्णवाद = गुण-कीर्तन।

चारित्र विनय — सामायिकादि चारित्रधर्म के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखना....काया से उनका पालन करना....वचन से चारित्रधर्म की प्ररूपणा करना....आचार्यादि का मन-वचन-काया से विनय करना....तथा तीनों योगों की अशुभ प्रवृत्ति को रोककर उन्हें सदा शुभ में प्रवृत्त रखना।

(vii) औपचारिक विनय — ऐसी प्रवृत्ति करना जिससे गुरु को शाता पहुँचे। यह सात प्रकार का है— **(i)** अभ्यास-स्थान-सूत्रादि के अभ्यास के लिए गुरु के पास रहना।**(ii)** छंदानुवर्तन—गुरु की इच्छा का अनुसरण करना।**(iii)** कृतप्रतिकृति—गुरु सूत्रार्थ देकर हमें प्रत्युपकृत करेंगे इस भावना से गुरु को आहारादि देना, मात्र निर्जरा के लिये ही नहीं।**(iv)** कार्यनिमित्तकारण—मुझे गुरु ने श्रुत का अध्ययन करवाया है इसलिये इनका विशेष रूप से विनय करना चाहिए अथवा पुनः विशेष रूप से गुरु मुझे सूत्रार्थ का अध्ययन करायेंगे इस हेतु आहारादि देना, उनकी आज्ञा का पालन करना आदि। **(v)** दुःखार्त्तगवेषण—रोगादि से पीड़ित गुरु की औषधि आदि के द्वारा सेवा-शुश्रूषा करना।**(vi)** देशकाल-ज्ञान—देश-काल के अनुरूप गुरु के प्रति व्यवहार करना।**(vii)** सर्वार्थ-अनुमति—सदा गुरु के अनुकूल रहना अथवा गुरु का ५२ प्रकार का विनय करना। (६५वें द्वार में देखें)।

९. वैयावच्च — धर्म-साधन के लिए विधिपूर्वक अन्न, वस्त्र, पात्र इत्यादि का दान देना।

१०. स्वाध्याय — काल-वेला का त्याग करते हुए स्वाध्याय करना। जिस पौरुषी में जो पढ़ने का कहा है उसे उसी पौरुषी में पढ़ना, जैसे प्रथम पौरुषी में सूत्र पढ़ना व द्वितीय पौरुषी में अर्थ पढ़ना।

स्वाध्याय के ५ प्रकार—

(i) वाचना — शिष्य को अध्ययन कराना।

(ii) पृच्छना — पढ़े हुए श्रुत में संदेह पैदा होने पर पुनः पूछना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(iii) परावर्तना — संदेह का निराकरण करके स्पष्ट किया हुआ श्रुत पुनः विस्मृत न हो जाय इस हेतु बार-बार उनका परावर्तन करना।

(iv) अनुप्रेक्षा — **(I)** सस्वर सूत्र का पठन करना, **(II)** अर्थ विस्मृत न हो जाय इसलिये बार-बार अर्थ का चिन्तन करना।

(v) धर्मकथा — जिस श्रुत का बार-बार अभ्यास किया है, उसे आधार बनाकर दूसरों को उपदेश देना।

११. ध्यान — अन्तर्मुहूर्त तक चित्त को किसी एक विषय या वस्तु में स्थिर करना छद्मस्थ का ध्यान है। केवली का ध्यान योग-निरोध रूप होता है। ध्यान ४ प्रकार का है। आर्त्त, रौद्र, धर्म व शुक्ल।

१. आर्त्तध्यान — इष्ट वियोग व अनिष्ट संयोगजन्य चिंतन।

(i) ऋत = दुःख, उसके निमित्त से होने वाला ध्यान अथवा पीड़ित प्राणी का ध्यान आर्त्त ध्यान है। अमनोज्ञ शब्दादि, अनिच्छित वस्तु, व्यक्ति एवं परिस्थिति का संयोग होने पर उनके वियोग का एवं भविष्य में पुनः उनका संयोग न हो ऐसा चिन्तन करना—आर्त्तध्यान है।

(ii) रोगादि कष्ट आने पर यह जल्दी से दूर हो व भविष्य में पुनः न आवे ऐसा चिन्तन करना।

(iii) इच्छित विषय, वस्तु, व्यक्ति परिस्थिति तथा साता वेदनीय का सदा संयोग बना रहे, कभी वियोग न हो ऐसा चिन्तन करना।

(iv) देव, इन्द्र, चक्रवर्ती पद की कामना करना।

- शोक, आक्रन्दन, स्वदेहताड़न, विलाप वगैरह आर्त्त-ध्यान के लक्षण हैं और यह तिर्यंच गति का कारण है।

२. रौद्र ध्यान — दूसरों को रुलाना = 'रुद्र' तथा रुलाने का चिन्तन "रौद्र ध्यान" अर्थात् हिंसादि में परिणत आत्मा का प्रयत्न रौद्र ध्यान है। इसके चार भेद हैं—

(i) दूसरे जीवों की ताड़ना, तर्जना, वध, वेध, बंधन, दहन, मारने तथा निशानादि गुदवाने का चिन्तन करना।

(ii) झूठ, चोरी, चुगली, हिंसादि का सतत ध्यान करना।

(iii) तीव्र क्रोध व अतिलोभवश जीवहिंसा, परलोक में होने वाली हानि की परवाह किये वगैर परद्रव्यहरण करने का चिन्तन करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(iv) सभी को विचलित करने वाले तथा परम्परया हिंसादि पाप कराने वाले शब्द, रूप, रस, गंधादि विषयों के पोषक द्रव्यों की रक्षा हेतु सतत चिंतन करना। हिंसा, झूठ, चोरी आदि में बार-बार प्रवृत्त होना। ये नरक गति के कारण हैं।

३. धर्म ध्यान — (i) क्षमादि दशविध धर्म से अनुप्राणित जिनाज्ञा का बार-बार चिंतन करना।

(ii) राग-द्वेष, विषय-कषायवश जीव को होने वाली हानि का चिंतन करना।

(iii) शुभ-अशुभ, कर्मफल का सतत चिंतन करना।

(iv) द्वीप, समुद्र आदि पदार्थों के संस्थान, रचना-आकार आदि का चिंतन करना।

जिनप्रणीत तत्त्वों के प्रति श्रद्धा-आस्था होना, इसके लक्षण हैं। यह देवगति का कारण है।

४. शुक्ल-ध्यान — आगमानुसारी अनेक नय सापेक्ष किसी एक द्रव्य की उत्पत्ति, स्थिति, विनाश आदि पर्यायों के चिंतन द्वारा अष्टविध कर्ममल को अथवा शोक को दूर करने वाला ध्यान।

अहिंसा, असंमोह, विवेक व उत्सर्ग आदि लक्षणों से युक्त शुक्लध्यान मोक्ष-फल का साधक है।

- धर्म-शुक्लध्यान, निर्जरा का हेतु होने से तप है।
- आर्त्त-रौद्र ध्यान कर्मबंध का हेतु होने से तप नहीं है।

१२. उत्सर्ग — त्यागने योग्य का त्याग करना। वह त्याग दो प्रकार का है—बाह्य व आभ्यन्तर।

(i) बाह्य—बारह प्रकार की उपधि से अतिरिक्त का त्याग करना, अनैषणीय व दोषमिश्रित आहार-पानी का त्याग करना बाह्य उत्सर्ग है।

(ii) आभ्यन्तर—कषायों का व अन्त समय में शरीर का त्याग करना आभ्यन्तर उत्सर्ग है।

प्रश्न—प्रायश्चित्त के भेद के रूप में 'उत्सर्ग' आ जाता है, पुनः उसे तप में ग्रहण क्यों किया?

उत्तर—प्रायश्चित्तगत उत्सर्ग अतिचारों की विशुद्धि के लिए है, जबकि तप रूप उत्सर्ग सामान्यतः कर्मनिर्जरा के लिए है अतः यहाँ पुनरुक्त दोष नहीं है।

प्रश्न—प्रायश्चित्तादि छः को आभ्यन्तर तप क्यों कहा जाता है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तर—प्रायश्चित्त से लेकर उत्सर्ग तक के अनुष्ठान को लोक तपरूप नहीं समझते। कुतीर्थिक लोक इन्हें भाव से स्वीकार नहीं करते। मोक्ष प्राप्ति के अन्तरंग कारण हैं। आत्मिक विकारों को तपाने वाले हैं। अन्तर्मुखी सन्तों एवं भगवन्तों के द्वारा ही ज्ञेय हैं अतः इन्हें आभ्यन्तर तप कहा जाता है।

प्रश्न—इनके अतिचार कैसे होते हैं?

उत्तर—तप के १२ भेदों का विपरीत, न्यूनाधिक या अव्यवस्थित आचरण करना ही अतिचार है और वे १२ हैं।

वीर्याचार के ३ अतिचार—मन-वचन व काया की पाप युक्त प्रवृत्तियाँ वीर्याचार के अतिचार हैं॥ २७०-२७० ॥

सम्यक्त्व के ५ अतिचार—

१. शंका — जिनेश्वर देव द्वारा प्रणीत, अप्रत्यक्ष धर्मास्तिकायादि पदार्थों के विषय में संदेह करना कि ये पदार्थ हैं या नहीं? इसके दो भेद हैं—**(i)** देश-शंका व **(ii)** सर्वशंका।

(i) देश शंका — भगवान के द्वारा प्रणीत किसी एक पदार्थ के विषय में शंका करना जैसे, जीव तत्त्व है, किन्तु वह सर्वगत है या असर्वगत? सप्रदेशी है या अप्रदेशी?

(ii) सर्वशंका — सम्पूर्ण पदार्थ के विषय में शंका करना, जैसे, धर्मास्तिकाय है या नहीं?

दोनों ही प्रकार की शंका वीतराग के वचनों में अविश्वास पैदा करने वाली होने से सम्यक्त्व को दूषित करती है अतः अतिचार रूप है।

आप्त-पुरुषों के द्वारा बताये गये पदार्थों की प्रामाणिकता का आधार छद्मस्थों के प्रमाण नहीं हो सकते क्योंकि वे स्वतः असन्दिग्ध हैं।

- मति-मन्दता के कारण,
- तथाविध आचार्यों के अभाव से,
- जानने योग्य पदार्थों की गहनता के कारण,
- ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से,
- हेतु और उदाहरण के अभाव में,

यदि कोई बात समझ में नहीं आती है तो भी मतिमान आत्मा सर्वज्ञ के वचन में शंका नहीं करते क्योंकि अनुग्रह-परायण, राग, द्वेष और मोह के विजेता ऐसे जिनवर कभी झूठ नहीं बोलते।

- सूत्रोक्त एक अक्षर के प्रति भी अश्रद्धा मिथ्यात्व का कारण है अतः जिनेश्वर देव के सभी वचन प्रमाण हैं। उनके प्रति जरा सा भी संदेह अविश्वास का कारण होने से संसार-वर्धक होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. कांक्षा — अन्य दर्शनों की चाह करना। इसके दो प्रकार हैं—

(i) सर्वत: — सभी पाखण्डी धर्मों की आकांक्षा करना सर्वत: कांक्षा है। जैसे परिव्राजक, ब्राह्मण, आदि विषय-सुख भोगते हुए भी सद्गति के भागी बनते हैं, अत: उनका धर्म भी करने योग्य है।

(ii) देशत: — अन्य दर्शनों में से किसी एक दर्शन की चाह रखना देशत: कांक्षा है। जैसे बौद्ध भिक्षुओं का जीवन इतना कठिन नहीं बताया जितना कि जैन मुनियों का। मृदुशय्या पर शयन करना, प्रात:काल उठकर पेय पान करना, मध्याह्न में मनोज्ञ भोजन करना, अपराह्न में दाख/इक्षुखण्ड आदि खाना। इस प्रकार की चर्या से अन्त में मोक्ष मिलता है, ऐसा बुद्ध ने देखा, यह भी ठीक ही है।

इस प्रकार की कांक्षा वास्तव में जिन धर्म के प्रति अविश्वास पैदा करने वाली होने से सम्यक्त्व को दूषित करती है।

३. विचिकित्सा — धर्म सम्बन्धी फल के प्रति संदेह रखना। मैं इतना दुष्कर तप कर तो रहा हूँ, किन्तु इसके फलस्वरूप मुझे स्वर्ग सुख की प्राप्ति होगी या नही? या यह 'तपोऽनुष्ठान' क्लेश रूप ही होगा? कर्मनिर्जरा होगी या नहीं? क्रिया दोनों प्रकार की देखी जाती है, सफल और निष्फल, जैसे किसान की खेती की क्रिया। वैसे धर्म क्रिया भी दोनों तरह की हो सकती है। इस प्रकार का चिन्तन नहीं करना चाहिये। कहा है कि—

"जो लोकमार्गगामी होते हैं, उन्हें फल प्राप्ति होती है। उतना धैर्य, संघयण बल आदि न होने से हमें वैसी फल प्राप्ति नहीं होती।" विचिकित्सा श्रद्धारूप सम्यक्त्व को दूषित करती है।

प्रश्न—इस प्रकार शंका और विचिकित्सा में कोई अन्तर नहीं लगता?

समाधान—शंका पदार्थों के द्रव्य-गुण से सम्बन्धित है और विचिकित्सा धर्म (क्रिया) फल विषयक है अथवा विचिकित्सा का अन्य अर्थ भी है। साधु के आचरण की निन्दा करना। उनके प्रति घृणा का भाव रखना आदि। जैसे—ये मुनि लोग स्नान नहीं करते, अत: ये बड़े गंदे और मलिन हैं। अगर ये प्रासुक जल से स्नान करें तो क्या दोष है? ऐसी विचिकित्सा वीतराग धर्म के प्रति अश्रद्धा का कारण होने से सम्यक्त्व को दूषित करती है।

४. अन्यतीर्थिक प्रशंसा — अन्य दर्शनियों की प्रशंसा करना। जैसे, अहो! ये बौद्ध आदि राज-पूज्य हैं, इनका बड़ा सत्कार और सम्मान है। ये महान् विद्वान और गुण सम्पन्न हैं। इस प्रकार इनकी प्रशंसा करने से सम्यक्त्व दूषित बनता है।

५. परतीर्थिक उपसेवन — अन्य दर्शनियों के साथ एक स्थान में रहना। इससे परस्पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आलापजन्य परिचय होता है जो सम्यक्त्व को दूषित करता है। (इनके साथ एक स्थान में रहने से उनकी प्रक्रिया का परिचय होता है जिससे सम्यक् श्रद्धा डगमगाने की सम्भावना रहती है)।

प्रश्न—दर्शनाचार के अतिचार में शंका-कांक्षा और विचिकित्सा ये तीनों अतिचार आ चुके हैं। सम्यक्त्व के अतिचार के रूप में पुनः इनको ग्रहण करना पुनरुक्त नहीं होगा क्या?

उत्तर—दर्शनाचार के अतिचार में शंका आदि सामान्य विषयक हैं, जैसे, देव, गुरु अथवा धर्म के विषय में सामान्य रूप से शंका करना। धर्म सम्बन्धी फल के प्रति कांक्षा होना। साधु-साध्वी की निन्दा-घृणा करना। पर यहाँ शंका आदि तीनों ही पदार्थ विशेष से सम्बन्धित हैं, जैसे जीव के विषय में शंका करना। अन्य धर्मों की चाह करना। साधु विशेष की घृणा करना आदि। अतः पुनरुक्त दोष नहीं होगा।

ये अतिचार व्यवहारनय से सम्यक्त्व को दूषित करते हैं। निश्चयनय से तो सम्यक्त्व के घातक ही हैं॥ २७३॥

पाँच अणुव्रतों के अतिचार—

१. स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत — इस व्रत के १. अन्नपानव्यवच्छेद, २. बंध, ३. वध, ४. अतिभारारोपण तथा ५. छविच्छेद ये पाँच अतिचार हैं।

(i) अन्नपान व्यवच्छेद — क्रोध आदि के वश द्विपद या चतुष्पद जीवों के आहार-पानी का अन्तराय करने से प्रथमव्रत में अतिचार लगता है।

अपवाद — यदि पुत्र आदि को बुखार आ रहा हो, पढ़ता न हो, ऐसी स्थिति में आहार-पानी का अन्तराय करना पड़े तो दोष नहीं लगता क्योंकि इसमें हितबुद्धि है।

(ii) बंध — प्रबल कषाय के उदयवश द्विपद, चतुष्पद आदि को बाँधना अतिचार है।

अपवाद — गाय, भैंस आदि पशुओं को तथा दासी-पुत्र, पुत्र-पुत्री आदि मनुष्यों को शिक्षा देने हेतु या विशेष परिस्थिति में नियन्त्रण हेतु बाँधना अतिचार नहीं है।

(iii) वध — क्रोधवश लकड़ी आदि से उन्हें मारना अतिचार है।

अपवाद — शिक्षा या नियन्त्रण हेतु मारना अतिचार नहीं है।

(iv) अतिभारारोपण — द्विपद-चतुष्पद जीवों पर शक्ति उपरान्त भार लादना (क्रोधवश या लोभवश) अतिचार है।

(v) छविच्छेद — क्रोधादिवश जीवों की चमड़ी या शरीर का छेदन करना अतिचार है। डंडे या चाबुक से शरीर की चमड़ी उधेड़ना भी दोष है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपवाद — जैसे बिवाई फट गई हो और ठीक करने के लिए चमड़ी आदि काटना पड़े अथवा रोगादि के कारण शरीर का कोई अवयव काटना पड़े तो अतिचार नहीं लगता।

आवश्यक चूर्णि के अनुसार—

(i) बंध — द्विपद-चतुष्पद जीवों को क्रोधादिवश बाँधना। यह दो प्रकार से होता है—सार्थक और निरर्थक। निरर्थक बंध तो करना ही नहीं चाहिये। सार्थक के भी दो भेद हैं—सापेक्ष व निरपेक्ष।

सापेक्ष — यह बंध द्विपद-चतुष्पद दोनों का होता है। उन्हें ऐसे शिथिल बंधन से बाँधना कि वें चलना, फिरना, उठना, बैठना, आसानी से कर सकें तथा अग्नि आदि के उपद्रव में थोड़े से प्रयास से डोरी तोड़कर भाग सके।

निरपेक्ष — यह बंध चतुष्पदों का ही होता है। अत्यन्त मजबूत बंधन से बाँधना। श्रावक को द्विपद-चतुष्पद ऐसे ही रखना चाहिए जिन्हें बाँधना न पड़े।

(ii) छविच्छेद — भेद-प्रभेद सभी बंध की तरह है। मात्र इतना अन्तर है—

सापेक्ष — गंडस्थल का छेदन करना, घाव आदि को जलाना।

निरपेक्ष — हाथ, पाँव, कान, नाक आदि का निर्दयतापूर्वक छेदन करना।

(iii) अतिभारारोपण — द्विपद-चतुष्पद आदि पर शक्ति उपरान्त भार लादना। सर्वप्रथम तो श्रावक को ऐसा धन्धा ही नहीं करना चाहिये जिसमें द्विपद-चतुष्पद के ऊपर भार लादना पड़े। यदि आजीविका का दूसरा कोई साधन न हो तो इतना ध्यान अवश्य रखे कि—

- मनुष्य पर उतना ही भार लादे जितना कि वह आसानी से उठा सके व उतार सके।
- पशु पर भी उतना ही भार लादना चाहिये जितना कि वह आसानी से उठा सकता हो तथा उस पर लादना उचित माना जाता हो।
- हल, गाड़ी आदि में जोते हुए बैल आदि को उचित समय पर छोड़ देना चाहिये।

(iv) वध — प्रहार करना। यह दो प्रकार का है—निरपेक्ष व सापेक्ष।

निरपेक्ष — निर्दयता पूर्वक प्रहार करना।

सापेक्ष — सामान्यतः श्रावक अनुशासित स्वजन-परिजन वाला होता है तथापि कोई अविनीत निकल जाय तो उसे दण्डित करना पड़ता है। यदि दण्ड देना पड़े तो मर्मस्थान को छोड़कर लता या चाबुक से उस पर हल्का सा प्रहार करे। आहार-पानी का अन्तराय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसी को भी नहीं करें क्योंकि तीव्र क्षुधा मृत्यु का कारण बन सकती है। अतः रोगी को छोड़कर शेष सभी को भोजन कराकर ही श्रावक स्वयं भोजन करे।

(v) अन्नादि निरोध — इसके भी भेद-प्रभेद बंध की तरह ही हैं। मात्र इतना अन्तर है कि—

सापेक्ष — रोगादि की चिकित्सा के लिए आहार-पानी का अन्तराय करना। अपराधी को तो मात्र शब्द से ही कहे कि—'आज तुम्हें भोजन आदि नहीं मिलेगा।' भूत-प्रेत आदि की शान्ति के लिये यदि किसी को उपवास आदि कराना पड़े तो कोई दोष नहीं लगता।

प्रश्न—अहिंसाव्रती श्रावक ने मात्र हिंसा का ही त्याग किया है न कि बंध आदि का। अतः बंध आदि करने में क्या दोष है उसे? क्योंकि हिंसा न करने का उसका नियम तो अखण्डित ही है। यदि कहो कि अहिंसाव्रती को बंध आदि करने का भी नियम है तब तो बंध आदि हिंसारूप होने से व्रत को ही खण्डित कर देंगे। दूसरा, बंध आदि को प्रत्याख्येय (व्रतरूप) मानने पर व्रतों की संख्या बढ़ जायेगी क्योंकि अब हर व्रत के साथ अतिचारों के व्रत भी जुड़ेंगे। जैसे अहिंसाव्रत के साथ बंधत्यागरूपव्रत, वधत्यागरूपव्रत आदि भी जुड़ेंगे। इत्यादि दोषों के कारण बंध आदि अतिचार नहीं हो सकते?

उत्तर—आपका कथन सत्य है, क्योंकि अहिंसाव्रती को हिंसा का ही त्याग है बंधादि का नहीं। पर बंध आदि हिंसा के साधक होने से हिंसा के त्याग के साथ उनका भी त्याग हो जाता है।

प्रश्न—यदि हिंसा के त्याग से उनका भी त्याग हो जाता है तब तो बंध-वधादि करने से व्रत भंग ही होगा। ऐसी स्थिति में उन्हें अतिचार रूप कैसे मानोगे?

उत्तर—व्रत का पालन दो प्रकार से होता है—बहिर्वृत्ति से व अन्तर्वृत्ति से। जैसे, 'मैं मारता हूँ' मन में ऐसा कोई भाव नहीं है पर क्रोधावेश में जीवों के प्राणों की परवाह न रखते हुए उन्हें बाँधना अन्तर्वृत्ति से व्रत को भंग करता है। यद्यपि यहाँ जीव मरा नहीं है तथापि दयाहीन व विरति निरपेक्ष प्रवृत्ति होने से व्रत भंग होता है। पर जीव हिंसा न होने से बहिर्वृत्ति से व्रत का पालन भी हो रहा है अतः यह अतिचार रूप ही है। जो व्रतों की संख्या बढ़ने की बात कही, वह भी अयुक्त ही है क्योंकि जहाँ विशुद्ध अहिंसा का पालन होता है वहाँ बंधादि भी नहीं होते, अतः सिद्ध हुआ कि बंधादि अतिचार रूप ही हैं। किसी पर मंत्र, तंत्र आदि के प्रयोग करना भी प्रथमव्रत के अतिचार हैं॥ २७४॥

२. स्थूल मृषावाद विरमण व्रत — इसके पाँच अतिचार हैं:—१. सहसा कलंक, २. रहस्य-दूषण, ३. दारामंत्र भेद, ४. कूटलेख व ५. मृषोपदेश।

(i) सहसा कलंक — बिना विचारे किसी पर असद् दोषारोपण करना, जैसे, तूं चोर है....परस्त्रीगामी है इत्यादि।

प्रश्न—सहसा कलंक 'असद्दोषारोपण' रूप होने से दूसरे व्रत का भंग ही करेगा तो इसकी गणना अतिचार में कैसे की?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तर—सत्यम्। नीचा दिखाने के भाव से किसी को कलंकित करने में व्रत भंग होता है किन्तु जहाँ अनाभोग से कलंक दिया जाता है और सामने वाला व्यक्ति भी जिसे कलंक रूप महसूस करता है वहाँ यह अतिचार रूप है।

(ii) रहस्य दूषण — रहस्य = एकान्त में प्रकट करने योग्य को। दूषण = सबके संमुख प्रकट करना अर्थात् राजादि से सम्बन्धित गुप्त बात की पूर्ण जानकारी लिये बिना ही, इंगित-चेष्टा आदि से अनुमान कर दूसरों के संमुख प्रकट करना रहस्य दूषण है। जैसे किसी को एकांत में सलाह करते हुए देखकर अनुमान से ही कह देना कि ये लोग राजा के विरुद्ध सलाह कर रहे हैं। अथवा,
रहस्यदूषण यानि पैशून्य---चुगलखोरी। एक-दूसरे की चुगली करके दो व्यक्तियों के दिल में ऐसी शंका पैदा करना कि उन दोनों का प्रेम ही नष्ट हो जाय।

(iii) दारामंत्र भेद — पत्नी, मित्र आदि की गुप्त बात प्रकट करना दारामंत्रभेद है। यद्यपि इसमें मृषावाद जैसा कुछ भी नहीं है। जो कहा गया वह सत्य ही है तथापि यह ऐसा सत्य है जिसे सुनकर सम्बन्धित व्यक्ति लज्जावश आत्महत्या कर सकता है। इस दृष्टि से यह मृषावाद है। सत्यासत्य रूप होने से यह अतिचार है।

दूसरे व तीसरे अतिचार में अन्तर — रहस्य दूषण में तीसरा व्यक्ति मंत्रणा करने वालों के आकार....इंगितादि के आधार पर कल्पना करके बात प्रकट करता है जबकि 'दारामंत्रभेद' में मंत्रणा करने वाला स्वयं ही बात को बाहर प्रचारित करता है।

(iv) कूटलेख — सर्वथा झूठा लिखना। 'मैं काया से असत्य नहीं बोलूँगा, न किसी को असत्य बोलने की प्रेरणा दूँगा।' दूसरे व्रत में यही प्रतिज्ञा होती है। 'कूटलेख' से यह प्रतिज्ञा सर्वथा भंग हो जाती है फिर भी जहाँ कूटलेख सहसा, अनाभोग व अतिक्रम से लिखा जाता है वहाँ व्रत की अपेक्षा होने से यह अतिचार रूप ही है। वहाँ लिखने वाला यही समझता है कि मैंने असत्य भाषण का त्याग किया है, न कि लिखने का।

(v) मृषा उपदेश — असत्य उपदेश देना जैसे 'वहाँ जाकर तुम यह....यह बोलना....ऐसे-ऐसे कहना' इत्यादि। इस प्रकार असत्य बोलने की शिक्षा देना मृषा-उपदेश है। जहाँ व्यक्ति सीधा न कहकर किसी को माध्यम बनाकर झूठा उपदेश देता है वहाँ व्रत की अपेक्षा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहने से मृषोपदेश भी अतिचार ही माना जाता है। इसी तरह माया-प्रधान शास्त्र का अध्यापन भी अतिचार रूप ही है ॥ २७५ ॥

३. स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत — चोरी का त्याग करना तीसरा व्रत है। इसके पाँच अतिचार हैं। १. चौरानीत, २. चौर प्रयोग, ३. कूटमान-तुला, ४. रिपुराज्य-व्यवहार तथा ५. सदृशयुति अर्थात् मिलावट।

(i) चौरानीत — चोरों द्वारा लाये गये सुवर्ण, वस्त्र आदि को मूल्य से खरीदना अथवा मुफ्त में लेना चौरानीत नामक अतिचार है। यद्यपि चुराई हुई वस्तु को खरीदने वाला भी चोर ही है अतः इससे व्रतभंग ही माना जाता है तथापि 'मैंने तो व्यापार किया है, चोरी नहीं की' इस प्रकार व्रत की अपेक्षा रखने से यह अतिचार ही है।

(ii) चौर प्रयोग — चोरों को चोरी के लिए प्रेरित करना कि जाओ, चोरी करो अथवा चोरों को छुरी, कर्तरी आदि साधन देना या बेचना चौर प्रयोग है। 'मैं न चोरी करूँगा, न दूसरों से करवाऊँगा,' इस प्रकार की प्रतिज्ञापूर्वक व्रत लेकर चोरी की प्रेरणा देना व्रत भंग का कारण है। पर स्वयं चोरी न करने से व्रत की भी अपेक्षा है। ऐसी स्थिति में यह अतिचार ही है।

चोरों को यह कहना कि मैं तुम्हें भोजनादि दूँगा....आपके द्वारा चुराई हुई वस्तु मैं खरीदूँगा....इस प्रकार चोरों को प्रेरित करना पर स्वयं चोरी न करना इसमें व्रत की आंशिक अपेक्षा है।

(iii) कूटमान तुला — जिससे वस्तु-धान्यादि मापा जाता है, वह मान है, जैसे सेर, आधा सेर, पसली आदि। तुला अर्थात् जिससे तोला जाय, तकड़ी आदि। अर्थात् तौल-माप झूठा करना। जैसे, देते समय कम देना, लेते समय अधिक तौल-माप से लेना।(किलो. ग्राम आदि)

(iv) रिपुराज्य-व्यवहार — शत्रु के राज्य में जाकर अथवा शत्रु की सेना के साथ व्यापार आदि करना। शत्रुसेना के साथ व्यापार करने की राजा की आज्ञा नहीं है और मालिक की आज्ञा के बिना किसी चीज को ग्रहण करना अदत्तादान है। कहा है—'स्वामी, जीव, तीर्थंकर व गुरु के द्वारा अदत्त वस्तु को ग्रहण करना अदत्तादान है।' इस प्रकार बिना आज्ञा के चोरी छुपे विरुद्ध राज्य में व्यापारादि करने वाले को चोरी का दण्ड मिलता है अतः इससे व्रत का भंग ही होता है। तथापि 'मैं शत्रु के राज्य में व्यापार कर रहा हूँ, न कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चोरी।' इस भावना से व्रत की अपेक्षा भी है तथा ऐसा व्यक्ति लोक में चोर नहीं समझा जाता इसलिये विरुद्ध राज्य व्यवहार अतिचार ही है।

(v) सदृशयुति — समान वस्तुओं का भेलसेल करना। जैसे, व्रीही में पलंज, घी में चर्बी, तेल में मूत्र, शक्कर में सिकता, शुद्ध सोने व चाँदी में नकली सोना-चाँदी मिलाकर व्यापार करना यह पाँचवाँ अतिचार है।

अदत्तादान व्रत के तीसरे व पाँचवें अतिचार में ठगाई से दूसरों का धन ग्रहण करने की बात है। वास्तव में तो ये व्रत का भंग ही करते हैं, पर अदत्तादान व्रत को ग्रहण करने वाला तो यही समझता है कि मैंने सेंध लगाकर चोरी आदि करने का ही त्याग किया है व्यापार का नहीं। मिलावट आदि तो व्यापार की कला है। इस प्रकार व्रत की अपेक्षा रहने से ये सब अतिचार रूप ही हैं॥ २७६॥

४. स्वदारा संतोष विरमण व्रत — स्व-स्त्री में सन्तोष रखते हुए अब्रह्म का त्याग करना। इसके पाँच अतिचार हैं। १. इत्वरपरिग्रहिता, २. अपरिगृहिता ३. तीव्र अभिलाषा, ४. अनंगक्रीड़ा, ५. पर-विवाह।

(i) इत्वरपरिग्रहा — अल्प समय के लिए जिसे किराया देकर (भोग के लिए) अपनाया जाता है वह स्त्री 'इत्वरपरिग्रहा' कहलाती है। अथवा प्रत्येक पुरुष के साथ गमन करने वाली वेश्या इत्वरी कहलाती है। उसे कुछ समय के लिए किराया देकर अपनाना। चतुर्थव्रती इनका सेवन करे तो अतिचार लगता है। सारांश यह है कि किराया देकर अल्पकाल के लिए स्वीकृत वेश्या को सेवन करने वाला यही समझता है कि यह कुछ समय के लिए मेरी पत्नी है। इस प्रकार वेश्या का सेवन व्रत सापेक्ष होने से व्रतभंग नहीं करता। परन्तु वेश्या का परिग्रह अल्पकालीन है, वास्तव में तो वह परस्त्री ही है। उसका सेवन करने से व्रतभंग होता है। इस प्रकार भंगाभंग रूप होने से इत्वरपरिग्रहा का सेवन अतिचार रूप है।

(ii) अपरिगृहीता — दूसरों के द्वारा किराया आदि देकर अपनाई गई वेश्या परिगृहीता कहलाती है। इससे विपरीत अपरिगृहीता है। अर्थात् किराया देकर जिसे किसी ने न अपनाई हो ऐसी वेश्या, जिसका पति मर चुका है ऐसी स्वैरिणी अथवा अनाथ कुलांगना स्त्री का सेवन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना चतुर्थ व्रत का अतिचार है। यदि अनाभोग व अतिक्रम से सेवन करे तो ही अतिचार लगता है, अन्यथा व्रतभंग हो जाता है।

हरिभद्रसूरि-मतम्—इत्वरपरिगृहीता गमन व अपरिगृहीता गमन ये दोनों अतिचार स्वदार सन्तोषी को ही लगते हैं, परदारवर्जक को नहीं। क्योंकि वेश्या और अपरिगृहीता (स्वैरिणी, अनाथकुलांगना आदि) अनाथता के कारण 'परदार' अर्थात् दूसरों की पत्नी की कोटि में नहीं आती। शेष तीनों अतिचार स्वदार सन्तोषी व परदारवर्जक दोनों से सम्बन्धित हैं।

सूत्रानुसार भी यही मत है। जैसा कि सूत्र में कहा है—'ये पाँचों अतिचार स्वदार सन्तोषी के द्वारा जानने योग्य हैं पर आचरण करने योग्य नहीं हैं।

अन्य मतानुसार (द्वितीय मतम्) —इत्वरपरिग्रहा का सेवन करने में स्वदार सन्तोषी को अतिचार लगता है जैसा कि ऊपर कहा है। परन्तु अपरिगृहीता के सेवन में स्वदारसंतोषी का व्रतभंग ही होता है। क्योंकि अपरिगृहीता परदार रूप है।

अपरिगृहीता का सेवन परदारवर्जक के लिए अतिचार है। अपरिगृहीता वेश्या है। यदि वह किसी अन्य द्वारा किराया देकर अपनाई गई है और परदारवर्जक उसका सेवन करता है तो उसे दोष लगता है क्योंकि वह कुछ समय के लिये 'परदार' है। पर वास्तव में वेश्या लोक में 'परदार' नहीं मानी जाती अतः उसके सेवन में व्रत की अभंगता के कारण अतिचार ही माना जाता है।

तृतीय मतम्—परदारवर्जक के चतुर्थ व्रत सम्बन्धी पाँच अतिचार हैं, पर स्वदारसंतोषी के तीन ही हैं। स्त्रियों के अपेक्षा भेद से तीन व पाँच अतिचार हैं। तात्पर्य यह है कि किराया देकर कुछ समय के लिए दूसरों के द्वारा अपनाई गई वेश्या का सेवन करने वाले परदारवर्जक का अंशतः व्रतभंग हो जाता है क्योंकि इस समय वेश्या भी क्रीत होने से 'परदार' है। परन्तु लौकिक दृष्टि से वेश्या को कोई भी परदार नहीं मानता अतः अंशतः व्रत अभंग भी है। इस तरह वेश्या का सेवन करने में परदारवर्जक को अतिचार ही लगता है सर्वथा व्रतभंग नहीं होता। वैसे अपरिगृहीता के सेवन में भी परदारवर्जक को अतिचार ही लगता है क्योंकि उसकी समझ में अनाथ कुलांगना का कोई पति न होने से वह 'परदार' नहीं है पर लोक में उसे 'परदार' समझा जाता है। इस प्रकार भंगाभंगरूप होने से यह भी 'परदारवर्जक' के लिए अतिचार रूप ही है। शेष तीन अतिचार दोनों-परदारवर्जक व स्वदारसंतोषी के लिए समान है। इस मतानुसार स्वदार संतोषी के लिए इत्वरपरिगृहीतागमन और अपरिगृहीतागमन ये दोनों ही व्रतभंग रूप हैं। कारण वेश्या, अनाथ, कुलांगना आदि स्वदारसंतोषी के लिए परदार रूप ही है।

स्त्री के लिए स्वपुरुष-संतोष व परपुरुषवर्जन ऐसे कोई भेद नहीं है कारण स्वपुरुष से भिन्न स्त्री के लिये सभी परपुरुष हैं। अतः पूर्वोक्त दोनों अतिचार स्त्री के सम्बन्ध में घटित नहीं होते। शेष तीन अतिचार स्वदार-संतोषी पुरुष की तरह ही घटित होते हैं। परस्त्री के लिये अनंगक्रीडादि स्वपुरुष सम्बन्धी समझना।

प्रश्न—ऊपर गाथा में स्त्रियों के लिए अपेक्षा भेद से तीन या पाँच अतिचार की बात कही है, फिर यह कैसे घटेगी?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तर—अपेक्षा से स्त्री के भी पाँच अतिचार घट सकते हैं। स्त्री यदि अपनी सपत्नी की बारी में पति का संग स्वयं कर ले (सपत्नी को अन्तराय करे) तो उसे पहला अतिचार लगता है। अतिक्रम से परपुरुष की इच्छा करने वाली स्त्री को दूसरा अतिचार लगता है अथवा ब्रह्मचारिणी स्त्री यदि अतिक्रम से अपने पति की इच्छा करे तो उसे दूसरा अतिचार लगता है।

सभी मतों का वर्गीकरण

मत	स्वदारसंतोषी	परदारवर्जक	स्त्री
सूत्रकार व हरिभद्रसूरि	५ अतिचार	३ अतिचार	३ अथवा ५
द्वितीय मतम्	४ अतिचार	४ अतिचार	३ अथवा ५
तृतीय मतम्	३ अतिचार	५ अतिचार	३ अथवा ५

(iii) तीव्रकामाभिलाष — भोग की तीव्र अभिलाषा, भोग में मन की अत्यन्त तल्लीनता तीव्र कामाभिलाष कहलाती है। चिड़े-चिड़ी की तरह बार-बार रतिक्रीड़ा करना। वितृष्णा से नारी के मुँह, काँख, योनि आदि अंगोपाङ्ग में लिंग डालकर दीर्घकाल तक मृतवत् निश्चल पड़े रहना।

(iv) अनंगक्रीड़ा — वेदोदयवश परस्पर स्त्री-पुरुष व नपुंसक को भोगने की इच्छा व उसकी पूर्ति के लिए रतिक्रीड़ा करना, हस्तमैथुन सेवन करना तथा अन्य भी ऐसी क्रीड़ायें करना जिससे वासना प्रबल बने व राग का अतिरेक हो। जैसे केशाकर्षण, कुचमर्दन, दन्तक्षत, नखक्षत आदि।

अथवा—अङ्ग = शरीर के अवयव, मैथुन सम्बन्धी अङ्ग = योनि व लिंग। इनसे भिन्न जो हैं वे अनंग कहलाते हैं जैसे, स्तन, कक्षा, मुख आदि। उनमें कामवश रमण करना अनंग क्रीड़ा है।

- श्रावक पापभीरु होने से प्रथम तो ब्रह्मचर्य पालन करने का ही इच्छुक होता है। पर कदाचित् वेदोदयवश काम की जागृति हो जाये और उसे सहन करना सम्भव न हो तो मात्र उस आग को शान्त करने के लिए स्वदारा का सेवन करे। मैथुन क्रिया से काम की शान्ति हो जाने पर तीव्र कामाभिलाष या अनंगक्रीड़ा कदापि नहीं करे क्योंकि इनसे वासना अधिक भड़कती है। इनका सेवन करने में लेशमात्र भी गुण नहीं है प्रत्युत क्षयादि दोष ही पैदा होते हैं। इस प्रकार अनंगक्रीडा व तीव्रकामाभिलाष इन दोनों में प्रतिषिद्ध का आचरण करने से व्रतभंग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा स्वदार संतोषव्रत का पालन होने से व्रत अभंग रहता है अतः ये दोनों अतिचार रूप ही समझना।

अन्यमतानुसार — स्वदारसन्तोषी, परस्त्री, वेश्यादि के साथ मैथुन नहीं कर सकता किन्तु आलिंगन, चुम्बन आदि देने का उसे त्याग नहीं है। जैसे कि वह स्वयं समझता है—मैंने मैथुन का त्याग किया है, आलिंगन आदि करने का नहीं। वैसे परदारवर्जक का भी समझना। उसने भी परस्त्री के साथ मैथुन-क्रिया करने का ही त्याग किया है। अतः दोनों के लिये व्रतसापेक्ष होने से तीव्र कामाभिलाष व अनंगक्रीड़ा अतिचार रूप ही हैं।

(५) परविवाहकरण — कन्याफल की लिप्सा तथा स्नेहसम्बन्धवश दूसरों के अपत्यादि का शादी-विवाह कराना 'परविवाहकरण' अतिचार है। स्वदारसंतोषी को स्वपत्नी के सिवाय अन्य के साथ व परदारवर्जक को स्वपत्नी और वेश्या के सिवाय अन्य के साथ मन, वचन और काया से मैथुन करने-कराने का नियम हो तो वे परविवाह नहीं करा सकते। कारण परविवाह मैथुन का कारण है और कराने वाले को मैथुन न करवाने का भी नियम है। किन्तु व्रतधारी विवाह कराते समय यह सोचता है कि मैं तो विवाह करवा रहा हूँ, न कि मैथुन सेवन कर रहा हूँ इस प्रकार व्रत सापेक्ष भाव होने से यहाँ व्रतभंग नहीं होता।

पौत्र, दौहित्रादि की इच्छा अज्ञानतावश समकिती को भी होती है। मिथ्यादृष्टि भद्र परिणामी को अनुग्रहार्थ व्रत दे दिये हों तो ऐसे व्रती को भी ऐसी इच्छा हो सकती है।

प्रश्न—दूसरों का विवाह कराने में व्रत-भंग होता है तो अपने पुत्रादि का विवाह आदि करने में व्रत-भंग नहीं होता?

उत्तर—सत्यम्! यदि अपने पुत्र-पुत्रादि का विवाह न किया जाये तो वे दुराचारी बन सकते हैं। इससे धर्म का उपहास होगा। विवाह कर दिया जाये तो पति-आदि का नियन्त्रण होने से कुमार्गगामी बनने की सम्भावना नहीं रहती। कहा है—कुमारावस्था में नारी का रक्षक पिता है, युवावस्था में भर्ता है, वृद्धावस्था में पुत्र है। इस प्रकार स्त्री की स्वतन्त्रता किसी भी अवस्था में योग्य नहीं है। कृष्ण महाराज, चेटक महाराज आदि ने अपने पुत्रादि की भी शादी नही करने का नियम लिया था। यह बात सत्य है, किन्तु परिवार में उत्तरदायित्व सम्भालने वाले अन्य व्यक्ति हों तभी यह नियम सम्भव हो सकता है अन्यथा नहीं। आज भी यदि किसी के कुटुम्ब में पुत्र-पुत्रादि की शादी-विवाह करने वाले दूसरे व्यक्ति मौजूद हों तो वह भी ऐसा नियम ले सकता है। इसमें कोई दोष नहीं है॥ २७७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. स्थूल परिग्रह परिमाण व्रत — धन-धान्य आदि नव-विध परिग्रह के परिमाण का नियम करना। इसके पाँच अतिचार हैं—१. क्षेत्र-वास्तु, २. सोना-चाँदी, ३. धन-धान्य, ४. द्विपद-चतुष्पद, ५. कुप्यसंख्या।

(i) क्षेत्र-वास्तु — खेत सम्बन्धी व घर-दुकान सम्बन्धी नियम लेकर एकीकरण करना अतिचार है।

क्षेत्र = अनाज पैदा करने की भूमि इसके ३ प्रकार हैं।	वास्तु = घर, दुकान, मकान, गाँव, नगरादि— इसके ३ प्रकार हैं।
१. सेतु = अरहट्टादि के जल से सींचने योग्य २. केतु = वर्षा के पानी से सींचने योग्य ३. उभय = दोनों के जल से सींचने योग्य	१. खान = तलघर। २. उच्छ्रित = महल। ३. खातोच्छ्रित = तलघर सहित महल।

खेत, घर, दुकान आदि की निश्चित संख्या रखकर किसी ने परिग्रह व्रत ले लिया परन्तु पीछे से उसे पास वाला खेत और मिल गया। अब खेत, मकान आदि की संख्या बढ़ने से नियम भंग हो रहा है ऐसी स्थिति में बीच की बाड़, परकोटा, दीवार आदि तोड़कर दोनों को मिलाकर एक कर देना व परिमित संख्या को बढ़ने न देना। ऐसा करना व्रत को दूषित करता है। मकान के विषय में भी इसी प्रकार समझना अर्थात् मध्य की दीवार हटाकर दो मकान को एक कर देना।

(ii) सोना-चाँदी — व्रत ग्रहण करते समय सोना-चाँदी का जो परिमाण किया था, उससे अधिक हो जाने पर, 'मेरा नियम भंग न हो जाये' इस भय से पच्चक्खाण की अवधि तक स्वजनों को दे देना। अवधि पूर्ण हो जाने पर पुनः ग्रहण कर लेना। व्रत को दूषित करने से यह भी अतिचार ही है।

(iii) धन-धान्य — परिमाण से अतिरिक्त धन-धान्यादि को अपनी मिल्कत के रूप में नियम की पूर्णाहुति तक दूसरों के पास रख देना।

धन चार प्रकार का है—

१. गणिम — गिनकर लेने योग्य वस्तुयें जैसे, सुपारी, जायफल, फोफल आदि।

२. धारिम — तौलकर लेने योग्य वस्तुयें जैसे, कुंकुम, गुड़ आदि।

३. मेय — माप कर लेने योग्य वस्तुयें जैसे, घी, तेल आदि।

४. परीक्ष्य — परीक्षा करके लेने योग्य वस्तुयें जैसे, सोना, चाँदी, रत्न आदि।

- परिच्छेद्य ऐसा भी पाठ है। उसका अर्थ है कि घिसकर या काटकर लेने योग्य वस्तुयें जैसे सुवर्ण, रत्न आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धान्य सतरह प्रकार का है—

१. बीही, २. जौ, ३. मसूर, ४. गेहूँ, ५. मूँग, ६. उड़द, ७. तिल, ८. चना, ९. सरसों, १०. कोद्रव, ११. शालि, १२. अणव, १३. नीवार, १४. शमी, १५. मटर, १६. कुलत्थ, १७. सण।

धन-धान्यादि का परिमाण कर लेने के पश्चात् अतिरिक्त कहीं से मिलता हो तो नियम भंग होने के भय से पहले का बेचकर अथवा नियम की अवधि पूर्ण होने के पश्चात् ही धन-धान्यादि घर लाना, पर वचनबद्ध कर, अलग बंधवाकर या सौदा पक्का कर स्वीकार कर लेना अतिचार है। अर्थात् पूर्व या पश्चात् प्राप्त होने वाले धान्य को यदि अपने घर में रखूंगा तो नियम का भंग होगा, ऐसा विचार करके स्वगृह में स्थापित करके अग्रिम रूप से उनके विक्रय का वचन से सौदा कर देना, किसी अन्य के यहां रखवा देना (मूढकादिबन्धरूपेण) अर्थात् किसी के पास अमानत के रूप में रख देना, जब जरूरत होगी तब ले लूंगा, यह कहकर स्थापित कर देना अथवा किसी को उसके भावी भुगतान जैसे नौकर को वर्ष की तनख्वाह के रूप में अतिरिक्त अनाज अग्रिम दे देना। इन सब प्रवृत्तियों से धन-धान्य के प्रमाण का अतिक्रमण होता है।

(iv) द्विपद-चतुष्पद — जिनके दो पाँव हैं—पत्नी, दासी, दास, नौकर, पदाति, हंस, मयूर, मुर्गा, तोता, मैना, चकोर, कबूतर आदि। जिनके चार पाँव हैं वे चतुष्पद—गाय, भैंस, बकरा-बकरी, ऊँट, हाथी, गधा, घोड़ा आदि। किसी ने द्विपद-चतुष्पद आदि की संख्या का परिमाण करके एक वर्ष का नियम ले लिया कि "मैं द्विपद, चतुष्पद इतनी संख्या में रखूँगा।" नियम की अवधि में किसी के भी प्रसूति न हो, अन्यथा संख्या वृद्धि होने से मेरा नियम भंग होगा, इस बात को ध्यान में रखते हुए पशुओं को गर्भधारण करने की सुविधा इस प्रकार देना कि नियम पूर्ण होने के बाद ही प्रसव हो। नियम की अवधि में गर्भस्थ जीव की तो वृद्धि हुई परन्तु बाह्य संख्या वही रही। इस प्रकार भंगाभंग रूप होने से यह अतिचार है।

(v) कुप्य-संख्या — काँसी, ताँबा, लोहा, जस्ता, सीसा, चटाई, मंच-मचली, झेरना, रथ, गाड़ी, हल, मिट्टी आदि के बर्तन, खाट, बिस्तर आदि घरेलू सामान का परिमाण करके बाद में सस्ते के स्थान पर महँगा खरीदना। यदि कोई वस्तु, थाली आदि संख्या में अधिक हो जाये तो उसे गलाकर दो थाली की एक थाली बना लेना। इस प्रकार व्रत का परिमाण बराबर रखते हुए वस्तुओं का पर्यायान्तर करते रहना अतिचार है। पर्यायान्तर करने से 'व्रतभंग' हुआ। परिमाण बराबर रखने से व्रत अभंग रहा॥ २७८-२७९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणव्रत के अतिचार—

६. दिक्परिमाण व्रत — विभिन्न दिशाओं में जाने-आने का परिमाण करना। इसके पाँच अतिचार हैं—i. तिर्यक् दिशि, ii. अधो दिशि, iii. ऊर्ध्व दिशि, iv. स्मृति विस्मरण, v. क्षेत्र वृद्धि।

— प्रथम तीनों दिशाओं के नियत परिमाण का अतिक्रम, व्यतिक्रम व अनाभोग से उल्लंघन करने पर अतिचार लगता है। अन्यथा प्रवृत्ति करने से व्रतभंग हो जाता है।

- तिर्यक्—पूर्वादि दिशा।
- अधः—तलघर, कुँआ, भूगर्भस्थित ग्राम, नगर आदि।
- ऊर्ध्व—पर्वत, वृक्ष, शिखर आदि।

अतिक्रमादि का स्वरूप—

- आधा कर्मादि आहार ग्रहण करने की अनुमति देना 'अतिक्रम'।
- वहोरने के लिए कदम उठाना 'व्यतिक्रम'।
- ग्रहण करना 'अतिचार'।
- खाना 'अनाचार'।

प्रभु के दर्शन व साधु के वन्दन निमित्त दिक् परिमाण का उल्लंघन करना पड़े तो व्रत भंग नहीं होता। पर गमनागमन साधु की तरह उपयोगपूर्वक होना चाहिये।

(iv) स्मृति विस्मरण — व्रत लेकर भूल जाना कि मैंने कितने योजन तक जाने-आने का नियम लिया था। विस्मृति का कारण व्याकुलता, प्रमाद, क्षयोपशम की मंदता हो सकती है। पूर्व दिशा में सौ योजन जाने का प्रमाण किया परन्तु जाते समय स्पष्ट याद नहीं रहा कि मेरे सौ योजन जाने का परिमाण था या पचास योजन का? ऐसी स्थिति में पचास योजन से अधिक जाने में विस्मृति के कारण व्रतभंग हो जाता है। साथ ही सौ योजन का परिमाण होने से व्रत की अपेक्षा भी है अतः यहाँ अतिचार ही लगता है।

ग्रहण किया हुआ व्रत सदा स्मरण में रखना चाहिये। कहा है—स्मृतिमूलं हि सर्वमनुष्ठानं। यह अतिचार सभी व्रतों में लागू होता है।

(v) क्षेत्र वृद्धि — प्रत्येक दिशा में सौ-सौ योजन जाने का प्रमाण किया हुआ है पर परिस्थितिवश एक दिशा में अधिक जाने की सम्भावना बन गई ऐसे समय में एक दिशा में गमन-परिमाण घटाकर दूसरी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिशा में बढ़ा देना। इस प्रकार व्रत सापेक्ष घट-बढ़ होने से यह अतिचार रूप है। दूषण लगता है पर व्रतभंग नहीं होता॥ २८०॥

७. भोग-उपभोग परिमाण व्रत — भोगोपभोग की वस्तुओं का परिमाण करना। इसके १. अपक्व, २. दुष्पक्व, ३. सचित्त, ४. सचित्त-प्रतिबद्ध व ५. तुच्छौषधिभक्षण ये पाँच अतिचार हैं। वास्तव में श्रावक अचित्तभोजी ही होता है। इस अपेक्षा से यहाँ जो अतिचार घटते हैं वे ही बताये जाते हैं।

(i) अपक्व आहार — बिना पकाये चांवल, गेहूँ, साग-सब्जी आदि अनाभोग व अतिक्रम से खाने में आ जाय तो अतिचार लगता है।

प्रश्न—अपक्व औषधियाँ यदि सचित्त हैं तो उनको खाने में तीसरा अतिचार लगेगा। यदि वे अचित्त हैं तो खाने में कोई दोष ही नहीं होगा। अतः यह अतिचार व्यर्थ है?

उत्तर—सत्यम्, तीसरा और चौथा अतिचार सचित्त फल व कंदादि से सम्बन्धित है जबकि प्रथम व द्वितीय अतिचार शाली आदि धान्य से सम्बन्धित है। विषयकृत भेद होने से सभी सार्थक हैं।

अथवा—आटा पीसने के बाद भी उसमें धान्य के कण रह जाते हैं। जब तक उसे पकाया न जाये उसमें सचित्तता की सम्भावना रहती है, किन्तु व्रती चूर्ण बन जाने के कारण उसे अचित्त समझकर खाता है। इससे उसका व्रत भंग न हो, इसलिये भी इस अतिचार का उपयोग है।

(ii) दुष्पक्व आहार — आधे कच्चे, आधे पके हुए तन्दुल, जौ, गेहूँ, ककड़ी आदि फल जो कि यहाँ भी हानिकारक हैं तथा जितने अंश में वे सचित्त हैं परलोक में भी हानिकारक हैं उन्हें खाना अतिचार रूप है। खानेवाला उसकी पक्वता को ध्यान में रखते हुए खाता है अतः व्रत सापेक्ष होने से अतिचार ही लगता है। व्रतभंग नही होता।

(iii) सचित्त आहार — सजीव कन्द-मूल-फल, नमक आदि पृथ्वीकाय का भक्षण करना। सचित्त का त्यागी श्रावक सचित्त आहार कैसे कर सकता है? यदि करता है तो व्रतभंग होता है अतः यह अतिचार घटित ही नहीं हो सकता। पर इसे अतिचार माना है इससे यह सिद्ध होता है कि अनाभोग, अतिक्रम से सचित्त का भक्षण करने वाले को ही यह अतिचार घटता है अन्य को नहीं।

अथवा—अर्धकुट्टित इमली के पत्ते, पूर्णतया नहीं उबला हुआ पानी आदि का उपयोग करने से यह अतिचार लगता है। यद्यपि ये सब त्याज्य होने से उपभोक्ता का व्रतभंग ही करते हैं, तथापि उपभोक्ता द्वारा इनका उपयोग अचित्त मानकर ही होता है अतः व्रत सापेक्ष होने से अतिचार रूप है।

(iv) सचित्त प्रतिबद्ध — सचेतन वृक्ष संबद्ध गूंदे, पके हुए फल आदि तथा सचित्त बीज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युक्त खजूर, आम आदि का आहार अनाभोग से करना अतिचार है। अथवा खजूर आदि का गिर खाया जाता है, नहीं कि बीज और गिर अचित्त है इस प्रकार सोचकर खाने वाले को व्रत सापेक्ष आहार होने से अतिचार ही लगता है।

(v) तुच्छफल — असार औषधि आदि (बिना पके कोमल फल-फूल आदि) का भक्षण करना अतिचार है।

प्रश्न—तुच्छौषधि भक्षण का अतिचार अलग से क्यों कहा? यदि यह अपक्व, दुष्पक्व है तो पहले, दूसरे अतिचार में आयेगा। यदि सम्यक् पक्व है तो निरवद्य होने से उसके खाने में अतिचार का कोई प्रश्न ही नहीं होगा?

उत्तर—आपका कहना ठीक है किन्तु जैसे अपक्व, दुष्पक्व तथा सचित्त प्रतिबद्ध इन सभी में सचित्तता समान होने पर भी एक औषधि विषयक और दूसरा फल विषयक होने से अलग-अलग अतिचार गिने जाते हैं, वैसे यहाँ भी सचित्त और तुच्छ औषधि में सचित्तता और औषधित्व समान होने पर भी एक अतुच्छ है, दूसरी तुच्छ है, अतः उनके अतिचार भी अलग-अलग हैं। कोमल फलादि खाने से तृप्ति नहीं होती अतः वे तुच्छ कहे जाते हैं। उनका अनाभोग अतिक्रमादि से भक्षण करने वाले को तुच्छ औषधि भक्षण रूप अतिचार लगता है।

पापभीरु, सचित्त के त्यागी आत्मा को जो तृप्तिकारक हो ऐसे ही पदार्थ अचित्त करके खाने चाहिये, यदि स्वाद या रागवश खायें तो अतिचार लगता है। (अतृप्तिकारक वस्तु को अचित्त करके खाने में भी अधिक आरम्भ होने से पापभीरुता नाश होती है)। यहाँ भाव से विरति की विराधना है और द्रव्य से विरति का पालन है, अतः अतिचार समझना। रात्रिभोजन आदि व्रतों में भी अतिक्रम व अनाभोगवश अतिचार समझना चाहिये।

तत्त्वार्थमतेः—

१. सचित्त, २. सचित्त प्रतिबद्ध, ३. सम्मिश्रण, ४. अभिषव, ५. दुष्पक्व, अपक्व आहार—ये पाँच अतिचार हैं।

इनमें १, २ और ५वाँ अतिचार पूर्ववत् है।

३. सम्मिश्रण — सचित्त मिश्र आहार जैसे अनार के दाने, करमदे आदि से मिश्रित कचोरी, तिल मिश्रित यवधान आदि। इनका अनाभोग व अतिक्रम से उपयोग करे तो अतिचार।

अथवा — सचित्त अवयवयुक्त पकी हुई कणी को अचित्त मानकर आहार करे तो अतिचार (व्रत सापेक्षता से)।

४. अभिषव — अनेक द्रव्यों के मिश्रण से बने हुए पदार्थ जैसे सुरा, कांजी, मांस, शहद आदि खाना। अनाभोग से खाये तो अतिचार अन्यथा व्रतभंग ॥ २८१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. **अनर्थदण्ड विरमण**— — निष्प्रयोजन पाप करने का त्याग करना अनर्थदण्ड विरमण है। इसके पाँच अतिचार हैं—

(i) **कौत्कुच्य** — आँख, भौएं, होठ, नाक, हाथ-पैर, मुँह आदि बोलते समय या यूँ ही विदूषक की तरह बनाना जिसे देखकर लोग हँसें तथा स्वयं का हलकापन लगे। यह अनर्थदण्ड का प्रथम अतिचार है।

(ii) **मुखरता** — बिना विचारे बोलना, असभ्य, असम्बद्ध बोलना, बिना कारण बार-बार बोलना। ऐसे बोलने से पापोपदेश की सम्भावना रहती है, यही इसकी अतिचारता है।

(iii) **भोग-उपभोग की अधिकता** — भोग = एक बार काम में आने वाली वस्तुओं का उपयोग भोग है। जैसे आहार, फूल की माला आदि का उपयोग।

— उपभोग = बार-बार उपभोग में आने वाली वस्तुओं का उपयोग उपभोग है। जैसे वस्त्र, स्त्री आदि का उपयोग। भोगोपभोग की वस्तुओं का आवश्यकता से अधिक उपयोग करना भोगोपभोगातिरेक नामक अतिचार है।

स्नान, पान, भोजन, कुंकुम, चंदन, कस्तूरी, वस्त्र, आभरण आदि का अनावश्यक प्रयोग करना अनर्थदण्ड है। इस विषय में समाचारी यह है कि यदि लोग बालों में तेल-आँवला आदि का प्रयोग अधिक मात्रा में करेंगे तो उन्हें धोने के लिये जल भी अधिक चाहियेगा अतः लोलुपतावश लोग स्नान के लिये तालाब, नदी आदि पर जायेंगे। जिससे पोरे आदि अपकाय के जीवों की अधिक विराधना होगी। ऐसा करना नहीं कल्पता। अतः स्नान घर पर ही करना चाहिये। यदि यह सम्भव न हो तो बालों में लगाया हुआ तेल, आँवला चूर्ण आदि घर पर ही साफ करके तालाब पर जावे और वहाँ किनारे पर बैठकर पसली से पानी लेकर स्नान करे। यदि फूल आदि जीवाकुल हो तो उन्हें भी त्याग दें। इस प्रकार अन्यत्र भी समझना।

(iv) **काम प्रधान वचन प्रयोग** — वासना को उत्तेजित करने वाले वचन बोलना। श्रावक को ऐसे वचन कभी भी नहीं बोलने चाहिये जिससे स्व अथवा पर को राग पैदा हो।

(v) **संयुक्त अधिकरण** — आत्मा को दुर्गति में ले जाने वाला अधिकरण है। जैसे ऊखल, घट्टी आदि। श्रावक को संयुक्त अधिकरण कभी नहीं रखना चाहिये। जैसे ऊखल के साथ मूशल, हल के साथ फाल, शकट के साथ जूड़ा, धनुष के साथ बाण। संयुक्त अधिकरण रखने से कोई भी हिंसक व्यक्ति उसे उठाकर ले जा सकता है। अगर अधिकरण अलग-अलग पड़े हों तो सरलता से मना किया जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निष्प्रयोजन पाप करना अनर्थदण्ड है। अनर्थदण्ड चार प्रकार का है—अपध्यानाचरित, प्रमादाचरित, हिंसाप्रदान तथा पापकर्मोपदेश। अतः उनकी त्याग रूप विरति भी चार प्रकार की है। पूर्वोक्त पाँच अतिचार में से कौन अतिचार किस विरति को दूषित करता है, यह निम्नलिखित हैं—

१. अपध्यानाचरित विरति में — कौत्कुच्यादि पाँचों का अनाभोग से चिन्तन करना अपध्यानरूप होने से अतिचार है। किन्तु जानबूझकर रसपूर्वक कौत्कुच्यादि में प्रवृत्ति करने से व्रत भंग होता है।

२. प्रमादाचरित विरति में — कौत्कुच्य, कन्दर्प एवं भोगोपभोग का पुनः-पुनः सेवन प्रमादजन्य होने से अतिचार है।

३. हिंसाप्रदान विरति में — अधिकरण, ऊखल-मूसल आदि संयुक्त रखना हिंसाप्रदान विरति में अतिचार है।

४. मौखर्य विरति में — बिना सोचे अधिक बोलना पापकर्मोपदेश विरति में अतिचार है॥ २८२॥

शिक्षाव्रत के अतिचार—

९. सामायिक व्रत —इसके पाँच अतिचार हैं।

प्रणिधान = मन, वचन, काया की प्रवृत्ति प्रणिधान है। यह प्रवृत्ति यदि सावद्य है तो वह दुष्प्रणिधान कहलाता है।

(i) काय दुष्प्रणिधान — सामायिक में हाथ-पाँव आदि को व्यवस्थित न रखना।

(ii) मन दुष्प्रणिधान — क्रोध-मान-माया-लोभ, ईर्ष्या, आदि से प्रेरित मन की प्रवृत्ति तथा संमोह।

(iii) वचन दुष्प्रणिधान — सूत्रों का शुद्ध उच्चारण न करना, सूत्रों का अर्थ न जानना, बोलने में उपयोग न रखना आदि।

- बिना देखे, बिना प्रमार्जे जमीन पर बैठना। भले इसमें जीवहिंसा न भी हो, तथापि प्रमादाचरण होने से वह सामायिक नहीं कहलाती।
- आर्त्तध्यान रूप होने से गृहादि की चिन्ता सामायिक में नहीं की जाती। ऐसा करने से सामायिक निरर्थक होती है।
- उपयोग और विवेकपूर्वक बोलने वाले की सामायिक सफल होती है अन्यथा नहीं।

(iv) स्मृतिविस्मरण — मैंने सामायिक लिया या नहीं? मैंने सामायिक कब लिया? इस प्रकार विस्मरण होना अतिचार है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्मृतिमूलत्वान्मोक्षसाधनानुष्ठानस्य।

— जिस प्रमादी आत्मा को इतना भी याद नहीं रहता कि "मैंने सामायिक लिया या नहीं?" उसकी सामायिक निष्फल जाती है।

(v) अनवस्थित करण — नियत समय पर सामायिक न करना, सामायिक का सम्यक् पालन न करना, सामायिक अनादर से करना, सामायिक लेकर तुरन्त पार लेना।

पहले तीन अतिचार अनाभोग से समझना अन्यथा व्रत भंग हो जाता है। अन्तिम दो प्रमादाचरित हो तो अतिचार, अन्यथा व्रतभंग ॥ २८२ ॥

१० देशावकाशिक व्रत— — दिग्व्रत में देशावकाशिक का अन्तर्भाव हो जाता है किन्तु कुछ विशेषताएँ होने से इसे अलग कहा गया। दिग्व्रत की काल मर्यादा यावज्जीव, वर्ष, चारमास, मास आदि की है, जबकि देशावकाशिक व्रत दिन, प्रहर, मुहूर्त प्रमाण होता है। इसके पाँच अतिचार हैं।

(i) आनयन — नियमित क्षेत्र के बाहर से वस्तु मँगवाना। नियमित क्षेत्रोपरान्त यदि मैं स्वयं जाऊँगा तो व्रतभंग होगा, यह सोचकर स्वयं नहीं जाना किन्तु दूसरे से वस्तु मँगवाना। व्रत सापेक्ष होने से अतिचार।

(ii) प्रेष्यप्रयोग — मर्यादित क्षेत्र से बाहर अन्य को भेजकर वस्तु आदि पहुँचाना। व्रतभंग के भय से स्वयं न जाना। जाने-आने से होने वाली हिंसा से बचने के लिए देशावकाशिक व्रत लिया जाता है। अतः व्रती स्वयं न जाकर किसी दूसरे को भेजता है तो भी हिंसाजन्य दोष तो लगता ही है। अपितु स्वयं जाने में ईर्यासमिति का पालन होता है जबकि दूसरे को भेजने में कोई विश्वस्तता नहीं रहती।

(iii) शब्दानुपात — मर्यादित क्षेत्र से बाहर काम पड़ने पर स्वयं न जाना किन्तु शब्द-संकेत से सीटी आदि बजाकर दूसरों को बुलाना।

(iv) रूपानुपात — मर्यादित क्षेत्र से बाहर स्वयं न जाना किन्तु विवक्षित व्यक्ति की नजर उस पर पड़े, इस प्रकार खड़े रहना ताकि जिन्हें बुलाना हो वे उसके पास पहुँच जायें। विवक्षित क्षेत्र से बाहर रहे हुए व्यक्ति को व्रतभंग के भय से जाकर बुलाना सम्भव न हो, ऐसी स्थिति में आवाज देकर, शब्द संकेत से या अपना रूप दिखाकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसे अपने पास बुलाना। दोनों तरह से अतिचार लगता है। व्रतसापेक्ष होने से भंग नहीं होता।

(v) पुद्गलक्षेप — विवक्षित क्षेत्र से बाहर पत्थर आदि फेंक कर दूसरे को अपना अभिप्राय सूचित करना। विवक्षित व्यक्ति भी उसका अभिप्राय जानकर उसके पास पहुँचकर कार्य सम्पन्न करता है।

पहले दो अतिचार अनाभोग, सहसाकार एवं मंद बुद्धि वश लगते हैं। अन्तिम तीन मायाचार से।

वृद्धाः — देशावकाशिक व्रत दिग्व्रत का संक्षेप है, यह कथन उपलक्षण मात्र है। दिग्व्रत के संक्षेप की तरह अन्य व्रतों का भी संक्षेप अवश्य होना चाहिये। यदि ऐसा मानें तो प्रतिव्रत का संक्षेप अलग व्रत के रूप में होने से व्रत की संख्या १२ से अधिक हो जायेगी। इसके उत्तर में किसी का कहना है कि—

केचित् — देशावकाशिक व्रत दिग्व्रत का ही संक्षेप है अन्य व्रतों का नहीं क्योंकि उसके अतिचार दिग्व्रत का ही अनुसरण करते हैं।

अन्यमत — जैसे उपलक्षण से देशावकाशिक व्रत शेष व्रतों का संक्षेप है, वैसे उपलक्षण से उसके अतिचार भी मूल व्रतों के अनुसार ही होंगे।

प्रश्न—तब तो दिग्व्रत के संक्षेप रूप देशावकाशिक व्रत के अतिचार वे ही होने चाहिये जो कि दिग्व्रत के हैं, प्रेष्यप्रयोगादि अलग से नहीं होने चाहिये?

उत्तर—प्राणातिपात विरमण आदि के संक्षेप रूप देशावकाशिक व्रत के अतिचार वे ही होंगे, जो मूल व्रत के हैं पर, दिग्व्रत के संक्षेप रूप देशावकाशिक व्रत में क्षेत्र का संक्षेपीकरण होने से उसके स्वयं के प्रेष्य-प्रयोगादि अतिचार भी रहेंगे। इसलिये दिग्व्रत और देशावकाशिक व्रत के अतिचार अलग-अलग बताये पर अन्य व्रतों के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है। इसका प्रमाण है रात्रिभोजन विरमण व्रत। 'रात्रिभोजन विरमण व्रत' 'प्राणातिपात विरमण' का संक्षेप है। इसीलिये उसके अतिचार अलग से कहीं नहीं बताये ॥ २८४ ॥

११. पौषधव्रत—इसके भी पांच अतिचार हैः—

(i) अप्रतिलेखित व अप्रमार्जित भूमि में पौषध लेना।

(ii) अप्रत्युपेक्षित-दुष्प्रत्युपेक्षित स्थंडिल भूमि में मात्रा आदि परठना।

(iii) अप्रमार्जित, दुष्प्रमार्जित वसति, संथारा आदि का ग्रहण करना।

(iv) अयोग्य स्थान पर मल-मूत्र विसर्जित करना।

(v) पौषधव्रत का दृढ़ता से पालन न करना। जैसे, पौषध में भूख लगने पर विचारना कि प्रातःकाल घृतादि से युक्त अच्छा भोजन बनवाऊँगा। द्राक्षापानादि पीऊँगा। गर्मी लगने पर सोचना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि पौषध पूर्ण होने पर अच्छी तरह से स्नानादि करूँगा। पूर्व में भोगे हुए भोगादि का स्मरण करना। कामोद्दीपक वचनादि बोलना। विकारवर्धक चेष्टाएँ करना। व्यापार सम्बन्धी चिन्तन करना कि पौषध पालने के बाद यह लेन-देन करूँगा। इस प्रकार चिन्तन करने से अतिचार लगता है।

समाचारी—

पौषधग्रहण करके अप्रत्युपेक्षित वसति, संथारा, शय्या आदि का उपयोग नहीं करना चाहिये। संथारा, दर्भवस्त्र (चटाई), शुद्ध वस्त्र (ऊन) आदि का होना चाहिये। स्थण्डिलभूमि से आने के बाद संथारे की प्रमार्जना करके बैठना व सोना चाहिये। अन्यथा अतिचार लगता है। पाट-पीठ आदि के लिए भी यही समझना।

१. अप्रत्युपेक्षित —दृष्टि से नहीं देखा हुआ।
२. दुष्प्रत्युपेक्षित —विभ्रान्त चित्त से देखा हुआ।
३. अप्रमार्जित —रजोहरण आदि से अशोधित।
४. दुष्प्रमार्जित —अविधि और अनुपयोग से रजोहरणादि द्वारा संशोधित॥ २८५॥

१२. अतिथि संविभाग व्रत—इस व्रत के भी पांच अतिचार हैं:—

(i) सचित्तनिक्षेप — साधु आदि को वहोराने की इच्छा न होने से अचित्त (वहोराने योग्य) वस्तु को सचित्त वस्तु के साथ मिलाना या सचित्त वस्तु पर रखना। मैंने अतिथि संविभाग व्रत लिया है उसके अनुसार मुझे मुनि को अवश्य वहोराना चाहिये किन्तु मुनि लोग सचित्त के संघट्टे वाली वस्तु ग्रहण नहीं करते अतः मैं उन्हें सचित्त पर रखकर वहोराऊँगा किन्तु उसे मुनि लेंगे नहीं। मेरा व्रत भी सुरक्षित रह जायेगा और वस्तु भी बच जायेगी। इस प्रकार व्रत सापेक्ष होने से अतिचार।

(ii) सचित्तपिधान — वहोराने योग्य वस्तु को सचित्त वस्तुओं से ढंक देना।

(iii) अन्यव्यपदेश — वहोराने की भावना न होने से अपनी वस्तु को दूसरों की बताना। ताकि साधु उस वस्तु को अन्य की जानकर मालिक की अनुज्ञा के बिना ग्रहण नहीं करेंगे। इस प्रकार वस्तु भी बच जायेगी और नियम भंग भी नहीं होगा।

(iv) मात्सर्य — मत्सर अर्थात् क्रोध। जिसमें क्रोध है वह मत्सरी है। उसका भाव मात्सर्य है। मात्सर्यपूर्वक देने वाले का व्रत दूषित होता है। अर्थात् कोई माँगे तो गुस्सा करना। वस्तु होने पर भी न देना अथवा अहंकार व ईर्ष्यापूर्वक दान देना यथा, मेरा पड़ौसी जो कि इतना गरीब है, उसने भी मुनि को वहोराया तो क्या मैं नहीं वहोरा सकता? इस प्रकार मात्सर्य पूर्वक दान देना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मात्सर्यः = परगुणासहनलक्षणः ।

(v) कालातिक्रम — साधु को दान न देने की इच्छा से गौचरी के समय से पूर्व ही खा पी लेना अथवा गौचरी का समय बीत जाने पर साधु-साध्वी को गौचरी के लिए आमन्त्रित करना ॥ २८६ ॥

७ द्वार : जिननाम—

भरहेऽतीए संपइ भाविजिणे वंदिमो चउव्वीसं ।
एरवयंमिवि संपइभाविजिणे नामओ वंदे ॥२८७ ॥
केवलनाणी निव्वाणी सायरो जिणमहायसो विमलो ।
सव्वाणुभूइ (नाहसुतेया) सिरिहर दत्तो दामोयर सुतेओ ॥२८८ ॥
सामिजिणो य सिवासी सुमई सिवगई जिणो य अत्थाहो (अबाहो) ।
नाहनमीसर अनिलो जसोहरो जिणकयग्घो य ॥२८९ ॥
धम्मीसर सुद्धमई सिवकरजिण संदणो य संपइ य ।
तीउस्सप्पिणि भरहे जिणेसरे नामओ वंदे ॥२९० ॥
उसभं अजियं संभव-मभिणंदण सुमइ पउमप्पह सुपासं ।
चंदप्पह सुविहि सीअल सेज्जंसं वासुपुज्जं च ॥२९१ ॥
विमल-मणंतं धम्मं संतिं कुंथुं अरं च मल्लिं च ।
मुणिसुव्वय नमि नेमी पासं वीरं च पणमामि ॥२९२ ॥
जिणपउमनाह सिरिसुरदेव सुपासं सिरिसयंपभयं ।
सव्वाणुभूइ देवसुय उदय पेढालमभिवंदे ॥२९३ ॥
पोट्टिल सयकित्तिजिणं मुणिसुव्वय अमम निक्कसायं च ।
जिणनिप्पुलाय सिरिनिममत्तं जिणचित्तगुत्तं च ॥२९४ ॥
पणमामि समाहिजिणं संवरय जसोहरं विजय मल्लिं ।
देवजिणऽणंतविरियं भद्दजिणं भाविभरहंमि ॥२९५ ॥
बालचंदं सिरिसिचयं अग्गिसेणं च नंदिसेणं च ।
सिरिदत्तं च वयधरं सोमचंद जिणदीहसेणं च ॥२९६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वंदे सयाउ सच्चइ जुत्तिस्सेणं जिणं च सेयंसं।
सीहसेणं सयंजल उवसंतं देवसेणं च ॥२९७॥
महाविरिय पास मरुदेव सिरिहरं सामिकुडुमभिवंदे।
अग्गिसेणं जिणमग्गदत्तं सिरिवारिसेणं च ॥२९८॥
इय संपइजिणनाहा एरवए कित्तिया सणामेहिं।
अहुणा भाविजिणिंदे नियणामेहिं पकित्तेमि ॥२९९॥
सिद्धत्थं पुन्नघोसं जमघोसं सायरं सुमंगलयं।
सव्वट्ठसिद्ध निव्वाणसामिं वंदामि धम्मधयं ॥३००॥
तह सिद्धसेण महसेण नाह रविमित्त सव्वसेणजिणे।
सिरिचंदं दढकेउं महिंदयं दीहपासं च ॥३०१॥
सुव्वय सुपासनाहं सुकोसलं जिणवरं अणंतत्थं।
विमलं उत्तर महरिद्धि देवयाणंदयं वंदे ॥३०२॥
निच्छीण्णभवसमुद्दे वीसाहियसयजिणे सुहसमिद्धे।
सिरिचंदमुणिवइनए सासयसुहदायए नमह ॥३०३॥

—गाथार्थ—

भरतक्षेत्र के अतीत-वर्तमान और भावी तीर्थंकरों को नामग्रहणपूर्वक मैं नमस्कार करता हूँ। ऐरवत क्षेत्र के वर्तमान एवं भावी तीर्थंकरों को नामग्रहणपूर्वक मैं नमस्कार करता हूँ॥२८७॥

—विवेचन—

भरतक्षत्रवर्ती अतीत २४ जिननाम—

१. केवलज्ञानी,	७. श्रीधर,	१३. सुमति,	१९. कृतार्थ,
२. निर्वाणी,	८. दत्त,	१४. शिवगति,	२०. धर्मीश्वर (जिनेश्वर),
३. सागर,	९. दामोदर,	१५. अबाध (अस्ताग),	२१. शुद्धमति,
४. महायश,	१०. सुतेजा,	१६. नेमीश्वर,	२२. शिवकर,
५. विमल,	११. स्वामि	१७. अनिल,	२३. स्यन्दन,
६. सुतेजा (सर्वानुभूति),	१२. शिवाशी (मुनिसुव्रत),	१८. यशोधर,	२४. सम्प्रति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भरतक्षेत्रवर्ती वर्तमान २४ जिननाम—

१. ऋषभ	७. सुपार्श्व	१३. विमल	१९. मल्लिनाथ
२. अजित	८. चन्द्रप्रभ	१४. अनन्त	२०. मुनिसुव्रत
३. संभव	९. सुविधि	१५. धर्म	२१. नमिनाथ
४. अभिनन्दन	१०. शीतल	१६. शान्ति	२२. नेमिनाथ
५. सुमति	११. श्रेयांस	१७. कुंथु	२३. पार्श्वनाथ
६. पद्मप्रभ	१२. वासुपूज्य	१८. अरनाथ	२४. महावीर

भरतक्षेत्रवर्ती भावी २४ जिननाम—

१. पद्मनाभ	७. उदय	१३. निष्कषाय	१९. यशोधर
२. सुरदेव	८. पेढ़ाल	१४. निष्पुलाक	२०. विजय
३. सुपार्श्व	९. पोट्टिल	१५. निर्ममत्व	२१. मल्लि
४. स्वयंप्रभ	१०. शतकीर्ति	१६. चित्रगुप्त	२२. देवजिन
५. सर्वानुभूति	११. मुनिसुव्रत	१७. समाधि	२३. अनन्तवीर्य
६. देवश्रुत	१२. अमम	१८. संवर	२४. भद्रजिन (भद्रकृत)

समवायांग में भावी जिननाम—

१. महापद्म	७. उदय	१३. अमम	१९. संवर
२. सुरादेव	८. पेढ़ालपुत्र	१४. निष्कषाय	२०. अनिवृत्ति
३. सुपार्श्व	९. पोट्टिल	१५. निष्पुलाक	२१. विपाक
४. स्वयंप्रभ	१०. शतक	१६. निर्मम	२२. विमल
५. सर्वानुभूति	११. मुनिसुव्रत	१७. चित्रगुप्त	२३. देवोपपात
६. देवगुप्त	१२. सर्वभावविद्	१८. समाधि	२४. अनन्तविजय

प्रस्तुत ग्रन्थ एवं समवायांग में जो नाम भेद हैं, वह मतान्तर समझना ॥ २८८-२९५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐरवत क्षेत्रवर्ती वर्तमान २४ जिननाम—

१. बालचन्द्र	७. सोमचन्द्र	१३. सिंहसेन	१९. मरुदेव
२. श्रीसिचय	८. दीर्घसेन	१४. स्वयंजल	२०. श्रीधर
३. अग्निषेण	९. शतायुष	१५. उपशान्त	२१. स्वामिकोष्ठ
४. नन्दिषेण	१०. सत्यकी	१६. देवसेन	२२. अग्निसेन
५. श्रीदत्त	११. युक्तिसेन	१७. महावीर्य	२३. अग्रदत्त (मार्गदत्त)
६. व्रतधर	१२. श्रेयांस	१८. पार्श्व	२४. वारिषेण

ऐरवत क्षेत्रवर्ती-भावी २४ जिननाम—

१. सिद्धार्थ	७. निर्वाणस्वामी	१३. श्रीचन्द्र	१९. सुकोशल
२. पूर्णघोष (पुण्यघोष)	८. धर्मध्वज	१४. दृढ़केतु	२०. अनन्तार्थ
३. यमघोष	९. सिद्धिसेन	१५. महेन्द्र	२१. विमल
४. सागर	१०. महासेन	१६. दीर्घपार्श्व	२२. उत्तर
५. सुमंगल	११. रविमित्र	१७. सुव्रत	२३. महर्द्धि
६. सर्वार्थसिद्ध	१२. सत्यसेन	१८. सुपार्श्वनाथ	२४. देवतानन्दक

इस प्रकार २४ को ५ से गुणा करने पर, २४×५ = १२० कुल जिनेश्वर होते हैं।

भवसमुद्र से उत्तीर्ण, सुख से समृद्ध, श्रीचन्द्रसूरि के द्वारा नमस्कृत, शाश्वत सुखदाता ऐसे एक सौ बीस तीर्थंकर परमात्माओं को हे भव्य जीवों! आप नमस्कार करें॥ २९६-३०३॥

८ द्वार : गणधर-नाम—

सिरिउसभसेण पहु सीहसेण चारु वज्जनाहक्खा।
चमरो पज्जोय वियब्भ दिण्णपहवो वराहो य॥३०४॥
पहुनंद कोत्थुहावि य सुभोम मंदर जसा अरिट्ठो य।
चक्काउह संबा कुंभ भिसय मल्ली य सुंभो य॥३०५॥
वरदत्त अज्जदिन्ना तहिंदभूई गणहरा पढमा।
सिस्सा रिसहाइणं, हरंतु पावाइं पणयाणं॥३०६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

वर्तमान २४ तीर्थंकरों के प्रथम गणधरों के नाम—

तीर्थंकर	गणधर	तीर्थंकर	गणधर	तीर्थंकर	गणधर
१. ऋषभ.....	ऋषभसेन	९. सुविधि.....	वराह	१७. कुंथु.....	शम्ब
२. अजित.....	सिंहसेन	१०. शीतल.....	प्रभुनन्द	१८. अरनाथ.....	कुम्भ
३. संभव.....	चारु	११. श्रेयांस.....	कौस्तुभ	१९. मल्लिनाथ.....	भिषज
४. अभिनन्दन.....	वज्रनाभ	१२. वासुपूज्य.....	सुभौम	२०. मुनिसुव्रत.....	मल्लि
५. सुमति.....	चमर	१३. विमल.....	मन्दर	२१. नमिनाथ.....	सुम्भ
६. पद्मप्रभ.....	प्रद्योत	१४. अनन्त.....	यश	२२. नेमिनाथ.....	वरदत्त
७. सुपार्श्व.....	विदर्भ	१५. धर्म.....	अरिष्ट	२३. पार्श्वनाथ.....	आर्यदत्त
८. चन्द्रप्रभ.....	दत्तप्रभव	१६. शान्ति.....	चक्रायुध	२४. महावीर.....	इन्द्रभूति

ऋषभादि २४ जिनेश्वरों के प्रथमगणधर नमन करने वालों के पापों को नाश करें ॥ ३०४-३०६ ॥

९ द्वार : प्रवर्त्तिनी नाम—

बंभी फग्गू सामा अजिया तह कासवी रई सोमा ।
सुमणा वारुणि सुजसा धारिणि धरिणी धरा पउमा ॥३०७ ॥
अज्जा सिवा सुहा दामणी य रक्खी य बंधुमइनामा ।
पुप्फवई अनिला जक्खदिन्न तह पुप्फचूला य ॥३०८ ॥
चंदण सहिया उ पवत्तिणीओ चउवीसजिणवरिंदाणं ।
दुरियाइं हरंतु सया सत्ताणं भत्तिजुत्ताणं ॥३०९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्तमान २४ तीर्थंकरों की प्रवर्तिनियों के नाम—

—विवेचन—

तीर्थंकर	प्रवर्तिनी	तीर्थंकर	प्रवर्तिनी	तीर्थंकर	प्रवर्तिनी
१. ऋषभ.....	ब्राह्मी	९. सुविधि.....	वारुणी	१७. कुंथु.....	दामिनी
२. अजित.....	फल्गु	१०. शीतल	सुयशा	१८. अरनाथ.....	रक्षी
३. संभव.....	श्यामा	११. श्रेयांस.....	धारिणी	१९. मल्लिनाथ.....	बन्धुमती
४. अभिनन्दन.....	अजिता	१२. वासुपूज्य.....	धरिणी	२०. मुनिसुव्रत.....	पुष्पवती
५. सुमति.....	काश्यपी	१३. विमल.....	धरा	२१. नमिनाथ.....	अनिला
६. पद्मप्रभ.....	रति	१४. अनन्त.....	पद्मा	२२. नेमिनाथ.....	यक्षदत्ता
७. सुपार्श्व.....	सोमा	१५. धर्म.....	शिवा	२३. पार्श्वनाथ.....	पुष्पचूला
८. चन्द्रप्रभ.....	सुमना	१६. शान्ति.....	शुभा	२४. महावीर.....	चन्दना

वर्तमान २४ जिनेश्वरों की प्रवर्तिनियां भक्तियुक्त प्राणियों के पापों का सर्वनाश करें ॥ ३०७-३०९ ॥

१० द्वार : बीस स्थानक—

अरिहंत सिद्ध पवयण गुरु थेर बहुस्सुए तवस्सी य ।
वच्छल्लया य एसिं अभिक्खनाणोवओगो य ॥३१० ॥
दंसण विणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयारो ।
खणलव तव च्चियाए वेयावच्चे समाही य ॥३११ ॥
अप्पुव्वनाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पभावणया ।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥३१२ ॥
संघो पवयणमित्थं गुरुणो धम्मोवएसयाईया ।
सुत्तत्थोभयधारी बहुस्सुया होंति विक्खाया ॥३१३ ॥
जाईसुयपरियाए पडुच्च थेरो तिहा जहकमेणं ।
सट्ठीवरिसो समवायधारओ वीसवरिसो य ॥३१४ ॥
भत्ती पूया वन्नप्पयडण वज्जणमवन्नवायस्स ।
आसायणपरिहारो अरिहंताईण वच्छल्लं ॥३१५ ॥
नाणुवओगोऽभिक्खं दंसणसुद्धी य विणयसुद्धी य ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवस्सयजोएसुं सीलवएसुं निरइयारो ॥३१६ ॥
संवेगभावणा झाणसेवणं खणलवाइकालेसु ।
तवकरणं जइजणसंविभागकरणे जहसमाही ॥३१७ ॥
वेयावच्चं दसहा गुरुमाईणं समाहिजणणं च ।
किरियादारेण तहा अपुव्वनाणस्स गहणं तु ॥३१८ ॥
आगमबहुमाणो च्चिय तित्थस्स पभावणं जहासत्ती ।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं समज्जिणइ ॥३१९ ॥

—गाथार्थ—

वीशस्थानक—१. अरिहंत, २. सिद्ध, ३. प्रवचन, ४. आचार्य, ५. स्थविर, ६. बहुश्रुत, ७. तपस्वी, ८. सततज्ञानोपयोग, ९. निरतिचार दर्शन, १०. विनय, ११. आवश्यक, १२-१३. निरति चार शील तथा व्रत, १४. क्षणलव, १५. तपसमाधि, १६. त्यागसमाधि, १७. वैयावच्च में समाधि, १८. अपूर्व ज्ञानग्रहण, १९. श्रुतभक्ति, २०. प्रवचनप्रभावना—इन कारणों से जीव तीर्थंकर पद प्राप्त करता है ॥३१०-३१२ ॥

संघ, धर्मोपदेशक गुरु, सूत्र-अर्थ-तदुभय के ज्ञाता बहुश्रुत, जन्म, श्रुत और पर्याय तीनों से स्थविर—जैसे साठ वर्ष की उम्रवाला वय स्थविर है, समवायांग का ज्ञाता श्रुतस्थविर है और बीस वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला मुनि पर्याय स्थविर है। भक्ति, पूजा, अवर्णवाद का त्याग, आशातना का परिहार—ये अरिहंत आदि सात का वात्सल्य है। सतत ज्ञानोपयोग, दर्शनशुद्धि, विनयशुद्धि, आवश्यक योग, शील तथा व्रत का निरतिचार पालन, संवेग, भावना, ध्यान का आसेवन, तपश्चरण, मुनियों का संविभाग, गुरु आदि दश की समाधिदायक सेवा द्वारा वैयावच्च करना, अपूर्व ज्ञानग्रहण, आगमों का बहुमान और यथाशक्ति तीर्थप्रभावना करना ये तीर्थंकर पद प्राप्ति के अमोघ उपाय हैं ॥३१३-३१९ ॥

—विवेचन—

१. अरिहंत — जो अष्ट प्रातिहार्यादिरूप पूजा के योग्य हैं, वे अरिहंत-तीर्थंकर कहलाते हैं।

२. सिद्ध — जिनके सर्वकर्म नष्ट हो चुके हैं, जो अनन्त सुख के भोक्ता एवं कृतकृत्य हैं, वे सिद्ध हैं।

३. प्रवचन — द्वादशाङ्गी अथवा उसका उपयोग करने वाला संघ।

४. गुरु (आचार्य) — यथावस्थित शास्त्रार्थ के प्रतिपादक, धर्मोपदेशक गुरु हैं।

५. स्थविर — तीन प्रकार के हैं—

(१) जाति-स्थविर — जिनकी उम्र साठ वर्ष या उससे अधिक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२) श्रुत-स्थविर — समवायाङ्ग सूत्र को जानने वाले।

(३) पर्याय-स्थविर — जिनका दीक्षा पर्याय २० वर्ष का है।

६. बहुश्रुत — जिनका श्रुत-ज्ञान विशद है, वे बहुश्रुत हैं। बहुश्रुतता सापेक्ष है। श्रुत के तीन भेद हैं—सूत्र, अर्थ और तदुभय। सूत्र को जाननेवाला श्रेष्ठ है, सूत्र की अपेक्षा अर्थ को जानने वाला श्रेष्ठतर है और सूत्र व अर्थ दोनों को जानने वाला बहुश्रुत श्रेष्ठतम है।

७. तपस्वी — अनेकविध तप करने वाला साधु। पूर्वोक्त सातों स्थानकों के प्रति वात्सल्य भाव या अनुराग रखना, उनका गुण-कीर्तन करना, उनकी सेवा, वैयावच्च करना आदि तीर्थंकर नाम कर्म के बंध के कारण हैं।

८. अनवरत ज्ञानोपयोग — सतत ज्ञान में रमण करना।

९. दर्शन — सम्यक्त्व।

१०. विनय — (ज्ञानादि विनय) ज्ञानादि का विनय करना।

११. आवश्यक — प्रतिदिन अवश्य करने योग्य प्रतिक्रमणादि।

१२/१३. शीलव्रत — शील = उत्तरगुण, व्रत = मूलगुण। ८ से १३ तक के ६ स्थानों का निरतिचार पालन तीर्थंकर नामकर्म के बंध का कारण है।

१४. क्षणलव-समाधि — संसार से विरक्ति, मोक्ष की अभिलाषा तथा ध्यानादि के द्वारा प्रति समय मन को समभाव में स्थिर करना।

१५. तप-समाधि — बाह्य व आभ्यन्तर, दोनों प्रकार के तप में यथाशक्ति सतत प्रवृत्ति करना।

१६. त्याग-समाधि — त्याग दो प्रकार का है—(i) द्रव्य त्याग और (ii) भाव-त्याग।

(i) द्रव्य त्याग — अकल्पनीय आहार, उपाधि, शय्यादि का त्याग करना एवं कल्प्य आहार, उपधि, शय्यादि अन्य मुनियों को देना।

(ii) भाव-त्याग — क्रोधादि का त्याग करना तथा मुनियों की ज्ञानादि की आराधना में सहायक बनना।

- इन दोनों ही प्रकार के त्याग में सूत्रानुसार यथाशक्ति निरन्तर प्रवृत्ति करना।

१७. दशविध-वैयावच्च — १. आचार्य, २. उपाध्याय, ३. स्थविर, ४. तपस्वी, ५. ग्लान, ६. शैक्षक, ७. कुल, ८. गण, ९. संघ व १०. स्वधर्मी। पूर्वोक्त दसों का तेरह प्रकार से वैयावच्च करना।

वैयावच्च के तेरह प्रकार—१. भोजन, २. पान, ३. आसन, ४. उपकरण-पडिलेहण, ५. पाद-प्रमार्जन, ६. वस्त्र-प्रदान, ७. औषधि दान, ८. चलने में सहायता, ९. दुष्टों से रक्षण, १०. वसति में प्रवेश करते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समय दण्ड-ग्रहण, ११. मात्रे के लिये मात्रक-अर्पण, १२. स्थंडिल हेतु मात्रक अर्पण, १३. श्लेष हेतु मात्रक अर्पण।

- भोजनादि के द्वारा आचार्य आदि दश का यथाशक्ति वैयावच्च करना।

१८. अपूर्व ज्ञान — ग्रहण करना

१९. श्रुतभक्ति — श्रुत विषयक बहुमान।

२०. प्रवचन प्रभावना — उपदेश आदि देकर शासन की प्रभावना करना।

इन बीस पदों की आराधना से जीव तीर्थंकर पद प्राप्त करता है।

- प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर ने पूर्वभव में बीसों ही पदों की आराधना की थी। मध्य के बाईस तीर्थंकरों में से किसी ने दो, किसी ने तीन और किसी ने बीसों पदों की आराधना की थी।

भक्ति = हार्दिक बहुमान। पूजा = यथोचित पुष्प, फल, आहार आदि के द्वारा सम्मान करना। वर्ण-प्रकटन = सद्गुणों की प्रशंसा करना। अरिहन्त आदि पदों की निन्दा व आशातना करने का त्याग करना।

- अरिहंत आदि पदों के प्रति स्नेह, अनुराग रखना वत्सलता है। भात-पानी के दान द्वारा गुरु आदि को शान्ति पहुँचाना समाधि है। उसके पूर्वोक्त १० प्रकार हैं। अथवा बारहवाँ शील और तेरहवाँ व्रत, इन दोनों को एक स्थानक मानकर 'समाधि' को तीर्थंकर नामकर्म के बंध का भिन्न ही स्थानक मानना। अब अर्थ होगा कि गुरु आदि दश की तेरह प्रकार से वैयावच्च करना तथा उसके द्वारा गुरु आदि को शान्ति पहुँचाना समाधि है।
- तीर्थंकर नामकर्म का बंध मनुष्यगति में वर्तमान पुरुष, स्त्री या नपुंसक तीनों ही कर सकते हैं। इसके बंध का प्रारम्भ तीर्थंकर के भव से पूर्व के तीसरे भव में करते हैं।

प्रश्न—तीर्थंकर नामकर्म का बंध, जघन्य व उत्कृष्ट अंतः कोटाकोटि सागरोपम से कम नहीं होता। यदि तीसरे भव में इसका बंध मानें तो तीसरे भव से लेकर तीर्थंकर के भव तक इतना काल पूर्ण नहीं होता। देव की उत्कृष्ट आयु ३३ सागर की है, तीर्थंकर योग्य मनुष्य की आयुष्य अधिक से अधिक पूर्व क्रोड वर्ष की हो सकती है। कुल मिलाकर भी यह काल तीर्थंकर नामकर्म के बंध काल के तुल्य नहीं होता। अतः तीसरे भव में इसका बंध कैसे सम्भव होगा?

उत्तर—तीसरे भव में बंध की बात निकाचना की दृष्टि से कही गई है अर्थात् तीर्थंकर नामकर्म की निकाचना तीसरे भव में होती है, अनिकाचित बंध तो उससे पूर्व ही हो जाता है क्योंकि उसका काल अन्तःकोटाकोटि सागर है। पर निकाचित बंध का काल तीन भव ही है।

- निश्चित फल देने वाला कर्म निकाचित है। अनिकाचित कर्म का फल देना निश्चित नहीं है। तपश्चर्या आदि से क्षय भी हो सकते हैं। निकाचितबन्ध तीसरे भव से लेकर, तीर्थंकर के भव में अपूर्वकरण का संख्याता भाग बीतने तक चलता रहता है। तीर्थंकर नामकर्म का वेदन, इन्द्रादि के द्वारा अष्टमहाप्रातिहार्य रूप पूजा, १२ परिषद के बीच स्वस्थतापूर्वक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रुत-चारित्ररूप धर्म का प्रतिपादन, सुगन्धित देहादि रूप ३४ अतिशय तथा ३५ गुण रूप वचनातिशय के द्वारा होता है ॥ ३१०-३१९ ॥

११ द्वार : माता-पिता नाम

मरुदेवी विजय सेणा सिद्धत्था मंगला सुसीमा य ।
पुहवी लक्खण रामा नंदा विण्हू जया सामा ॥३२० ॥
सुजसा सुव्वय अइरा सिरी देवी पभावईय ।
पउमावई य वप्पा सिव वम्मा तिसला इय ॥३२१ ॥
नाभी जियसत्तू य जियारि संवरे इय ।
मेहे धरे पइट्ठे य महसेणे य खत्तिए ॥३२२ ॥
सुग्गीवे दढरहे विण्हू वसुपुज्जे य खत्तिए ।
कयवम्मा सीहसेणे य, भाणू विस्ससेणे इय ॥३२३ ॥
सूरे सुदंसणे कुंभे सुमित्त विजए समुद्दविजए य ।
राया य अस्ससेणे सिद्धत्थे ऽविय खत्तिए ॥३२४ ॥

—विवेचन—

जिन जननी नाम—

१. मरुदेवी	७. पृथ्वी	१३. श्यामा	१९. प्रभावती
२. विजया	८. लक्ष्मणा	१४. सुयशा	२०. पद्मावती
३. सेना	९. रामा	१६. सुव्रता	२१. वप्रा
४. सिद्धार्था	१०. नन्दा	१६. अचिरा	२२. शिवा
५. मंगला	११. विष्णु	१७. श्री	२३. वामा
६. सुसीमा	१२. जया	१८. देवी	२४. त्रिशला

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिन जनक नाम—

१. नाभि	७. प्रतिष्ठ	१३. कृतवर्म	१९. कुंभ
२. जितशत्रु	८. महासेन	१४. सिंहसेन	२०. सुमित्र
३. जितारि	९. सुग्रीव	१५. भानु	२१. विजय
४. संवर	१०. दृढ़रथ	१६. विश्वसेन	२२. समुद्रविजय
५. मेघ	११. विष्णु	१७. सूर	२३. अश्वसेन
६. धर	१२. वसुपूज्य	१८. सुदर्शन	२४. सिद्धार्थ

॥ ३२०-३२४ ॥

१२ द्वार : जिन-जननी-जनक-गति—

अट्ठण्हं जणणीओ तित्थयराणं तु हुंति सिद्धाओ ।
अट्ठ य सणंकुमारे माहिंदे अट्ठ बोद्धव्वा ॥३२५ ॥
नागेसुं उसहपिया सेसाणं सत्त हुंति ईसाणे ।
अट्ठ य सणंकुमारे माहिंदे अट्ठ बोद्धव्वा ॥३२६ ॥

—विवेचन—

माता-पिता की गति—

१ से ८ जिनेश्वरों की माता	सिद्ध	ऋषभदेव के पिता	नाग कुमार देव में
९ से १६ जिनेश्वरों की माता	तीसरे देवलोक में	२ से ८ जिनेश्वरों के पिता	दूसरे देवलोक में
१७ से २४ जिनेश्वरों की माता	चौथे देवलोक में	९ से १६ जिनेश्वरों के पिता	तीसरे देवलोक में
		१७ से २४ जिनेश्वरों के पिता	चौथे देवलोक में

सिद्धान्त के मतानुसार—अजितनाथ भगवान के पिता सिद्ध हुए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- **अनुयोगद्वार** सूत्र में तथा आचार्य हेमचन्द्रसूरि द्वारा विरचित **त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र** में भी यही उल्लेख है—

राजा बाहुबलिः सूर्ययशाः सोमयशा अपि।
अन्येप्यनेकशः केऽपि शैवं केऽपि दिवं ययुः॥
जितशत्रुः शिवं प्राप, सुमित्रस्त्रिदिवं गतः॥

—३२५-३२९॥

१३ द्वार : विहरमानजिन

सत्तरिसय मुक्कोसं जहन्न वीसा य दस य विहरंति।

—गाथार्थ—

विहरमान तीर्थंकर—**ढाई द्वीप में एक साथ एक सौ सित्तर तीर्थंकर उत्कृष्ट से, बीस तीर्थंकर जघन्य से या दस तीर्थंकर जघन्य से विचरण करते हुए मिलते हैं।**

—विवेचन—

उत्कृष्टतः—मनुष्य क्षेत्र में एक साथ १७० जिनेश्वर होते हैं। यथा—५ महाविदेह में से प्रत्येक विदेह में ३२-३२ विजय होने से कुल १६० बिजय होती है। प्रत्येक विजय के एक-एक तीर्थंकर और ५ भरत और ५ ऐरवत के एक-एक तीर्थंकर कुल मिलाकर १६० + १० = १७० जिन होते हैं।

जघन्यत—एक साथ २० तीर्थंकर होते हैं। यथा—शीतानदी के कारण जंबूद्वीप की पूर्वविदेह के दो भाग होते हैं। एक उत्तरी भाग और दूसरा दक्षिणी भाग। इसी प्रकार शीतोदा नदी के कारण पश्चिम विदेह के भी दो भाग होते हैं। इस प्रकार जंबूद्वीप की विदेह के कुल ४ भाग होते हैं तथा धातकी खण्ड व पुष्करार्ध में दो-दो विदेह होने से उनके ८-८ भाग होते हैं। पाँचों ही विदेह के कुल मिलाकर २० भाग हुए। जब उनमें एक-एक तीर्थंकर विचरण करते हैं, तब २० तीर्थंकर होते हैं। (भरत-ऐरवत में 'सुषमा' आदि आरों में तीर्थंकर नहीं होते अतः जघन्यतः २० कहा)।

अन्यमते—कुछ आचार्यों का मत है कि ५ विदेह में से पूर्व और पश्चिम विदेह में ही तीर्थंकर होते हैं अतः जघन्यतः १० तीर्थंकर ही होते हैं।

१४ द्वार : जन्म-संख्या—(जघन्य-उत्कृष्ट)

जम्मं पइ उक्कोसं वीसं दस य हुंति उ जहन्ना॥३२७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—गाथार्थ—

तीर्थंकरों की जन्म संख्या—**एक साथ उत्कृष्ट से बीस तथा जघन्य से दश तीर्थंकरों का जन्म होता है ॥३२७॥**

—विवेचन—

एक काल में अधिक से अधिक २० जिनेश्वरों का जन्म होता है। कारण सभी तीर्थंकरों का जन्म अर्धरात्रि में होता है। जब महाविदेह में रात होती है तब भरत व ऐरवत में दिन होता है अत: उस समय भरत व ऐरवत में तीर्थंकरों का जन्म नहीं हो सकता। मात्र महाविदेह में ही जन्म की सम्भावना है और वह भी २० तीर्थंकरों के जन्म की।

प्रश्न—भले भरत-ऐरवत में उस समय तीर्थंकर का जन्म न हो किंतु एक-एक महाविदेह की ३२-३२ विजय है। उन विजयों में तो जन्म हो ही सकता है। ऐसी स्थिति में उत्कृष्ट से २० तीर्थंकरों का जन्म ही कैसे कहा?

समाधान—यद्यपि एक-एक विदेह में ३२-३२ विजय है तथापि एक-एक विदेह की चार-चार विजय में ही युगपत् तीर्थंकर का जन्म होता है अत: पाँच विदेह की २० विजय में ही तीर्थंकरों का जन्म होगा तथा मेरु पर्वत के पण्डक वन में मेरु चूला की चारों दिशा में चार अभिषेक शिलायें हैं। वे शिलायें अर्ध-चन्द्राकार, पाँच सौ योजन लम्बी, चार योजन मोटी, मध्य में दो सौ पचास योजन चौड़ी व मोटी है। ये सभी शिलायें श्वेत सुवर्ण की हैं।

- पूर्व दिशा में पांडु-कम्बल शिला है, उसके दक्षिण और उत्तर में एक-एक सिंहासन है। दक्षिण के सिंहासन पर शीता नदी के दक्षिण में स्थित मंगलावती आदि विजयों में जन्मे हुए तीर्थंकरों का तथा उत्तर के सिंहासन पर शीता नदी के उत्तर में स्थित कच्छादि विजयों में जन्में हुए तीर्थंकरों का अभिषेक होता है।
- पश्चिम दिशा में रक्त-कम्बल शिला है। उसके दक्षिण और उत्तर में एक-एक सिंहासन है। दक्षिण के सिंहासन पर शीतोदा नदी के दक्षिणवर्ती पद्मा आदि विजय में जन्मे हुए तीर्थंकरों का तथा उत्तर स्थित सिंहासन पर शीतोदा नदी के उत्तरवर्ती गन्धिलावती आदि विजयों में जन्मे हुए तीर्थंकरों का अभिषेक होता है।
- दक्षिण दिशा में अतिपांडु-कम्बल शिला है। उस पर भरत में जन्मे हुए तीर्थंकरों का अभिषेक होता है।
- उत्तर दिशा में अतिरक्त कम्बल शिला है। उस पर ऐरवत क्षेत्र के तीर्थंकरों का अभिषेक होता है।

सभी सिंहासन ५०० धनुष लम्बे, चौड़े, २५० धनुष मोटे व सर्वरत्नमय हैं। अभिषेक योग्य सिंहासन चार ही हैं अत: एक विदेह में एक साथ चार से अधिक जिनेश्वरों का जन्म भी नहीं होता।

जघन्यत: — एक समय में १० जिनेश्वरों का जन्म होता है, कारण ५ भरत और ५ ऐरवत में से प्रत्येक में एक-एक तीर्थंकर का जन्म होता है। (जिस समय भरत व ऐरवत में जन्म होता है उस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समय महाविदेह में दिन होने से वहाँ जिनेश्वर के जन्म का प्रश्न ही नहीं है। इसलिए १० से अधिक जिनेश्वरों के जन्म की सम्भावना नहीं रहती) ॥ ३२७ ॥

१५ द्वार : गणधर-संख्या—

चुलसीइ पंचनवई बिउत्तरं सोलसोत्तरं च सयं।
सत्तुत्तर पणनउई तेणउई अट्ठसीई य ॥३२८ ॥
एकासीई छावत्तरी य छावट्ठि सत्तवन्ना य।
पन्ना तेयालीसा छत्तीसा चेव पणतीसा ॥३२९ ॥
तेत्तीस अट्ठवीसा अट्ठारस चेव तह य सत्तरस।
एक्कारस दस एक्कारसेव इय गणहरपमाणं ॥३३० ॥

—विवेचन—

२४. तीर्थंकरों के गणधरों की संख्या—

१. ऋषभ	८४ गणधर	९. सुविधि	८८ गणधर	१७. कुंथु	३५ गणधर
२. अजित	९५ गणधर	१०. शीतल	८१ गणधर	१८. अरनाथ	३३ गणधर
३. संभव	१०२ गणधर	११. श्रेयांस	७६ गणधर	१९. मल्लिनाथ	२८ गणधर
४. अभिनन्दन	११६ गणधर	१२. वासुपूज्य	६६ गणधर	२०. मुनिसुव्रत	१८ गणधर
५. सुमति	१०० गणधर	१३. विमल	५७ गणधर	२१. नमिनाथ	१७ गणधर
६. पद्मप्रभ	१०७ गणधर	१४. अनन्त	५० गणधर	२२. नेमिनाथ	११ गणधर
७. सुपार्श्व	९५ गणधर	१५. धर्म	४३ गणधर	२३. पार्श्वनाथ	१० गणधर
८. चन्द्रप्रभ	९३ गणधर	१६. शान्ति	३६ गणधर	२४. महावीर	११ गणधर

किसी के मतानुसार नेमिनाथ भगवान के १८ गणधर थे ॥ ३२८-३३० ॥

१६ द्वार : श्रमण-संख्या—

चुलसीइ सहस्सा एगलक्ख दो तिन्नि तिन्नि लक्खा य।
बीसहिया तीसहिया तिन्नि य अड्ढाइय दु एक्कं ॥३३१ ॥
चउरासीइ सहस्सा बिसत्तरी अट्ठसट्ठि छावट्ठी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चउसट्ठी बासट्ठी सट्ठी पन्नास चालीसा ॥३३२ ॥
तीसा वीसा अट्ठारसेव सोलस य चउद्दस सहस्सा ।
एयं साहुपमाणं चउवीसाए जिणवराणं ॥३३३ ॥
अट्ठावीसं लक्खा अडयालीसं च तह सहस्साइं ।
सव्वेसिंपि जिणाणं जईण माणं विणिद्दिट्ठं ॥३३४ ॥

—विवेचन—

२४ जिन के मुनियों की संख्या—

१.	८४००० मुनि	९.	२००००० मुनि	१७.	६०००० मुनि
२.	१००००० मुनि	१०.	१००००० मुनि	१८.	५०००० मुनि
३.	२००००० मुनि	११.	८४००० मुनि	१९.	४०००० मुनि
४.	३००००० मुनि	१२.	७२००० मुनि	२०.	३०००० मुनि
५.	३००२०० मुनि	१३.	६८००० मुनि	२१.	२०००० मुनि
६.	३००३०० मुनि	१४.	६६००० मुनि	२२.	१८००० मुनि
७.	३००००० मुनि	१५.	६४००० मुनि	२३.	१६००० मुनि
८.	२५०००० मुनि	१६.	६२००० मुनि	२४.	१४००० मुनि

- चौबीस तीर्थंकर परमात्मा के कुल मुनियों की संख्या २८,४८,००० है। यह संख्या तीर्थंकर परमात्मा के स्वहस्त दीक्षित मुनियों की है। गणधरादि द्वारा दीक्षित मुनियों की संख्या तो अधिक है ॥ ३३१-३३४ ॥

१७ द्वार : श्रमणी-संख्या—

तिन्नि य तिन्नि य तिन्नि य छ पंच चउरो चउ तिगे क्के क्का ।
लक्खा उसहं मोत्तुं तदुवरि सहस्साणिमा संखा ॥ ३३५ ॥
तीसा छत्तीसा तीस तीस वीसा य तीस असीई य ।
वीसा दसमजिणिंदे लक्खोवरि अज्जिया छक्कं ॥ ३३६ ॥
लक्खो तिन्नि सहस्सा लक्खो लक्खो य अट्ठसयअहिओ ।
बासट्ठी पुण बासट्ठी सहस्स अहिया चउसएहिं ॥ ३३७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छसयाहिय इगसट्ठी सट्ठी छसयाइं सट्ठी पणपन्ना।
पन्नेगचत्त चत्ता अडतीस छत्तीस सहसा य ॥ ३३८ ॥
चोयालीसं लक्खा छायालसहस्स चउसयसमग्गा।
अज्जाछक्कं एसो अज्जाणं संगहो सव्वो ॥ ३३९ ॥

—विवेचन—

२४ जिन की साध्वियों की संख्या—

साध्वी	साध्वी	साध्वी	साध्वी
१. ३,०००००	७. ४,३००००	१३. १,००८००	१९. ५५,०००
२. ३,३००००	८. ३,८००००	१४. ६२,०००	२०. ५०,०००
३. ३,३६०००	९. १,२००००	१५. ६२,४००	२१. ४१,०००
४. ६,३००००	१०. १,००००६	१६. ६१,६००	२२. ४०,०००
५. ५,३००००	११. १,०३०००	१७. ६०,६००	२३. ३८,०००
६. ४,२००००	१२. १,०००००	१८. ६०,०००	२४. ३६,०००

कुल ४४,४६,४०० साध्वी ॥ ३३५-३३९ ॥

१८ द्वार : वैक्रिय-लब्धिधारी-संख्या—

वेउव्वियलद्धीणं वीससहस्सा सयच्छगब्भहिया।
वीससहस्सा चउसय इगुणीससहस्स अट्ठसया ॥ ३४० ॥
अगुणीससहस्स अट्ठार चउसया सोलसहस्स अट्ठसयं।
सतिसय पनरस चउदस तेरस बारस सहस दसमे ॥ ३४१ ॥
एक्कारस दस नव अट्ठ सत्त छसहस्स एगवन्नसया।
सत्तसहस्स सतिसया दोन्नि सहस्सा नव सयाइं ॥ ३४२ ॥
दुन्नि सहस्सा पंचसय सहस्स पन्नरससयाइं नेमिमि।
एक्कारस सय पासे सयाइं सत्तेव वीरजिणे ॥ ३४३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

२४ जिन के वैक्रिय लब्धिधारी मुनियों की संख्या—

१.	२०,६००	७.	१५,३००	१३.	९,०००	१९.	२,९००
२.	२०,४००	८.	१४,०००	१४.	८,०००	२०.	२,०००
३.	१९,८००	९.	१३,०००	१५.	७,०००	२१.	५,०००
४.	१९,०००	१०.	१२,०००	१६.	६,०००	२२.	१,५००
५.	१८,४००	११.	११,०००	१७.	५,१००	२३.	१,१००
६.	१६,८००	१२.	१०,०००	१८.	७,३००	२४.	७००

वैक्रिय लब्धिधारी मुनियों की कुल संख्या २,४५,२०८ है ॥ ३४०-३४३ ॥

१९ द्वार : वादी-संख्या—

सड्ढच्छसया दुवालस सहस्स बारस य चउसयब्भहिया ।
बारे-क्कारस सहसा दससहसा छसयपन्नासा ॥ ३४४ ॥
छन्नउई चुलसीई छहत्तरी सट्ठि अट्ठवन्ना य ।
पन्नासाइ सयाणं सयसीयालाऽहव बयाला ॥ ३४५ ॥
छत्तीसा बत्तीसा अट्ठावीसा सयाण चउव्वीसा ।
बिसहस्स सोलससया चउद्दस बारस दससयाइं ॥ ३४६ ॥
अट्ठसया छच्च सया चत्तारि सयाइं हुंति वीरम्मि ।
वाइमुणीण पमाणं चउवीसाए जिणवराणं ॥ ३४७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

२४ जिन के वादी मुनियों की संख्या—

वादी		वादी		वादी		वादी	
१.	१२,६५०	७.	८,४००	१३.	३,२००	१९.	१,४००
२.	१२,४००	८.	७,६००	१४.	३,२००	२०.	१,२००
३.	१२,०००	९.	६,०००	१५.	२,८००	२१.	१,०००
४.	११,०००	१०.	५,८००	१६.	२,४००	२२.	८००
५.	१०,६५०	११.	५,०००	१७.	२,०००	२३.	६००
६.	९,६००	१२.	४,७००	१८.	१,६००	२४.	४००

मतान्तर से १२वें वासुपूज्य स्वामी के ४२०० वादी थे। ये वादी वाद के मैदान में देव और दानवों से भी अजेय थे।

२४ जिन के कुल वादिमुनियों की संख्या १,२६,२०० है॥ ३४४-३४७॥

२० द्वार : अवधिज्ञानी-संख्या—

ओहीनाणिमुणीणं नउई चउनवइ छण्णवइसयाणि।
अट्ठानवइसयाइं एक्कारस दस नवसहस्सा॥ ३४८॥
असीई चुलसी बहत्तरी सट्ठी चउप्पण अट्ठचत्ताला।
तेयाला छत्तीसा तीसा पणवीस छव्वीसा॥ ३४९॥
बावीसा अट्ठारस सोलस पनरस चउदस सयाणि।
तेरस साहूण सयाइं ओहिनाणीण वीरस्स॥ ३५०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

२४ जिन के अवधिज्ञानियों की संख्या—

१.	९,०००	७.	९,०००	१३.	४,८००	१९.	२,२००
२.	९,४००	८.	८,०००	१४.	४,३००	२०.	१,८००
३.	९,६००	९.	८,४००	१५.	३,६००	२१.	१,६००
४.	९,८००	१०.	७,२००	१६.	३,०००	२२.	१,५००
५.	११,०००	११.	६,०००	१७.	२,५००	२३.	१,४००
६.	१०,०००	१२.	५,४००	१८.	२,६००	२४.	१,३००

अवधिज्ञानी मुनियों की कुल संख्या १,३३,४०० है ॥ ३४८-३५० ॥

२१ द्वार : केवलज्ञानी-संख्या—

वीससहस्सा उसहे वीसं बावीस अहव अजियस्स ।
पन्नरस चउदस तेरस बारस एक्कारस दसेव ॥ ३५१ ॥
अद्धट्ठम सत्तेव य छस्सड्ढा छच्च पंच सड्ढा य ।
पंचेव अद्धपंचम चउसहस्सा तिन्नि य सया य ॥ ३५२ ॥
बत्तीससया अहवा बावीस सया व हुंति कुंथुस्स ।
अट्ठावीसं बावीस तहय अट्ठारस सयाइं ॥ ३५३ ॥
सोलस पनरस दससय सत्तेव सया हवंति वीरस्स ।
एयं केवलिमाणं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

२४ जिन के केवलज्ञानी मुनियों की संख्या—

१.	२०,०००	७.	११,०००	१३.	५,६००	१९.	२,२००
२.	२०,०००	८.	१०,०००	१४.	५,०००	२०.	१,८००
३.	१५,०००	९.	७,५००	१५.	४,५००	२१.	१,६००
४.	१४,०००	१०.	७,०००	१६.	४,३००	२२.	१,५००
५.	१३,०००	११.	६,५००	१७.	३,२००	२३.	१,०००
६.	१२,०००	१२.	६,०००	१८.	२,८००	२४.	७००

अन्यमतानुसार अजित जिन के २२,००० एवं कुंथुनाथ स्वामी के २२०० केवलज्ञानी थे। २४ जिन के केवलज्ञानी मुनियों की संख्या १,७६,१०० है॥ ३५१-३५४॥

२२ द्वार : मनःपर्यवज्ञानी-संख्या—

मणपज्जविमाणमिण्हि तु ॥ ३५४॥

बारससहस्स तिण्हं सय सड्ढा सत्त पंच य दिवड्ढं।
एगदस सड्ढछस्सय दससहसा चउसया सड्ढा॥ ३५५॥
दससहसा तिण्णि सया नव दिवड्ढसया य अट्ठ सहसा य।
पंचसय सत्तसहसा सुविहिजिणे सीयले चेव॥ ३५६॥
छसहस दोण्हमित्तो पंच सहस्साइं पंच य सयाइं।
पंच सहस्सा चउरो सहस्स सयपंचअब्भहिया॥ ३५७॥
चउरो सहस्स तिन्नि य तिण्णेव सया हवंति चालीसा।
सहसदुगं पंचसया इगवन्ना अरजिणिंदस्स ॥ ३५८॥
सत्तरससया सपन्ना पंचदससया य बारसय सड्ढा।
सहसो सय अद्धट्ठम पंचेव सया उ वीरस्स॥ ३५९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

२४ जिन के मनःपर्यवज्ञानी मुनियों की संख्या—

१.	१२,७५०	७.	९,१५०	१३.	५,५००	१९.	१,७५०
२.	१२,५००	८.	८,०००	१४.	५,०००	२०.	१,५००
३.	१२,१५०	९.	७,५००	१५.	४,५००	२१.	१,२६०
४.	१,६५०	१०.	७,५००	१६.	४,०००	२२.	१,०००
५.	१०,४५०	११.	६,०००	१७.	३,३४०	२३.	७५०
६.	१०,३००	१२.	६,०००	१८.	२,५५१	२४.	५००

२४ तीर्थंकरों के मनःपर्यवज्ञानी मुनियों की संख्या १,४५,५९१ है ॥ ३५५-३५९ ॥

२३ द्वार : चौदहपूर्वी-संख्या—

चउद्दसपुव्वि सहस्सा चउरो अद्धट्ठमाणि [illegible] सयाणि ।
वीसहिय सत्ततीसा इगवीस सया य [illegible] ॥ ३६० ॥
पनरस चउवीस सया तेवीस सया य वीससय तीसा ।
दो सहस पनरस सया सयचउदस तेरस सयाइं ॥ ३६१ ॥
सय बारस एक्कारस दस नव अट्ठेव छच्च सय सयरा ।
दसहिय छच्चेव सया छच्चसया अट्ठसट्ठिहिया ॥ ३६२ ॥
सय पंच अद्धपंचम चउरो अद्धट्ठ तिन्नि य सयाइं ।
उसहाइजिणिंदाणं चउदसपुव्वीण परिमाणं ॥ ३६३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

२४ जिन के चौदह पूर्वधर मुनियों की संख्या—

१.	४,७५०	७.	२,०३०	१३.	१,१००	१९.	६६८
२.	३,७२०	८.	२,०००	१४.	१,०००	२०.	५००
३.	२,१५०	९.	१,५००	१५.	९००	२१.	४५०
४.	१,५००	१०.	१,४००	१६.	८००	२२.	४००
५.	२,४००	११.	१,३००	१७.	६७०	२३.	३५०
६.	२,३००	१२.	१,२००	१८.	६१०	२४.	३००

चौदह पूर्विओं की कुल संख्या ३३,९९८ है ॥ ३६०-३६३ ॥

२४ द्वार : श्रावक-संख्या—

पढमस्स तिन्नि लक्खा पंच सहस्सा दुलक्ख जा संती ।
लक्खोवरि अडनउई तेणउई अट्ठसीई य ॥ ३६४ ॥
एगसीई छावत्तरि सत्तावण्णा य तह य पन्नासा ।
गुणतीस नवासीई अगुणासी पनरस अट्ठेव ॥ ३६५ ॥
छच्चिय सहस्स चउरो सहस्स नउई सहस्स संतिस्स ।
तत्तो एगो लक्खो उवरिं गुणसीय चुलसी य ॥ ३६६ ॥
तेयासी बावत्तरि सत्तरि इगुहत्तरी य चउसट्ठी ।
एगुणसट्ठि सहस्सा सावगमाणं जिणवराणं ॥ ३६७ ॥

—विवेचन—

२४ जिन की श्रावक-संख्या—

१.	३,०५,०००	७.	२,५७,०००	१३.	२,०८,०००	१९.	१,९३,०००
२.	२,९८,०००	८.	२,५०,०००	१४.	२,०६,०००	२०.	१,७२,०००
३.	२,९३,०००	९.	२,२९,०००	१५.	२,०४,०००	२१.	१,७०,०००
४.	२,८८,०००	१०.	२,८९,०००	१६.	२,९०,०००	२२.	१,६९,०००
५.	२,८१,०००	११.	२,७९,०००	१७.	१,७९,०००	२३.	१,६४,०००
६.	२,७६,०००	१२.	२,१५,०००	१८.	१,८४,०००	२४.	१,५९,०००

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रावकों की कुल संख्या ५५,४८००० है ॥ ३६४-३६७ ॥

२५ द्वार : श्राविका-संख्या—

पढमस्स पंच लक्खा चउपन्न सहस्स तयणु पण लक्खा ।
पणयालीससहस्सा छलक्ख छत्तीस सहस्सा य ॥ ३६८ ॥
सत्तावीससहस्साहियलक्खा पंच पंच लक्खा य ।
सोलससहस्सअहिया पणलक्खा पंच उ सहस्सा ॥ ३६९ ॥
उवरिं चउरो लक्खा धम्मो जा उवरि सहस तेणउई ।
इगनउई इगहत्तरि अडवन्नऽडयाल छत्तीसा ॥ ३७० ॥
चउवीसा चउदस तेरसेव तत्तो तिलक्ख जा वीरो ।
तदुवरि तिनवइ इगासी बिसत्तरी सयरि पन्नासा ॥ ३७१ ॥
अडयाला छत्तीसा इगुचत्तऽट्ठारसेव य सहस्सा ।
सड्ढीण माणमेयं चउवीसाए जिणवराणं ॥ ३७२ ॥

—विवेचन—

२४ जिन की श्राविका-संख्या—

१. ५,५४,०००	७. ४,९३,०००	१३. ४,२४,०००	१९. ३,७०,०००
२. ५,४५,०००	८. ४,९१,०००	१४. ४,१४,०००	२०. ३,५०,०००
३. ६,३६,०००	९. ४,७१,०००	१५. ४,१३,०००	२१. ३,४८,०००
४. ५,२७,०००	१०. ४,५८,०००	१६. ३,९३,०००	२२. ३,३६,०००
५. ५,१६,०००	११. ४,४८,०००	१७. ३,८१,०००	२३. ३,३९,०००
६. ५,०५,०००	१२. ४,३६,०००	१८. ३,७२,०००	२४. ३,१८,०००

चौबीस तीर्थंकरों की कुल श्राविकाओं की संख्या १,०५,३८००० है ॥ ३६८-३७२ ॥

२६ द्वार अधिष्ठायक—

जक्खा गोमुह महजक्ख तिमुह ईसर तुंबुरु कुसुमो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मायंगो विजया जिय बंभो मणुओ य सुरकुमरो ॥ ३७३ ॥
छम्मुह पयाल किन्नर गरुडो गंधव्व तह य जक्खिदो ।
कूबर वरुणो भिउडी गोमेहो वामण मयंगो ॥ ३७४ ॥

—विवेचन—

२४ तीर्थंकरों की भक्ति में विशेष परायण देव यक्ष अधिष्ठायक कहलाते हैं।

तीर्थंकरों के यक्ष—

क्र. सं.	नाम	वर्ण	वाहन	हाथ	हाथ में क्या?	मुख
१.	गोमुख	सुनहरा	हाथी	४	२ दायें हाथों में अक्षमालिका, आशीर्वाद मुद्रा। २ बायें हाथों में मातुलिंग, पाशक।	गाय जैसा
२.	महायक्ष	कृष्ण	ऐरावण हाथी	८	४ दायें हाथों में वरद, मुद्गर, अक्षसूत्र, पाशक। ४ बायें हाथों में बीजोरा, अभयमुद्रा, अंकुश, शक्ति।	चतुर्मुख
३.	त्रिमुख	कृष्ण	मयूर	६	३ दायें हाथों में नकुल, गदा, अभयमुद्रा ३ बायें हाथों में मातुलिंग, नाग, अक्षसूत्र	त्रिमुख और त्रिनेत्र
४.	यक्षनायक (ईश्वर)	कृष्ण	गज	४	२ दायें हाथों में मातुलिंग, अक्षसूत्र २ बायें हाथों में नकुल, अंकुश	एक मुख
५.	तुम्बुरु	श्वेत	गरुड़	४	२ दायें हाथों में वरद, शक्ति २ बायें हाथों में गदा, नागपाश	एक मुख
६.	कुसुम	नीला	हिरण	४	२ दायें हाथों में फल, अभयमुद्रा २ बायें हाथों में नकुल, अक्षसूत्र	एक मुख
७.	मातंग	नीला	गज	४	२ दायें हाथों में बिल्व, पाश २ बायें हाथों में नकुल, अंकुश	एक मुख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्र. सं.	नाम	वर्ण	वाहन	हाथ	हाथ में क्या?	मुख
८.	विजय	नीला	हंस	२	१ दायें हाथ में चक्र १ बायें हाथ में मुद्गर	त्रिमुख और त्रिनेत्र
९.	अजित	सफेद	कछुआ	४	२ दायें हाथों में मातुलिंग, अक्षसूत्र २ बायें हाथों में नकुल, भाला	एक मुख
१०.	ब्रह्मा	सफेद	पद्म	८	४ दायें हाथों में मातुलिंग, मुद्गर, पाशक, अभयमुद्रा ४ बायें हाथों में नकुल, गदा, अंकुश, अक्षसूत्र	चतुर्मुख त्रिनेत्र
११.	मनुज-(ईश्वर)	सफेद	वृषभ	४	२ दायें हाथों में मातुलिंग, गदा २ बायें हाथों में नकुल, अक्षसूत्र	एक मुख त्रिनेत्र
१२.	सुरकुमार (श्री कुमार)	सफेद	हंसवाहन	४	२ दायें हाथों में बीजोरा, वीणा (बाण) २ बायें हाथों में नकुल, धनुष	एक मुख
१३.	षण्मुख	सफेद	मोर	१२	६: दायें हाथों में फल, चक्र, धनुष, खड्ग, पाशक, अक्षसूत्र ६: बायें हाथों में नकुल, चक्र धनुष, अंकुश, फलक (ढाल), अभयमुद्रा	छः मुख
१४.	पाताल	लाल	मगरमच्छ	६	३ दायें हाथों में पद्म, खड्ग, पाश ३ बायें हाथों में नकुल, फलक (ढाल), अक्षसूत्र	त्रिमुख
१५.	किन्नर	लाल	कछुआ	६	३ दायें हाथों में बीजोरा, गदा, अभयमुद्रा ३ बायें हाथों में नकुल, पद्म, अक्षमाला	त्रिमुख
१६.	गरुड़	कृष्ण	वराह	४	२ दायें हाथों में बीजोरा, पद्म २ बायें हाथों में नकुल, अक्षसूत्र	क्रोड़ वदन
१७.	गन्धर्व यक्ष	कृष्ण	हंस	४	२ दायें हाथों में वरद, पाशक २ बायें हाथों में मातुलिंग, अंकुश	एक मुख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्र. सं.	नाम	वर्ण	वाहन	हाथ	हाथ में क्या?	मुख
१८.	यक्षेन्द्र	कृष्ण	शंख	१२	६ दायें हाथों में बीजोरा, बाण, खड्ग, मुद्गर, पाशक, अभयमुद्रा ६ बायें हाथों में नकुल, धनुष, ढाल, त्रिशूल, अंकुश, अक्षसूत्र	छः मुख त्रिनेत्र
१९.	कूबर (कुबेर)	इन्द्र धनुषी रंग	हाथी	८	४ दायें हाथों में वरद, परशु, त्रिशूल, अभयमुद्रा ४ बायें हाथों में बीजोरा, शक्ति, मुद्गर, अक्षसूत्र	चतुर्मुख
२०.	वरुण	श्वेत	बैल	८	४ दायें हाथों में बीजोरा, गदा, बाण, शक्ति ४ बायें हाथों में नकुल, पद्म, धनुष, परशु (फरसा)	चतुर्मुख त्रिनेत्र
२१.	भृकुटि	सुनहरा	बैल	८	४ दायें हाथों में बीजोरा, शक्ति, मुद्गर, अभयमुद्रा ४ बायें हाथों में नकुल, फरसा, वज्र, अक्षसूत्र	चतुर्मुख त्रिनेत्र
२२.	गोमेध	काला	पुरुष	६	३ दायें हाथों में मातुलिंग, परशु, चक्र ३ बायें हाथों में नकुल, त्रिशूल, शक्ति	त्रिमुख
२३.	वामन (पार्श्व)	काला	कछुआ	४	२ दायें हाथों में बीजोरा, नाग २ बायें हाथों में नकुल, भुजंग	गजमुख व मस्तक पर सर्पफण
२४.	मातंग	काला	हाथी	२	दायें हाथ में नकुल बायें हाथ में बीजोरा	एक मुख

शक्ति = त्रिशूल

॥३७३-३७४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२७ द्वार : अधिष्ठायिका—

देवीओ चक्केसरि अजिया दुरियारि कालि महाकाली ।
अच्चुय संता जाला सुतारयाऽसोय सिरिवच्छा ॥ ३७५ ॥
पवर विजयंकुसा पण्णत्ती निव्वाणि अच्चुया धरणी ।
वइरोट्टऽच्छुत्त गंधारि अंब पउमावई सिद्धा ॥ ३७६ ॥

—विवेचन—

२४ तीर्थंकरों की यक्षिणियाँ—

क्र.सं.	नाम	वर्ण	वाहन	हाथ	हाथ में क्या?
१.	चक्रेश्वरी (अप्रतिचक्रा)	सुनहरा	गरुड़	८	४ दायें हाथों में वरद, बाण, चक्र, पाश ४ बायें हाथों में धनुष, वज्र, चक्र, अंकुश
२.	अजिता (अजितबला)	गौर	लोहासन (जीव-विशेष)	४	२ दायें हाथों में वरद, पाश २ बायें हाथों में बीजोरा, अंकुश
३.	दुरितारि	गौर	मेष (भेड़)	४	२ दायें हाथों में वरद, अक्षमाला २ बायें हाथों में फल, अभयमुद्रा
४.	काली	श्याम	पद्म	४	२ दायें हाथों में वरद, पाश २ बायें हाथों में नाग, अंकुश
५.	महाकाली	सुनहरा	पद्म	४	२ दायें हाथों में वरद, पाश २ बायें हाथों में मातुलिंग, अंकुश
६.	अच्युता (श्यामा)	श्याम	नर	४	२ दायें हाथों में वरद, बाण (वीणा) २ बायें हाथों में धनुष, अभयमुद्रा
७.	शान्ता	सुनहरा	गज	४	२ दायें हाथों में वरद, अक्षसूत्र २ बायें हाथों में त्रिशूल, अभयमुद्रा
८.	ज्वाला (भृकुटि)	पीला	बिडाल (वरालक)	४	२ दायें हाथों में खड्ग, मुद्गर २ बायें हाथों में फलक, (ढ़ाल), फरसा
९.	सुतारा	गौर	वृषभ	४	२ दायें हाथों में वरद, अक्षसूत्र २ बायें हाथों में कलश, अंकुश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्र.सं.	नाम	वर्ण	वाहन	हाथ	हाथ में क्या ?
१०.	अशोका	नीला	पद्म	४	२ दायें हाथ में वरद, पाश २ बायें हाथों में फल, अंकुश
११.	मानवी (श्रीवत्सा)	गौर	सिंह	४	२ दायें हाथों में वरद, मुद्गर २ बायें हाथों में कलश, अंकुश
१२.	प्रवरा (चण्डा)	श्याम	घोड़ा	४	२ दायें हाथों में वरद, शक्ति २ बायें हाथों में फूल, गदा
१३.	विजया (विदिता)	पीला	पद्म	४	२ दायें हाथों में बाण, पाश २ बायें हाथों में धनुष, नाग
१४.	अंकुशा	गौर	पद्म	४	२ दायें हाथों में खड्ग, पाश २ बायें हाथों में ढाल, अंकुश
१५.	पन्नगा (कन्दर्पा)	गौर	मछली	४	२ दायें हाथों में कमल, अंकुश २ बायें हाथों में पद्म, अभयमुद्रा
१६.	निर्वाणी	सुवर्ण	पद्म	४	२ दायें हाथों में पुस्तक, उत्पल (कमल) २ बायें हाथों में कमंडलु, कमल
१७.	अच्युता (बला देवी)	सुवर्ण	मोर	४	२ दायें हाथों में बीजोरा, त्रिशूल २ बायें हाथों में मुसुंढि (शस्त्र विशेष), पद्म
१८.	धारणी	नील	पद्म	४	२ दायें हाथों में मातुलिंग, उत्पल (कमल) २ बायें हाथों में पद्म, अक्षसूत्र
१९.	वैरोट्या	कृष्ण	पद्म	४	२ दायें हाथों में वरद, अक्षसूत्र २ बायें हाथों में बीजोरा, शक्ति
२०.	अच्छुप्ता (नरदत्ता)	सुवर्ण	भद्रासन	४	२ दायें हाथों में वरद, अक्षसूत्र २ बायें हाथों में बीजोरा, त्रिशूल
२१.	गान्धारी	श्वेत	हंस	४	२ दायें हाथों में वरद, खड्ग २ बायें हाथों में बीजोरा, भाला
२२.	अम्बा	सुवर्ण	सिंह	४	२ दायें हाथों में आम की लूंब, पाश २ बायें हाथों में पुत्र, अंकुश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्र.सं.	नाम	वर्ण	वाहन	हाथ	हाथ में क्या ?
२३.	पद्मावती	सुवर्ण	कुर्कुट सर्प	४	२ दायें हाथों में पद्म, पाश २ बायें हाथों में फल, अंकुश
२४.	सिद्धायिका	हरित	सिंह	४	२ दायें हाथों में पुस्तक, अभयमुद्रा २ बायें हाथों में बीजोरा, वीणा
					( ) कोष्ठक में दिये गये नाम मतान्तर से जानना

- ग्रन्थकार ने मूल में यक्ष-यक्षिणी के मात्र नाम ही दिये हैं। नेत्र, मुख, वर्ण व प्रहरण आदि का वर्णन टीकाकार ने 'निर्वाणकलिका' के अनुसार शिष्यहितार्थ किया है ॥ ३७५-३७६ ॥

२८ द्वार : शरीर-परिमाण—
२९ द्वार : लांछन—

पंचधणूसय पढमो कमेण पण्णासहीण जा सुविही ।
दसहीण जा अणंतो पंचूणा जाव जिणनेमी ॥ ३७७ ॥
नवहत्थपमाणो पाससामिओ सत्तहत्थ जिणवीरो ।
उस्सेहअंगुलेणं सरीरमाणं जिणवराणं ॥ ३७८ ॥

—गाथार्थ—

तीर्थंकरों का देहमान—**प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव का देहमान ५०० धनुष प्रमाण है। तत्पश्चात् अजितनाथ भगवान से लेकर सुविधिनाथ भगवान पर्यंत ५०-५० धनुष न्यून करना। तत्पश्चात् अनंतनाथ पर्यंत १०-१० धनुष न्यून करना। धर्मनाथ से नेमिनाथ पर्यंत ५-५ धनुष न्यून करना। पार्श्वनाथ का देहमान ९ हाथ एवं भगवान महावीर का देहमान ७ हाथ का है। जिनेश्वर परमात्मा के देह का परिमाण उत्सेधांगुल से परिमित होता है ॥ ३७७-३७८ ॥**

वसह गय तुरय वानर कुंचो कमलं च सत्थिओ चंदो ।
मयर सिरिवच्छ गंडय महिस वराहो य सेणो य ॥ ३७९ ॥
वज्जं हरिणो छगलो नंदावत्तो य कलस कुम्मो य ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नीलुप्पल संख फणी सीहो य जिणाण चिन्धाइं ॥ ३८० ॥

—विवेचन—

२४ तीर्थंकरों का शरीर-प्रमाण एवं लांछन—

	जिननाम	शरीर प्रमाण	लांछन
१.	ऋषभ	५०० धनुष	वृषभ
२.	अजित	४५० धनुष	हाथी
३.	संभव	४०० धनुष	घोड़ा
४.	अभिनन्दन	३५० धनुष	बन्दर
५.	सुमति	३०० धनुष	क्रौंच पक्षी
६.	पद्मप्रभ	२५० धनुष	कमल
७.	सुपार्श्व	२०० धनुष	स्वस्तिक
८.	चन्द्रप्रभ	१५० धनुष	चन्द्र
९.	सुविधि	१०० धनुष	मकर
१०.	शीतल	९० धनुष	श्रीवत्स
११.	श्रेयांस	८० धनुष	गैंडा
१२.	वासुपूज्य	७० धनुष	भैंसा
१३.	विमल	६० धनुष	वराह
१४.	अनन्त	५० धनुष	बाज पक्षी
१५.	धर्मनाथ	४५ धनुष	वज्र
१६.	शान्ति	४० धनुष	हरिण
१७.	कुंथु	३५ धनुष	बकरा
१८.	अर	३० धनुष	नन्दावर्त्त
१९.	मल्लि	२५ धनुष	कलश
२०.	मुनिसुव्रत	२० धनुष	कछुआ
२१.	नमि	१५ धनुष	नील कमल
२२.	नेमि	१० धनुष	शंख
२३.	पार्श्व	९ हाथ	फणी (सर्प)
२४.	महावीर	७ हाथ	सिंह

जिनेश्वरों का शरीर प्रमाण उत्सेधांगुल की अपेक्षा से समझना ॥ ३७९-३८० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३० द्वार :
३१ द्वार :

जिनवर्ण—
व्रती-परिवार—

पउमाभवासुपुज्जा रत्ता ससिपुप्फदंत ससिगोरा।
सुव्वयनेमी काला पासो मल्ली पियंगाभा॥ ३८१॥
वरतवियकणयगोरा सोलस तित्थंकरा मुणेयव्वा।
एसो वन्नविभागो चउवीसाए जिणिंदाणं॥ ३८२॥
एगो भगवं वीरो पासो मल्ली य तिहि तिहि सएहिं।
भगवंपि वासुपुज्जो छहिं पुरिससएहिं निक्खंतो॥ ३८३॥
उग्गाणं भोगाणं रायण्णाणं च खत्तियाणं च।
चउहिं सहस्सेहिं उसहो सेसा उ सहस्सपरिवारा॥ ३८४॥

—विवेचन—

२४ तीर्थंकरों का वर्ण—

२४ जिन-दीक्षा परिवार—

जिननाम	वर्ण	सह दीक्षित व्रती परिवार	जिननाम	वर्ण	सह दीक्षित व्रती परिवार
१. ऋषभ	सोने जैसा	४०००	१३. विमल	सोने जैसा	१०००
२. अजित	सोने जैसा	१०००	१४. अनंत	सोने जैसा	१०००
३. संभव	सोने जैसा	१०००	१५. धर्म	सोने जैसा	१०००
४. अभिनन्दन	सोने जैसा	१०००	१६. शान्ति	सोने जैसा	१०००
५. सुमति	सोने जैसा	१०००	१७. कुंथु	सोने जैसा	१०००
६. पद्मप्रभ	लाल	१०००	१८. अर	सोने जैसा	१०००
७. सुपार्श्व	सोने जैसा	१०००	१९. मल्लि	नीला	३००
८. चन्द्रप्रभ	चन्द्र जैसा सफेद	१०००	२०. मुनिसुव्रत	श्याम	१०००
९. सुविधि	सफेद	१०००	२१. नमि	सोने जैसा	१०००
१०. शीतल	सोने जैसा	१०००	२२. नेमि	श्याम	१०००
११. श्रेयांस	सोने जैसा	१०००	२३. पार्श्व	नीला	३००
१२. वासुपूज्य	लाल	६००	२४. महावीर	सोने जैसा	एकाकी व्रत लिया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मल्लिनाथ भगवान के साथ ३०० पुरुष और ३०० स्त्रियों ने दीक्षा ग्रहण की थी अतः कुल मिलाकर उनका व्रती परिवार ६०० का हुआ किन्तु सूत्र में 'त्रिभिर्शतैः' अर्थात् ३०० का व्रती परिवार कहा, वह केवल पुरुष या केवल स्त्रियों की अपेक्षा से समझना ॥ ३८१-३८४ ॥

३२ द्वार :
३३ द्वार :

आयु-प्रमाण—
मोक्ष-परिवार—

चउरासीइ बिसत्तरि सट्ठी पन्नासमेव लक्खाइं ।
चत्ता तीसा वीसा दस दो एगं च पुव्वाणं ॥ ३८५ ॥
चउरासी बावत्तरि य सट्ठी य होइ वासाणं ।
तीसा य दस य एगं एवं एए सयसहस्सा ॥ ३८६ ॥
पंचाणउइ सहस्सा चउरासीई य पंचवन्ना य ।
तीसा य दस य एगं सयं च बावत्तरी चेव ॥ ३८७ ॥
एगो भगवं वीरो तेत्तीसाए सह निव्वुओ पासो ।
छत्तीसेहिं पंचहि सएहिं नेमी उ सिद्धिगओ ॥ ३८८ ॥
पंचहिं समणसएहिं मल्ली संती उ नवसएहिं तु ।
अट्ठसएणं धम्मो सएहिं छहिं वासुपुज्जजिणो ॥ ३८९ ॥
सत्तसहस्साणंतइजिणस्स विमलस्स छस्सहस्साइं ।
पंच सयाइं सुपासे पउमाभे तिण्णि अट्ठसया ॥ ३९० ॥
दसहिं सहस्सेहिं उसहो सेसा उ सहस्सपरिवुडा सिद्धा ।
तित्थयरा उ दुवालस परिनिट्ठियअट्ठकम्मभरा ॥ ३९१ ॥

—विवेचन—

तीर्थंकरों का पूर्ण आयुष्य—

मोक्ष-गमन-परिवार—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिननाम	सर्वायु	शिवगमन परिवार	जिननाम	सर्वायु	शिवगमन परिवार
१. ऋषभ	८४ लाख पूर्व	१००००	१३. विमल	६० लाख वर्ष	६०००
२. अजित	७२ लाख पूर्व	१०००	१४. अनंत	३० लाख वर्ष	७०००
३. संभव	६० लाख पूर्व	१०००	१५. धर्म	१० लाख वर्ष	८००
४. अभिनन्दन	५० लाख पूर्व	१०००	१६. शान्ति	१ लाख वर्ष	१०८
५. सुमति	४० लाख पूर्व	१०००	१७. कुंथु	९५ हजार वर्ष	१०००
६. पद्मप्रभ	३० लाख पूर्व	३०८	१८. अर	८४ हजार वर्ष	१०००
७. सुपार्श्व	२० लाख पूर्व	५००	१९. मल्लि	५५ हजार वर्ष	५००
८. चन्द्रप्रभ	१० लाख पूर्व	१०००	२०. मुनिसुव्रत	३० हजार वर्ष	१०००
९. सुविधि	२ लाख पूर्व	१०००	२१. नमि	१० हजार वर्ष	१०००
१०. शीतल	१ लाख पूर्व	१०००	२२. नेमि	१ हजार वर्ष	५३६
११. श्रेयांस	८४ लाख वर्ष	१०००	२३. पार्श्व	१०० वर्ष	३३
१२. वासुपूज्य	७२ लाख वर्ष	६००	२४. महावीर	७२ वर्ष	एकाकी।

- आवश्यक सूत्र के टिप्पण में 'त्रीण्यष्टोत्तरशतानि' का विग्रह 'त्रिगुणमष्टोत्तरशतं' १०८ का तीन गुणा किया है परन्तु कुछ लोग इसका अर्थ 'त्रिउत्तराणि अष्टौ शतानि' भी करते हैं। इनके मतानुसार पद्मप्रभ स्वामी का शिवगमन परिवार ८०३ है। तत्त्वं तु केवलिगम्यं ॥ ३८५-३९१ ॥

३४ द्वार : निर्वाणस्थल—

अट्ठावयचंपुज्जितपावासम्मेयसेलसिहरेसु।
उसभवसुपुज्जनेमी वीरो सेसा य सिद्धिगया ॥ ३९२ ॥

—विवेचन—

निर्वाणगमन स्थल—

१.	भगवान ऋषभदेव	का	अष्टापद
२.	भगवान वासुपूज्य	का	चम्पापुरी
३.	भगवान नेमिनाथ	का	गिरनार
४.	भगवान महावीर	का	पावापुरी
५.	शेष २० जिन	का	सम्मेतशिशखर ॥ ३९२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३५ द्वार : अन्तर-काल-

इत्तो जिणंतराइं वोच्छं किल उसभसामिणो अजिओ।
पण्णासकोडिलक्खेहिं सायराणं समुप्पन्नो ॥ ३९३ ॥
तीसाए संभवजिणो दसहि उ अभिणंदणो जिणवरिंदो।
नवहि उ सुमइजिणिंदो, उप्पन्नो कोडिलक्खेहिं ॥ ३९४ ॥
नउईइ सहस्सेहिं कोडीणं वोलियाण पउमाभो।
नवहि सहस्सोहिं तओ सुपासनामो समुप्पन्नो ॥ ३९५ ॥
कोडिसएहिं नवहि उ जाओ चंदप्पहो जणाणंदो।
नउईए कोडिहिं सुविहिजिणो देसिओ समए ॥ ३९६ ॥
सीयलजिणो महप्पा तत्तो कोडीहि नवहि निद्दिट्ठो।
कोडीए सेयंसो ऊणाइ इमेण कालेण ॥ ३९७ ॥
सागरसएण एगेण तह य छावट्ठिवरिसलक्खेहिं।
छव्वीसाइ सहस्सेहिं तओ पुरो अंतरेसुत्ति ॥ ३९८ ॥
चउपण्णा अयरेहिं वसुपुज्जजिणो जगुत्तमो जाओ ॥
विमलो विमलगुणोहो तीसहि अयरेहिं रयरहिओ ॥ ३९९ ॥
नवहिं अयरेहिऽणंतो चउहि उ धम्मो उ धम्मधुरधवलो।
तिहि ऊणेहिं संती तिहि चउभागेहिं पलियस्स ॥ ४०० ॥
भागेहि दोहिं कुंथू पलियस्स अरो उ एगभागेणं।
कोडिसहस्सोणेणं वासाण जिणेसरो भणिओ ॥ ४०१ ॥
मल्ली तिसल्लरहिओ जाओ वासाण कोडिसहसेण।
चउपण्णवासलक्खेहिं सुव्वओ सुव्वओ सिद्धो ॥ ४०२ ॥
जाओ छहि नमिनाहो पंचहि लक्खेहिं जिणवरो नेमी।
पासो अद्धट्ठमसय समहियतेसीइसहसेहिं ॥ ४०३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अड्ढाइज्जसएहिं गएहिं वीरो जिणेसरो जाओ।
दूसम अइदुसमाणं दोण्हंपि दुचत्तसहसेहिं ॥ ४०४ ॥
पुज्जइकोडाकोडी उसहजिणाओ इमेण कालेण।
भणियं अंतरदारं एयं समयाजुसारेणं ॥ ४०५ ॥
बत्तीसं घरयाइं काउं तिरियाअयाहि रेहाहिं।
उड्ढाअयाहिं काउं पंच घराइं तओ पढमे ॥ ४०६ ॥
पन्नरस जिण निरंतर सुन्नदुगं तिजिण सुन्नतियगं च।
दो जिण सुन्न जिणिंदो, सुन्न जिणो सुन्न दोन्नि जिणा ॥ ४०७ ॥
दो चक्कि सुन्न तेरस पण चक्की सुण्ण चक्कि दो सुण्णा।
चक्की सुण्ण दुचक्की सुण्णं चक्की दुसुण्णं च ॥ ४०८ ॥
दससुण्ण पंच केसव पणसुण्णं केसी सुण्ण केसी य।
दो सुण्ण केसवोऽवि य सुण्णदुगं केसव तिसुण्णं ॥ ४०९ ॥
उसहभरहाण दोण्हवि उच्चत्तं पंचधणुसए हुंति।
अजियसगराण दोण्हवि उच्चत्तं चारि अद्धं च ॥ ४१० ॥
पन्नासं पन्नासं धणुपरिहाणी जिणाण तेण परं।
ता जाव पुप्फदंतो धणुसयमेगं भवे उच्चो ॥ ४११ ॥
नउइ धणू सीयलस्स सेज्जंसतिविट्ठुमाइणं पुरओ।
जा धम्मपुरिससीहो उच्चत्तं तेसिमं होई ॥ ४१२ ॥
कमसो असीइ सत्तरि सट्ठी पण्णास तह य पणयाला।
एए हवंति धणुया बायालद्धं च मघवस्स ॥ ४१३ ॥
इगयालं धणु सद्धं च सणंकुमारस्स चक्कवट्टिस्स।
संतिस्स य चत्ताला कुंथुजिणिंदस्स पणतीसा ॥ ४१४ ॥
तीस धणूणि अरस्स उ इगुतीसं पुरिसपुंडरीयस्स।
अट्ठावीस सुभूमे छव्वीस धणूणि दत्तस्स ॥ ४१५ ॥
मल्लिस्स य पणुवीसा वीसं च धणूणि सुव्वए पउमे।
नारायणस्स सोलस पनरस नमिनाहहरिसेणे ॥ ४१६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बारस जयनामस्स य नेमीकण्हाण दसधणुच्चत्तं ।
सत्तधणु बंभदत्तो नव रयणीओ य पासस्स ॥ ४१७ ॥
वीरस्स सत्त रयणी उच्चत्तं भणियमाउअं अहुणा ।
पंचमघरयनिविट्ठं कमेण सव्वेसिं वोच्छामि ॥ ४१८ ॥
उसहभरहाण दोण्हवि चुलसीई पुव्वसयसहस्साइं ।
अजियसगराण दोण्हवि बावत्तरि सयसहस्साइं ॥ ४१९ ॥
पुरओ जहक्कमेणं सट्ठी पण्णस चत्त तीसा य ।
वीसा दस दो चेव य लक्खेगो चेव पुव्वाणं ॥ ४२० ॥
सेज्जंसतिविट्ठूणं चुलसीई वाससयसहस्साइं ।
पुरओ जिणकेसीणं धम्मो ता जाव तुल्लमिणं ॥ ४२१ ॥
कमसो बावत्तरि सट्ठि तीस दस चेव सयसहस्साइं ।
मघवस्स चक्किणो पुण पंचेव य वासलक्खाइं ॥ ४२२ ॥
तिन्नि य सणंकुमारे संतिस्स य वासलक्खमेगं तु ।
पंचाणउइ सहस्सा कुंथुस्स वि आउयं भणियं ॥ ४२३ ॥
चुलसीइ सहस्साइं तु आउयं होइ अरजिणिंदस्स ।
पणसट्ठिसहस्साइं आऊ सिरिपुंडरीयस्स ॥ ४२४ ॥
सट्ठिसहस्स सुभूमे छप्पन्न सहस्स हुंति दत्तस्स ।
पणपण्णसहस्साइं मल्लिस्सवि आउयं भणियं ॥ ४२५ ॥
सुव्वयमहपउमाणं तीस सहस्साइं आउयं भणियं ।
बारस वाससहस्सा आऊ नारायणस्स भवे ॥ ४२६ ॥
दस वाससहस्साइं नमिहरिसेणाण हुंति दुण्हंपि ।
तिण्णेव सहस्साइं आऊ जयनामचक्किस्स ॥ ४२७ ॥
वाससहस्सा आऊ नेमीकण्हाण होइ दोण्हंपि ।
सत्त य वाससयाइं चक्कीसरबंभदत्तस्स ॥ ४२८ ॥
वाससयं पासस्स य वासा बावत्तरिं च वीरस्स ।
इय बत्तीस घराइं समयविहाणेण भणियाइं ॥ ४२९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—गाथार्थ—

जिनेश्वरों का अन्तरकाल—ऋषभदेव स्वामी के निर्वाण के ५० लाख क्रोड़ सागरोपम व्यतीत होने के पश्चात् अजितनाथ परमात्मा का निर्वाण हुआ॥ ३९३॥

अजितनाथ के निर्वाण के ३० लाख क्रोड़ सागर के पश्चात् संभवनाथ का, उनके निर्वाण के १० लाख क्रोड़ सागर के पश्चात् अभिनन्दन स्वामी का तथा उनके निर्वाण के ९ लाख क्रोड़ सागर व्यतीत होने पर सुमतिनाथ का निर्वाण हुआ॥ ३९४॥

सुमतिनाथ के निर्वाण से ९० हजार क्रोड़ सागर के बाद पद्मप्रभ का तथा उनके निर्वाण से ९ हजार क्रोड़ सागर के पश्चात् सुपार्श्वनाथ का निर्वाण हुआ॥ ३९५॥

सुपार्श्वनाथ के निर्वाण से ९०० सौ क्रोड़ सागर बीतने के पश्चात् चन्द्रप्रभु का निर्वाण तथा उनसे ९० क्रोड़ सागर बीतने के पश्चात् सुविधिनाथ का निर्वाण हुआ॥ ३९६॥

सुविधिनाथ के निर्वाण के ९ क्रोड़ सागर के पश्चात् शीतलनाथ का निर्वाण हुआ और उनके निर्वाण के बाद १०० सागरोपम, ६६ लाख व २६ हजार वर्ष न्यून एक क्रोड़ सागर बीतने पर श्रेयांसनाथ का निर्वाण हुआ॥ ३९७-३९८॥

श्रेयांसनाथ के निर्वाण के ५४ सागरोपम बाद वासुपूज्य स्वामी निर्वाण को प्राप्त हुए। उनके निर्वाण के ३० सागरोपम के पश्चात् विमलनाथ का निर्वाण हुआ॥ ३९९॥

विमलनाथ के निर्वाण के ९ सागरोपम के बाद अनन्तनाथ का निर्वाण हुआ। तत्पश्चात् ४ सागर के बाद धर्मनाथ का निर्वाण हुआ। उसके बाद ३/४ पल्योपम न्यून ३ सागरोपम के पश्चात् शान्तिनाथप्रभु निर्वाण को प्राप्त हुए। ३/४ पल्योपम में से २/४ पल्योपम बीतने पर कुंथुनाथ का निर्वाण हुआ। १००० क्रोड़ वर्ष न्यून १/४ पल्योपम के बाद अरनाथ का निर्वाण हुआ॥ ४००-४०१॥

अरनाथ के निर्वाण के १००० क्रोड़ वर्ष के बाद मल्लिनाथ का निर्वाण हुआ। उसके ५४ लाख वर्ष के बाद मुनिसुव्रत स्वामी का निर्वाण हुआ। तत्पश्चात् ६ लाख वर्ष के बाद नमिनाथ का निर्वाण हुआ। तदनन्तर ५ लाख वर्ष के बाद नेमिनाथ का निर्वाण हुआ और उसके ८३,७५० वर्ष के बाद पार्श्वनाथ का निर्वाण हुआ॥ ४०२-४०३॥

पार्श्वनाथप्रभु के निर्वाण के २५० वर्ष बीतने पर भगवान महावीर का निर्वाण हुआ। दुष्षम और अतिदुष्षम दोनों आरों का काल परिमाण ४२००० हजार वर्ष मिलाने पर ऋषभदेव परमात्मा के निर्वाण से लेकर भगवान महावीर के निर्वाण पर्यंत का सम्पूर्ण काल १ कोडाकोड़ी सागर प्रमाण होता है॥ ४०४-४०५॥

तीर्थंकर चक्रवर्ती वासुदेव आदि का अन्तर, देह और आयु-परिमाण यंत्र—

पहली पंक्ति की स्थापना—बत्तीस खाने बनाने के लिये तिर्यक् ३३ रेखायें खींचकर खड़ी ६ रेखायें खींचना जिससे खड़े ३२-३२ खाने व तिरछे ५-५ खाने बन जायें। प्रथम पंक्ति के खड़े १५ खानों में ऋषभदेव से धर्मनाथ पर्यन्त १५ तीर्थंकर के नाम लिखना। पश्चात् २ खानों में शून्य लिखना। पुनः ३ खानों में शान्तिनाथ आदि ३ तीर्थंकर...३ खाने में शून्य....२ खाने में मल्लि-मुनिसुव्रत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थंकर....१ खाने में शून्य.... १ खाने में नमि तीर्थंकर.... १ खाने में शून्य.... १ खाने में नेमि तीर्थंकर.... १ शून्य तथा अन्तिम २ खानों में २ पार्श्व-महावीर तीर्थंकर की स्थापना करना चाहिये ॥ ४०६-४०७ ॥

दूसरी पंक्ति की स्थापना—दूसरी पंक्ति के खड़े ३२ खानों में से प्रथम २ खानों में प्रथम २ चक्रवर्ती के नाम लिखना। पश्चात् १३ खानों में शून्य.... ५ खानों में मघवा आदि ५ चक्रवर्ती के नाम.... १ खाने में शून्य..... पश्चात् १ खाने में चक्रवर्ती..... २ खाने में शून्य..... १ खाने में चक्रवर्ती..... १ शून्य..... २ खाने में चक्रवर्ती..... १ खाने में शून्य..... १ खाने में चक्रवर्ती तथा २ खाने में शून्य लिखना ॥ ४०८ ॥

तीसरी पंक्ति की स्थापना—तीसरी पंक्ति के खड़े ३२ खानों में से प्रथम १० खानों में शून्य लिखना। पश्चात् ५ खानों में त्रिपृष्ठ आदि ५ वासुदेवों के नाम लिखना। उसके बाद ५ खानों में शून्य लिखना। फिर १ खाने में वासुदेव.... १ खाने में शून्य.... १ खाने में वासुदेव। .....२ खाने में शून्य..... १ खाने में वासुदेव ..... २ खाने में शून्य..... १ खाने में वासुदेव तथा अन्तिम तीन खानों में ३ शून्य लिखना ॥ ४०९ ॥

चतुर्थ पंक्ति की स्थापना—चतुर्थ पंक्ति के खड़े खानों में तीर्थंकर, चक्रवर्ती एवं वासुदेव के देहमान की संख्या लिखनी चाहिये। प्रथम खाने में ऋषभदेव और भरतमहाराजा का ५०० धनुष का देहमान लिखना। द्वितीय खाने में ४५० धनुष लिखना जो अजितनाथ और सगरचक्रवर्ती का देहमान है। तत्पश्चात् ७ खानों में पूर्वापेक्षा ५०-५० धनुष न्यून करते हुए लिखना ताकि सुविधिनाथ का देहमान १०० धनुष का रह जाय। १०वें खाने में शीतलनाथ का ९० धनुष.... ग्यारहवें खाने में श्रेयांसनाथ और त्रिपृष्ठ वासुदेव का ८० धनुष...१२वें खाने में वासुपूज्य स्वामी और द्विपृष्ठ वासुदेव का ७० धनुष... १३वें खाने में विमलनाथ और स्वयंभू वासुदेव का ६० धनुष... १४वें खाने में अनंतनाथ और पुरुषोत्तम वासुदेव का ५० धनुष... १५वें खाने में धर्मनाथ और पुरुषसिंह वासुदेव का ४५ धनुष... १६वें खाने में मघवा चक्रवर्ती का ४२ $\frac{१}{२}$ धनुष... १७वें खाने में सनत्कुमार चक्रवर्ती का ४१ $\frac{१}{२}$ धनुष... १८वें खाने में शान्तिनाथ का ४० धनुष... १९वें खाने में कुंथुनाथ का ३५ धनुष... २०वें खाने में अरनाथ का ३० धनुष.... २१वें खाने में पुरुष पुंडरीक वासुदेव का २९ धनुष... २२वें खाने में सुभूम चक्रवर्ती का २८ धनुष... २३वें खाने में दत्त वासुदेव का २६ धनुष..... २४वें खाने में मल्लिनाथ का २५ धनुष.... २५वें खाने में मुनिसुव्रतस्वामी और महापद्म चक्रवर्ती का २० धनुष....२६वें खाने में नारायण (लक्ष्मण) वासुदेव का १६ धनुष.... २७वें खाने में हरिषेण चक्रवर्ती का १५ धनुष.... २८ वें खाने में जय चक्रवर्ती का १२ धनुष.... २९वें खाने में नेमिनाथ और कृष्ण वासुदेव का १० धनुष... ३०वें खाने में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का ७ धनुष..... ३१वें खाने में पार्श्वनाथ का ९ हाथ का देहमान...और ३२वें खाने में महावीर स्वामी का ७ हाथ का देहमान लिखना ॥ ४१०-४१८ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाँचवीं पंक्ति की स्थापना—पाँचवीं पंक्ति के खड़े ३२ खानों में से प्रथम खाने में ऋषभदेव और भरत चक्रवर्ती का ८४ लाख पूर्व का आयु परिमाण लिखना। दूसरे खाने में अजितनाथ और सगर चक्रवर्ती का ३२ लाख पूर्व का....३रे खाने में सम्भवनाथ का ६० लाख पूर्व का...४थे खाने में अभिनन्दन स्वामी का ५० लाखपूर्व का.....५वें खाने में सुमतिनाथ का ४० लाखपूर्व का.....६ठे खाने में पद्मप्रभस्वामी का ३० लाखपूर्व का....७वें खाने में सुपार्श्वनाथ का २० लाखपूर्व का....८वें खाने में चन्द्रप्रभ स्वामी का १० लाखपूर्व का....९वें खाने में सुविधिनाथ का २ लाख पूर्व का....१०वें खाने में शीतलनाथ का १ लाखपूर्व का.....११वें खाने में श्रेयांसनाथ और त्रिपृष्ठ वासुदेव का ८४ लाख वर्ष का....१२वें खाने में वासुपूज्य स्वामी एवं द्विपृष्ठ वासुदेव का ७२ लाख वर्ष का....१३वें खाने में विमलनाथ और स्वयंभू वासुदेव का ६० लाख वर्ष का...१४वें खाने में अनन्तनाथ तथा पुरुषोत्तम का ३० लाख वर्ष का...१५वें खाने में धर्मनाथ और पुरुषसिंह का १० लाख वर्ष का....१६वें खाने में मघवा चक्रवर्ती का ५ लाख वर्ष का....१७वें खाने में सनत्कुमार चक्रवर्ती का ३ लाख वर्ष का...१८वें खाने में शान्तिनाथ का १ लाख वर्ष का....१९वें खाने में कुंथुनाथ का ९५ हजार वर्ष का...२०वें खाने में अरनाथ का ८४ हजार वर्ष का....२१वें खाने में पुंडरीक वासुदेव का ६५ हजार वर्ष का....२२वें खाने में सुभूम चक्रवर्ती का ६० हजार वर्ष का...२३वें खाने में दत्त वासुदेव का ५६ हजार वर्ष का...२४वें खाने में मल्लिनाथ का ५५ हजार वर्ष का...२५वें खाने में मुनिसुव्रत और महापद्म चक्रवर्ती का ३० हजार वर्ष का...२६वें खाने में नारायण वासुदेव का १२ हजार वर्ष का...२७वें खाने में नमिनाथ और हरिषेण वासुदेव का १० हजार वर्ष का....२८वें खाने में जयचक्रवर्ती का ३००० वर्ष का....२९वें खाने में नेमिनाथ तथा कृष्णवासुदेव का १००० वर्ष का...३०वें खाने में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का ७०० वर्ष का...३१वें खाने में पार्श्वनाथ का १०० वर्ष का तथा ३२वें खाने में भगवान महावीर का ७२ वर्ष का आयु-मान लिखना चाहिये। पूर्वोक्त बत्तीस खानों का वर्णन आगमानुसार कहा है॥ ४१९-४२९॥

—विवेचन—

जिनेश्वरदेवों के निर्वाणस्थानों के कथन के पश्चात् उनका अन्तरकाल बताया जा रहा है। अन्तरकाल अर्थात् एक तीर्थंकर के निर्वाण से दूसरे तीर्थंकर के निर्वाण का मध्यकाल।

मूलगत 'किल' अव्यय 'यह उपदेश आप्त पुरुषों का है' इस बात का सूचक है तथा मूलगत 'लक्खेहिं' इत्यादि पदों में तृतीया सप्तमी के अर्थ में है। अतः अर्थ होगा कि ऋषभदेव परमात्मा से ५० लाखक्रोड़ सागर व्यतीत होने पर अजितनाथ भगवान समुत्पन्न हुए।

'उसहसामिणो' में पंचमी विभक्ति अवधि की द्योतक है। अवधि के दो प्रकार हैं—अभिविधि और मर्यादा। अभिविधि में अवधि का नियामक अन्तर्भूत होता है व मर्यादा में अवधि का नियामक अन्तर्भूत नहीं रहता। मूलगत 'समुप्पन्नो' शब्द के भी दो अर्थ हैं—जन्म लेना तथा सिद्ध होना।

यदि 'उसहसामिणो' में पंचमी अभिविधि में तथा 'समुप्पन्नो' का जन्म लेना अर्थ मानकर व्याख्या की जाय तो आशय होगा कि ऋषभदेव स्वामी के जन्म से ५० लाख क्रोड़ सागर के पश्चात् अजितनाथ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान का जन्म हुआ। यह व्याख्या आगमविरुद्ध है। आगम में भगवान ऋषभदेव के पश्चात् भगवान महावीर की सिद्धि चतुर्थ आरे के ८९ पक्ष शेष रहते बताई है। यदि पूर्वोक्त अर्थ माना जाय तो भगवान ऋषभदेव का आयुकाल भी भगवान महावीर के सिद्धि काल में जुड़ेगा और उनकी सिद्धि ८४ लाख पूर्व सहित चतुर्थ आरे के ८९ पक्ष शेष रहते मानी जायेगी। अतः 'उसहसामिणो' में पंचमी अभिविधि के अर्थ में न होकर मर्यादार्थक है।

'उसहसामिणो' में पंचमी मर्यादार्थक मानने पर भी यदि 'समुप्पन्नो' का अर्थ जन्म लेना किया जाय तो भी असंगत होगा। तब अर्थ होगा कि ऋषभदेव आदि परमात्माओं के निर्वाण से अजित आदि परमात्माओं का जन्म इतने काल पश्चात् हुआ। इससे सर्व जिनों के अन्तरकाल में ही चतुर्थ आरा पूर्ण हो जायेगा.... २३ जिनेश्वरों का आयुकाल अन्तरकाल में संगृहीत न होने से अतिरिक्त रह जायेगा तथा भगवान महावीर की सिद्धि आगामी उत्सर्पिणी में होने का प्रसंग उपस्थित होगा। अतः 'समुप्पन्नो' का अर्थ 'जन्मलेना' न करके सिद्ध हुए करना ही संगत होगा। इससे अर्थ होगा कि ऋषभदेव आदि के निर्वाण से अजितनाथ आदि का निर्वाण इतने काल पश्चात् हुआ।

	भगवान	भगवान	अन्तराल
१.	ऋषभदेव	अजितनाथ	५० लाख-क्रोड़ सागरोपम
२.	अजितनाथ	संभवनाथ	३० लाख-क्रोड़ सागरोपम
३.	संभवनाथ	अभिनन्दन	१० लाख-क्रोड़ सागरोपम
४.	अभिनन्दन	सुमतिनाथ	९ लाख-क्रोड़ सागरोपम
५.	सुमतिनाथ	पद्मप्रभ	९० हजार-क्रोड़ सागरोपम
६.	पद्मप्रभ	सुपार्श्व	९ हजार-क्रोड़ सागरोपम
७.	सुपार्श्व	चन्द्रप्रभ	९ सौ-क्रोड़ सागरोपम
८.	चन्द्रप्रभ	सुविधि	९० क्रोड़ सागरोपम
९.	सुविधिनाथ	शीतलनाथ	९ क्रोड़ सागरोपम
१०	शीतलनाथ	श्रेयांसनाथ	एक सौ सागर, ६६ लाख २६ हजार वर्ष न्यून एक क्रोड़ सागरोपम
११.	श्रेयांसनाथ	वासुपूज्य	५४ सागर
१२.	वासुपूज्य	विमलनाथ	३० सागर
१३.	विमलनाथ	अनन्तनाथ	९ सागर
१४.	अनन्तनाथ	धर्मनाथ	४ सागर
१५.	धर्मनाथ	शान्तिनाथ	पल्योपम के ३/४ भाग न्यून ३ सागर
१६.	शान्तिनाथ	कुंथुनाथ	२/४ पल्योपम
१७.	कुंथुनाथ	अरनाथ	१ हजार क्रोड़ वर्ष न्यून १/४ पल्योपम
१८.	अरनाथ	मल्लिनाथ	१ हजार क्रोड़ वर्ष
१९.	मल्लिनाथ	मुनिसुव्रत	५४ लाख वर्ष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२०.	मुनिसुव्रत	नमिनाथ	छः लाख वर्ष
२१.	नमिनाथ	नेमिनाथ	पाँच लाख वर्ष
२२.	नेमिनाथ	पार्श्वनाथ	८३७५० वर्ष
२३.	पार्श्वनाथ	महावीर स्वामी	२५० वर्ष

तीसरे आरे के ८९ पक्ष शेष रहने पर ऋषभदेव भगवान तथा चौथे आरे के ८९ पक्ष शेष रहने पर भगवान महावीर का निर्वाण हुआ। दोनों के निर्वाण का अन्तरकाल ४२००० वर्ष न्यून एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। यही चौथे आरे का कालमान है। इसमें पाँचवें व छट्ठे आरे के २१०००-२१००० (हजार) वर्ष मिलाने पर ऋषभदेव के निर्वाण से एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम पूर्ण होता है॥ ३९३-४०५॥

किस तीर्थंकर के काल में अथवा अन्तराल में कौनसा चक्रवर्ती या वासुदेव हुआ तथा उनका शरीर प्रमाण व आयु प्रमाण क्या है? यह निम्न सारणी में बताया जाता है।

जिन	चक्रवर्ती	वासुदेव	शरीरमान	आयु प्रमाण
१.	१.	०	५०० धनुष	८४ लाख पूर्व
२.	२	०	४५० धनुष	७२ लाख पूर्व
३.	०	०	४०० धनुष	६० लाख पूर्व
४.	०	०	३५० धनुष	५० लाख पूर्व
५.	०	०	३०० धनुष	४० लाख पूर्व
६.	०	०	२५० धनुष	३० लाख पूर्व
७.	०	०	२०० धनुष	२० लाख पूर्व
८.	०	०	१५० धनुष	१० लाख पूर्व
९.	०	०	१०० धनुष	२ लाख पूर्व
१०.	०	०	९० धनुष	१ लाख पूर्व
११.	०	१	८० धनुष	८४ लाख वर्ष
१२.	०	२	७० धनुष	७२ लाख वर्ष
१३.	०	३	६० धनुष	६० लाख वर्ष
१४.	०	४	५० धनुष	३० लाख वर्ष
१५.	०	५	४५ धनुष $\frac{१}{२}$	१० लाख वर्ष
०	३	०	४२ $\frac{१}{२}$ धनुष	५ लाख वर्ष
०	४	०	४१ $\frac{१}{२}$ धनुष	३ लाख वर्ष
१६.	५	०	४० धनुष	१ लाख वर्ष
१७.	६	०	३५ धनुष	९५००० वर्ष
१८.	७	०	३० धनुष	८४००० वर्ष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

०	०	६	२९ धनुष	६५००० वर्ष
०	८	०	२८ धनुष	६०००० वर्ष
०	०	७	२६ धनुष	५६००० वर्ष
१९.	०	०	२५ धनुष	५५००० वर्ष
२०.	९	०	२० धनुष	३०००० वर्ष
०	०	८	१६ धनुष	१२००० वर्ष
२१.	१०	०	१५ धनुष	१०००० वर्ष
०	११	०	१२ धनुष	३००० वर्ष
२२.	०	९	१० धनुष	१००० वर्ष
०	१२	०	७ धनुष	७०० वर्ष
२३.	०	०	९ हाथ	१०० वर्ष
२४.	०	०	७ हाथ	७२ वर्ष.

॥ ४०६-४२९ ॥

३६ द्वार : तीर्थविच्छेद—

पुरिमंतिमअट्ठट्ठंतरेसु तित्थस्स नत्थि वोच्छेओ ।
मज्झिल्लएसु सत्तसु एत्तियकालं तु वुच्छेओ ॥४३० ॥
चउभागं चउभागो तिन्नि य चउभाग पलियचउभागो ।
तिण्णेव य चउभागा चउत्थभागो य चउभागो ॥४३१ ॥

—गाथार्थ—

किस तीर्थंकर के अन्तर में तीर्थ विच्छेद हुआ ?—**प्रथम और अन्तिम आठ अन्तर में तीर्थ का विच्छेद नहीं है। पर मध्य के सात अन्तर में क्रमशः १/४, १/४, ३/४, १/४, ३/४, ३/४, १/४ पल्योपम पर्यन्त तीर्थ का विच्छेद रहा ॥४३०-४३१ ॥**

—विवेचन—

२४ जिन के अन्तराल २३ होते हैं जैसे, चार अंगुलियों के ३ अन्तराल होते हैं।

- ऋषभदेव से सुविधिनाथ पर्यन्त ८ आन्तरों में तथा शांतिनाथ से महावीर पर्यन्त ९ आन्तरों में तीर्थच्छेद नहीं हुआ।

(१) सुविधि और शीतलनाथ के अन्तराल में — १/४ पल्योपम तक तीर्थच्छेद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२) शीतलनाथ और श्रेयांसनाथ के अन्तराल में १/४ पल्योपम तक तीर्थच्छेद
(३) श्रेयांसनाथ और वासुपूज्य के अन्तराल में ३/४ पल्योपम तक तीर्थच्छेद
(४) वासुपूज्य और विमलनाथ के अन्तराल में १/४ पल्योपम तक तीर्थच्छेद
(५) विमलनाथ और अनन्तनाथ के अन्तराल में ३/४ पल्योपम तक तीर्थच्छेद
(६) अनन्तनाथ और धर्मनाथ के अन्तराल में १/४ पल्योपम तक तीर्थच्छेद
(७) धर्मनाथ और शान्तिनाथ के अन्तराल में १/४ पल्योपम तक तीर्थच्छेद

कुल १/४ भाग न्यून ३ पल्योपम तक वर्तमान जिनेश्वरों के अन्तरकाल में धर्म का विच्छेद रहा ॥ ४३०-४३१ ॥

३७ द्वार : आशातना दश—

तंबोल पाण भोयण पाणह थीभोग सुयण निट्ठवणे ।
मुत्तुच्चारं जूयं वज्जे जिणमंदिरस्संतो ॥४३२ ॥

—गाथार्थ—

आशातना १० : जिनमंदिर सम्बन्धी—**१. तंबोल २. पानी ३. भोजन ४. उपानह ५. स्त्रीभोग ६. शयन ७. थूंकना ८. लघुनीति ९. बड़ीनीति १०. द्यूत—ये दश आशातनायें जिनमंदिर में त्याज्य है ॥४३२ ॥**

—विवेचन—

१ पान, मुखवास आदि खाना । २ जलादि पीना । ३ भोजन करना ।
४ जूते पहनना । ५ स्त्री भोग करना । ६ नींद लेना ।
७ थूंकना । ८ पेशाब करना । ९ शौच करना ।
१० जुआ खेलना ॥ ४३२ ॥

३८ द्वार : आशातना चौरसी—

खेलं केलि कलिं कला कुललयं तंबोल मुग्गालयं,
गाली कंगुलिया सरीरधुवणं केसे नहे लोहियं ।
भत्तोसं तय पित्त वंत दसणे विस्सामणं दामणं,
दंतत्थी नह गंड नासिय सिरो सोतच्छवीणं मलं ॥४३३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मंतुम्मीलण लेक्खयं विभजणं भंडार दुट्ठासणं,
छाणी कप्पड दालि पप्पड वडी विस्सारणं नासणं।
अक्कंदं विकहं सरच्छघडणं तेरिच्छसंठावणं,
अग्गीसेवण रंधणं परिखणं निस्सीहियाभंजणं ॥४३४॥
छत्तो वाणह सत्थ चामर मणोऽणेगत्त-मब्भंगणं,
सच्चित्ताणमचाय चायणऽजिए दिट्ठीअ नो अंजली।
साडेगुत्तरसंगभंग-मउडं मउलिं सिरोसेहरं,
हुड्डा जिंडुहगिड्डियाइरमणं जोहार भंडक्किकयं ॥४३५॥
रेकारं धरणं रणं विवरणं वालाण पल्हत्थियं,
पाओ पायपसारणं पुडपुडी पंकं रओ मेहुणं।
जूया जेमण जुज्झ विज्ज वणिजं सेज्जं जलं मज्जणं,
एमाईयमवज्जकज्जमुजुओ वज्जे जिणिंदालए ॥४३६॥
आसायणा उ भवभमणकारणं इय विभाविउं जइणो।
मलमलिणत्ति न जिणमंदिरंमि निवसंति इय समओ ॥४३७॥
दुब्भिगंधमलस्सावि तणुरप्पेस ण्हाणिया।
दुहा वायवहो वावि तेणं ठंति न चेइए ॥४३८॥
तिन्नि वा कड्ढई जाव, थुइओ त्तिसिलोइया।
ताव तत्थ अणुन्नायं, कारणेण परेण उ ॥४३९॥

—विवेचन—

आशातना ८४ जिनमंदिर सम्बन्धी—

आशातना = आयं + शातना, आय = लाभ, आत्म-कल्याणकारी सम्पत्ति के अमोघकारण भूत ज्ञानादि। शातना = उनका नाश करने वाली आशातना कहलाती है।

१. कफ थूंकना।
२. क्रीड़ा करना।
३. कलह करना।
४. कला अभ्यास करना, परेड मैदान की तरह मंदिर में धनुष आदि का अभ्यास करना।
५. कुल्ला करना।
६. तंबोल आदि खाना।
७. पीक थूंकना।
८. गाली गलौच करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. टट्टी-पेशाब करना।
१०. स्नानादि करना।
११. केश काटना (मुंडन करना)।
१२. नाखून काटना।
१३. रक्त आदि डालना।
१४. मिठाई आदि खाना।
१५. घाव आदि को कुरेदना।
१६. दवाई आदि लेकर पित्त निकालना।
१७. वमन करना।
१८. दाँत आदि फेंकना या साफ करना।
१९. मालिश करना।
२०. गाय, भैंस, बकरी आदि बाँधना।
२१-२८. दाँत, नाक, आँख, कान, नाखून, गाल, सिर और शरीर का मैल डालना।
२९. भूत आदि के मंत्र की साधना एवं राजा आदि के कार्य की चर्चा करना।
३०. सगाई, विवाह आदि तय करना।
३१. हिसाब-किताब करना।
३२. धन आदि का बँटवारा करना।
३३. निजी सम्पत्ति मंदिर में रखना।
३४. अनुचित आसन से बैठना, जैसे पाँव पर पाँव रखकर बैठना।
३५-३९. गोबर, वस्त्र, दाल, पापड़ बड़ी आदि सुखाना।
४०. राजा, भाई, बन्धु व लेनदार के भय से मंदिर के गुप्तगृह आदि में छुपना।
४१. पुत्र, स्त्री आदि के वियोग में रुदन करना।
४२. विकथा करना।
४३. गन्ने आदि को साफ करना। अथवा धनुष बाण आदि बनाना।
४४. गाय, घोड़ा आदि रखना।
४५. आग जलाकर तापना।
४६. रसोई बनाना।
४७. सिक्के आदि का परीक्षण करना।
४८. यथाविधि निस्सीहि न करना।
४९-५२. छत्र, चामर, शस्त्र, उपानह आदि धारण करना।
५३. मन को स्थिर न करना।
५४. हाथ-पैर आदि दबाना।
५५. सचित्त का त्याग न करना।
५६. अचित्त, हार, अंगूठी आदि आभूषणों का त्यागकर मंदिर में जाना (इससे लोकापवाद होने की संभावना है कि "यह भिखारियों का धर्म है")।
५७. जिनेश्वर को देखते ही नमस्कार न करना।
५८. एक वस्त्र का उत्तरासन धारण न करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५९. मुकुट धारण करना।	६०. पुष्प आदि से निर्मित आभरण मस्तक पर धारण करना।
६१. साफा, पगड़ी आदि धारण करना।	६२. कबूतर, नारियल आदि की शर्त लगाना।
६३. गेंद, गोली, कोड़ी इत्यादि खेलना।	६४. पितर आदि के निमित्त जिनमंदिर में पिण्डदान करना।
६५. भांड की तरह तालियाँ आदि बजाना।	६६. तिरस्कार सूचक शब्द बोलना।
६७. युद्ध आदि करना।	६८. कर्जदार को मंदिर में बंद करना।
६९. केशों को खोलना, सुखाना।	७०. पालथी लगाकर बैठना।
७१. पाहुडी पहनना (पाहुडी = काष्ठ की पादुका)	७२. पैर फैलाना।
७३. सीटी, चुटकी, पीपाड़ी आदि बजाना।	७४. हाथ पाँव आदि धोकर कीचड़ करना।
७५. शरीर, वस्त्र आदि पर लगी हुई धूल झाड़ना।	७६. मैथुन सेवन करना।
७७. जूं लीख आदि डालना।	७८. भोजन करना।
७९. गुह्य = नग्न होना अथवा 'जुज्झ' ऐसा पाठ हो तो अर्थ होगा कि दृष्टि-युद्ध, बाहु-युद्ध आदि करना।	८०. वैद्य कर्म करना।
८१. क्रय-विक्रय करना।	८२. सोना, लेटना।
८३. पीने या पिलाने के लिए जलादि रखना या पीना।	८४. स्नान करना, हाथ-पैर आदि धोना।

पूर्वोक्त आशातनाओं का त्याग करना चाहिये। इनके अतिरिक्त और भी हँसना, कूदना आदि सावद्य चेष्टाएँ आशातना के अन्तर्गत समझनी चाहिये।

प्रश्न—पहले जिन-मन्दिर सम्बन्धी दस आशातनाएँ कही जा चुकी हैं शेष आशातनाएँ उपलक्षण से उन्हीं के अन्तर्गत आ जायेगी, तो उन्हें अलग क्यों कहा?

उत्तर—जैसे—"ब्राह्मणाः समागता वशिष्ठोऽपि समागतः"। इन दो वाक्यों को कहने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वशिष्ठ का आगमन, ब्राहमणों के आगमन के अन्तर्गत ही आ जाता है, किन्तु 'वशिष्ठ' की विशिष्टता सूचित करने के लिए उनको अलग से बताया गया। वैसे यहाँ भी बालजीवों के बोध के लिए उन्हें अलग से कहा गया है।

प्रश्न—क्या ये आशातनाएँ गृहस्थ के लिए कर्मबन्ध का कारण हैं?

उत्तर—हाँ, ये आशातनाएँ साधु व गृहस्थ दोनों के लिए भव-भ्रमण का कारण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा है—

आसायणा उ भवभमणकारणं इय विभाविउं जइणो।

मलमलिणत्ति न जिणमंदिरंमि, निवसंति इय समओ॥

अर्थ—आशातना भवभ्रमण का कारण है, इस प्रकार जानकर, मल-मलिनगात्र वाले मुनि लोग जिन मंदिर में निवास नहीं करते।

व्यवहार भाष्य—

दुब्भिगंधमलस्सावि, तणुरप्पेस पहाणिया।

दुहावायवहो वावि, तेणं ठंति न चेइए॥

अर्थ—स्नान कराने पर भी यह शरीर, दुर्गन्धी, मल व पसीने का घर है। मुख और अपान से सतत वायु निकलती रहती है अतः आशातना का कारण होने से मुनिजन मंदिर में नहीं ठहरते।

प्रश्न—तो फिर आशातना-भीरु यतियों को जिन मंदिर में जाना ही नहीं चाहिये?

उत्तर— तिन्नि वा कड्ढइ जाव, थुइओ तिसिलोइया।

ताव तत्थ अणुन्नायं, कारणेण परेण उ॥

चैत्यवंदन के निमित्त साधु मंदिर में जा सकता है। चैत्यवंदन करते समय "सिद्धाणं-बुद्धाणं" की तीसरी गाथा बोलने तक मंदिर में रुकने की जिनाज्ञा है। सिद्धाणं-बुद्धाणं की अन्तिम दो गाथाएँ तथा चतुर्थ स्तुति का विधान भी गीतार्थ की आचरणा के अनुसार है और गीतार्थ की आचरणा गणधर भगवन्तों की आज्ञा की तरह ही मान्य है अतः चार स्तुति बोलने तक मंदिर में रुका जा सकता है। धर्म-श्रवण के इच्छुक भव्यों को धर्म-देशना देने हेतु भी मंदिर में रुकना जिनाज्ञा सम्मत है। इनके सिवाय अनावश्यक मन्दिर में रुकना आशातना का कारण है, तथा जिनाज्ञा-विरुद्ध होने से साधु एवं गृहस्थ दोनों को नहीं कल्पता। कहा है—"आणाइच्चियं चरणं" आज्ञा में ही चारित्र है॥ ४३३-४३९॥

३९ द्वार : प्रातिहार्य—

कंकिल्लि कुसुमवुट्ठी दिव्वज्झुणि चामराऽऽसणाइं च।

भावलय भेरि छत्तं जयंति जिणपाडिहेराइं॥ ४४०॥

—गाथार्थ—

महाप्रातिहार्य ८.—१. **अशोकवृक्ष**, २. **पुष्पवृष्टि**, ३. **दिव्यध्वनि**, ४. **चामर**, ५. **सिंहासन**, ६. **भामंडल**, ७. **दुन्दुभि** और ८. **छत्र जिनेश्वर परमात्मा के ये अष्ट प्रातिहार्य सदा जयवन्ते हैं॥४४०॥**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

इन्द्र द्वारा द्वाररक्षक की तरह नियुक्त देवता प्रतिहारी कहलाते हैं और उनके द्वारा करने योग्य कार्य प्रातिहार्य हैं। ये प्रातिहार्य आठ हैं:—

१. **अशोक वृक्ष** — चारों ओर पत्तों से घिरे हुए, सदाकाल विकस्वर पुष्पों के झरते हुए पराग से आकृष्ट भौंरों के शब्द से शीतल कर दिये हैं नमस्कार करने वाले भव्यजनों के कर्णविवर जिसने, अति मनोहर एवं विशाल शालवृक्ष से सुशोभित ऐसा अशोक वृक्ष समवसरण के मध्य में देव बनाते हैं।

२. **पुष्पवृष्टि** — अधोवृन्त एवं ऊपर मुखवाले, जलस्थल में उत्पन्न, सदा विकस्वर, वैक्रियशक्ति से जन्य, पाँचवर्ण के पुष्पों की देव समवसरण में जानुप्रमाण वृष्टि करते हैं।

३. **दिव्यध्वनि** — कानों में अमृत की तरह मधुर लगने वाली, अन्य सभी व्यापारों को छोड़कर अलग-अलग देश से सहसा भगकर आये हुए, बड़ी उत्सुकता से चौंकने बने हरिण समूह से सुनी जाने वाली, सभी को आनन्ददायिनी ऐसी "दिव्यध्वनि" देव करते हैं।

४. **चामरयुगल** — कमनीय केले के स्तंभ की तरह सरल तन्तुओं से युक्त सुन्दर चमरी गाय के बालों के समूह वाली, जातिवान अनेक रंगों वाले, अनुपमेय रत्नसमूह से निकलने वाली किरणों से सभी दिशाओं में इन्द्रधनुष की रचना करने वाली, सुवर्णमयदण्ड से रमणीय ऐसी चामर की शोभा परमात्मा के दोनों ओर देव करते हैं।

५. **सिंहासन** — अत्यन्त चमकीली केशसटा से सुशोभित स्कंधों से युक्त तथा स्पष्ट दिखाई देने वाली तीक्ष्ण दाढ़ाओं से सजीव लगने वाले सिंह से अलंकृत, अनेकविध अनमोल रत्नों की किरणों से नष्ट कर दिया है अन्धकार के समूह को जिसने ऐसा अति मनोहर सिंहासन परमात्मा के लिए देव बनाते हैं।

६. **भामण्डल** — संपूर्ण (१६०० किरणें) किरण मण्डल से अत्यन्त प्रखर, शरत्कालीन सूर्य की तरह अदर्शनीय, सहज देदीप्यमान तीर्थंकर परमात्मा के शरीर से, सूर्य के प्रकाश को ढकने वाले, महान् प्रभापटल को इकट्ठा करके परमात्मा के सिर के पीछे गोलाकार भामण्डल देव बनाते हैं।

७. **देवदुन्दुभि** — जिनकी तीव्र ध्वनि से तीनों भुवन गूंज उठते हैं ऐसी दुन्दुभियाँ देवगण बजाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. छत्रत्रय — तीनों भुवन के साम्राज्य का सूचक, शरत्पूर्णिमा के चन्द्र, मोगरे का फूल व श्वेत कमल के समान उज्ज्वल, चारों ओर लटकती हुई मोतियों की माला से अत्यन्त मनोहर ऐसे तीन छत्र परमात्मा के ऊपर देव बनाते हैं।

ऋषभदेव परमात्मा से लेकर पार्श्वनाथ भगवान तक अशोक वृक्ष की ऊँचाई तीर्थंकर के शरीर से बारह गुणा व विस्तार एक योजन से कुछ अधिक होता है। किंतु, भगवान महावीर के समवसरण में उसकी ऊँचाई ३२ धनुष है।

प्रश्न—**आवश्यकचूर्णि** में भगवान् महावीर के समवसरण सम्बन्धी चर्चा के प्रसंग में उसकी ऊँचाई उनके शरीर से १२ गुणी कही है—"असोगवरपायवं जिणउच्चत्ताओ बारसगुणं सक्को विउव्वइत्ति" यह बात पूर्वोक्त प्रमाण से कैसे संगत होगी?

उत्तर—आवश्यकचूर्णि में जो ऊँचाई बतायी गयी है, वह मात्र अशोक वृक्ष की ही है, किंतु यहाँ बतायी गयी ऊँचाई शाल वृक्ष सहित अशोक वृक्ष की है। मात्र अशोक वृक्ष की ऊँचाई तो यहाँ भी भगवान महावीर के देह से १२ गुणा ही अधिक है। भगवान् महावीर का देहमान ७ हाथ है और उसे १२ से गुणा करने पर २१ धनुष होते हैं उनमें ११ धनुष प्रमाण शाल वृक्ष की ऊँचाई मिलाने से अशोक वृक्ष की ऊँचाई = ३२ धनुष होती है। अशोक वृक्ष के ऊपर शाल वृक्ष के अस्तित्व का प्रमाण समवायांग सूत्र की निम्न पंक्तियाँ हैं—

बत्तीस धणुयाइं चेइय रुक्खो उ वद्धमाणस्स।

निच्चोउगो असोगो उच्छन्नो सालरुक्खेणं॥

अर्थ—भगवान महावीर के समवसरण में अशोक वृक्ष की ऊँचाई ३२ धनुष है। सभी ऋतुओं में, पुष्प-फलादि की समृद्धि से सदाबहार रहने वाला अशोक वृक्ष शाल वृक्ष से उन्नत है।

प्रश्न—जानु-प्रमाण पुष्पों से भरे हुए समवसरण में जीवदयाप्रेमी साधुओं का अवस्थान व गमनागमन कैसे हो सकता है क्योंकि इसमें साक्षात् जीवहिंसा है?

उत्तर—समवसरण में बरसाये गये फूल देवता के द्वारा विकुर्वित होने से अचित्त हैं। अतः उन पर गमनागमन करने वाले साधुओं को जीवहिंसा का दोष नहीं लगता। ऐसा किसी का मत है किंतु यह अयुक्त है। कारण, समवसरण में मात्र विकुर्वित पुष्प ही नहीं होते किंतु जल-थल में उत्पन्न होने वाले फूल भी होते हैं। आगम में कहा है—

बिंटट्ठाइं सुरभिं जलथलयं दिव्वकुसुमनीहारिं।

पयरिंति समंतेणं दसद्धवण्णं कुसुमवुट्ठिं॥

अर्थ—अधोमुख गुंडवाले, देवों द्वारा विकुर्वित फूलों से भी अधिक शोभावाले, जल व स्थल में उत्पन्न, ऐसे पंचवर्ण वाले पुष्पों की वृष्टि देवता समवसरण में चारों ओर करते हैं।

एक मत ऐसा भी है कि जिस देश में साधु-साध्वी आते-जाते या बैठते हैं, उस देश में देवता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुष्प-वृष्टि नहीं करते हैं किंतु यह कथन भी ठीक नहीं है। कारण, समवसरण में साधुओं के आने, जाने या बैठने का स्थान कोई निश्चित नहीं होता है। वे सर्वत्र गमनागमन कर सकते हैं अतः पूर्वोक्त प्रश्न का सर्व गीतार्थ-सम्मत उत्तर तो यह है कि समवसरण में बरसाये गये पुष्प वास्तव में सचित्त ही है। किंतु, तीर्थंकर परमात्मा के अचिन्त्य प्रभाव के कारण उनके ऊपर गमनागमन करने पर भी उन्हें पीड़ा नहीं होती, प्रत्युत सुर, नर मुनिवर के गमनागमन से सुधासिंचित की तरह पुष्प और अधिक विकस्वर बनते हैं।

प्रश्न—दिव्य-ध्वनि प्रातिहार्य के अन्तर्गत कैसे आ सकती है, क्योंकि वह देवकृत नहीं किन्तु परमात्मा की ही ध्वनि होती है?

उत्तर—तीर्थंकर परमात्मा की वाणी, स्वाभाविक रूप से ही मधुर होती है। किन्तु देवों का यह कर्त्तव्य है कि जब परमात्मा "मालकोश" राग में प्रवचन देते हैं, वे दोनों ओर से वीणा, वेणु आदि से स्वर देकर भगवान् की वाणी को और अधिक मधुर बनाते हैं। अतः अंशतः दिव्यध्वनि प्रतिहार्यीकृत कहलाती है। लोक में भी देखा जाता है कि हारमोनियम, तबले, वीणा आदि का स्वर गायक के स्वर का सहकारी होता है, वैसे दिव्यध्वनि भी सहकारी है अतः प्रातिहार्य कहलाती है।। ४४० ॥

४० द्वार : अतिशय—

रयरोयसेयरहिओ देहो धवलाइं मंसरुहिराइं।
आहारानीहारा अदिस्सा सुरहिणो सासा ॥४४१ ॥
जम्माउ इमे चउरो एक्कारस कम्मखयभवा इण्हि।
खेत्ते जोयणमेत्ते तिजयजणो माइ बहुओऽवि ॥४४२ ॥
नियभासाए नरतिरिसुराण धम्मावबोहया वाणी।
पुव्वभवा रोगा उवसमंति न य हुंति वेराइं ॥४४३ ॥
दुब्भिक्ख डमर दुम्मारि ईई अइवुट्ठि अणभिवुट्ठीओ।
हुंति न जियबहुतरणी पसरइ भामंडलुज्जोओ ॥४४४ ॥
सुररइयाणिगुवीसा मणिमयसीहासणं सपयवीढं।
छत्तत्तय इंदद्धय सियचामर धम्मचक्काइं ॥४४५ ॥
सह जगगुरुणा गयणट्ठियाइं पंचवि इमाइं वियरंति।
पाउब्भवइ असोओ चिट्ठइ जत्थप्पहू तत्थ ॥४४६ ॥
चउमुहमुत्तिचउक्कं मणिकंचणताररइयसालतिगं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नवकणयपंकयाइं अहोमुहा कंटया हुंति ॥४४७॥
निच्चमवट्ठियमित्ता पहुणो चिट्ठंति केसरोमनहा।
इंदियअत्था पंचवि मणोरमा हुंति छप्पि रिऊ॥४४८॥
गंधोदयस्स वुट्ठी वुट्ठी कुसुमाण पंचवन्नाणं।
दिंति पयाहिण सउणा पहुणो पवणोऽवि अणुकूलो॥४४९॥
पणमंति दुमा वज्जंति दुंदुहीओ गहीरघोसाओ।
चउतीसाइसयाणं सव्वजिणिंदाण हुंति इमा॥४५०॥

—गाथार्थ—

अतिशय ३४—

सहज चार अतिशय—१. मल व रोग से रहित शरीर २. शुभ्र रक्त मांस ३. अदृश्य आहार-नीहार ४. सुगंधित श्वासोच्छ्वास—ये ४ अतिशय तीर्थंकर परमात्मा के जन्मसिद्ध हैं।

कर्मक्षयजन्य ग्यारह अतिशय—१. योजनप्रमाण समवसरण में तीनों जगत के जीवों का समावेश होना। २. निजभाषा में उपदेश देनेपर भी श्रोताओं को अपनी-अपनी भाषा में सुनाई देना। ३. पूर्वजन्य रोगों का उपशान्त होना। ४. जीवों का जातिगत वैर शान्त होना। ५. दुष्काल न पड़ना। ६. स्वचक्र-परचक्र जन्य उपद्रव न होना। ७. मारी-महामारी न फैलना। ८. ईति-भीति न होना। ९.-१०. अतिवृष्टि, अनावृष्टि न होना। ११. सूर्य के तेज को जीतनेवाले भामंडल का प्रकाश सदा फैला हुआ रहना॥४४१-४४४॥

देवकृत १९ अतिशय—१९ अतिशय देवकृत होते हैं—१. पादपीठ सहित मणिमय सिंहासन, २. छत्रत्रय, ३. इन्द्रध्वजा, ४. श्वेत चामर, ५. धर्मचक्र—ये पाँच वस्तुयें जहाँ परमात्मा विचरण करते हैं वहाँ आकाश में साथ-साथ चलते हैं। ६. जहाँ भगवान खड़े रहते हैं वहाँ अशोक का वृक्ष प्रकट होना। ७. शेष तीन दिशाओं में प्रभु की मूर्ति की रचना। ८. सुवर्ण-मणि और रजतमय तीन गढ़ों की रचना। ९. नौ सुवर्ण कमल की रचना। १०. काँटों का अधोमुख होना। ११. केश- रोम- नखों का न बढ़ना। १२. विषयों का अनुकूल होना। १३. सभी ऋतुओं की अनुकूलता। १४. गन्धोदक की वृष्टि। १५. पाँचवर्ण के पुष्पों की वर्षा होना। १६. पक्षियों का प्रदक्षिणा देना। १७. अनुकूल हवायें चलना। १८. वृक्षों का झुकना। १९. गंभीर स्वर में दुन्दुभि बजना।

पूर्वोक्त ३४ अतिशय सभी जिनेश्वरों के होते हैं॥४४५-४५०॥

—विवेचन—

अतिशय = उत्कृष्ट गुण

१. मल, व्याधि और स्वेद रहित तीर्थंकर भगवंतों की देह अलौकिक रूप, रस, गंध, एवं स्पर्शयुक्त होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. मांस और रुधिर गाय के दूध की तरह शुभ्र और दुर्गंध रहित होता है।

३. आहार और निहार चर्मचक्षु से अदृश्य होता है (अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी देख सकते हैं।)

४. श्वासोच्छ्वास खिले हुए कमल की तरह सुगंधयुक्त होता है। ये चार अतिशय तीर्थंकर परमात्मा के जन्म से होते हैं।

५. एक योजन प्रमाण समवसरण में कोटाकोटी मनुष्य, देव एवं तिर्यंचों का निराबाध समावेश हो जाता है।

६. योजनव्यापी एक स्वरूप वाली भगवान् की वाणी (अर्धमागधीभाषा) सुनने वाले सभी जीवों को अपनी-अपनी भाषा में परिणत होकर सुनाई देती है। जैसे वर्षा का पानी विभिन्न स्थानों में पड़कर विविध रूप में परिणत हो जाता है।

७. पूर्वोत्पन्न रोगादि शान्त हो जाते हैं और नये उत्पन्न नहीं होते।

८. पूर्वभव सम्बन्धी या जाति-स्वभावजन्य वैर शान्त हो जाता है।

९. दुष्काल नहीं पड़ता।

१०. स्वचक्र या परचक्र का भय नहीं होता।

११. दुष्ट देवादि कृत मारी का उपद्रव शान्त हो जाता है।

१२. धान्य का विनाश करने वाले मूषक, शलभ, शुक आदि जन्य ईतियों का नाश होता है।

१३-१४. अतिवृष्टि या अनावृष्टि नहीं होती है।

(ये सारे उपद्रव जहाँ-जहाँ भगवान् विचरण करते हैं, वहाँ-वहाँ चारों दिशा में पच्चीस-पच्चीस योजन तक नहीं होते)।

१५. भगवान् के मस्तक के पीछे उनके शरीर से निसृत वर्तुलाकार में व्यवस्थित तेज का भामंडल होता है।

पूर्वोक्त ५ से १५ तक के ग्यारह अतिशय चार घाती कर्मों के क्षय से जन्य हैं अतः जब भगवान को केवलज्ञान पैदा होता है तब उत्पन्न होते हैं।

१६. परमात्मा के बैठने के लिए अत्यन्त स्वच्छ स्फटिकमणि से निर्मित, पादपीठ युक्त सिंहासन होता है।

१७. परमात्मा के मस्तक पर अति-पवित्र तीन छत्र होते हैं।

१८. परमात्मा के आगे हजारों लघुपताकाओं से सुन्दर अति उन्नत, अनुपमेय रत्नमय, अन्य ध्वजाओं की अपेक्षा महत्त्वशाली अथवा महान ऐश्वर्य की सूचक इन्द्र-ध्वजा चलती है।

१९. परमात्मा के दोनों तरफ दो यक्ष चामर बींजते हैं।

२०. परमात्मा के आगे कमल पर प्रतिष्ठित, चारों ओर जिसकी किरणें फैल रही हैं ऐसा धर्म का प्रकाश करने वाला धर्म-चक्र चलता है।

पूर्वोक्त पांचों ही वस्तुएँ परमात्मा के विचरण करते समय आकाश में चलती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२१. परमात्मा जहाँ ठहरते हैं, वहाँ विचित्र पत्र, पुष्प, छत्र, ध्वज, घंटा पताकादि से परिवृत अशोक वृक्ष स्वतः प्रकट हो जाता है।

२२. समवसरण में सिंहासन पर पूर्वाभिमुख परमात्मा स्वयं बिराजते हैं, शेष तीन दिशाओं में परमात्मा के तुल्य देवकृत जिनबिम्ब होते हैं, किंतु तीर्थंकर के प्रभाव से ऐसा लगता है मानो साक्षात् परमात्मा ही धर्मोपदेश दे रहे हों।

२३. समवसरण के रत्न, सुवर्ण और रजतमय तीनों प्राकार क्रमशः वैमानिक, ज्योतिषी एवं भुवनपति देवों के द्वारा निर्मित होते हैं।

२४. नवनीत के समान मृदु-स्पर्श वाले **नौ स्वर्ण**-कमल भगवान् के चरण रखने **के लिए** आगे पीछे प्रदक्षिणाकार में चलते रहते हैं। **दो पर** तो भगवान् चरण रखते हैं **तथा शेष** पीछे चलते हैं। जो सबसे पीछे है वही सबसे आगे आता है।

२५. जहाँ-जहाँ भगवान् विचरण करते हैं वहाँ-वहाँ काँटे अधोमुख हो जाते हैं।

२६. भगवान् के केश, रोम, नख सदा अवस्थित ही रहते हैं (बढ़ते नहीं है)।

२७. पाँच इन्द्रियों के विषय सदा अनुकूल मिलते हैं।

२८. जहाँ-जहाँ भगवान् विचरण करते हैं वहाँ-वहाँ धूलि का शमन करने के लिए गंधोदक की वृष्टि होती है।

२९. वसन्त आदि छः ही ऋतुयें शरीर के अनुकूल होती है तथा प्रत्येक ऋतु में विकसित होने वाले फूलों की समृद्धि से मनोहर होती है।

३०. पाँच वर्ण के फूलों की वृष्टि होती है।

३१. पक्षीगण प्रदक्षिणा देते हुए उड़ते हैं।

३२. संवर्तक वायु के द्वारा देवता योजन प्रमाण क्षेत्र को विशुद्ध रखते हैं।

३३. जहाँ भगवान् विचरण करते हैं, वहाँ वृक्षों की शाखाएँ इस प्रकार झुक जाती हैं मानों वे परमात्मा को प्रणाम कर रही हों।

३४. जहाँ-जहाँ भगवान् विचरण करते हैं, वहाँ-वहाँ मेघ गर्जना की तरह गंभीर व भुवनव्यापी घोषवाली देवदुन्दुभि बजती है।

पूर्वोक्त १९ अतिशय देवकृत होते हैं। यहाँ कुछ अतिशय समवायांग से असम्मत हैं। वे अन्य मतानुसार समझना ॥ ४४१-४५० ॥

४१ द्वार : अठारह दोष—

अन्नाण कोह मय माण लोह माया रई य अरई य।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निद्दा सोय अलीयवयण चोरिया मच्छर भया य ॥४५१ ॥
पाणिवह पेम कीलापसंग हासा य जस्स इय दोसा ।
अट्ठारसवि पणट्ठा नमामि देवाहिदेवं तं ॥४५२ ॥

—गाथार्थ—

अठारह दोष—**अज्ञान, क्रोध, मद, मान, लोभ, माया, रति, अरति, निन्दा, शोक, असत्यभाषण, चोरी, मात्सर्य, भय, हिंसा, प्रेम, क्रीड़ा, हास्य— जिनके ये अट्ठारह दोष नष्ट हो चुके हैं ऐसे देवाधिदेव को मैं नमस्कार करता हूँ**॥४५१-४५२ ॥

—विवेचन—

१. अज्ञान	—	संशय-विपर्यय और अनध्यवसाय रूप
२. क्रोध	—	रोष
३. मद	—	जाति आदि आठ प्रकार का अभिमान
४. मान	—	आग्रही बनना अथवा किसी के उचित कथन को नहीं मानन
५. लोभ	—	लालसा
६. माया	—	दंभ
७. रति	—	इष्ट-प्रीति
८. अरति	—	अनिष्ट संयोगजन्य दुःख
९. निद्रा	—	नींद
१०. शोक	—	चित्त उद्वेग
११. अलीक वचन	—	असत्य भाषण
१२. चोरी	—	चुराना
१३. मत्सर	—	दूसरों के उत्कर्ष को नहीं सहना
१४. भय	—	डर
१५. हिंसा	—	जीव वध
१६. प्रेम	—	विशेष स्नेह
१७. क्रीड़ा	—	कुतूहल, खेल-कूद
१८. हास्य	—	हँसी-मजाक

पूर्वोक्त अठारह दूषणों से रहित जिनेश्वर को मैं नमन करता हूँ।

संशय = वस्तु के विषय में सन्देह, विपर्यय = वस्तु का विपरीत ज्ञान,

अनध्यवसाय = विषय का अस्पष्ट ज्ञान ॥ ४५१-४५२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४२ द्वार : अर्हत् चतुष्क—

जिणनामा नामजिणा केवलिणो सिवगया य भावजिणा।
ठवणजिणा पडिमाओ दव्वजिणा भाविजिणजीवा ॥४५३॥

—गाथार्थ—

अरिहंत के ४ निक्षेप—**जिनेश्वर का नाम, नामजिन है। केवलज्ञानी और मुक्त जिन भावजिन है। जिनेश्वर देव की प्रतिमा स्थापनाजिन है। जिनेश्वर देव के जीव द्रव्यजिन है।।४५३॥**

—विवेचन—

१. नामजिन २. स्थापनाजिन ३. द्रव्यजिन और ४. भावजिन।

१. तीर्थंकरों के नाम जैसे ऋषभ, अजित आदि "नामजिन" कहलाते हैं।
२. अष्टमहाप्रातिहार्यादि समृद्धि से युक्त, केवलज्ञानी जिनेश्वरों की सुवर्ण, रजत, मोती, पाषाण और मणिमय मूर्तियाँ "स्थापनाजिन" कहलाती हैं।
३. भावी तीर्थंकर जैसे श्रेणिक आदि के जीव "द्रव्यजिन" कहलाते हैं।
४. अष्टमहाप्रातिहार्यादि समृद्धि से युक्त, केवलज्ञानी भगवन्त तथा मोक्षपद को प्राप्त हुए अरिहंत भगवन्त "भावजिन" कहलाते हैं॥ ४५३॥

४३ द्वार : निष्क्रमण तप—

सुमइत्थ निच्चभत्तेण निग्गओ वासुपुज्ज (जिणो) चउत्थेण।
पासो मल्लीवि य अट्ठमेण सेसा उ छट्ठेणं ॥४५४॥

—गाथार्थ—

जिनेश्वरों का दीक्षाकालीन तप—**सुमतिनाथ प्रभु एकाशन....वासुपूज्यस्वामी चतुर्थभक्त...पार्श्वनाथ, मल्लिनाथ अट्ठम तप तथा शेष तीर्थंकर छट्ठतप करके दीक्षित हुए।।४५४॥**

—विवेचन—

१. सुमतिनाथ नित्यभक्त २. वासुपूज्य चतुर्थभक्त
३. पार्श्वनाथ अष्टमभक्त ४. मल्लिनाथ अष्टम भक्त
५. शेष २० जिनेश्वरों ने छट्ठभक्त से दीक्षा ग्रहण की थी॥ ४५४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४४. द्वार : केवलज्ञान तप—

अट्ठमभत्तवसाणे पासोसहमल्लिरिट्ठनेमीणं ।
वसुपुज्जस्स चउत्थेण छट्ठुब्भत्तेण सेसाणं ॥४५५ ॥

—विवेचन—

जिनेश्वरों का केवलज्ञानकालीन तप—

ज्ञानतप—किस तीर्थंकर परमात्मा को कितने भक्त के पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त हुआ ?

१-४. ऋषभदेव, मल्लिनाथ, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ को अष्टम भक्त के पश्चात्
५. वासुपूज्य को चतुर्थ भक्त के पश्चात्
१९. शेष १९ तीर्थंकरों को छट्ठ भक्त के पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त हुआ ॥ ४५५ ॥

४५. द्वार : निर्वाण तप—

निव्वाणं संपत्तो चउदसभत्तेण पढमजिणचंदो ।
सेसा उ मासिएणं वीरजिणिंदो य छट्ठेणं ॥४५६ ॥

—विवेचन—

जिनश्वरों का निर्वाणकालीन तप—

निर्वाण तप—किस तीर्थंकर परमात्मा ने कितने भक्त करके निर्वाण प्राप्त किया ?

१.	ऋषभदेव	चौदह भक्त (छः उपवास) के पश्चात्
२.	वीरजिन	छट्ठ भक्त के पश्चात्
१२.	शेष २२ जिन	तीस उपवास के पश्चात् निर्वाण को प्राप्त हुए ॥ ४५६ ॥

४६. द्वार : भावी तीर्थंकर—

वीरवरस्स भगवओ वोलिय चुलसीइवरिससहसेहिं ।
पउमाईचउवीसं जह हुंति जिणा तहा थुणिमो ॥४५७ ॥
पढमं च पउमनाहं सेणियजीवं जिणेसरं नम्मिमो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बीयं च सूरदेवं वंदे जीवं सुपासस्स ॥४५८ ॥
तइयं सुपासनामं उदायिजीवं पणट्ठभववासं ।
वंदे सयंपभजिणं पुट्टिल्लजीवं चउत्थमहं ॥४५९ ॥
सव्वाणुभूइनामं दढाउजीवं च पंचमं वंदे ।
छट्ठं देवसुयजिणं वंदे जीवं च कित्तिस्स ॥४६० ॥
सत्तमयं उदयजिणं वंदे जीवं च संखनामस्स ।
पेढालं अट्ठमयं आणंदजियं नमंसामि ॥४६१ ॥
पोट्टिलजिणं च नवमं सुरकयसेवं सुनंदजीवस्स ।
सयकित्तिजिणं दसमं वंदे सयगस्स जीवंति ॥४६२ ॥
एगारसमं मुणिसुव्वयं च वंदामि देवईजीयं ।
बारसमं अममजिणं सच्चइजीवं जयपईवं ॥४६३ ॥
निकसायं तेरसमं वंदे जीवं च वासुदेवस्स ।
बलदेवजियं वंदे चउदसमं निप्पुलायजिणं ॥४६४ ॥
सुलसाजीवं वंदे पन्नरसमं निम्ममत्तजिणनामं ।
रोहिणिजीवं नमिमो सोलसमं चित्तगुत्तंति ॥४६५ ॥
सत्तरसमं च वंदे रेवइजीवं समाहिनामाणं ।
संवरमट्ठारसमं सयालिजीवं पणिवयामि ॥४६६ ॥
दीवायणस्स जीवं जसोहरं वंदिमो इगुणवीसं ।
कण्हजियं गयतण्हं वीसइमं विजयमभिवंदे ॥४६७ ॥
वंदे इगवीसइमं नारयजीवं च मल्लिनामाणं ।
देवजिणं बावीसं अंबडजीवस्स वंदेऽहं ॥४६८ ॥
अमरजियं तेवीसं अणंतविरियाभिहं जिणं वंदे ।
तह साइबुद्धजीवं चउवीसं भद्दजिणनामं ॥४६९ ॥
उस्सप्पिणिइ चउवीस जिणवरा कित्तिया सनामेहिं ।
सिरिचंदसूरिनामेहिं सुहयरा हुंतु सयकालं ॥४७० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—गाथार्थ—

भावी चौबीसी के जीव—**भगवान महावीर के निर्वाण के ८४००० वर्ष के पश्चात् पद्मनाभ आदि २४ तीर्थंकर जिस क्रम से होंगे उस क्रम से नामग्रहणपूर्वक मैं उनको नमस्कार करता हूँ ॥४५७ ॥**

श्री चन्द्रसूरि नामक आचार्यदेव के द्वारा नामोल्लेखपूर्वक स्तुति किये गये उत्सर्पिणी के चौबीस तीर्थंकर परमात्मा सदाकाल सुखदायक बनें ॥४७० ॥

—विवेचन—

सारांश यह है कि अवसर्पिणी के चतुर्थ आरे के ८९ पक्ष शेष रहने पर भगवान महावीर का निर्वाण हुआ था। तत्पश्चात् २१-२१ हजार वर्ष परिमाणवाले अवसर्पिणी के पाँचवें-छठे आरे तथा उत्सर्पिणी के पहले-दूसरे आरे एवं तीसरे आरे के ८९ पक्ष व्यतीत होने पर भावी चौबीसी के प्रथम तीर्थंकर श्री पद्मनाभ स्वामी का जन्म होगा ॥४५७ ॥

वर्तमान अवसर्पिणी के चौथे आरे के ८९ पक्ष शेष रहने पर भगवान महावीर का निर्वाण हुआ। भगवान् के निर्वाण के ८४००० वर्ष् पश्चात् (उत्सर्पिणी के तीसरे आरे के ८९ पक्ष बीतने पर) पद्मनाभ आदि भावि तीर्थंकर होंगे।

८४००० वर्ष की गणना — ४२००० वर्ष अवसर्पिणी के पाँचवे-छठे आरे के,
४२००० वर्ष उत्सर्पिणी के १-२ आरे के = ८४००० वर्ष हुए। यहाँ अवसर्पिणी के चतुर्थ आरे के ८९ पक्ष और उत्सर्पिणी के तीसरे आरे के ८९ पक्ष अधिक हैं किंतु अल्प-काल होने से इसकी अलग से विवक्षा नहीं की।

	भावी-जिन		जीव
१.	पद्मनाभ	—	श्रेणिक
२.	सुरदेव	—	सुपार्श्व (महावीर भगवान् के काका)
३.	सुपार्श्व	—	उदायि (कोणिक पुत्र)
४.	स्वयंप्रभ	—	पोट्टिलक
५.	सर्वानुभूति	—	दृढायु
६.	देवश्रुत	—	कीर्ति
७.	उदय	—	शंखश्रावक
८.	पेढ़ाल	—	आनन्द श्रावक
९.	पोट्टिल	—	सुनन्द
१०.	शतकीर्ति	—	शतक
११.	सुव्रत	—	देवकी
१२.	अमम	—	सत्यकि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३.	निष्कषाय	—	वासुदेव
१४.	निष्पुलाक	—	बलदेव
१५.	निर्मम	—	सुलसा
१६.	चित्रगुप्त	—	रोहिणी
१७.	समाधि	—	रेवती
१८.	संवर	—	शतालि
१९.	यशोधर	—	द्वीपायन
२०.	विजय	—	कृष्ण
२१.	मल्लि	—	नारद
२२.	देव	—	अम्बड़
२३.	अनन्तवीर्य	—	अमर
२४.	भद्रजिन	—	स्वातिबुद्ध

श्रीचन्द्रसूरि नामक आचार्यदेव के द्वारा उत्सर्पिणीकाल में होने वाले भावी तीर्थंकर परमात्मा की नामोल्लेखपूर्वक स्तुति की गई। वे परमात्मा सदाकाल सभी के लिये सुखदाता व शुभदाता बने।

भावी तीर्थंकरो के विषय में तथाविध परंपरा के अभाव में तथा अन्य शास्त्रों में अलग-अलग वर्णन होने के कारण विशेष वर्णन नहीं किया ॥ ४५७-४७० ॥

४७. द्वार : तीन लोक में सिद्ध—

चत्तारि उड्ढलोए दुवे समुद्दे तओ जले चेव।
बावीसमहोलोए तिरिए अट्ठुत्तरसयं तु ॥४७१ ॥

—गाथार्थ—

ऊर्ध्व-अधो एवं तिर्यक्लोक में सिद्ध होने वालों की संख्या—**ऊर्ध्वलोक में चार, समुद्र में दो, शेष जल में तीन, अधोलोक में बावीस, तथा तिर्यक् लोक में एक समय में एक सौ आठ सिद्ध होते हैं ॥४७१ ॥**

—विवेचन—

लोक संख्या	एक समय में उत्कृष्ट सिद्ध संख्या
१. ऊर्ध्व लोक में	४
२. समुद्र में	२
३. द्रव, नदी, वाव आदि में	३
४. अधोलोक में	२२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. तिर्यग्लोक में	१०८

सिद्धप्राभृत के मतानुसार—

१. जल में	४
२. ऊर्ध्व लोक में	४
३. समुद्र में	२
४. अधोलोक में	२० पृथक्त्व
५. तिर्यग्लोक में	१०८

"चत्तारि उड्ढलोए जले चउक्कं दुवे समुद्दंमि।

अट्ठसयं तिरिलोए, वीसपुहुत्तं अहोलोए॥"

सिद्धप्राभृत की टीका में "वीसपुहुत्तं" का अर्थ दो बीस अर्थात् चालीस किया है क्योंकि पृथक्त्व का अर्थ दो से नौ है, यहाँ दो ही लिये हैं अतः यहाँ अधो-लोक में सिद्ध संख्या ४० है।

सिद्धप्राभृत के अनुसार अधोलोक में यदि सिद्ध संख्या ४० ही है तब तो यहाँ "वीसपुहुत्तं" के स्थान पर "दोवीसमहोलोए" यही पाठ देना उपयुक्त होगा॥ ४७२॥

४८. द्वार : एक समय में सिद्ध—

एक्को व दो व तिन्नि व अट्ठसयं जाव एक्कसमयम्मि।
मणुयगईए सिज्झइ संखाउयवीयरागा उ॥४७२॥

—गाथार्थ—

एक समय में सिद्ध होने वालों की संख्या—**मनुष्य गति में संख्यातावर्ष की आयु वाले वीतराग भगवन्त एक समय में एक...दो...तीन यावत् एक सौ आठ सिद्ध होते हैं॥४७२॥**

—विवेचन—

वीतराग अवस्था को प्राप्त करने वाले जीव एक समय में जघन्यतः १..... २.....३....., उत्कृष्टतः १०८ व मध्यमतः ३ से १०७ सिद्ध होते हैं।

संख्यातावर्ष की आयुष्य वाले मनुष्य ही सिद्ध होते हैं। असंख्याता वर्ष की आयुष्यवाले मनुष्य या अन्यगति के जीव सिद्ध नहीं होते॥ ४७२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४९. द्वार : सिद्ध-भेद—

तित्थयर अतित्थयरा तित्थ सलिंगऽन्नलिंग थी पुरिसा।
गिहिलिंग नपुंसक अतित्थसिद्ध पत्तेयबुद्धा य ॥४७३॥
एग अणेग सयंबुद्ध बुद्धबोहिय पभेयओ भणिया।
सिद्धंते सिद्धाणं भेया पन्नरससंखत्ति ॥४७४॥

—गाथार्थ—

सिद्धों के १५ भेद—**१. तीर्थंकर सिद्ध २. अतीर्थंकर सिद्ध ३. तीर्थसिद्ध ४. स्वलिंगसिद्ध ५. अन्यलिंग सिद्ध ६. स्त्रीलिंगसिद्ध ७. पुरुषलिंगसिद्ध ८. गृहस्थलिंगसिद्ध ९. नपुंसकलिंग सिद्ध १०. अतीर्थसिद्ध ११. प्रत्येकबुद्धसिद्ध १२. एकसिद्ध १३. अनेकसिद्ध १४. स्वयंबुद्धसिद्ध १५. बुद्धबोधितसिद्ध—इस प्रकार सिद्धान्त में सिद्धों के १५ भेद बताये हैं॥४७३-४७४॥**

—विवेचन—

१. तीर्थंकर सिद्ध	—	तीर्थंकर अवस्था में सिद्ध होने वाले
२. अतीर्थंकर सिद्ध	—	सामान्य केवली अवस्था में सिद्ध होने वाले
३. तीर्थ सिद्ध	—	संघ व प्रथम गणधर की स्थापना के पश्चात् सिद्ध होने वाले
४. अतीर्थ सिद्ध	—	संघ की स्थापना से पूर्व सिद्ध होने वाले जैसे मरुदेवी माता
५. स्वलिंगसिद्ध	—	साधुवेष में सिद्ध होने वाले
६. अन्यलिंगसिद्ध	—	परिव्राजक आदि के वेष में सिद्ध होने वाले

जो अन्य लिंगी, केवलज्ञान होने के बाद तुरंत काल कर जाता है, वही अन्यलिंग सिद्ध हो सकता है, किंतु जो केवलज्ञान के बाद आयु-कर्म अधिक होने से काल नहीं करता वह अवश्य साधु-वेष धारण करता है और अन्त में स्वलिंग सिद्ध ही बनता है।

७. स्त्रीलिंग सिद्ध	—	शारीरिक दृष्टि से स्त्रीवेद में सिद्ध।

स्त्रीलिंग तीन प्रकार से होता है—

(१) स्त्रीवेदकर्म से जन्य पुरुष के संभोग की इच्छा
(२) शारीरिक रचना तथा
(३) स्त्री की वेशभूषा पहिनने से।

यहाँ शारीरिक रचनारूप स्त्रीलिंग का ग्रहण किया गया है। अन्य दो का नहीं। कारण, वेदोदयजन्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्त्रीलिंग में सिद्धि नहीं हो सकती और स्त्री की वेशभूषा अप्रामाणिक है। अतः स्त्री-शरीर से सिद्ध होनेवाला ही स्त्रीलिंग सिद्ध कहलाता है।

८. पुरुषलिंग सिद्ध	—	शारीरिक दृष्टि से पुरुषवेद में सिद्ध।
९. गृहलिंग सिद्ध	—	गृहस्थ वेष में सिद्ध होने वाले जैसे माता मरुदेवी, भरत आदि
१०. नपुंसकलिंग सिद्ध	—	शारीरिक दृष्टि से नपुंसक वेद में सिद्ध
११. प्रत्येकबुद्ध सिद्ध	—	किसी वस्तु विशेष को देखने से विरक्त बनकर सिद्ध होने वाले
१२. स्वयंबुद्ध सिद्ध	—	स्वतः बोध प्राप्त कर सिद्ध होने वाले
१३. बुद्धबोधित सिद्ध	—	आचार्य आदि के द्वारा बोध पाकर सिद्ध होने वाले
१४. एक सिद्ध	—	एक समय में अकेले ही सिद्ध होने वाले
१५. अनेकसिद्ध	—	एक समय में अनेकों के साथ सिद्ध होने वाले

तीर्थ का विच्छेद होने के बाद सिद्ध होने वाले आत्मा का समावेश अतीर्थ सिद्ध में होता है। सुविधिनाथ आदि परमात्मा के बाद जो तीर्थ का विच्छेद हुआ उस काल में जो आत्मा जाति-स्मरणादि के द्वारा विरक्त होकर सिद्ध बने, वे सभी अतीर्थ सिद्ध हैं।

प्रश्न—सिद्ध के पूर्वोक्त १५ प्रकारों का समावेश तीर्थ सिद्ध और अतीर्थ सिद्ध इन दो भेदों में ही हो सकता है, १५ भेद कहने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—यद्यपि पूर्वोक्त दो भेदों में सिद्ध के सभी भेदों का समावेश हो सकता है तथापि उन भेदों से शेष १३ भेदों का परिज्ञान सहज में होना अशक्य है अतः सहज परिज्ञान के लिये अलग-अलग भेदों को बताना आवश्यक है॥ ४७३-४७४॥

५०. द्वार : अवगाहना—

दो चेवुक्कोसाए चउर जहन्नाए मज्झिमाए उ।
अट्ठाहियं सयं खलु सिज्झइ ओगाहणाइ तहा॥४७५॥

—गाथार्थ—

अवगाहना में सिद्ध—**उत्कृष्ट अवगाहना वाले जीव एक समय में दो सिद्ध होते हैं। जघन्य अवगाहना वाले चार तथा मध्यम अवगाहना वाले एक सौ आठ सिद्ध होते हैं॥४७५॥**

—विवेचन—

उत्कृष्ट अवगाहना वाले आत्मा एक समय में = २ सिद्ध होते हैं।

उत्कृष्ट अवगाहना = ५०० धनुष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जघन्य अवगाहना वाले आत्मा एक समय में = ४ सिद्ध होते हैं।
जघन्य अवगाहना = २ हाथ
मध्यम अवगाहना वाले आत्मा एक समय में = १०८ सिद्ध होते हैं।
मध्यम अवगाहना = जघन्य से उत्कृष्ट के बीच की।

प्रश्न—नाभिकुलकर की अवगाहना ५२५ धनुष की थी तथा कुलकर की पत्नी की अवगाहना कुलकर की अवगाहना के समान होने से, जैसा कि कहा है—"संघयणं संठाणं उच्चत्तं चेव कुलगरेहिं समं" मरुदेवी की अवगाहना भी ५२५ धनुष की थी। वे भी सिद्ध बनी हैं अतः सिद्ध होने वालों की उत्कृष्ट अवगाहना ५०० धनुष की कैसे संगत होगी?

उत्तर—उत्तम संस्थान वाली स्त्रियाँ उत्तम संस्थान वाले पुरुषों की अपेक्षा किंचित् न्यून प्रमाण वाली होती हैं अतः मरुदेवी की अवगाहना ५०० धनुष की ही सिद्ध होती है। इससे मरुदेवी के सिद्धिगमन में कोई विरोध नहीं आता।

मरुदेवी हाथी पर सिद्ध हुई थी उस समय उनका शरीर संकुचित होने से अधिक अवगाहना की संभावना नहीं रहती अथवा आगम में उत्कृष्ट अवगाहना जो ५०० धनुष की कही गई है वह बाहुल्य की अपेक्षा से समझना चाहिये, अतः मरुदेवी के समय में सिद्धिगमन की उत्कृष्ट अवगाहना ५२५ धनुष की भी हो सकती है।

क्योंकि मतान्तर से मरुदेवी की अवगाहना नाभिकुलकर के तुल्य है। जैसा कि **सिद्धप्राभृत** की टीका में कहा है—"मरुदेवी की अवगाहना मतान्तर से नाभिकुलकर के समान है।" **सिद्धप्राभृत** सूत्र में भी कहा है कि—

ओगाहणा जहन्ना, रयणीदुगं अहपुणाइ उक्कोसा।
पंचेव धणुसयाइं, धणुह पुहुत्तेण अहियाइं॥

सिद्ध होनेवालों की जघन्य अवगाहना दो हाथ की है। उत्कृष्ट अवगाहना पाँच सौ धनुष व धनुषपृथक्त्व अधिक पाँच सौ धनुष की है। यहाँ पृथक्त्व का अर्थ बहुत्व है और बहुत्व से पच्चीस धनुष लिया गया है अतः उत्कृष्ट अवगाहना ५२५ धनुष की भी हो सकती है॥ ४७५॥

५१. द्वार : लिंग-सिद्ध—

इह चउरो गिहिलिंगे दसऽन्नलिंगे सयं च अट्ठहियं।
विन्नेयं च सलिंगे समएणं सिज्झमाणाणं॥४७६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—गाथार्थ—

गृहिलिंग अन्यलिंग-स्वलिंग सिद्ध की संख्या—**गृहस्थलिंग में चार, अन्यलिंग में दस, स्वलिंग में एक सौ आठ एक समय में सिद्ध होते हैं ॥४७६ ॥**

—विवेचन—

एक समय में गृहीलिंग सिद्ध	—	४ उत्कृष्टतः
एक समय में अन्यलिंग सिद्ध	—	१० उत्कृष्टतः
एक समय में स्वलिंगसिद्ध	—	१०८ उत्कृष्टतः ॥ ४७६ ॥

५२. द्वार : निरन्तर-सिद्ध—

बत्तीसाई सिज्झंति अविरयं जाव अट्ठअहियसयं ।
अट्ठसमएहिं एक्केक्कूणं जावेक्कसमयंमि ॥४७७ ॥
बत्तीसा अडयाला सट्ठी बावत्तरी य बोद्धव्वा ।
चुलसीई छन्नउई दुरहियमट्ठोत्तरसयं च ॥४७८ ॥

—गाथार्थ—

निरन्तर सिद्धिगमन की संख्या—**उत्कृष्टतः ८ समय तक निरन्तर सिद्ध होते हैं। तत्पश्चात् निश्चितरूप से सिद्धिगमन का अन्तर पड़ता है। इसमें एक-एक समय में क्रमशः ३२, ४८, ६०, ७२, ८४, ९६, १०२ और १०८ सिद्ध होते हैं ॥४७७-४७८ ॥**

—विवेचन—

१ से ३२..... ८ समय तक निरन्तर सिद्ध होते हैं।

पहले समय में जघन्यतः १-२, उत्कृष्टतः ३२ सिद्ध होते हैं।
दूसरे समय में जघन्यतः १-२, उत्कृष्टतः ३२ सिद्ध होते हैं।
तीसरे समय में जघन्यतः १-२, उत्कृष्टतः ३२ सिद्ध होते हैं।
इस प्रकार ८ समय तक निरन्तर सिद्ध होते हैं। बाद में अवश्य अन्तर पड़ता है।

३३ से ४८.....निरन्तर ७ समय तक सिद्ध होते हैं।

पहले समय में जघन्यतः ३३-३४, यावत् ४८ तक सिद्ध होते हैं।
दूसरे समय में जघन्यतः ३३-३४, यावत् ४८ तक सिद्ध होते हैं।
तीसरे समय में जघन्यतः ३३-३४, यावत् ४८ तक सिद्ध होते हैं।
इस प्रकार ७ समय तक निरन्तर सिद्ध होते हैं। बाद में अवश्य अन्तर पड़ता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४९ से ६०.....६ समय तक निरन्तर सिद्ध होते हैं।

पहले समय में ४९-५०, यावत् ६० सिद्ध होते हैं।

दूसरे समय में ४९-५०, यावत् ६० सिद्ध होते हैं।

तीसरे समय में ४९-५०, यावत् ६० सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार ६ समय तक निरन्तर सिद्ध होते हैं। बाद में अवश्य अन्तर पड़ता है।

६१ से ७२ पर्यन्त..... ५ समय तक निरन्तर सिद्ध होते हैं।

पहले समय में ६१-६२, यावत् ७२ सिद्ध होते हैं।

दूसरे समय में ६१-६२, यावत् ७२ सिद्ध होते हैं।

तीसरे समय में ६१-६२, यावत् ७२ सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार ५ समय तक निरन्तर सिद्ध होते हैं। बाद में अवश्य अन्तर पड़ता है।

७३ से ८४ पर्यन्त..... ४ समय तक निरन्तर सिद्ध होते हैं।

पहले समय में ७३-७४, यावत् ८४ सिद्ध होते हैं।

दूसरे समय में ७३-७४, यावत् ८४ सिद्ध होते हैं।

तीसरे समय में ७३-७४, यावत् ८४ सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार ४ समय तक निरन्तर सिद्ध होते हैं। बाद में अवश्य अन्तर पड़ता है।

८५ से ९६ पर्यन्त..... ३ समय तक निरन्तर सिद्ध होते हैं।

पहले समय में ८५-८६, यावत् ९६ सिद्ध होते हैं।

दूसरे समय में ८५-८६, यावत् ९६ सिद्ध होते हैं।

तीसरे समय में ८५-८६, यावत् ९६ सिद्ध होते हैं। बाद में अवश्य अन्तर पड़ता है।

९७ से १०२ पर्यन्त..... २ समय तक निरन्तर सिद्ध होते हैं।

पहले समय में ९७-९८, यावत् १०२ सिद्ध होते हैं।

दूसरे समय में ९७-९८, यावत् १०२ सिद्ध होते हैं। बाद में अवश्य अन्तर पड़ता है।

१०३ से १०८ ..... १ समय में सिद्ध होते हैं।

बाद में अवश्य अन्तर पड़ता है।

मुक्तिगमन का जघन्य अन्तर .....१ .....२ .....३ आदि समय का होता है।

उत्कृष्टतः अन्तर ६ मास का है। वहाँ तक कोई भी सिद्ध नहीं होता है॥ ४७७-४७८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५३. द्वार : तीन वेद सिद्ध—

वीसित्थीगाउ पुरिसाण अट्ठसयं एगसमयओ सिज्झे ।
दस चेव नपुंसा तह उवरिं समएण पडिसेहो ॥४७९ ॥
वीस नरकप्पजोइस पंच य भवणवण दस य तिरियाणं ।
इत्थीओ पुरिसा पुण दस दस सव्वेऽवि कप्पविणा ॥४८० ॥
कप्पट्ठसयं पुहवी आऊ पंकप्पभाउ चत्तारि ।
रयणाइसु तिसु दस दस छ तरुणमणंतरं सिज्झे ॥४८१ ॥

—गाथार्थ—

स्त्री पुरुष नपुंसकलिंग में सिद्ध संख्या—**एक समय में उत्कृष्ट से स्त्रियाँ २०, पुरुष १०८ और नपुंसक १० सिद्ध होते हैं। इससे अधिक सिद्ध नहीं होते। विशेष यह है कि वैमानिक या ज्योतिष में से आगत स्त्रियाँ ही २० सिद्ध होती हैं, पर भवनपति व्यंतर में से आगत स्त्रियाँ ५ तथा तिर्यंच में से आगत स्त्रियाँ १० ही सिद्ध होती हैं। नरक, मनुष्य, ज्योतिष भवनपति, व्यन्तर एवं तिर्यंच में से आगत पुरुष एक समय में उत्कृष्ट से १० सिद्ध होते हैं। वैमानिक देव में से आगत पुरुष एक समय में १०८ सिद्ध होते हैं। पृथ्वीकाय, अप्काय तथा पंकप्रभा नरक में से आगत पुरुष एक समय में ४ सिद्ध होते हैं। रत्नप्रभा आदि प्रथम ३ नरक में से आगत पुरुष १० सिद्ध होते हैं और वनस्पतिकाय से आगत पुरुष छः सिद्ध होते हैं।॥४७९-४८१.॥**

—विवेचन—

१. पुरुषवेद में.....एक समय में.....१०८ सिद्ध होते हैं।
२. स्त्रीवेद में .....एक समय में.....२० सिद्ध होते हैं।
३. नपुंसकवेद में.....एक समय में.....१० सिद्ध होते हैं।

इसके बाद समान लिंग वालों की सिद्धि का अवश्य अन्तर पड़ता है।

किस गति से निकले हुए जीव एक समय में उत्कृष्टतः कितने सिद्ध होते हैं?

१. मनुष्य स्त्री में से निकले हुए	२०सिद्ध
२. ज्योतिषी, सौधर्म, ईशान देवलोक की देवी में से निकले हुए	२०सिद्ध
३. दश भवनपति तथा बत्तीस व्यन्तरनिकाय की देवी में से निकले हुए	५-५ सिद्ध
४. पंचेन्द्रिय तिर्यंच स्त्री में से निकले हुए	१०सिद्ध
५. भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी, मनुष्य व तिर्यंच पुरुष में से निकले हुए	१०सिद्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. वैमानिक देवता में से निकलकर पुरुष बने हुए	१०८ सिद्ध
७. पृथ्वीकाय, अप्काय व पंकप्रभा से निकले हुए	४-४ सिद्ध
८. रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा से निकले हुए	१० सिद्ध
९. धूमप्रभा, तमप्रभा व तमस्तमप्रभा से निकले हुए	सिद्ध नहीं होते तथास्वभावात्।
१०. वनस्पतिकाय से निकले हुए	६ सिद्ध

तेउ-वायु से निकले हुए आत्मा अनन्तर भव में मनुष्य नहीं बन सकते, अतः उनके सिद्धिगमन का प्रश्न ही नहीं उठता। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, और चतुरिन्द्रिय भी तथाविध स्वभाव के कारण अनन्तर भव में मोक्ष नहीं जाते क्योंकि वे मरकर मनुष्य नहीं बनते।

प्रज्ञापनापद में भी यही कहा है— जघन्यतः १-२-३ **सिद्ध** होते हैं।

सिद्धप्राभृत के मतानुसार—

देवगति के सिवाय अन्य तीनों गतियों में से आने वाले आत्मा १०....१० सिद्ध होते हैं।

कहा है—"सेसाण गईण दसदसंगति।" (गाथा—४८) तत्त्वं तु श्रुतविदो विदन्ति॥

यहाँ पुरुषवेदी देव आदि में से निकलकर कुछ जीव दूसरे भव में पुरुष, स्त्री या नपुंसक बनते हैं। इस प्रकार स्त्रीवेद और नपुंसकवेद से निकलने वालों की भी त्रिभंगी बनती है। अतः तीनों वेदों के कुल मिलाकर ९ भांगे बनते हैं। इनमें से—

१. देव में से निकलकर पुरुष बनने वाले एक समय में	=१०८ सिद्ध होते हैं।
२. मनुष्य या तिर्यंच पुरुष में से निकलकर पुरुष बनने वाले..... एक समय में	=१०....१० सिद्ध होते हैं।
३. चारों गति के पुरुष में से स्त्री तथा नपुंसक बनने वाले	१०....१० सिद्ध होते हैं
४. चारों गति की स्त्री में से निकलकर पुरुष, स्त्री और नपुंसक बनने वाले.....	१०....१० सिद्ध होते हैं।
५. चारों गति के नपुंसक में से पुरुष, स्त्री और नपुंसक बनने वाले	१०....१० सिद्ध होते हैं।

"वैमानिक, ज्योतिष और मनुष्य स्त्री में से आये हुए पुरुष २० सिद्ध होते हैं" यह कथन तीनों वेदों की अपेक्षा से समझना अर्थात् वैमानिक, ज्योतिष और मनुष्य स्त्री में से निकलकर पुरुष, नपुंसक और स्त्री बने हुए सम्मिलित २० सिद्ध होते हैं।

"स्त्रीलिंग में २० सिद्ध होते हैं" यह कथन तीनों लिंगों में से निकलकर स्त्री बने हुए की अपेक्षा से समझना।

१. नन्दनवन में एक समय में ४ सिद्ध होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. प्रत्येक विजय में एक समय में २० सिद्ध होते हैं।

३. कर्मभूमि, अकर्मभूमि, कूट, पर्वत पर एक समय में १०-१० सिद्ध होते हैं। (संहरण की अपेक्षा से)

४. संहरण की अपेक्षा से पंडकवन में एक समय में २ सिद्ध होते हैं।

५. १५ कर्मभूमि में से प्रत्येक में एक समय में १०८ सिद्ध होते हैं।

काल की अपेक्षा से सिद्ध–

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के तीसरे व चौथे आरे में १०८ सिद्ध होते हैं।
अवसर्पिणी के पाँचवें आरे में २० सिद्ध होते हैं।
उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी के शेष आरों में १०-१० सिद्ध होते हैं।
यह संहरण की अपेक्षा से समझना चाहिये।
उत्सर्पिणी के पाँचवे आरे में तीर्थ का अभाव होने से कोई भी सिद्ध नहीं होता
॥ ४७९-४८१ ॥

५४ द्वार : संस्थान–

दीहं वा हस्सं वा जं संठाणं तु आसि पुव्वभवे।
तत्तो तिभागहीणा सिद्धाणोगाहणा भणिया ॥४८२ ॥
जं संठाणं तु इहं भवं चयंतस्स चरिमसमयंमि।
आसीय पएसघणं तं संठाणं तहिं तस्स ॥४८३ ॥
उत्ताणओ य पासिल्लओ य ठियओ निसन्नओ चेव।
जो जह करेइ कालं सो तह उववज्जए सिद्धो ॥४८४ ॥

—गाथार्थ—

सिद्धों का संस्थान—दीर्घ अथवा ह्रस्व जैसा संस्थान चरमभव में होता है उसकी अपेक्षा $\frac{१}{३}$ भाग न्यून संस्थान सिद्धावस्था में होता है॥४८२॥

मनुष्यभव में जितना संस्थान होता है वह अन्तिम समय में काययोग का त्याग करते हुए, आत्मप्रदेशों का 'घन' हो जाने से मूल अवगाहना की अपेक्षा त्रिभागन्यून हो जाता है। बस लोकाग्र पर स्थित सिद्धों का यही संस्थान (आकार) होता है॥४८३॥

आगे पीछे झुके हुए, सोते-सोते, खड़े-खड़े अथवा बैठे-बैठे, जो जीव जिस स्थिति में निर्वाण प्राप्त करता है सिद्धावस्था में वह उसी स्थिति में उत्पन्न होता है॥४८४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

संस्थान = आकार। सिद्ध होने के पश्चात् आत्मप्रदेशों की रचना-अवस्थान सिद्धों का संस्थान है।

भव = शरीर। कर्मपरवश आत्मा जिसमें उत्पन्न होती है वह शरीर। मनुष्यभव में जिस आत्मा का जितना शरीर प्रमाण होता है, सिद्धावस्था में उसका संस्थान, उसकी अपेक्षा $\frac{१}{३}$ भाग न्यून होता है। जैसे, ५०० धनुष की अवगाहना वाले मनुष्य का सिद्धावस्था में संस्थान ३३३-$\frac{१}{३}$ धनुष का रहता है। दो हाथ की जघन्य अवगाहना वाले मनुष्य का संस्थान सिद्धावस्था में १ हाथ ८ अंगुल होता है। क्योंकि सिद्धिगमन से पूर्व शरीर का त्याग करते समय शरीर के $\frac{१}{३}$ भाग में रहे हुए आत्मप्रदेशों से मुख, पेट, नाक आदि के छिद्रों को भरने की प्रक्रिया होती है अतः सिद्धों का संस्थान देह की अपेक्षा $\frac{२}{३}$ भाग का ही होता है।

सिद्धों का अवस्थान भिन्न-भिन्न आकार में होता है। जिस अवस्था में आत्मा सिद्धि प्राप्त करता है, उसी अवस्था में वह सिद्धरूप में रहता है जैसे कुछ आत्मा खड़े-खड़े ध्यान में मोक्ष जाते हैं तो वे वहाँ भी उसी अवस्था में विराजमान रहते हैं। कोई उत्तानाकार...कोई अर्धावनत...कोई बैठा हुआ तो कोई लेटा हुआ रहता है॥ ४८२-४८४॥

५५ द्वार : अवस्थान—

ईसिप्पब्भाराए उवरिं खलु जोयणस्स जो कोसो।
कोसस्स य छब्भाए सिद्धाणोगाहणा भणिया॥४८५॥
अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया।
इहं बोंदिं चइत्ताणं, तत्थ गंतूण सिज्झइ॥४८६॥

—गाथार्थ—

सिद्धशिला का वर्णन—**ईषत्प्राग्भारा नामक सिद्धशिला के ऊपरवर्ती योजन के $\frac{१}{४}$ भाग के छट्ठे भाग में सिद्धों की अवगाहना है। यहाँ काययोग का त्यागकर सिद्धात्मा, लोक के अग्रभाग पर अलोक को छूते हुए सिद्ध होते हैं॥४८५-४८६॥**

—विवेचन—

सर्वार्थसिद्ध विमान से १२ योजन ऊपर ४५ योजन विस्तार वाली (गोल होने से लंबाई-चौड़ाई समान है) "ईषतप्राग्भारा" नाम की "सिद्धशिला" है। यह शिला मध्य के आठ योजन क्षेत्र में आठ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योजन पहोली है। तत्पश्चात् चारों दिशा-विदिशा में एक-एक प्रदेश पहोलाई में कम होते-होते अंत में मक्खी की पाँख से भी अधिक पतली रह गई है। अन्त में उसकी पहोलाई अंगुल के असंख्यात भाग जितनी है। सिद्धशिला स्वरूप से श्वेतसुवर्णमयी, स्फटिकवत् निर्मल, ऊर्ध्वमुख छत्राकार, घी से भरे हुए कटोरे की तरह है। उसका आकार है—

- कुछ आचार्यों का मत है कि सर्वार्थसिद्ध विमान से १२ योजन ऊपर लोकान्त है।
- "सिद्धशिला" से १ योजन ऊपर लोकान्त है, ऊपर के एक योजन के अन्तिम कोस के ६ठे भाग में सिद्धात्मा विराजमान होते हैं। क्योंकि उसके आगे गतिसहायक धर्मास्तिकाय का अभाव है।
- शरीर का त्याग करके समयान्तर व प्रदेशान्तर को छुए बिना सिद्धात्मा यहाँ से जाकर सिद्धशिला पर विराजमान हो जाते हैं।
- १ कोस में २००० धनुष होते हैं। कोस का ६ठा भाग अर्थात् ३३३-$\frac{१}{२}$ धनुष होता है। सिद्धात्मा की अवस्थिति इतने ही देश में होती है। क्योंकि उनकी उत्कृष्ट अवगाहना भी इतनी ही है।
- सिद्ध परमात्मा अलोक को छूते हुए विराजमान रहते हैं। अलोक के कारण आगे नहीं जा सकते। स्खलित हो जाते हैं। यहाँ स्खलना का अर्थ है स्पर्श करते हुए रहना, नहीं कि पतन होना। जिन वस्तुओं का संबंध होता है, उन्हीं वस्तुओं का पतन होता है। सिद्धात्मा संबंधरहित होते हैं अतः उनका पतन भी नहीं हो सकता।
- ऐसे सिद्ध परमात्मा, अपुनरागमन स्वभाव वाले पंचास्तिकाय रूप लोक के अग्रभाग पर बिराजते हैं॥ ४८५-४८६ ॥

५६-५८ द्वारः अवगाहना—

तिण्णि सया तेत्तीसा धणुत्तिभागो य होइ बोद्धव्वो।
एसा खलु सिद्धाणं उक्कोसोगाहणा भणिया ॥४८७ ॥

—गाथार्थ—

सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना—**३३३ धनुष और एक धनुष का $\frac{१}{३}$ भाग परिमाण सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना कही गई है॥४८७॥**

—विवेचन—

- सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना ३३३-$\frac{१}{३}$ धनुष की है। जैसे, सिद्धिगमनयोग्य जीव की उत्कृष्ट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवगाहना ५०० धनुष की है। उसका तीसरा भाग १६६ धनुष, ६४ अंगुल है। सिद्धिगमन के समय शरीर के इतने भाग में उन प्रदेशों से मुख, पेट आदि के छिद्र भरे जाते हैं अतः शरीर का इतना भाग संकुचित हो जाता है। ५०० धनुष में से १६६ धनुष ६४ अंगुल कम करने पर उस समय का शरीरप्रमाण ३३३ $\frac{१}{३}$ धनुष ही शेष रहता है सिद्धिगमनयोग्य मरुदेवी माता आदि की उत्कृष्ट अवगाहना ५२५ धनुष की कहीं पर सुनी गई है, वह मतांतर समझना ॥ ४८७ ॥

चत्तारि य रयणीओ रयणि तिभागूणिया य बोद्धव्वा।
एसा खलु सिद्धाणं मज्झिमओगाहणा भणिया ॥४८८ ॥

—गाथार्थ—

सिद्धों की मध्यम अवगाहना—**४ हाथ एवं $\frac{१}{३}$ भाग न्यून एक हाथ की सिद्धों की मध्यम अवगाहना है ॥४८८ ॥**

—विवेचन—

४ हाथ व १६ अंगुल सिद्धों की मध्यम अवगाहना है। उदाहरणार्थ भगवान महावीर का शरीर प्रमाण ७ हाथ का है। उसे त्रिभागहीन करने पर ४ हाथ १६ अंगुल शेष रहते हैं। यह अवगाहना उपलक्षण है अतः उत्कृष्ट-जघन्य के बीच की संपूर्ण अवगाहना मध्यम समझना।

प्रश्न—आगम में सिद्धियोग्य जघन्य अवगाहना ७ हाथ की कही है। इसके अनुसार सिद्धों की जघन्य अवगाहना ४ हाथ व १६ अंगुल की होगी। यहाँ उसे मध्यम अवगाहना माना है। यह कैसे संगत होगा?

उत्तर—आगम में सिद्धियोग्य जघन्य अवगाहना ७ हाथ की कही वह तीर्थंकर की अपेक्षा से समझना अर्थात् तीर्थंकर जघन्य में जघन्य ७ हाथ की अवगाहना वाले ही होते हैं। पर सामान्यकेवली इससे न्यून अवगाहना वाले भी हो सकते हैं। उनकी अपेक्षा से पूर्वोक्त अवगाहना मध्यम ही है। अतः कोई असंगति नहीं है। यहाँ अवगाहना का विचार सामान्य सिद्धों की अपेक्षा से ही है, न कि केवल तीर्थंकरों की अपेक्षा से ॥ ४८८ ॥

एगा य होइ रयणी अट्ठेव य अंगुलाइ साहीया।
एसा खलु सिद्धाणं जहण्णओगाहणा भणिया ॥४८९ ॥

—गाथार्थ—

सिद्धों की जघन्य अवगाहना—**सिद्धों की जघन्य अवगाहना १ हाथ ८ अंगुल परिमाण कही गई है ॥४८९ ॥**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

सिद्धों की जघन्य अवगाहना १ हाथ ८ अंगुल की है। जघन्य से जघन्य सिद्धियोग्य अवगाहना २ हाथ की है। जैसे, कूर्मापुत्र आदि की। इसे त्रिभागहीन करने पर सिद्धावस्था में १ हाथ ८ अंगुल ही रहती है तथा ७ हाथ आदि की अवगाहना भी घाणी आदि में पीलते समय संकुचित हो जाती है, अतः उनकी अपेक्षा से भी यह अवगाहना घट सकती है ॥ ४८९ ॥

५९ द्वार : शाश्वत जिननाम—

सिरि उसहसेणपहु वारिसेण सिरिवद्धमाणजिणनाह।
चंदाणण जिण सव्वेवि भवहरा होह मह तुब्भे ॥४९० ॥

—विवेचन—

शाश्वत जिनप्रतिमाओं के नाम—

१. वृषभसेन
२. वारिषेण
३. वर्धमान
४. चन्द्रानन

ये चारों ही परमात्मा हमारे भव का नाश करने वाले हों ॥ ४९० ॥

६० द्वार : उपकरण-संख्या—

पत्तं पत्ताबंधो पायट्ठवणं च पायकेसरिया।
पडलाइं रयत्ताणं च गुच्छओ पायनिज्जोगो ॥४९१ ॥
तिन्नेव य पच्छागा रयहरणं चेव होइ मुहपोत्ती।
एसो दुवालसविहो उवही जिणकप्पियाणं तु ॥४९२ ॥
जिणकप्पियावि दुविह पाणीपाया पडिग्गहधरा य।
पाउरणमपाउरणा एक्केक्का ते भवे दुविहा ॥४९३ ॥
दुग तिग चउक्क पणगं नव दस एक्कारसेव बारसगं।
एए अट्ठ विगप्पा जिणकप्पे हुंति उवहिस्स ॥४९४ ॥
पुत्तीरयहरणेहिं दुविहो तिविहो य एक्ककप्पजुओ।
चउहा कप्पदुगेणं कप्पतिगेणं तु पंचविहो ॥४९५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुविहो तिविहो चउहा पंचविहोऽविह सपायनिज्जोगो ।
जायइ नवहा दसहा एक्कारसहा दुवालसहा ॥४९६ ॥
अहवा दुगं च नवगं उवगरणे हुंति दुन्नि उ विगप्पा ।
पाउरणवज्जियाणं विसुद्धं जिणकप्पियाणं तु ॥४९७ ॥
तवेण सुत्तेण सत्तेण एगत्तेण बलेण य ।
तुलणा पंचहा वुत्ता, जिणकप्पं पडिवज्जओ ॥४९८ ॥

—गाथार्थ—

जिनकल्पियों के उपकरण की संख्या—**पात्र, पात्रबंध, गुच्छे, पूँजणी, पड़ले, रजस्त्राण एवं पात्रस्थापन— ये सात प्रकार की पात्र सम्बन्धी उपधि है। ३ वस्त्र, रजोहरण एवं मुहपत्ति मिलाने से कुल १२ प्रकार की जिनकल्पियों की उपधि होती है ॥४९१-४९२ ॥**

जिनकल्पी के दो भेद हैं—(१) करपात्री एवं (२) पात्रधारी। दोनों के पुनः दो-दो भेद हैं— **(१) वस्त्रधारी और (२) वस्त्ररहित ॥४९३ ॥**

जिनकल्पियों के उपधि के २, ३, ४, ५, ९, १०, ११ और १२ ये आठ विकल्प होते हैं ॥४९४ ॥

मुहपत्ति और रजोहरण = २ उपधि। एक वस्त्रयुक्त करने पर = ३ उपकरण हुए। दो कल्पयुक्त करने पर = ४ उपकरण हुए। ३ कल्पयुक्त करने पर = ५ उपकरण हुए। २, ३, ४, और ५ प्रकार की उपधि को सप्तविध पात्र सम्बन्धी उपकरणों के साथ जोड़ने पर जिनकल्पी के क्रमशः ९, १०, ११ और १२ उपकरण होते हैं ॥४९५-४९६ ॥

वस्त्ररहित विशुद्ध जिनकल्पियों की अपेक्षा से उपकरण के दो (मुहपत्ति और रजोहरण) या नौ (मुहपत्ति, रजोहरण तथा सप्तविध पात्रनिर्योग) भेद होते हैं ॥ ४९७ ॥

जिनकल्प को स्वीकार करनेवाला आत्मा प्रथम तप, सूत्र (योग्य ज्ञानाभ्यास) , सत्त्व, एकत्त्व और बल—इन पाँच कसौटियों पर स्वयं को कसे पश्चात् जिनकल्प को स्वीकार करे ॥ ४९८ ॥

—विवेचन—

उपकरण = साधु के संयम में उपकारी वस्त्र पात्रादि उपधि। इसके दो भेद हैं—

(i) ओघ उपधि — नित्य उपयोग में आने वाले उपकरण।
(ii) औपग्रहिक उपधि — नित्य उपयोगी न होते हुए भी समय पर संयम साधना में सहायक बनने वाले उपकरण।

औघिक उपधि प्रमाण की दृष्टि से दो तरह की है—

१. गणना प्रमाण	२. प्रमाण-प्रमाण
(संख्या की अपेक्षा से) —	(लम्बाई चौड़ाई की अपेक्षा से)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. पात्र	—	उत्कृष्ट से गोलाई में तीन बेंत चार अंगुल। जघन्य से गोलाई में एक बेंत, शेष मध्यम।
१. पात्र-बंध (झोली)	—	पात्र के प्रमाणानुसार चौकोर अर्थात् गाँठ देने के बाद चार अंगुल छोर लटकते रहें, इतना बड़ा होना चाहिये।
१. पात्र-स्थापन	—	एक बेंत, ऊनी वस्त्र जिस पर पात्रे रखते हैं।
१. पात्र-केशरिका	—	पूँजणी, जिंससे पात्रों की प्रमार्जना की जाती है।
१. गोच्छक-कंबलखंड,	—	पात्र प्रमाण। जो झोली बांध लेने के बाद पात्रों पर बांधा जाता है।
१. पटल (पड़ला)	—	ढाई हाथ लम्बे, एक हाथ बारह अंगुल चौड़े अथवा शरीर और पात्र के प्रमाणानुसार।
१. रजस्त्राण	—	पात्र-प्रमाण अर्थात् पात्र को तिरछा लपेटने के बाद चार अंगुल अधिक लटकता रहे।
३. कल्प (२ सूती, १ ऊनी)	—	शरीर प्रमाण अर्थात् साढ़े तीन हाथ लम्बे और ढाई हाथ चौड़े। (चादर व कंबली)
१. रजोहरण	—	दांडी और दसी (फलियाँ) मिलकर = ३२ अंगुल लम्बा।
१. मुहपत्ती	—	एक बेंत, चार अंगुल चौकोर।

उत्कृष्टतः बारह प्रकार की जिनकल्पियों की उपधि होती है।

जिनकल्प = जिन के समान आचार वाले। ये पाणिपात्र (हाथ में भिक्षा ग्रहण करने वाले) और पात्रधर (पात्र में भिक्षा ग्रहण करने वाले) दो प्रकार के होते हैं—

१. पाणिपात्र — इसके दो भेद हैं—**(i)** सप्रावरणा व **(ii)** अप्रावरणा।

(i) सप्रावरणा (वस्त्रधारी) — ३, ४ व ५ उपधि वाले। जैसे मुहपत्ति, रजोहरण के साथ क्रमशः १-२-३ कल्प रखने से ३, ४, व ५ उपधियुक्त होते हैं।

- पूर्वोक्त तीनों ही अविशुद्ध जिनकल्पी हैं।

(ii) अप्रावरणा (निर्वस्त्र) — मुहपत्ति व रजोहरणमात्र उपधियुक्त।

- अल्प उपधिवाले होने से ये विशुद्ध जिनकल्पी हैं।

२. पात्रधर — ये भी सप्रावरणा व अप्रावरणा दो प्रकार के हैं :—

(i) सप्रावरणा (वस्त्रधारी) — १०, ११, व १२ उपधिवाले। जैसे मुहपत्ति, रजोहरण, ७ पात्र नियोग के साथ क्रमशः १, २, या ३ कल्प रखने से क्रमशः १०, ११, व १२ उपधिवाले होते हैं।

- ये अविशुद्ध जिनकल्पी हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ii) अप्रावरणा — मुहपत्ति, रजोहरण व ७ पात्रनियोंगयुक्त।
(निर्वस्त्र)

- अल्प उपधिधारी होने से ये विशुद्ध जिनकल्पी हैं।

जिनकल्प का परिकर्म—

परिकर्म = जिन के समान आचार स्वीकार करने की योग्यता अर्जित करना। परिकर्म करने के पश्चात् ही जिन कल्प स्वीकारा जा सकता है। इसके पाँच प्रकार हैं—

(i) तप — उपवास से लेकर यावत् छः महीने तक का तप करते हुए पीड़ित न बने तो ही जिनकल्प स्वीकारा जा सकता है।

(ii) सूत्र — नौ पूर्व का ऐसा अभ्यास होना चाहिये कि पश्चानुपूर्वी से भी उनका परावर्तन कर सके।

(iii) सत्त्व — मानसिक स्थैर्य। भयजनक शून्यघर, श्मशान आदि में कायोत्सर्ग ध्यान में खड़ा रहे। उपसर्ग, परीषह आने पर भी अक्षुब्ध रहे, ऐसा व्यक्ति ही जिन-कल्प स्वीकार कर सकता है।

(iv) एकत्व — एकाकी विचरण करते हुए भी जो संयम से विचलित न बने, वही जिन-कल्प स्वीकार कर सकता है।

(v) बल — पाँव के एक अंगूठे पर चिरकाल तक खड़ा रहे, किंतु शरीर और मन से जरा भी क्षुब्ध न बने, वही जिनकल्प स्वीकार कर सकता है।

इस प्रकार अभ्यास द्वारा शारीरिक और मानसिक शक्ति का परीक्षण करने के बाद ही जिनकल्प स्वीकार करे॥ ४९१-४९८॥

६१ द्वार : स्थविर-उपकरण—

एए चेव दुवालस मत्तग अइरेग चोलपट्टो उ।
एसो चउदसरूवो उवही पुण थेरकप्पंमि॥४९९॥
तिण्णि विहत्थी चउरंगुलं च भाणस्स मज्झिमपमाणं।
एत्तो हीण जहन्नं अइरेगयरं तु उक्कोसं॥५००॥
पत्ताबंधपमाणं भाणपमाणेण होइ कायव्वं।
जह गंठिंमि कयंमि कोणा चउरंगुला हुंति॥५०१॥
पत्तगठवणं तह गुच्छगो य पायपडिलेहणी चेव।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिण्हंपि उ प्पमाणं विहत्थी चउरंगुलं चेव ॥५०२॥
अड्ढाइज्जा हत्था दीहा छत्तीसअंगुले रुंदा।
बीयं पडिग्गहाओ ससरीराओ य निप्फण्णं ॥५०३॥
कयलीगब्भदलसमा पडला उक्किट्ठमज्झिमजहण्णा।
गिम्हे हेमंतंमि य वासासु य पाणरक्खट्ठा ॥५०४॥
तिण्णि चउ पंच गिम्हे चउरो पंचच्छगं च हेमंते।
पंच च्छ सत्त वासासु होंति घणमसिणरूवा ते ॥५०५॥
माणं तु रयत्ताणे भाणपमाणेण होइ निप्फन्नं।
पायाहिणं करंतं मज्झे चउरंगुलं कमइ ॥५०६॥
कप्पा आयपमाणा अड्ढाइज्जा य वित्थडा हत्था।
दो चेव सुत्तियाओ उण्णिय तइओ मुणेयव्वो ॥५०७॥
बत्तीसंगुलदीहं चउवीसं अंगुलाइं दंडोसे।
अट्ठंगुला दसाओ एगयरं हीणमहियं वा ॥५०८॥
चउरंगुलं विहत्थी एयं मुहणंतगस्स उ पमाणं।
बीओऽवि य आएसो मुहप्पमाणेण निप्फण्णं ॥५०९॥
जो मागहओ पत्थो सविसेसयरं तु मत्तगपमाणं।
दोसुवि दव्वग्गहणं, वासावासे य अहिगारो ॥५१०॥
सूवोयणस्स भरियं दुगाउअद्धाणमागओ साहू।
भुंजइ एगट्ठाणे एयं किर मत्तगपमाणं ॥५११॥
दुगुणो चउग्गुणो वा हत्थो चउरस्स चोलपट्टो उ।
थेरजुवाणाणट्ठा सण्हे थुल्लंमि य विभासा ॥५१२॥
संथारुत्तरपट्टो अड्ढाइज्जा य आयया हत्था।
दोण्हंपि य वित्थारो हत्थो चउरंगुलं चेव ॥५१३॥
आयाणे निक्खमणे ठाणे निसियण तुयट्ट संकोए।
पुव्विं पमज्जणट्ठा लिंगट्ठा चेव रयहरणं ॥५१४॥
संपाइमरयरेणू पमज्जणट्ठा वयंति मुहपोत्तीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नासं मुहं च बंधइ तीए वसहिं पमज्जंतो ॥५१५ ॥
छक्कायरक्खणट्ठा पायग्गहणं जिणेहिं पन्नत्तं ।
जे य गुणा संभोगे हवंति ते पायगहणेऽवि ॥५१६ ॥
तणगहणानलसेवानिवारणा धम्मसुक्कझाणट्ठा ।
दिट्ठं कप्पग्गहणं गिलाणमरणट्ठया चेव ॥५१७ ॥
वेउव्वऽवाउडे वाइए य ही खद्धपजणणे चेव ।
तेसिं अणुग्गहट्ठा लिंगुदयट्ठा य पट्टो य ॥५१८ ॥
अवरेवि सयंबुद्धा हवंति पत्तेयबुद्धमुणिणोऽवि ।
पढमा दुविहा एगे तित्थयरा तदियरा अवरे ॥५१९ ॥
तित्थयरवज्जियाणं बोही उवही सुयं च लिंगं च ।
नेयाइँ तेसि बोही जाइस्सरणाइणा होइ ॥५२० ॥
मुहपत्ती रयहरणं कप्पतिगं सत्त पायनिज्जोगो ।
इय बारसहा उवही होइ सयंबुद्धसाहूणं ॥५२१ ॥
हवइ इमेसि मुणीणं पुव्वाहीयं सुअं अहव नत्थि ।
जइ होइ देवया से लिंगं अप्पइ अहव गुरुणो ॥५२२ ॥
जइ एगागीविहु विहरणक्खमो तारिसी व से इच्छा ।
तो कुणइ तमन्नहा गच्छवासमणुसरइ निअमेणं ॥५२३ ॥
पत्तेयबुद्धसाहूण होइ वसहाइदंसणे बोही ।
पोत्तियरयहरणेहिं तेसिं जहण्णो दुहा उवही ॥५२४ ॥
मुहपोत्ती रयहरणं तह सत्त य पत्तयाइनिज्जोगो ।
उक्कोसोऽवि नवविहो सुयं पुणो पुव्वभवपढियं ॥५२५ ॥
एक्कारस अंगाइं जहन्नओ होइ तं तहुक्कोसं ।
देसेण असंपुन्नाइं हुंति पुव्वाइं दस तस्स ॥५२६ ॥
लिंगं तु देवया देइ होइ कइयावि लिंगरहिओवि ।
एगागी च्चिय विहरइ नागच्छइ गच्छावासे सो ॥५२७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—गाथार्थ—

स्थविरकल्पियों के उपकरण की संख्या—मुहपत्ति, रजोहरण, ३ कल्प और सप्तविध पात्रनियोग इन बारह उपकरणों के साथ मात्रक और चोलपट्टा इन दो उपकरणों को मिलाने पर १४ प्रकार की उपधि स्थविरकल्पी की होती है ॥४९९॥

३ बेंत और ४ अंगुल परिधि वाला पात्र मध्यम परिमाण वाला है। इससे न्यून जघन्य परिमाण वाला तथा इससे अधिक पात्र उत्कृष्ट परिमाण वाला होता है ॥५००॥

झोली का परिमाण पात्र के अनुसार होता है। जैसे, झोली की गाँठ लगा देने के पश्चात् उसके छोर चार अंगुल लटकते रहने चाहिये ॥५०१॥

पात्रस्थापनक, गुच्छे एवं पूँजनी का परिमाण १ बेंत ४ अंगुल है ॥५०२॥

सामान्यतः ढाई हाथ लंबे और छत्तीस अंगुल चौड़े पड़ले होते हैं अथवा पड़लों का परिमाण पात्र एवं अपने शरीर के अनुसार होता है। ग्रीष्म, हेमन्त और वर्षा ऋतु में जीवों की रक्षा के लिये, केले के गर्भ के समान उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य संख्यावाले पड़ले अवश्य रखना चाहिये। ग्रीष्मऋतु में ३-४-५ हेमन्तऋतु में ४-५-६ तथा वर्षा ऋतु में ५-६-७ पड़ले होते हैं। पड़ले मोटे और स्निग्ध होने चाहिये ॥५०३-५०५॥

रजस्त्राण का परिमाण पात्र के परिमाण के अनुसार होता है। पात्रों को रजस्त्राण से प्रदक्षिणाकार में लपेटने पर रजस्त्राण चार अंगुल बड़ा रहे ॥५०६॥

चद्दर शरीर परिमाण होती है अर्थात् साढ़े तीन हाथ लंबी एवं ढाई हाथ चौड़ी होती है। चद्दर दो सूत की एवं एक ऊन की होती है ॥ ५०७॥

रजोहरण बत्तीस अंगुल परिमाण होता है। सामान्यतः दंडी चौबीस अंगुल की तथा फलियाँ आठ अंगुल की होती हैं। अथवा दंडी और फलियाँ पूर्वोक्त परिमाण से न्यूनाधिक भी हो सकती है पर ओघे का कुल माप बत्तीस अंगुल का ही होना चाहिए ॥५०८॥

मुहपत्ति का परिमाण एक बेंत और चार अंगुल का है। किसी का मत है कि मुहपत्ति मुख के अनुसार होनी चाहिये ॥५०९॥

मगध देश सम्बन्धी प्रस्थ के परिमाण से मात्रक कुछ बड़ा होता है। मात्रक वर्षाकाल और शीतोष्णकाल दोनों में ही आचार्य आदि के लिये द्रव्यग्रहण करने में उपयोगी होता है ॥५१०॥

अथवा दो कोस चलकर आया हुआ मुनि जितने दाल-भात एक स्थान में बैठकर वापर सकता है उतने परिमाण वाला मात्रक होता है ॥५११॥

चोलपट्टा दो हाथ या चार हाथ परिमाणवाला, समचौरस होता है। कपड़े की दृष्टि से पतला और मोटा दोनों होता है। ये भेद वृद्धमुनि और युवामुनि की अपेक्षा से समझना चाहिये ॥५१२॥

संस्तारक और उत्तरपट्ट दोनों ढाई हाथ लंबे और एक हाथ चार अंगुल चौड़े होते हैं ॥ ५१३॥

वस्तु लेने, उठाने, खड़े रहने, बैठने, करवट बदलने, पाँव फैलाने या एकत्रित करने से पूर्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तु या स्थान की प्रमार्जना करने के लिये रजोहरण उपयोगी है तथा भागवती दीक्षा का चिह्न होने से आवश्यक है ॥५१४॥

संपातिम जीवों की रक्षा के लिये तथा सचित्त रज की प्रमार्जना के लिये मुहपत्ति आवश्यक है। वसति-प्रमार्जन करते समय साधु मुहपत्ति से नाक एवं मुख बाँधते हैं ॥५१५॥

छः काय के जीवों की रक्षा के लिये पात्र रखने की जिनाज्ञा है। एक मंडली में भोजन करने के जो गुण हैं वे गुण पात्र रखने में भी हैं अर्थात् पात्र रखने से ही अन्य मुनियों के लिये गोचरी आदि लाई जा सकती है ॥५१६॥

तृणग्रहण और आग के उपयोग से बचने के लिये, धर्म-शुक्लध्यान में स्थिर रहने के लिये, रोगी की समाधि के लिये तथा मृतक को ढंकने के लिये वस्त्र ग्रहण आवश्यक है ॥५१७॥

विकृत, वायुग्रस्त एवं दीर्घलिंग को ढंकने के लिये तथा वेदोदय की स्थिति में लाज बचाने के लिए चोलपट्टे का उपयोग करने की जिनाज्ञा है ॥५१८॥

जिनकल्पी और स्थविरकल्पी मुनियों से अतिरिक्त भी दो प्रकार के मुनि है—१. स्वयंबुद्ध और २. प्रत्येकबुद्ध।

स्वयंबुद्ध के भी दो भेद हैं—१. तीर्थंकर और २. तीर्थंकरभिन्न (सामान्य) ॥ ४१९॥

तीर्थंकर भिन्न स्वयंबुद्ध, प्रत्येकबुद्धों की अपेक्षा बोधि, उपधि, ज्ञान और लिंग से अलग होते हैं। स्वयंबुद्ध को बोधि (धर्म की प्राप्ति), जातिस्मरण आदि आन्तरिक भावों से होती है। उनके बारह प्रकार की उपधि होती है—१. मुहपत्ति २. रजोहरण ३-४-५ कल्पत्रिक और ६-१२ सात प्रकार का पात्रनिर्योग। स्वयंबुद्ध को श्रुतज्ञान पूर्वजन्म सम्बन्धी तथा इस जन्म सम्बन्धी दोनों ही होते हैं। पूर्वाधीन श्रुतवाले स्वयंसंबुद्धों को वेषार्पण देव करते हैं या वे स्वयं गुरु के पास जा कर वेष ग्रहण करते हैं। पर, जिन्हें पूर्वाधीत श्रुतज्ञान नहीं होता उन्हें तो वेष गुरु ही देते हैं।

स्वयंबुद्ध मुनि यदि एकाकी विहार करने में समर्थ हैं और उनकी इच्छा भी ऐसी है तो वे एकाकी विचरण कर सकते हैं। यदि एकाकी विचरण करने में असमर्थ हैं और ऐसी इच्छा भी नहीं है तो गच्छ में रह सकते हैं ॥५२०-५२३॥

प्रत्येकबुद्धों को धर्म की प्राप्ति बैल आदि निमित्तों को देखकर होती है। उनकी जघन्य उपधि मुहपत्ति एवं रजोहरण है तथा उत्कृष्ट उपधि मुहपत्ति, रजोहरण और सप्तविध पात्रनिर्योग है। उनका श्रुतज्ञान पूर्वभव सम्बन्धी ही होता है। वह जघन्य से ग्यारह अंग का तथा उत्कृष्ट से किंचित् न्यून दशपूर्व का होता है। इनको वेषार्पण देव द्वारा ही होता है। कदाचित् ये लिंगरहित भी होते हैं। प्रत्येकबुद्ध एकाकी ही विचरण करते हैं। गच्छ में नहीं जाते हैं ॥५२४-५२७॥

—विवेचन—

उपकरण = संयम में उपयोगी वस्त्र, पात्र आदि उपधि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधु कितने उपकरण रख सकता है और कितने प्रमाण में रख सकता है? इस प्रकार उपकरणों का गणना-प्रमाण और माप इस द्वार में बताये जायेंगे।

१ मुहपत्ति, १ रजोहरण, ३ ओढ़ने के वस्त्र (दो सूती व एक ऊनी) ७ पात्र निर्योग, १ मात्रक तथा १ चोलपट्टक = १४ प्रकार की उपधि स्थविर-कल्पी के होती है॥ ४९९॥

१. मुहपत्ति — एक बेंत और चार अंगुल लम्बी-चौड़ी (प्रमाण से)। अन्यमतानुसार—मुहपत्ति इतनी लंबी-चौड़ी होनी चाहिए कि वसति प्रमार्जन करते समय या बाहर जाते समय, उसे तिकोन करके (रजकण से बचाव के लिए) नाक-मुँह बाँधे जा सकें (रजकण नाक में घुसने से अर्श-रोग होने की संभावना रहती है।)

प्रयोजन — वसति-प्रमार्जन करते समय रज-कण नाक में प्रवेश न करें तथा बोलते समय संपातिम मक्खी, मच्छर आदि मुख में प्रवेश न करें तथा सचित्त रजादि की रक्षा के लिए मुहपत्ति रखना आवश्यक है।

२. रजोहरण — चौबीस अंगुल प्रमाण डंडी एवं आठ अंगुल प्रमाण दशिका, कुल मिलाकर बत्तीस अंगुल प्रमाण रजोहरण होता है। अथवा डंडी या दशिका प्रमाण में न्यूनाधिक भी हो सकती है, किंतु रजोहरण का प्रमाण बत्तीस अंगुल निश्चित है।

अब रजोहरण के विषय में आधुनिक शिथिलाचारी मुनियों के द्वारा प्रस्तुत आक्षेप व उसका समाधान देते हुए टीकाकार महर्षि कहते हैं।

रजोहरण मध्यभाग में डोरे के तीन आंटो से युक्त होना चाहिये। क्योंकि, आगम में ऐसा ही पाठ है—'मज्झे तिपासिअं कुज्जा।' जो मुनि रजोहरण में नीचे डोरा बाँधते हैं वे भगवान की आज्ञा के विरोधी होने से मिथ्यादृष्टि हैं। उनके प्रति गीतार्थों का कथन है कि—

रजोहरण के नीचे डोरा बाँधने वाले मुनि मिथ्यादृष्टि नहीं होते, क्योंकि यह प्रवृत्ति गीतार्थों के द्वारा आचरित व स्वीकृत है। अशठ गीतार्थों के द्वारा आचरित प्रवृत्ति करने में भगवान की आज्ञा का लेशमात्र भी भंग नहीं होता। गणधर भगवन्तों ने भी कहा है कि 'राग-द्वेष रहित अशठ गीतार्थों के द्वारा द्रव्य-काल-भाव के अनुसार जो कुछ निर्दोष आचरण किया गया हो और जिसका तत्कालीन गीतार्थों के द्वारा विरोध न किया गया हो तो वह आचरण लाभप्रद होने से योग्य है।'

अतः रजोहरण में नीचे डोरा बाँधने की प्रवृत्ति गीतार्थों द्वारा आचरित होने से उसका विरोध करने वाले आप मिथ्यात्वी सिद्ध होंगे। तथा अपने आपको सिद्धान्तानुसारी मानने वाले आपसे प्रश्न है कि—क्या आप सिद्धान्त की अपेक्षा लेशमात्र भी अधिक नहीं करते? और बात तो दूर रही। वस्तुतः आपका रजोहरण भी सिद्धान्तानुसार नहीं है, क्योंकि रजोहरण का स्वरूप सिद्धान्त में इस प्रकार बताया गया है। 'रजोहरण मूल में ठोस, मध्य में स्थिर व दशी के भाग में कोमल होना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रजोहरण एकांगिक अर्थात् ओघे की दशियाँ एक ही वस्त्र से बनी हुई होनी चाहिये, अशुषिर अर्थात् रोमवाली या गाँठवाली नहीं होनी चाहिये। 'पोरायामम्' अर्थात् अंगूठे और तर्जनी की गोलाई में समा सके, इतनी मोटाई वाला मध्य में डोरों के तीन आंटों से युक्त ऐसा रजोहरण रखना चाहिये।

'अप्पोलं' अर्थात् दृढ़ बँधा हुआ होने से अशुषिर, पोल रहित, कोमल दशीवाला, बाह्य दो निषद्या से युक्त, संपूर्ण एक हाथ प्रमाण, अंगूठा व तर्जनी की गोलाई में समाने वाला, ऐसा रजोहरण बनाना चाहिये।

जबकि आप द्वारा स्वीकृत रजोहरण का स्वरूप आगम में कहीं भी नहीं बताया है। अतः ऐसा रजोहरण रखने वाले आपको परमात्मा की आज्ञा का भंग करने से मिथ्यात्व लगेगा। अतः अशठ गीतार्थों के द्वारा आचरित आचार का स्वीकार आपको भी अवश्य करना चाहिये।

प्रयोजन — वस्तु को लेते या रखते, उठते-बैठते, हाथ-पाँव का संकोचन और प्रसार करते समय मक्खी, मच्छर आदि संपातिम जीवों की हिंसा न हो जाये, इस हेतु से वस्तु, शरीर और भूमि की प्रमार्जना के लिए रजोहरण उपयोगी होता है। यह दीक्षा का मुख्य चिह्न है।

३. पात्रक — तीन बेंत और चार अंगुल (पात्र की गोलाई चारों ओर से डोरे से नापने पर तीन बेंत और चार अंगुल होना चाहिये), यह पात्र का मध्यम-प्रमाण है। इसके अतिरिक्त पात्र गोलाई वाला, मजबूत, छेदरहित, स्निग्ध-वर्ण वाला और लक्षणोपेत होना चाहिए। पात्र तीन प्रकार के प्रमाण वाला होता है—

१. जघन्य — तीन बेंत और चार अंगुल से न्यून-प्रमाण वाला।

२. मध्यम — तीन बेंत और चार अंगुल प्रमाण वाला।

३. उत्कृष्ट — तीन बेंत और चार अंगुल से अधिक प्रमाण वाला।

प्रयोजन — छः काय जीवों की रक्षा के लिए पात्र की आवश्यकता है। बिना पात्र के गौचरी करने से जीव-विराधना होती है। पात्र रखने के अनेक गुण हैं, जैसे पात्र हो तो गुरु, ग्लान बाल-मुनि, गौचरी जाने में असमर्थ ऐसे राजपुत्रादि तथा आगन्तुक मुनियों को भिक्षा लाकर दी जा सकती है। इस प्रकार मंडली में बैठकर गौचरी करने के जो गुण सिद्धान्त में बताये हैं, वे ही गुण पात्र रखने के हैं। यदि पात्र न रखे जायें तो ग्लानादि के लिए भिक्षा लाना कैसे संभव होगा?

४. पात्र बंधक — पात्र के प्रमाणानुसार अर्थात् बांधने पर चार अंगुल छोर लटकता रहे।

प्रयोजन — रज आदि की रक्षा के लिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५-७. पात्र स्थापनक, गुच्छा, पात्र केसरिका (पूँजणी) — तीनों ही एक बेंत चार अंगुल प्रमाण वाले होते हैं

प्रयोजन — रज आदि से रक्षा के लिए पात्रस्थापन की, रज आदि से रक्षा और पात्र-सम्बन्धी वस्त्रों (झोली-पड़ला) की पड़िलेहणा के लिये गुच्छों की तथा पात्रों की प्रमार्जना के लिए पूँजणी की आवश्यकता है।

८. पटला — ढाई हाथ लम्बे और एक हाथ बारह अंगुल चौड़े होने चाहिए अथवा शरीर और पात्र के प्रमाणानुसार लम्बाई, चौड़ाई वाले होने चाहिये। स्वरूप से पड़ले केले के गर्भ के समान सफेद, मोटे, कोमल, मजबूत, स्निग्ध होने चाहिए। स्वरूप की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न ऋतुओं में पड़लों का परिमाण भी भिन्न-भिन्न होता है। स्वरूप की अपेक्षा पड़ले, जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद से तीन प्रकार के हैं—

पड़ला	ग्रीष्म	हेमंत	वर्षा
उत्कृष्ट — मजबूत, गाढ़े और स्निग्ध	३	४	५
मध्यम — कुछ जीर्ण	४	५	६
जघन्य — जीर्ण	५	६	७

- ग्रीष्म काल अत्यन्त रुक्ष होने से उस समय सचित्त रज आदि शीघ्र ही अचित्त बन जाते हैं। अल्प समय में आहार तक नहीं पहुँच सकते। अतः ग्रीष्म काल में उत्कृष्ट तीन, मध्यम चार और जघन्य पाँच पड़ले पर्याप्त हैं।
- हेमंत काल स्निग्ध होने से सचित्त रज शीघ्र ही अचित्त रूप में परिणत नहीं होती अतः सचित्त रज आदि की पटलों को भेद कर आहार तक पहुँचने की संभावना रहती है। इसलिये इस ऋतु में उत्कृष्ट स्वरूप वाले चार, मध्यम पाँच और जघन्य छः पड़ले होते हैं।
- वर्षाकाल अत्यन्त स्निग्ध होने से सचित्त रजादि की अचित्त रूप में परिणति बहुत समय के बाद में होती है। अतः वर्षाकाल में उत्कृष्ट स्वरूप वाले पाँच, मध्यम छः और जघन्य सात पड़ले होते हैं।

प्रयोजन — पात्र को ढंकने के लिये, हवा के कारण गिरने वाले सचित्त फल, फूल, पत्र एवं सचित्त रज से आहार की रक्षा के लिये, उड़ते हुए पक्षियों के पुरीष, मूत्र आदि से आहार को बचाने के लिये, संपातिम जीवों की रक्षा के लिए तथा वेदोदय होने पर विकृत लिंग को ढंकने के लिए पड़लों की आवश्यकता होती है। पड़ले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्निग्ध और इतने गाढ़े होने चाहिए कि सभी को एकत्रित करके देखा जाय तो सूर्य न दिखे।

९. रजस्त्राण — पात्र के प्रमाणानुसार होता है अर्थात् प्रदक्षिणाकार से पात्रों को वेष्टित करने पर चार अंगुल प्रमाण वस्त्र का छोर लटकता रहे।

प्रयोजन — चूहे आदि से कुरेदी हुई मिट्टी और वर्षा की बूंदें, तुषार कण, सचित्त रज आदि से पात्रों की रक्षा के लिए रजस्त्राण आवश्यक है।

१०-१२. तीन कल्प — कल्प अर्थात् चादर, दो सूती और एक ऊनी। शरीर प्रमाण अर्थात् साढ़े तीन हाथ लम्बी और ढाई हाथ चौड़ी होती है।

प्रयोजन — शीतकाल में सर्दी से अत्यंत पीड़ित मुनि तीन कल्प ओढ़कर शीत से अपना बचाव कर सकता है तथा मन की समाधि को टिका सकता है। कल्प के अभाव में अत्यंत सर्दी से पीड़ित मुनि घास आदि का ग्रहण, अग्नि आदि का उपयोग करे तो जीवों की विराधना होगी। शीत से पीड़ित मुनि धर्म-शुक्ल-ध्यान शांतिपूर्वक नहीं कर सकेगा। सर्दी से मुनि बीमार पड़ जायेगा, बीमार अधिक बीमार होगा। इस प्रकार संयम यात्रा के साधनभूत शरीर की रक्षा के लिए ग्लानादिकों की शांति के लिये एवं मृतक को ओढ़ाने के लिए कल्प की आवश्यकता है, अन्यथा व्यवहार विरुद्ध होगा।

१३. मात्रक — मगध देश में प्रसिद्ध प्रस्थ प्रमाण वस्तु से अधिक वस्तु जिसमें समा सके, मात्रक इतना बड़ा होना चाहिये।

प्रस्थ-प्रमाण — दो असती = एक प्रसृति (एक पसली)
दो प्रसृति = एक सेतिका
चार सेतिका = एक कुलब
चार कुलब = एक प्रस्थ (मगध-देश का प्रमाण)
अथवा दो कोष से विहार करके या उपनगर, गोकुल आदि दो कोष दूर के स्थानों से गौचरी आदि लेकर आये हुए मुनि की क्षुधा शान्त करने के लिए जितने दाल-भात पर्याप्त हों, उतने जिसमें समा सके, मात्रक इतने प्रमाण वाला होना चाहिये।

प्रयोजन — वर्षाकाल और शीतोष्ण काल में आचार्य, ग्लान आदि के योग्य द्रव्य लाने के लिए मात्रक की आवश्यकता है। यदि गाँव में आचार्य आदि के योग्य द्रव्य सहज में मिल सकता हो तो मात्रक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवल वैयावच्च करने वाले ही रखें अन्यथा सभी साधु रखें और आचार्य आदि के योग्य वस्तु जहाँ भी मिल जाय, सभी ग्रहण करें। जिस देश में आहार अतिशीघ्र, संसक्त बन जाने की संभावना हो, उस देश में पहिले जो भी भिक्षा मिले, मात्रक में ग्रहण करें। पश्चात् आचार्य आदि के योग्य द्रव्य मिलने पर मात्रक में गृहीत द्रव्य का शोधन कर अन्य पात्र में डालें और दुर्लभ व सहसा प्राप्त द्रव्य को मात्रक में ग्रहण करें।

१४. चोलपट्टा — चोल = पुरुष चिह्न। पट्ट = प्रावरण वस्त्र, अर्थात् पुरुष चिह्न को ढांकने वाला वस्त्र। इसका प्रमाण, दो तह या चार तह करने पर लम्बाई, चौड़ाई में एक हाथ होना चाहिये। चोलपट्ट अवस्था के भेद से दो प्रकार का होता है— **(i)** स्थविर और **(ii)** युवा।

(i) स्थविर — स्थविर अवस्था में इन्द्रियाँ क्षीण हो जाने से दो हाथ प्रमाण चोलपट्टा पर्याप्त है। वस्त्र कोमल होना चाहिये।

(ii) युवा — युवावस्था के कारण इन्द्रियाँ प्रबल होने से चोलपट्टा चार हाथ लम्बा गाढ़ा होना चाहिये।

प्रयोजन — विकृत लिंग (जैसे दक्षिणवासियों का लिंग आगे से बींधा हुआ होता है), चमड़ी से अनाच्छादित लिंग, वायु के प्रकोप से सूजनयुक्त लिंग को ढंकने के लिये चोलपट्टा पहिनना आवश्यक है। स्वभावतः किसी साधु का लिंग असहज हो तो उसे देखकर लोग उपहास, निन्दा आदि न करें इसलिये चोलपट्टे की आवश्यकता है। स्वभाव से लज्जालु मुनि के लिये, स्त्री को देख कर मुनि को या नग्न-मुनि को देखकर स्त्री को वेदोदय न हो इसलिये तीर्थंकर परमात्मा ने मुनि को चोलपट्टा धारण करने की अनुज्ञा दी है।

यह चौदह प्रकार की ओघ उपधि समझना।

औपग्रहिक उपाधि — कारणवश संयम की साधना में जो उपयोगी बनती है वह औपग्रहिक उपधि है।

१-२ संस्तारक और उत्तरपट्टा — दोनों ही ढाई हाथ लम्बे और एक हाथ चार अंगुल चौड़े होने चाहिये। संस्तारक ऊनी और उत्तरपट्टा सूती। पहिले संथारा बिछाना फिर उस पर सूती उत्तरपट्टा बिछाना।

प्रयोजन — केवल भूमि पर सोने से पृथ्वी आदि जीवों का शरीर के साथ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घर्षण होता है, शरीर पर रज आदि लगती है, अतः संस्तारक आवश्यक है। केवल ऊनी संथारे पर सोने में उसके कठोर स्पर्श से कपड़े में रही हुई जूं को पीड़ा होती है, अतः उत्तरपट्टे की आवश्यकता है॥ ५००-५१८॥

साधुओं के प्रकार— उपकरण एवं योग्यता के भेद से मुनि के चार प्रकार हैं—

१. जिनकल्पिक, २. स्थविरकल्पिक, ३. स्वयंबुद्ध, और ४. प्रत्येकबुद्ध।

(१-२) **जिनकल्पिक, स्थविरकल्पिक** — जिनकल्पी के उपकरणों का वर्णन साठवें द्वार में है। स्थविरकल्पी का इसी द्वार में सर्वप्रथम बताया गया है। अतः यहाँ स्वयं बुद्ध और प्रत्येकबुद्ध का ही वर्णन किया जायेगा।

(३) **स्वयंबुद्ध** — जिन्हें ज्ञान प्राप्त करने में किसी अन्य के उपदेश की अपेक्षा नहीं होती, वे स्वयंबुद्ध हैं। स्वयंबुद्ध दो तरह के हैं, तीर्थंकर व सामान्य मुनि। यहाँ सामान्य मुनिरूप स्वयंबुद्ध की ही चर्चा है। स्वयंबुद्ध और प्रत्येकबुद्ध में बोधि, उपधि, श्रुत और लिंग इन चार बातों की अपेक्षा से भेद है—

(i) बोधि — स्वयंबुद्ध को जाति-स्मरणादि आन्तरिक निमित्त से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

(ii) उपधि — (१) मुहपत्ति (२) रजोहरण (४) कल्प त्रिक और सात प्रकार की पात्र सम्बन्धी उपधि = बारह उपकरण होते हैं।

(iii) श्रुत — स्वयंबुद्ध को जाति-समरण आदि के द्वारा पूर्व-जन्म में अधीत श्रुत स्मरण में आ जाता है या नया अध्ययन करते हैं। पूर्वाधीत श्रुत वाले स्वयंबुद्ध मुनि, इच्छा होती है तो गच्छ में रहते हैं अन्यथा एकाकी विहार करते हैं, किंतु नया अध्ययन करने वाले गच्छ में ही रहते हैं।

(iv) लिंग — जिसका श्रुत-ज्ञान पूर्व पठित होता है, उस स्वयंबुद्ध को दीक्षा के समय रजोहरण आदि या तो देवता देते हैं या गुरु देते हैं किंतु जिसका श्रुतज्ञान पूर्वाधीत नहीं होता उसका वेश निश्चित ही गुरु प्रदत्त होता है॥ ५१९-५२३॥

(४) **प्रत्येकबुद्ध** — स्वयंबुद्ध की तरह प्रत्येकबुद्ध के भी चार भेद हैं—

(i) बोधि — प्रत्येकबुद्ध को सम्यक्त्व की प्राप्ति बाह्य कारणों से ही होती है जैसे बादलों की बनती बिगड़ती रचना देखकर, बसंत-ऋतु में हरे-भरे पेड़ को पतझड़ में ठूंठ रूप में देखकर उसे संसार से विरक्ति हो जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ii) उपधि — जघन्य—मुहपत्ति और रजोहरण = २
उत्कृष्ट—मुहपत्ति, रजोहरण और पात्र नियोग = १ +१ +७ =९

(iii) श्रुत — इनका श्रुतज्ञान निश्चित रूप से पूर्व-भव-पठित ही होता है। जघन्य से ११ अंग व उत्कृष्ट से देशोन १० पूर्व की श्रुत संपदा होती है।

(iv) लिंग — प्रत्येक-बुद्धों को रजोहरणादि लिंग निश्चित रूप से देवता ही देते हैं। कभी-कभी ये लिंगरहित भी होते हैं। निश्चित रूप से ये गच्छ से बाहर रहकर एकाकी विहार करते हैं।

- यद्यपि तीर्थंकर स्वयंबुद्ध होते हैं, किन्तु उनका जीवन अलग है, क्योंकि वे जन्म से बोधि-युक्त तीन ज्ञान के स्वामी होते हैं। वे लिंगरहित मात्र इन्द्र द्वारा प्रदत्त एक देवदूष्य को धारण करते हैं, उनका कोई गुरु नहीं होता। वे स्वयं तीर्थ की प्रवर्तना करते हैं॥ ५२४-५२७॥

६२ द्वार : साध्वी-उपकरण—

उवगरणाइं चउद्दस अचोलपट्टाइं कमढयजुआइं।
अज्जाणवि भणियाइं अहियाणिवि हुंति ताणेवं ॥५२८॥
उग्गहऽणंतग पट्टो अड्ढोरुय चलणिया य बोद्धव्वा।
अब्भिंतर बाहिनियंसणी य तह कंचुए चेव ॥५२९॥
उक्कच्छिय वेगच्छिय संघाडी चेव खंधगरणी य।
ओहोवहिंमि एए अज्जाणं पन्नवीसं तु ॥५३०॥
अह उग्गहणंतगं नावसंठियं गुज्झदेसरक्खट्ठा।
तं तु पमाणेणेक्कं घणमसिणं देहमासज्ज ॥५३१॥
पट्टोऽवि होइ एगो देहपमाणेण सो उ भइयव्वो।
छायंतोग्गहणंतं कडिबद्धो मल्लकच्छा व ॥५३२॥
अद्धोरुगोवि ते दोवि गिण्हिउं छायए कडीभागं।
जाणुपमाणा चलणी असीविया लंखियाए व ॥५३३॥
अंतोनियंसणी पुण लीणतरी जाव अद्धजंघाओ।
बाहिरगा जा खलुगा कडीइ दोरेण पडिबद्धा ॥५३४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छाएइ अणुक्कुइए उरोरुहे कंचुओ असिव्वियओ।
एमेव य ओकच्छिय सा नवरं दाहिणे पासे ॥५३५ ॥
वेगच्छिया उ पट्टो कंचुगमुक्कच्छिगं च छायंतो।
संघाडीओ चउरो तत्थ दुहत्था उवसयंमि ॥५३६ ॥
दोन्नि तिहत्थायामा भिक्खट्ठा एग एगमुच्चारे।
ओसरणे चउहत्थाऽनिसण्णपच्छायणा मसिणा ॥५३७ ॥
खंधगरणी उ चउहत्थवित्थडा वायविहुयरक्खट्ठा।
खुज्जकरणी उ कीरइ रूववईणं कुडहहेऊ ॥५३८ ॥

—गाथार्थ—

साध्वियों के उपकरण—चोलपट्टे रहित और कमढ़क (तुंबा) सहित पूर्वोक्त चौदह उपकरण साध्वियों के भी होते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ और भी उपकरण साध्वियों के होते हैं ॥५२८ ॥

साध्वियों के अन्य उपकरण—१. अवग्रहानन्तक, २. पट्टक, ३. अर्धोरुक, ४. चलनिका, ५. अभ्यंतरनिर्वसनी, ६. बहिर्निर्वसनी, ७. कंचुक, ८. उपकक्षिका, ९. वैकक्षिका, १०. संघाटी एवं ११. स्कंधकरणी—इस प्रकार कुल मिलाकर साध्वियों के २५ उपकरण हैं ॥५२८-५३० ॥

गुप्तांग की रक्षा हेतु नौका के आकारवाला, शरीर परिमाण वस्त्र अवग्रहानन्तक कहलाता है। इसका वस्त्र मोटा व कोमल होना चाहिये ॥५३१ ॥

चार अंगुल चौड़ा, कमर परिमाण वस्त्र पट्टक है। अवग्रहानन्तक के दोनों छोरों को ढंकने के लिये यह आवश्यक है। अवग्रहानन्तक एवं कमरपट्ट बाँधने के पश्चात् मल्ल के कच्छे की तरह दिखाई देते हैं ॥५३२ ॥

अवग्रहानन्तक एवं कमरपट्ट सहित कटिभाग को ढंकनेवाला जंघा तक लंबा वस्त्र अर्धोरुक है। ऐसा ही बिना सिला हुआ घुटनों तक का वस्त्र चलनिका कहलाता है। यह वस्त्र नर्तकी के लंहगे जैसा होता है ॥५३३ ॥

कमर से लेकर पग की पिंडी तक लंबा व नीचे से कसा हुआ वस्त्र अन्तर्निर्वसनी है। ऐसे ही वस्त्र पर टखनों तक लंबा एवं नीचे से खुला और कटिभाग में डोरे से बँधा हुआ, बहिर्निर्वसनी है ॥५३४ ॥

बिना सिला हुआ, शिथिल तथा स्तनों को ढंकने वाला वस्त्र कंचुक है। इसी तरह दाहिनी ओर पहना जाने वाला वस्त्र उपकक्षिका है ॥५३५ ॥

पट्ट, कंचुक एवं उपकक्षिका को ढंकने वाला वस्त्र वैकक्षिका है। संघाटिका (चद्दर) के चार भेद हैं। उपाश्रय में ओढ़ने की एक हाथ की एक चद्दर, तीन हाथ की दो चद्दर होती हैं जो गौचरी जाते समय तथा स्थंडिलभूमि जाते समय ओढ़ी जाती है। चौथी ४ हाथ की चद्दर जो समवसरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि में जाते समय ओढ़ी जाती है, क्योंकि समवसरण में साध्वियों को बैठने का नहीं होता। चद्दर कोमल वस्त्र की बनी हुई होनी चाहिये ॥५३६-४३७॥

स्कंधकरणी चार हाथ विस्तृत होती है। यह वायुजन्य पीड़ा से रक्षा करने में उपयोगी है। अथवा रूपवती साध्वी की शीलरक्षा के लिये उसे कुब्जा दिखाने में भी यह उपयोगी है अतः इसे खुब्जकरणी भी कहते हैं॥५३८॥

—विवेचन—

साध्वी के पच्चीस उपकरण हैं, उनमें चोलपट्ट रहित पूर्वोक्त तेरह तथा निम्न बारह उपकरण मिलाने पर = पच्चीस उपकरण होते हैं।

१. कमढ़क — तुम्बड़े का लेप किया हुआ पात्र। इसका आकार कांसी की तासली की तरह होता है। इसका परिमाण, एक साध्वी की क्षुधा निवृत्त हो जाये इतना भोजन समा सके उतना होता है। यह प्रत्येक साध्वी के अलग-अलग होता है, जिसमें वे गौचरी करती हैं।

प्रयोजन — साध्वियों की मंडली में गौचरी पात्र में नहीं दी जाती। जातिगत स्वभाव के कारण कलह आदि की संभावना रहती है। अतः साध्वियाँ अपने-अपने कमढ़क (वर्तमान में जिसे पत्री कहते हैं) अलग-अलग ही रखती हैं और उसमें गौचरी करती हैं॥ ५२८॥

२. अवग्रहानन्तक — अवग्रह = योनि, अनन्तक = नाव के आकार का बीच में चौड़ा और दोनों सिरों से संकड़ा वस्त्र। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए योनि भाग में धारण किये जाने वाला वस्त्र।

प्रयोजन — ऋतुधर्म एवं ब्रह्मचर्य की रक्षा की दृष्टि से अवग्रहानन्तक उपयोगी है। यह स्निग्ध एवं गाढ़े वस्त्र का बना होना चाहिये। योनि के साथ कोमल वस्त्र का स्पर्श होने पर मन में किसी प्रकार का विकार पैदा नहीं होता क्योंकि सजातीय स्पर्श इतना असरकारक नहीं होता। यह देहप्रमाण बनाना चाहिये। यह संख्या में १ होता है॥ ५३१॥

३. पट्टक — कमर प्रमाण लंबा व चार अंगुल चौड़ा वस्त्र पट्टक है। यह कमरपट्ट के समान होता है।

प्रयोजन — अवग्रहानन्तक के दोनों सिरों को टिकाने के लिए कमरपट्ट की तरह कमर में बाँधा जाता है। अवग्रहानन्तक के ऊपर कमरपट्ट बाँधने पर पहलवान के कच्छे सा आकार बनता है॥ ५३२॥

४. अर्धोरुक् — पूर्वोक्त दोनों को ढंकने वाला अर्धजानुप्रमाण वस्त्र विशेष। जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपर से कमर प्रमाण होता है तथा दोनों जंघाओं पर कसों द्वारों बाँधकर फिट किया जाता है। प्राय: जांघिये की तरह होता है।

प्रयोजन — ब्रह्मचर्य की रक्षा।

५. चलनिक — कटिप्रमाण, नीचे घुटनों तक लंबा डोरे से बँधा हुआ बिना सिला वस्त्र विशेष। जो पूर्वोक्त तीनों के ऊपर पहिना जाता है तथा नर्तकी के परिधान वस्त्र के समान लगता है॥ ५३३॥

६. अन्तर्निर्वसनी — कमर से लेकर पिण्डलियों तक लंबा वस्त्र विशेष। जो पहिनते समय फिट रखा जाता है ताकि आकुलता की स्थिति में उपहास न हो।

७. बहिर्निर्वसनी — यह कमर से नीचे टखनों तक लंबा होता है। कमर पर डोरे से बँधा हुआ होता है। वर्तमान में इसे साड़ा कहा जाता है॥ ५३४॥

८. कंचुक — ढाई हाथ लम्बा और एक हाथ चौड़ा अथवा शरीर प्रमाण, बिना सिला वस्त्र। इसे दोनों तरफ कसों से बाँधकर शरीर पर पहिना जाता है। कापालिक के कंचुक की तरह होता है।

प्रयोजन — हृदयभाग को ढंकने के लिये उपयोगी होता है। यह अत्यन्त गाढ़े कपड़े का और कसकर बंधा हुआ नहीं होना चाहिये। कसकर बँधे हुए स्तनों को देखकर किसी को मोह पैदा हो सकता है।

९. उपकक्षिका — काँख के समीप का भाग उप-कक्ष कहलाता है। उसे ढंकने वाला वस्त्र उपकक्षिका है। यह डेढ़ हाथ लंबी-चौड़ी कंचुक की तरह ही होती है। इसका एक हिस्सा पेट और छाती को ढंकता है तथा दूसरे हिस्से को दाहिने कंधे के नीचे से निकाल कर पीठ को ढंकते हुए बायें कंधे पर लाकर पहिले हिस्से के सिरे के साथ गाँठ देकर जोड़ दिया जाता है।

१०. वैकक्षिका — डेढ़ हाथ लंबी-चौड़ी। इसे बांई ओर से दांई ओर लेकर दांए कंधे पर गाँठ दी जाती है।

प्रयोजन — पूर्वोक्त दोनों का प्रयोजन संयमरक्षा है।

११. संघाटी — वर्तमान में इसे 'चादर' कहते हैं। यह चार तरह की होती है पहली दो हाथ चौड़ी, दूसरी-तीसरी तीन हाथ चौड़ी और चौथी चार हाथ चौड़ी होती है। लंबाई में चारों ही साढ़े तीन हाथ की होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयोजन — दो हाथ की उपाश्रय में ओढ़ने के लिये, क्योंकि साध्वी कभी खुले बदन नहीं रह सकती। तीन हाथ की दो हैं, उनमें से एक गोचरी के लिये, दूसरी स्थण्डिल के लिये। प्रवचन, स्नात्र आदि में जाते समय चार हाथ की चादर चाहिये। साध्वी को प्रवचन खड़े-खड़े श्रवण करने का विधान है, अतः उस समय चार हाथ की चादर ओढ़ना ही उचित है ताकि शरीर पूर्ण रूप से ढका हुआ रहे। चादर, स्निग्ध, कोमल वस्त्र की होनी चाहिये। यह कंचुक आदि को आच्छादित करने हेतु, श्लाघा व दीप्ति के लिये अच्छी ही बनानी चाहिये। यद्यपि प्रमाण भेद से चद्दर चार हैं, तथापि एक साथ एक का ही उपयोग होने से, एक का ही गिनी जाती है ॥ ५३५-५३७ ॥

१२. स्कंधकरणी — चार हाथ लंबी और चार हाथ चौड़ी तह करके जो खंभे पर रखी जाती है जिसे वर्तमान में 'कंबली' कहते हैं।

प्रयोजन — वायु आदि से रक्षा करने के लिये। भय के समय रूपवती साध्वी की पीठ पर बाँधकर उसे कूबड़ी की तरह विरूप बनाया जा सकता है। इस कारण 'स्कंधकरणी' को 'कुब्जकरणी' भी कहा जाता है ॥ ५३८ ॥

६३ द्वार : जिनकल्पी संख्या—

जिणकप्पिया य साहू उक्कोसेणं तु एगवसहीए।
सत्त य हवंति कहमवि अहिया कइयावि नो हुंति ॥५३९ ॥

—गाथार्थ—

एकवसति में जिनकल्पियों की उत्कृष्ट संख्या—**एकवसति में उत्कृष्टतः सात जिनकल्पी रहते हैं। इससे अधिक कभी भी नहीं रहते ॥५३९ ॥**

—विवेचन—

जिनकल्पिक स्वरूप—जिनकल्प स्वीकार करने से पहले आचार्य आदि रात्रि के पूर्व या अन्तिम भाग में चिंतन करे कि-विशुद्ध चारित्र का पालन करके मैंने स्वयं का आत्महित किया तथा शिष्यों का निष्पादन करके परहित भी साधा है। गच्छ का भार वहन कर सके ऐसे शिष्य तैयार हो चुके हैं अतः उनके कंधों पर गच्छ का संपूर्ण भार डालकर मुझे विशेष आत्म-साधन में संलग्न हो जाना चाहिये। ऐसा चिन्तन करने के पश्चात् वे ज्ञान-बल से अपनी आयु का प्रमाण ज्ञात करे, स्वयं का इतना ज्ञान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बल न हो तो किसी विशिष्ट ज्ञानी आचार्य को पूछे। यदि अल्प आयु हो तो इंगिनी मरण, भक्त-परिज्ञा आदि स्वीकार कर देह का त्याग करे। आयु दीर्घ हो किंतु जंघाबल क्षीण हो तो स्थिरवास स्वीकार करे। यदि शरीर सशक्त हो तो जिनकल्प स्वीकारे। आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर तथा गणावच्छेदक प्रायः ये पाँच ही जिनकल्प स्वीकारते हैं।

जिनकल्प स्वीकारने से पहले पाँच प्रकार की तुलना से अपनी आत्मा को तोले। तुलना, भावना, परिकर्म एकार्थक है। तप, सत्त्व आदि पाँच भावनाओं से आत्मा को भावित करें तथा अप्रशस्त कंदर्प आदि दुर्भावनाओं का त्याग करे।

१. तप — तप द्वारा आत्मा को इस प्रकार भावित करे कि देव आदि के उपसर्ग के समय छः मास पर्यन्त कल्पनीय आहार न मिले तो भी क्षुब्ध न बने।

२. सत्त्व — भय और निद्रा को पराजित करे। इसके लिए जब सभी सो जायें तब स्वयं (१) उपाश्रय में कायोत्सर्ग करे, (२) उपाश्रय से बाहर खड़े होकर कायोत्सर्ग करे, (३) चौराहे पर जाकर कायोत्सर्ग करे, (४) शून्य घर में कायोत्सर्ग करे, (५) श्मशान में जाकर कायोत्सर्ग करे। इस प्रकार पाँच तरह से अपने सत्त्व को तोले।

३. सूत्रभावना — सूत्र और अर्थ का इस तरह अभ्यास करे कि दिन या रात को जब अपने शरीर की छाया न पड़ती हो तो भी सूत्र के परावर्तन से ज्ञात कर ले कि इतना समय हुआ है।

४. एकत्वभावना — समुदाय के साधुओं के साथ विचार-विमर्श, सूत्र-अर्थ, सुख-दुःख आदि की पृच्छा, परस्पर-कथा, वार्ता आदि का त्याग करे। इससे बाह्य-ममत्व का नाश होता है। पश्चात् धीरे-धीरे देह उपधि आदि की आसक्ति भी छूट जाती है।

५. बलभावना — दो प्रकार की है—

(i) शरीरबल — जिनकल्प स्वीकार करने वाला व्यक्ति विशिष्ट बली होना चाहिये।

(ii) धृति-बल — जिनकल्प स्वीकार करने वाले का धृति-बल इतना दृढ़ होना चाहिये कि घोर उपसर्ग व परीषह के समय भी क्षुब्ध न बने।

पूर्वोक्त पाँच भावनाओं से भावित आत्मा गच्छ में रहकर पहले उपधि और आहार विषयक परिकर्म करे। एषणा के अंतिम पाँच प्रकार में से दो का अभिग्रह धारण कर एक से अंत, प्रांत आहार ग्रहण करे तथा दूसरी से पानी ग्रहण करे। आहार-पानी तृतीय प्रहर में ही ग्रहण करे। पाणिपात्र लब्धि हो तो हाथ में ग्रहण करे अन्यथा पात्र में ग्रहण करे।

इस प्रकार परिकर्म करने के पश्चात् सम्पूर्ण संघ को एकत्रित करे। यदि ऐसा करना संभव न हो तो अपने गण को एकत्रित करे। तत्पश्चात् क्रमशः तीर्थंकर, गणधर, चौदहपूर्वी, दशपूर्वी की निश्रा में,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इनका योग न मिले तो वट, अश्वत्थ, अशोकादि के वृक्ष के नीचे जाकर गच्छ के बाल-वृद्ध सभी साधुओं से, विशेषत: विरोधी साधुओं से क्षमा-याचना करे **बृहत्कल्प भाष्य** में कहा है कि "प्रमादवश आप लोगों के साथ जो कटु-व्यवहार किया हो तो मैं शल्य व कषाय से रहित होकर आपको क्षमाता हूँ।" तत्पश्चात् भूमि पर मस्तक लगाकर शिष्य व गच्छवर्ती साधु भी हर्ष के आँसू बहाते हुए पर्याय के क्रम से उनसे क्षमायाचना करें।

जिनकल्प स्वीकारने वाले यदि आचार्य हैं तो अपने स्थान पर प्रतिष्ठित आचार्य को उद्बोधित करे— "आप गण का कुशलतापूर्वक निर्वाह करते हुए, अनासक्त भाव से विचरण करना। कृतकृत्य बनकर मेरी तरह आप भी अन्त में जिनकल्प का स्वीकार करना। सदैव अप्रमत्त रहना। मुनियों की रुचि व योग्यता के अनुरूप उन्हें संयम योगों में संलग्न करना।"

तत्पश्चात् गच्छ को उद्बोधित करे—"आचार्य छोटे हैं या बड़े, बहुश्रुत हैं या अल्पश्रुत हैं, आपके लिये पूज्य हैं। उनके अनुशासन में रहना।" फिर गच्छ का त्यागकर, जिनकल्प को स्वीकार करे। जाते हुए जिनकल्पी जब तक आँखों से ओझल न हो जायें तब तक सभी साधु उन्हें देखते हुए खड़े रहें, जब दीखना बन्द हो जाये तब हर्षित मन से उपाश्रय में लौट आयें।

जिनकल्पी मुनि जिस गाँव में मास-कल्प या चातुर्मास करे, उस गाँव को छः भागों में विभक्त कर एक दिन में एक भाग से गौचरी ग्रहण करे।

आहार और विहार दोनों तीसरे प्रहर में करे। चौथा प्रहर लगते ही जहाँ पहुँचे हों, वहाँ ठहर जाये।

आहार और पानी, अभिग्रहपूर्वक अलेपकारी ही ग्रहण करे। गवेषणा विषयक पूछताछ के सिवाय सर्वथा मौन रखे। उपसर्ग और परीषह अक्षुब्ध मन से सहन करे। रोग की चिकित्सा न स्वयं करे, न अन्य से करावे। समभाव से वेदना सहन करे तथा एकाकी विचरण करे।

अनापात, असंलोक आदि दश गुणों से युक्त स्थंडिल में उच्चार, प्रस्रवण आदि करे। जीर्ण वस्त्र भी ऐसे ही स्थंडिल में परठे। प्रमार्जना, परिकर्म आदि से रहित वसति में उतरना पड़े तो निश्चित उत्कटुक आसन से ही बैठे, क्योंकि उनके पास बैठने के लिए आसन नहीं होता और बिना आसन के साधु को जमीन पर बैठना नहीं कल्पता। विहार करते समय रास्ते में सामने से सिंह आदि हिंसक प्राणी आ रहे हों तो भी मार्ग छोड़कर उन्मार्ग में गमन नहीं करे, क्योंकि उन्मार्ग में जाने से जीव-विराधना होती है।

जिनकल्प स्वीकार करने वाले को जघन्य से नौवें पूर्व की तीसरी आचार वस्तु तक का ज्ञान अवश्य होना चाहिये, अन्यथा कालादि का ज्ञान नहीं कर सकता। उत्कृष्ट से सम्पूर्ण दश-पूर्व का ज्ञान होना चाहिये। प्रथम संघयणी वज्रवत् अभेद्य शरीर वाला होना चाहिये। जिनकल्पी को नित्य लोच करना आवश्यक है।

जिनकल्पी के आवस्सहि, निस्सीहि, मिच्छाकार, गृहविषयक पृच्छा और उपसम्पद् ये पाँच समाचारी होती है। अन्य मतानुसार जिनकल्पी के आवस्सहि, निस्सीहि और उपसंपद् ये तीन समाचारी होती है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्योंकि उद्यान आदि में रहने वालों को गृहस्थविषयक पूछताछ की वैसे भी संभावना नहीं रहती। और भी जिनकल्पी की जो समाचारी है वे आचारविषयक ग्रंथों से जानना चाहिये।

जिनकल्पी के स्वरूप को अच्छी तरह समझने में उपयोगी कुछ द्वार बताये जाते हैं—

१-१०. द्वार—	**१. तीर्थ द्वार**	**६. अभिग्रह द्वार**	**इन द्वारों को**
	२. पर्याय द्वार	**७. प्रव्रज्या द्वार**	**परिहार-विशुद्धि**
	३. आगम द्वार	**८. निष्प्रतिकर्मता**	**चारित्री की तरह समझना।**
	४. वेद द्वार	**९. भिक्षा द्वार**	**(देखें ६९वां द्वार)**
	५. ध्यान द्वार	**१०. पथ द्वार**	

११. क्षेत्र द्वार — जिनकल्पी जन्म की अपेक्षा १५ कर्मभूमि में होते हैं। सद्भाव की अपेक्षा भी १५ कर्मभूमि में ही होते हैं। संहरण की अपेक्षा अकर्मभूमि में भी हो सकते हैं।

१२. काल द्वार — अवसर्पिणी में जन्मतः तीसरे और चौथे आरे में। व्रत की अपेक्षा तीसरे, चौथे व पाँचवें आरे में होते हैं।

उत्सर्पिणी में जन्मतः दूसरे, तीसरे व चौथे आरे में होते हैं और व्रत की अपेक्षा से तीसरे, चौथे आरे में ही होते हैं।

अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी दोनों के प्रतिभागकाल (४थे आरे) में जन्म व सद्भाव से जिनकल्पी उपलब्ध होते हैं। कारण महाविदेह में जिनकल्पी होते है। संहरण की अपेक्षा सभी काल में उपलब्ध होते हैं।

- प्रतिभाग काल का अर्थ है, अपरिवर्तनशील काल जैसे महाविदेह में होता है।

१३. चारित्र द्वार — प्रतिपद्यमान आत्मा, सामायिक व छेदोपस्थापनीय इन दो में ही मिलते हैं।

(अ) सामायिकी — प्रतिपद्यमान मध्य के बाईस तीर्थंकर के काल में एवं महाविदेह में होते हैं। पूर्व-प्रतिपन्न नहीं होते हैं।

(ब) छेदोपस्थापनीय — प्रतिपद्यमान प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय में होते हैं। पूर्व-प्रतिपन्न, सूक्ष्म संपराय और यथाख्यात चारित्र की अपेक्षा से होते हैं। उपशम श्रेणि प्रारंभ करने वाले जिनकल्पियों के ये दो चारित्र होते हैं। जिनकल्पी क्षपक श्रेणि नहीं कर सकता, क्योंकि उसे उस भाव में केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता। कहा है—"तज्जम्मे केवल पडिसेहभावाओ" **(पंचवस्तुक ग्रन्थे)**

१४. लिंग द्वार — लिंग = रजोहरण आदि।

प्रतिपद्यमान — द्रव्यलिंग और भावलिंग दोनों में मिलते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वप्रतिपन्न — भावलिंग में अवश्य होते हैं, द्रव्यलिंग में होते भी हैं नहीं भी होते। अपहरण व जीर्णतादि कारण से द्रव्यलिंग छूट भी सकता है।

१५. गणना द्वार—

	जघन्य से	उत्कृष्ट से
प्रतिपद्यमान	१, २ आदि	शतपृथक्त्व (२०० से ९०० तक)
पूर्वप्रतिपन्न	सहस्रपृथक्त्व (२००० से ९००० तक)	सहस्रपृथक्त्व (२००० से ९००० तक)

उत्कृष्ट सहस्रपृथक्त्व की अपेक्षा जघन्य संख्या में न्यून होता है।

१६. कल्प द्वार — जिनकल्पी के स्थित और अस्थित दोनों ही कल्प होते हैं। एक वसति में उत्कृष्ट से सात जिनकल्पी रह सकते हैं। सात रहते हुए भी उनका परस्पर बोलना, धर्म-चर्चा आदि करना सर्वथा निषिद्ध है। एक मोहल्ले में एक ही जिनकल्पी गौचरी जा सकता है।

जिन = गच्छ से निर्गत साधु विशेष।

कल्प = उनका आचार। अर्थात् साधना विशेष को लक्ष्य बनाकर गच्छ से निकले हुए साधु विशेष का आचार 'जिनकल्प' है। उसका आचरण करने वाले जिनकल्पी हैं॥ ५३९॥

६४ द्वार:

आचार्य-गुण—

अट्ठविहा गणिसंपय चउग्गुणा नवरि हुंति बत्तीसं।
विणओ य चउब्भेओ छत्तीस गुणा इमे गुरुणो॥५४०॥
आयार सुय सरीरे वयणे वायण मई पओगमई।
एएसु संपया खलु अट्ठमिया संगहपरिण्णा॥५४१॥
चरणजुओ मयरहिओ अनिययवित्ती अचंचलो चेव।
जुगपरिचिय उस्सग्गी उदत्तघोसाइ विन्नेओ॥५४२॥
चउरंसोऽकुंटाई बहिरत्तणवज्जिओ तवे सत्तो।
वाई महुरत्तऽनिस्सिय फुडवयणो संपया वयणे॥५४३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जोगो परिणयवायण निज्जविया वायणाए निव्वहणे ।
ओग्गह ईहावाया धारण मइसंपया चउरो ॥५४४ ॥
सत्तीं पुरिसं खित्तं वत्थुं नाउं पउंजए वायं ।
गणजोग्गं संसत्तं सज्झाए सिक्खणं जाणे ॥५४५ ॥
आयारे सुयविणए विक्खिवणे चेव होइ बोधव्वा ।
दोसस्स परीघाए विणए चउहेस पडिवत्ती ॥५४६ ॥
सम्मत्त-नाण-चरणा पत्तेयं अट्ठअट्ठभेइल्ला ।
बारसभेओ य तवो सूरिगुणा हुंति छत्तीसं ॥५४७ ॥
आयाराई अट्ठ उ तह चेव य दसविहो य ठियकप्पो ।
बारस तव छावस्सग सूरिगुणा हुंति छत्तीसं ॥५४८ ॥

—गाथार्थ—

आचार्य के छत्तीस गुण—**गणि की संपदा (आचार आदि) आठ प्रकार की है। उनके प्रत्येक के चार-चार भेद होने से ३२ भेद हुए। उनमें विनय के ४ भेद जोड़ने से आचार्य के ३६ गुण होते हैं ॥५४०॥**

१. आचार संपदा, २. श्रुतसंपदा, ३. शरीर संपदा, ४. वचन संपदा, ५. वाचना संपदा, ६. मति संपदा, ७. प्रयोग संपदा, ८. संग्रह परिज्ञा संपदा—ये आचार्य की ८ संपदायें हैं। ॥५४१॥

आचार संपदा के ४ भेद—**१. चरणयुक्त, २. मदरहित, ३. अनियतवृत्ती और ४. अचंचल।** श्रुतसंपदा के ४ प्रकार—**१. युगप्रधानागम, २. परिचितसूत्रता, ३. उत्सर्ग-अपवादज्ञाता एवं ४. स्वरविशुद्धिपूर्वक सूत्रोच्चार करने वाला ॥५४२॥**

शरीरसंपदा के ४ भेद—**१. चतुरस्र, २. अकुंट, ३. पंचेन्द्रियपूर्ण, ४. तप-समर्थ।**

वचन संपदा के ४ भेद—**१. वादी, २. मधुरवचन, ३. अनिश्रित वचन, ४. स्पष्ट वचन ॥५४३॥**

वाचना संपदा के ४ भेद—**१. योग्य वाचना, २. परिणत वाचना, ३. निर्यापक एवं ४. निर्वाहक।**

मति संपदा के ४ भेद—**१. अवग्रह, २. ईहा, ३. अपाय एवं ४. धारणा ॥५४४॥**

प्रयोग सम्पदा —**१. शक्ति, २. पुरुष, ३. क्षेत्र और वस्तु का ज्ञान करके बाद करना प्रयोगमति संपदा है।**

संग्रहपरिज्ञा के ४ भेद—**१. गणयोग्य, २. संसक्त, ३. स्वाध्याय और ४. शिक्षा ॥५४५॥**

विनय के ४ भेद—**१. आचारविनय, २. श्रुतविनय, ३. विक्षेपणविनय एवं ४. दोषपरिघातविनय ॥५४६॥**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक्त्व दर्शन, ज्ञान और चारित्र इनके प्रत्येक के आठ-आठ भेद हैं। तप के १२ भेद हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर आचार्य के ३६ गुण होते हैं॥५४७॥

अथवा आचार आदि आठ संपदा, दस प्रकार का स्थितकल्प, बारह प्रकार का तप और षड्विध आवश्यक—ये भी आचार्य के छत्तीस गुण हैं॥५४८॥

—विवेचन—

आचार्य और गणि एकार्थक हैं। गुण-समूह व साधु-समूह गण कहलाता है। गण से युक्त गणि अर्थात् आचार्य है। गणि की भाव-समृद्धि गणि-संपत् कहलाती है। इसके आठ भेद हैं—

१. आचार संपत् — आचार विषयक संपदा-विभूति-वैभव अथवा आचार रूप संपदा की प्राप्ति आचार-संपत् है। आगे भी इसी तरह अर्थ समझना। आचार संपत् के चार भेद हैं—

(i)	चरणयुत	—	चरण के सित्तर भेदों से युक्त
(ii)	मदरहित	—	जाति आदि आठ प्रकार के मदों से रहित
(iii)	अनियत वृत्ति	—	अप्रतिहत विहार करने वाला
(vi)	अचंचल	—	इन्द्रियजयी

यहाँ चरणयुत के स्थान पर 'संयमध्रुवयोगयुक्तता' ऐसा पाठ है। उसका अर्थ भी यही है—संयम में सतत उपयुक्त। देखा जाय तो दोनों के भाव एक ही हैं।

'मदरहित' के स्थान पर 'असंपग्गह ' ऐसा पाठ है। यहाँ भी अर्थ वही है।

संप्रग्रह अर्थात् स्वयं को जाति, कुल, तप, श्रुत आदि के उत्कर्ष से युक्त मानना और असंप्रग्रह अर्थात् इनके उत्कर्ष-मद से रहित होना।

अचञ्चल के स्थान पर 'वृद्धशीलता' ऐसा पाठ है। उसका अर्थ है—जवानी में भी वृद्ध की तरह निर्विकार रहने वाले। कहा है—'विद्वान् लोग युवावस्था में भी मन से वृद्ध की तरह निर्विकार होते हैं। परन्तु मूढ़बुद्धि आत्मा वृद्धावस्था में भी युवा की तरह आचरण करते हैं।'

२. श्रुत सम्पत् — अतिशय ज्ञानविभूतिमान्। इसके चार प्रकार हैं—

१. युगप्रधानागम = जिसका आगम-ज्ञान युग में, अपने समय में सर्वश्रेष्ठ है।

२. परिचित सूत्र = अनेकबार क्रम या उत्क्रम से वाचना देने के कारण जिनका सूत्रज्ञान अत्यन्त स्थिर हो चुका है।

३. उत्सर्गी = उत्सर्ग, अपवाद, स्वदर्शन और परदर्शन के ज्ञाता।

४. उदात्तघोषादि = उदात्त, अनुदात्तादि स्वरों की विशुद्धि से युक्त सूत्रोच्चारण करने वाले।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्यमते — १. बहुश्रुतता, २. परिचितसूत्रता, ३. विचित्रसूत्रता, ४. घोषविशुद्धि करणता।

चारों के अर्थ क्रमशः पूर्ववत् समझना ॥ ५४२ ॥

३. शरीरसम्पत् — सुन्दरशरीरी। इसके चार भेद हैं—

(१) चतुरस्र = लक्षण प्रमाण युक्त शरीर वाले।

(२) अकुंट = परिपूर्ण अंगोपांग वाले।

(३) बधिरत्वादिवर्जित = अविकल इंद्रिय वाले

(४) दृढ़ संहननी = बाह्य और आभ्यन्तर तप करने में समर्थ।

अन्यत्र — १. आरोहपरिणाहयुक्त = लक्षण-प्रमाणयुक्त लंबाई-चौड़ाई वाले।

२. अनवत्राप्य = पाँचों इन्द्रिय परिपूर्ण होने से अलज्जाकर।

३. परिपूर्णेन्द्रिय = पाँचों इन्द्रिय से परिपूर्ण।

४. स्थिरसंहनन = दृढ़ संहनन वाले।

४. वचन सम्पत् — वचनातिशय युक्त। इसके चार भेद हैं—

— १. वादीप्रशस्त व अतिशय युक्त वचन वाले वादी अर्थात् सभी के द्वारा मान्य वचन वाले, आदेयवचनी।

— २. मधुरवचन = जिनका वचन अर्थयुक्त, मधुर, सुस्वरवाला, गांभीर्यादि गुण से युक्त होने से श्रोता के मन को आनन्दित करने वाला हो।

— ३. अनिश्रितवचन = राग-द्वेष से रहित अकलुषित वचन वाले।

— ४. स्फुटवचन = सरलता से समझा जा सके ऐसे वचन वाले ॥५४३ ॥

५. वाचना सम्पत् — वाचना के अतिशय से युक्त। इसके चार प्रकार हैं—

— १. योग्य वाचना = परिणामी आदि बुद्धि से युक्त शिष्यों को उनकी योग्यता के अनुसार सूत्रों के उद्देश, समुद्देश करने वाले। अपरिणत बुद्धि वाले आत्मा को वाचना देने में दोषों की संभावना है, जैसे कच्चे-घड़े में पानी डालने से घड़ा ही फूट जाता है और पानी भी नष्ट हो जाता है, वैसे ही अयोग्य शिष्य को ज्ञान देने से गुरु-शिष्य दोनों का अहित होता है।

— २. परिणतवाचना = पहले दी गई वाचना की अच्छी तरह से परिणति कराने के बाद ही आगे वाचना देने वाले।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

— ३. वाचना निर्यापयिता = प्रारंभ किये हुए ग्रन्थ को शिष्यों के उत्साहपूर्वक अन्त तक पूर्ण करने वाले।

— ४. निर्वाहणा = आगे, पीछे के अर्थों को अच्छी तरह से सम्बद्ध करके अर्थ को समझाने वाले।

अन्यत्र

— १. विदित्वोद्देशनं = परिणामिकादि बुद्धि युक्त शिष्य का उद्देश करने वाले।

— २. विदित्वासमुद्देशनं = परिणामिकादि बुद्धि युक्त शिष्य को समुद्देश करने वाले।

— ३. परिनिर्वाप्य वाचना = पहले दी गई वाचना की अच्छी तरह से परिणति कराने के बाद ही आगे वाचना देने वाले।

— ४. अर्थनिर्यापणा = आगे, पीछे के अर्थ की संगतिपूर्वक अर्थ समझाने वाले।

६. मतिसम्पत्

— अवग्रहादि चार प्रकार की मति वाले।

— १. अवग्रह, २. ईहा, ३. अपाय, ४. धारणा
इनके अर्थ दो सौ सोलहवें द्वार में कहे जायेंगे॥ ५४४॥

७. प्रयोगमति संपत्

— वादादि प्रयोजन के उपस्थित होने पर अपनी बुद्धि का उचित उपयोग करने वाले। इसके चार भेद हैं—

— **१. शक्ति—** वाद करने से पूर्व 'मैं इस प्रतिवादी को जीतने में समर्थ हूँ या नहीं' इस प्रकार अपनी शक्ति तोल कर वाद करने वाले।

— **२. पुरुषज्ञान—**प्रतिवादी बौद्ध, सांख्य या वैशेषिक है, प्रतिभावान या अप्रतिभावान है, इसका पूर्ण विचार करके वाद करने वाले।

— **३. क्षेत्रज्ञान—**यह मेरा क्षेत्र मायावियों की अधिकता वाला है या नहीं? साधुओं से भावित है या अभावित? इसका विवेक रखने वाले।

— **४. वस्तुज्ञान—**यहाँ के राजा, मंत्री सभासद आदि सहृदय हैं, क्रूर हैं, सरलहृदय हैं या कठोर हैं, इसका भेद जानने वाले।

८. संग्रहसंपत्

— योग्य क्षेत्रादि का संपादन करने में कुशल। इसके भी चार भेद हैं—

— **१. गणयोग्यसंग्रह-संपत्—**बाल, दुर्बल, रोगी तथा अधिक साधुओं का भी जहाँ निर्वाह हो सके, ऐसे क्षेत्र का संपादन करने में कुशल।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

— २. **संसक्तसंपत्**—श्रोता की योग्यता देखकर उपदेश देने वाले।

अन्यत्र — पीठफलक-संग्रह-संपत्— संथारा आदि मलिन न हो, इस हेतु पाट आदि का संपादन करने में कुशल।

— ३. **स्वाध्यायसंपत्**—यथासमय स्वाध्याय, पड़िलेहण, गौचरी, उपधि ग्रहण करने-कराने वाले।

— ४. **शिक्षोपसंग्रहसंपत्**—गुरु, दीक्षादाता, रत्नाधिक आदि की उपधि लेना, वैयावच्च करना, बाहर से आवे तो सामने लेने जाना, दंडा लेना इत्यादि विनय की शिक्षा करने वाले॥ ५४५॥

विनय के चार प्रकार—

१. आचार विनय — जिस आचार के द्वारा कर्म-मल दूर होता है, वह आचार-विनय। इसके चार भेद हैं—

(i) संयम-समाचारी — स्वयं संयम का पालन करना, दूसरों से करवाना। संयम में शिथिल बने हुए आत्मा को पुनः स्थिर करना। संयम में प्रयत्नशील को प्रोत्साहित करना।

(ii) तप समाचारी — पक्खी आदि पर्व दिनों में स्वयं तप करना, दूसरों से करवाना। स्वयं गौचरी जाना, दूसरों को गौचरी भेजना।

(iii) गण समाचारी — ग्लान, वृद्ध बालादि की वैयावृत्य स्वयं करना तथा दूसरों को करने की प्रेरणा देना।

(iv) एकाकी विहार प्रतिमा — एकाकी विहार प्रतिमा स्वयं ग्रहण करे, दूसरों से ग्रहण करावे।

२. श्रुत विनय — जिस श्रुत के द्वारा कर्म-मल दूर होता है। वह श्रुत-विनय चार प्रकार का है—

— (i) सूत्र की वाचना देने वाले।

— (ii) अर्थ की वाचना देने वाले।

— (iii) योग्य शिष्यों को उनके योग्य सूत्र, अर्थ व सूत्रार्थ का ज्ञान देने वाले।

— (iv) सूत्रार्थ की समाप्ति पर्यन्त वाचना देने वाले।

३. विक्षेपण विनय — विक्षेपण = हटाना। यह भी चार प्रकार का है-

— (i) मिथ्यादृष्टि को मिथ्यामार्ग से हटाकर सुमार्ग में स्थिर करना।

(ii) सम्यक्दृष्टि गृहस्थ को गृहस्थावास छुड़वाकर दीक्षित करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

— **(iii)** सम्यक्त्व और चारित्र से शिथिल बने हुए आत्मा को पुनः स्थिर करना।

— **(iv)** चारित्रधर्म की निरन्तर वृद्धि हो इस प्रकार का आचरण करना, यथा अकल्प्य आहारादि का त्याग करना व कल्प्य आहारादि ग्रहण करना इत्यादि।

४. दोषपरिघात विनय — क्रोधादि दोषों का नाश करने रूप विनय। यह चार प्रकार का है—

— **(i)** क्रुद्ध व्यक्ति को उपदेश देकर उसका क्रोध शान्त करना।

— **(ii)** कषाय, विषयादि से कलुषित आत्मा के कषायादि दूर करना।

— **(iii)** दूसरों की भक्त-पान विषयक एवं परदर्शन विषयक आकांक्षा को उपदेश द्वारा दूर करना।

— **(iv)** स्वयं क्रोध, कषाय, विषय और कांक्षा रहित प्रवृत्ति करना।

इस प्रकार आचार्य की आठ संपदा है। प्रत्येक के चार-चार भेद होने से संपदा के बत्तीस भेद होते हैं, इनमें विनय के चार भेद मिलाने से ३२+४= आचार्य के ३६ गुण होते हैं॥ ५४६॥

अथवा—दूसरी तरह से भी आचार्य के ३६ गुण होते हैं।

१. ज्ञानाचार के आठ, २. दर्शनाचार के आठ, ३. चारित्राचार के आठ, ४. बाह्य तप के छः, ५. आभ्यन्तर तप के छः, इस प्रकार कुल ८+८+८+६+६= ३६ गुण हुए॥ ५४७॥

अथवा—इस तरह भी आचार्य के ३६ गुण होते हैं

संपदा	=	८	(आचार, श्रुत, शरीर, वचन, वाचना, मति, प्रयोग, संग्रह परिज्ञा)
स्थितकल्प	=	१०	(अचेल, औद्देशिक, शय्यातरपिंड, राजपिंड, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मासकल्प, पर्युषणाकल्प)
तप	=	१२	(छः बाह्य, छः आभ्यन्तर)
आवश्यक	=	६	

अथवा—

(१) देशयुत — मध्यदेश में अथवा साढ़ा पच्चीस आर्य देश में उत्पन्न। आर्य-भाषा, ज्ञान, विज्ञान के ज्ञाता होने से शिष्य उनके पास सुखपूर्वक अध्ययन कर सकते हैं।

(२) कुलयुत — उत्तम कुल में उत्पन्न। कुलीनता के कारण स्वीकृत का अन्त तक निर्वाह कर सकते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(३) जातियुत — जाति संपन्न। विनयादि गुण से संपन्न होते हैं।

(४) रूपवान — सुन्दर शरीरी। उसे देखकर लोक आकर्षित होते हैं। उसका वचन आदेय होता है। 'कुरूप' के प्रति लोगों का आदर भाव प्रायः कम होता है।

(५) संहननयुत — शारीरिक शक्ति संपन्न। जिससे प्रवचन-वाचनादि देने में श्रम न लगे।

(६) धृतियुत — विशिष्ट मनोबल वाले। जिससे शास्त्रों के सूक्ष्म चिन्तन में मतिभ्रम न हो।

(७) अनाशंसी — श्रोता से उपदेश के बदले वस्त्र-पात्रादि की आकांक्षा न रखने वाले।

(८) अविकत्थन — मितभाषी अथवा शिष्यादि के अपराध में बार-बार उपालंभ न देने वाले।

(९) अमायी — निष्कपट.....सरल।

(१०) स्थिरपरिपाटी — सतत अभ्यास करने से जिसका श्रुतज्ञान सुदृढ़ हो।

(११) गृहीतवाक्य — उपादेय वचन, जिसका अल्पवचन भी महान अर्थ वाला लगे।

(१२) जितपर्षत् — कितनी भी विराट सभा सामने हो, किंतु क्षुब्ध नहीं बनने वाले।

(१३) जितनिद्र — स्वल्प-निद्रा वाले, जिससे सूत्रार्थ का परावर्तन, चिंतन करने में बाधा न पड़े।

(१४) मध्यस्थ — सभी शिष्यों पर समान दृष्टि रखने वाले।

(१५-१७) देशकाल भावज्ञ — देश, काल व भाव को जानने वाले। जिससे स्वयं सुखपूर्वक विचरण कर सके तथा शिष्यों के अभिप्राय को जानकर उन्हें सुखपूर्वक प्रवृत्ति करा सके।

(१८) आसन्नलब्ध प्रतिभा — कठिन से कठिन प्रश्न का भी तत्काल सचोट उत्तर देने वाले।

(१९) नानाविध-देशभाषज्ञ — अनेक देशों की भाषा के ज्ञाता, जिससे अनेक देशों में धर्म का प्रचार कर सके तथा भिन्न-भिन्न देशों में उत्पन्न शिष्यों को ज्ञान-दान दे सके।

(२०-२४) पंचाचार — ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य— पंचविध आचार के पालन में सतत प्रयत्नशील। जो स्वयं प्रयत्नशील नहीं है, वह दूसरों को प्रेरणा नहीं दे सकता।

(२५) सूत्रार्थ तदुभयविधिज्ञ — सूत्र-अर्थ व तदुभय के ज्ञाता

चतुर्भंगी — १. सूत्र का ज्ञाता, अर्थ का अज्ञाता।

— २. सूत्र का अज्ञाता, अर्थ का ज्ञाता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

— ३. सूत्र का ज्ञाता, अर्थ का ज्ञाता।
— ४. सूत्र का अज्ञाता, अर्थ का अज्ञाता।
इसमें तीसरा भंग ग्राह्य है।

(२६) आहरणनिपुण — आहरण = दृष्टान्त, श्रोता की योग्यता के अनुरूप उदाहरणपूर्वक वस्तु तत्त्व को समझाने वाले।

(२७) हेतु-निपुण — हेतु = कारण, इसके दो भेद हैं—१. कारक और २. ज्ञापक

(i) कारक — वस्तु का उत्पादक कारण, जैसे घट का उत्पादक कारण कुंभार है।

(ii) ज्ञापक — वस्तु के ज्ञान का कारण, ज्ञापक कारण है, जैसे अंधकार में घटादि का ज्ञान कराने वाला दीपक आदि वस्तु का ज्ञापक कारण है।

दोनों प्रकार के हेतुओं द्वारा वस्तु तत्त्व को समझाने वाले।

(२८) उपनय निपुण — उपनय = उपसंहार, प्रस्तुत विषय में उदाहरण को यथार्थ रूप से घटाने में कुशल।

(२९) नय-निपुण — नय ज्ञान में निपुण होने से वस्तु की अनेक दृष्टियों से व्याख्या करने वाले।

(३०) ग्राहणा कुशल — स्वीकृत-विषय का सांगोपाँग प्रतिपादन करने वाले।

(३१) स्वसमयवित् — स्वदर्शन के ज्ञाता।

(३२) परसमयवित् — अन्य दर्शनों के ज्ञाता। वाद-विवाद करते समय परपक्ष का खण्डन कर सुखपूर्वक स्वपक्ष का स्थापन कर सकते हैं।

(३३) गंभीर — अतुच्छ स्वभाव वाले।

(३४) दीप्तिमान — तेजयुक्त, किसी से अभिभूत न होने वाले।

(३५) शिव — क्रोधरहित अथवा जहाँ विचरण करे वहाँ सर्वत्र शान्तिकारक।

(३६) सोम — शान्तदृष्टि वाले।

इनके अतिरिक्त अन्य भी औदार्य, स्थैर्य आदि चन्द्रवत् निर्मल गुणों से अलंकृत, मूलगुण व उत्तरगुण से शोभित गुरु ही प्रवचन के सारभूत उपदेश को देने में योग्य हैं। गुणयुक्त गुरु का वचन घी से सींची हुई आग की तरह प्रभावशाली होता है, जबकि गुणहीन का वचन तैलहीन दीपक की तरह शोभा नहीं देता॥ ५४८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६५ द्वारः

विनय-भेद—

तित्थयर सिद्ध कुल गण संघ किरिय धम्म णाण णाणीणं।
आयरिय थेरु-वज्झाय गणीणं तेरस पयाइं ॥५४९॥
अणसायणा य भत्ती बहुमाणो तह य वण्णसंजलणा।
तित्थयराई तेरस चउग्गुणा हुंति बावण्णा ॥५५०॥

—गाथार्थ—

विनय के बावन भेद—**१. तीर्थंकर, २. सिद्ध, ३. कुल, ४. गण, ५. संघ, ६. क्रिया, ७. धर्म, ८. ज्ञान, ९. ज्ञानी, १०. आचार्य, ११. स्थविर, १२. उपाध्याय और १३ गणि इनकी आशातना न करना तथा इनकी भक्ति, बहुमान एवं वर्णसंज्वलना (गुणानुवाद) करना—यह ५२ प्रकार का विनय है ॥५४९-५५०॥**

—विवेचन—

विनय-तीर्थंकर आदि तेरह पदों का विनय करना।

१. तीर्थंकर
२. सिद्ध
३. कुल = नागेन्द्र, चन्द्रादि
४. गण = कोटिकादि गण
५. संघ = साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका
६. क्रिया = अस्तिवादरूप
७. धर्म = साधु, श्रावकादि धर्म
८. ज्ञान = मति आदि
९. ज्ञानी = मतिज्ञानी आदि
१०. आचार्य = आचार आदि ८ संपदा से युक्त
११. स्थविर = धर्म में अस्थिर बने हुए को स्थिर करने वाले
१२. उपाध्याय = आगमों की वाचना देने वाले
१३. गणि = अमुक साधु-समुदाय का अधिपति।

उपरोक्त तेरह पदों की—

१. आशातना न करना
२. भक्ति करना
३. बहुमान (अंतरंग प्रीति) करना
४. कीर्ति यानि गुण-गान करना।

१३×४ = ५२ कुल विनय भेद ॥ ५४९-५५० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६६ द्वारः

चरण-भेद—

वय समणधम्म संजम वेयावच्चं य बंभगुत्तीओ।
नाणाइतियं तव कोहनिग्गहा इइ चरणमेयं ॥५५१॥
पाणिवह मुसावाए अदत्त मेहुण परिग्गहे चेव।
एयाइं होंति पंच उ महव्वयाइं जईणं तु ॥५५२॥
खंती य मद्दवऽज्जव मुत्ती तव संजमे य बोद्धव्वे।
सच्चं सोयं आकिंचणं च बंभं च जइधम्मो ॥५५३॥
पंचासवा विरमणं पंचिंदियनिग्गहो कसायजयो।
दंडत्तयस्स विरई सतरसहा संजमो होइ ॥५५४॥
पुढवी दग अगणि मारुय वणस्सइ बि ति चउ पणिंदि अज्जीवे।
पेहु प्पेह पमज्जण परिठवण मणो वई काए ॥५५५॥
आयरिय उवज्झाए तवस्सि सेहे गिलाण साहूसुं।
समणोन्न संघ कुल गण वेयावच्चं हवइ दसहा ॥५५६॥
वसहि कह निसिज्जिदिय कुड्डंतर पुव्वकीलिय पणीए।
अइमायाहार विभूसणाइं नव बंभगुत्तीओ ॥५५७॥
बारस अंगाईयं नाणं तत्तत्थसद्दहाणं तु।
दंसणमेयं चरणं विरई देसे य सव्वे य ॥५५८॥
अणसणमूणोयरिया वित्तिसंखेवणं रसच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ ॥५५९॥
पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं उस्सग्गोवि य अब्भितरओ तवो होई ॥५६०॥
कोहो माणो माया लोभो चउरो हवंति हु कसाया।
एएसिं निग्गहणं चरणस्स हवंतिमे भेया ॥५६१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—गाथार्थ—

चरण के ७० भेद—व्रत, श्रमणधर्म, संयम, वैयावच्च, ब्रह्मचर्य की गुप्ति, ज्ञानादित्रिक, तप, क्रोधादि का निग्रह- ये चरण के ७० भेद हैं ॥५५१ ॥

१. प्राणिवधविरमण, २. मृषावादविरमण, ३. अदत्तादानविरमण, ४. मैथुनविरमण एवं परिग्रहविरमण—ये पाँच साधु के महाव्रत हैं ॥५५२ ॥

१. क्षमा, २. मृदुता, ३. ऋजुता, ४. मुक्ति, ५. तप, ६. संयम, ७. सत्य, ८. शौच, ९. आकिंचन्य और १०. ब्रह्मचर्य— ये दस साधु के धर्म हैं ॥५५३ ॥

पाँच आश्रवों की विरति, पाँच इन्द्रियों का निग्रह, चार कषायजय और त्रिदंड की विरति—यह सत्रह प्रकार का संयम है ॥५५४ ॥

अथवा पृथ्वी, जल, आग, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, अजीव, प्रेक्षा, उपेक्षा, प्रमार्जना, परिस्थापना, मन-वचन-काया की शुभ परिणति—यह भी सत्रह प्रकार का संयम है ॥५५५ ॥

१. आचार्य, २. उपाध्याय, ३. तपस्वी, ४. शैक्षिक, ५. ग्लान, ६. साधु, ७. समनोज्ञ, ८. संघ, ९. कुल और १०. गण—इन दस की वैयावच्च करना ॥५५६ ॥

१. वसति, २. कथा, ३. निषद्या, ४. इन्द्रिय, ५. कुड्यंतर, ६. पूर्वक्रीड़ा, ७. प्रणीताहार, ८. अति आहार और ९. विभूषा का त्याग- ये ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियां हैं ॥५५७ ॥

१. बारह अंगादि ज्ञान है। २. तत्त्व और अर्थ के प्रति श्रद्धा रखना दर्शन है। ३. पाप व्यापार का देशतः या सर्वतः त्याग करना चारित्र है ॥५५८ ॥

१. अनशन, २. उनोदरी, ३. वृत्तिसंक्षेप, ४. रसत्याग, ५. कायक्लेश, ६. संलीनता— ये बाह्यतप हैं ॥५५९ ॥

१. प्रायश्चित्त, २. विनय, ३. वैयावच्च, ४. स्वाध्याय, ५. ध्यान और ६. कायोत्सर्ग—ये छः आभ्यन्तर तप हैं ॥५६० ॥

१. क्रोध, २. मान, ३. माया, और ४. लोभ—ये चार कषाय हैं। इनका निग्रह करना कषायजय है। इस प्रकार चरण के ७० भेद होते हैं ॥५६१ ।

—विवेचन—

व्रत ५	— प्राणातिपात विरमण आदि।
श्रमण धर्म १०	— क्षमा आदि श्रमण अर्थात् साधु के धर्म।
संयम १७	— पाप कार्यों से पीछे हटना।
वैयावच्च १०	— आचार्य आदि के कार्य में सहायक बनना।
बंभगुत्ति ९	— नवविध ब्रह्मचर्य का रक्षण।
ज्ञानत्रिक ३	— ज्ञान, दर्शन, चारित्र।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तप १२ — अनशनादि तप।

क्रोधादिनिग्रह ४ — क्रोध-मान-माया-लोभ आदि का निग्रह।

प्रश्न—ब्रह्मचर्य की गुप्तियाँ चौथे व्रत के अन्तर्गत ही आ जाती हैं, उन्हें अलग से क्यों कहा? यदि चौथे व्रत की गुप्तियाँ व्रत से अलग हैं तो अन्य व्रतों की गुप्तियाँ भी अलग होंगी और उन्हें भी अलग से बताना होगा। अतः चौथे व्रत की गुप्तियाँ अलग से बताने की आवश्यकता नहीं है। यदि गुप्तियाँ बतानी हैं तो चौथे व्रत को अलग से बताना व्यर्थ है।

उत्तर—चौथे व्रत में किसी भी प्रकार का अपवाद नहीं होता। यह बताने के लिए ब्रह्मचर्य की गुप्तियाँ अलग से बताई गई। चौथे व्रत के सिवाय भगवान ने एकान्ततः न तो किसी का निषेध किया है, न किसी की अनुमति दी है। मात्र अब्रह्म का ही एकान्त से निषेध किया है। क्योंकि बिना राग के अब्रह्म का सेवन नहीं होता। अथवा प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर परमात्मा के शासन में चौथा व्रत, पाँचवें व्रत से सर्वथा भिन्न है यह बताने के लिए चौथा व्रत और उसकी गुप्तियाँ अलग से बताये गये हैं।

प्रश्न—यहाँ ज्ञानादि-त्रिक के स्थान पर, ज्ञान-दर्शन दो ही लेना चाहिये, क्योंकि चारित्र व्रतों में आ ही गया है?

उत्तर—चारित्र के सामायिकादि पाँच प्रकार हैं। व्रत रूप चारित्र उनका एक अंश है। व्रतरूप चारित्र लेने वाला पंचविध चारित्र का एक अंश ही ग्रहण करता है। चार प्रकार का चारित्र ग्रहण करना उसके लिए शेष रह जाता है। इसलिये ज्ञानादि-त्रिक कहा ताकि पाँचों चारित्र का ग्रहण हो जाय।

प्रश्न—संयम और तप अलग से नहीं कहना चाहिये, क्योंकि श्रमणधर्म में संयम और तप दोनों आ जाते हैं?

उत्तर—संयम और तप मोक्ष के प्रधान अंग होने से इन्हें अलग से कहना आवश्यक है।

प्रश्न—संयम और तप मोक्ष के प्रधान अंग किस प्रकार है?

उत्तर—नवीन कर्म बंधन से आत्मा को बचाने वाला संवर रूप संयम है और पूर्वसंचितकर्म को क्षय करने वाला तप है। जैसे कहा जाता है कि "ब्राह्मण आये, वशिष्ठ भी आये हैं।" यहाँ 'वशिष्ठ का आना' अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वशिष्ठ भी ब्राह्मण है, अतः ब्राह्मणों के आने से वशिष्ठ का आना भी समझा जा सकता है, फिर अलग से कहना उनकी प्रधानता का सूचक है।

प्रश्न—'वैयावृत्य' तप के अन्तर्गत आ जाता है फिर उसका अलग से ग्रहण क्यों किया?

उत्तर—अनशन आदि तप केवल अपना ही उपकार करते हैं किन्तु वैयावृत्य ऐसा नहीं है। यह स्व और पर दोनों का उपकारी है। यह भेद बताने के लिए वैयावृत्य को अलग से कहा।

प्रश्न—क्रोधादि का निग्रह श्रमणधर्म (दशविध यतिधर्म) के अन्तर्गत आ जाता है, अतः उन्हें अलग से क्यों कहा?

उत्तर—क्रोधादि के दो प्रकार हैं— **(i)** उदीर्ण और **(ii)** अनुदीर्ण।

(i) उदीर्ण क्रोधादि को रोकना, यह क्रोधादि निग्रह है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ii) अनुदीर्ण क्रोधादि के उदय को रोकना, क्षमा नम्रता आदि है। यह बताने के लिये श्रमणधर्म और क्रोधादि निग्रह को अलग से ग्रहण किया।

अथवा वस्तु तीन प्रकार की है—(i) ग्राह्य (ii) हेय और (iii) उपेक्षणीय।

(i) क्षमा आदि ग्राह्य हैं, (ii) क्रोधादि हेय हैं अतः उनका निग्रह करना चाहिये। यह दिखाने के लिए क्रोधादि निग्रह को अलग से ग्रहण किया।

इस प्रकार सारे विकल्प समाहित हो जाते हैं॥ ५५१ ॥

पाँचव्रत—

१. प्राणातिपात विरति — अज्ञान, संशय, विपर्यय, द्वेष, स्मृतिभंग, योग दुष्प्रणिधान, राग, धर्म का अनादर, इन अष्टविध प्रमादवश त्रस व स्थावर जीवों का वध करना—प्राणातिपात है और उसका त्याग प्राणातिपात विरति अर्थात् सम्यक् ज्ञान व श्रद्धापूर्वक निवृत्ति प्रथम व्रत है।

२. मृषा-विरति — प्रिय, पथ्य और तथ्य वचन बोलना।

प्रिय = सुनने में मधुर।

पथ्य = जिसका परिणाम हितकर हो।

तथ्य = सत्य।

बात सत्य है, किंतु अप्रिय है, जैसे चोर को कहना "तूं चोर है।" कोढ़ी को कहना "तूं कोढ़ी है।" असत्य कहलाता है। सत्य होने पर भी जो अहितकर है, जैसे शिकारी ने पूछा कि "तुमने इधर से हरिण को जाते हुए देखा और देखने वाला कहे कि "हाँ, देखा।" इस प्रकार का कथन हिंसा का कारण होने से सत्य होते हुए भी असत्य ही है। इस प्रकार असत्य की निवृत्ति दूसरा व्रत है।

३. अदत्त विरति — मालिक की आज्ञा के बिना वस्तु ग्रहण करना। इसके चार भेद हैं—

स्वामी-अदत्त, जीव-अदत्त, तीर्थंकर-अदत्त और गुरु-अदत्त।

— (i) मालिक की आज्ञा के बिना तृणादि ग्रहण करना।

— (ii) स्वामी की आज्ञा हो, किंतु जिस जीव से सम्बन्धित वस्तु है, वह जीव देना नहीं चाहता हो और उसे ग्रहण करना जीव अदत्त है। जैसे दीक्षार्थी की इच्छा दीक्षा ग्रहण की न हो और माता-पिता जबर्दस्ती उसे गुरु को देना चाहे या सचित्त मिट्टी आदि देना चाहे। यहाँ मालिक की आज्ञा है, किंतु जीव की आज्ञा नहीं है।

— (iii) तीर्थंकर परमात्मा के द्वारा निषिद्ध आधाकर्मी आदि आहार का ग्रहण करना तीर्थंकर अदत्त है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

— (iv) गृहस्थ के द्वारा दी गई वस्तु, आहार आदि गुरु की आज्ञा के बिना ग्रहण करना गुरु अदत्त है।

४. मैथुन विरति — मैथुन से विरति ब्रह्मचर्य है।

५. परिग्रह विरति — नवविध परिग्रह से विरति 'अपरिग्रह' है। (विरतिः मूर्च्छापरिहारेण निवृतिः) जो ग्रहण किया जाय वह परिग्रह है, जैसे धन, धान्य, क्षेत्र, वास्तु, रूप्य, सुवर्ण, चतुष्पद, द्विपद और कुप्य। मात्र द्रव्य का त्याग करना ही अपरिग्रह नहीं है, किन्तु मूर्च्छा का त्याग करना ही सच्चा 'अपरिग्रह' है। आत्मसाधना में साधनभूत वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों को रखते हुए भी निर्मम एवं अनासक्त होने से मुनि अपरिग्रही व प्रशम-सुख के भागी हैं और जिनके पास कुछ भी नहीं है, पर आसक्ति के कारण चिन्ताग्रस्त रहने से वे सदा दुःखी हैं। कहा है—'धर्म के साधनभूत, संयम में उपकारी, वस्त्र-पात्र आदि निःस्पृह मुनि के लिए परिग्रह रूप नहीं होते जैसे शरीर (शरीर में मूर्च्छा न होने से जैसे वह परिग्रह रूप नहीं होता)।'

महाव्रत — महान् है जो व्रत वह महाव्रत। सभी जीवादि विषयक होने से महान् है।

- पहला महाव्रत सर्वजीवविषयक हिंसा की विरतिरूप है।
- दूसरा और पाँचवाँ महाव्रत सर्वद्रव्यविषयक है।
- शेष महाव्रत विशेषद्रव्यविषयक है।

दव्वओणं पाणाइवाए छसु जीवनिकायेसु

दव्वओणं मुसावाए सव्वदव्वेसु

दव्वओणं परिग्गहे सव्वदव्वेसु (पक्खी सूत्र)

ये मुनियों के पाँच महाव्रत हैं। चार नहीं, क्योंकि प्रथम व अन्तिम जिन के शासन में पाँच ही महाव्रत होते हैं॥ ५५२ ॥

१०. श्रमणधर्मः

क्षान्ति = क्षमा, क्रोध का अभाव। शक्ति हो या न हो, पर सहन करना।

मार्दव = नम्रता, गर्व का अभाव।

आर्जव = माया का अभाव। सरलता रखना।

मुक्ति = बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह के प्रति तृष्णा का अभाव।

तप = जिससे आत्मा पर लगे हुए कर्म विगलित हों (१२ प्रकार)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संयम = नये कर्मों को आते हुए रोकना (आस्रवविरति)।
सत्य = मृषावाद विरति।
शौच = निरतिचार संयम का पालन।
आकिंचन्य = शरीर, धर्मोपकरण आदि में ममत्व का अभाव।
ब्रह्मचर्य = नवविध ब्रह्मचर्य की गुप्ति से युक्त ब्रह्मचर्य का पालन।

अन्यमते—

खंती मुत्ती अज्जव मद्दव तह लाघवे तवे चेव।
संजम चियागऽकिंचन, बोद्धव्वे बंभचेरे य॥

(i) लाघव = द्रव्यतः = अल्प उपधि रखना। भावतः = गौरवादि का त्याग करना।
(ii) त्याग = सर्व परिग्रह का त्याग, साधु आदि को वस्त्रादि का दान देना॥ ५५३ ॥

१७ प्रकार का संयम—

५. कर्मबंध के हेतुभूत प्राणातिपातादि आस्रवों की विरति
५. इन्द्रिय निग्रह (शब्दादि विषयों के प्रति अत्यन्त राग न करना)
४ कषाय पर विजय (उदयगत को विफल करना, अनुदित को रोकना)
३ दण्ड = अविवेकपूर्वक प्रवृत्त मन, वचन, काया दण्ड कहलाते हैं, क्योंकि वे आत्मा के चारित्ररूप ऐश्वर्य के नाशक हैं। इन तीनों की अशुभ प्रवृत्ति का निरोध करना॥ ५५४ ॥

अन्य प्रकार से

१-९ जीव संयम—पृथ्वीकायादि ९ (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय) का तीन योग (मन, वचन, काया) और तीन करण (करना, कराना और अनुमोदना) से संरम्भ, समारंभ और आरम्भ का त्याग करना यह नव प्रकार का जीव संयम है।

१. मन से पृथ्वीकाय आदि का संरम्भ न करना।
२. मन से पृथ्वीकाय आदि का संरम्भ न कराना।
३. मन से पृथ्वीकाय आदि के संरम्भ का अनुमोदन न करना।
४. वचन से पृथ्वीकाय आदि का संरम्भ न करना।
५. वचन से पृथ्वीकाय आदि का संरम्भ न कराना।
६. वचन से पृथ्वीकाय आदि के संरम्भ का अनुमोदन न करना।
७. काया से पृथ्वीकाय आदि का संरम्भ न करना।
८. काया से पृथ्वीकाय आदि का संरम्भ न कराना।
९. काया से पृथ्वीकाय आदि के संरम्भ का अनुमोदन न करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संरम्भ — कार्य करने का संकल्प करना।

समारम्भ — संकल्प के अनुसार कार्य के उपयोगी साधन जुटाना।

आरम्भ — कार्य करना।

१०. अजीव संयम — प्रमादादि दोषों के कारण जिनकी बुद्धि, आयु, श्रद्धा, संवेग, बल आदि हीन हैं, ऐसे शिष्यों के अनुग्रह के लिये पुस्तक आदि रखना पड़े तो प्रमार्जना, प्रतिलेखनापूर्वक रखना।

११. प्रेक्षा संयम — दृष्टि से देखकर सचित्त बीज, जंतु आदि से रहित भूमि पर शयन, आसन, गमन आदि करना।

१२. उपेक्षा संयम — पाप व्यापार करते हुए गृहस्थ की उपेक्षा करना। उसे यह नहीं कहना कि 'तुम जो ग्राम चिन्तादि कर रहे हो, उसे उपयोगपूर्वक करना।'

अथवा (अन्यमते) —

प्रेक्षा संयम — संयम में शिथिल होते हुए साधु को दृढ़ होने की प्रेरणा देना।

उपेक्षा संयम — पार्श्वस्थ आदि की क्रियाओं के प्रति उपेक्षा रखना।

१३. प्रमार्जना संयम — दृष्टि से देखी हुई वसति की प्रमार्जना करके ही शयन आदि करना। वस्त्र, पात्रादि की प्रमार्जना करके ही उठाना और रखना। गाँव में प्रवेश करते या निकलते काली मिट्टी के प्रदेश से पीली मिट्टी के प्रदेश में प्रवेश करते या निकलते समय, सचित्त-अचित्त या मिश्ररज से भरे हुए पैरों की प्रमार्जना करना अन्यथा गाँव की अचित्त रज से पैरों में लगी सचित्तरज के जीवों का उपघात होगा। (किन्तु गृहस्थ के देखते पद-प्रमार्जना नहीं करना)।

पायाई सागरिए अपमज्जित्तावि संजमो होइ।

ते चेव पमज्जंतेऽसागरिए संजमो होइ॥

कहा है कि—गृहस्थ के देखते पाँव की प्रमार्जना नहीं करना ही संयम है और गृहस्थ न हो तब पाँव की प्रमार्जना करना संयम है।

१४. परिष्ठापनासंयम — जीवाकुल, अविशुद्ध व अनुपकारी, भात-पानी, वस्त्र-पात्र आदि को जीव रहित स्थान में विधिपूर्वक परठना।

१५. मन संयम — द्रोह-ईर्ष्या, अभिमान आदि से निवृत्त होकर धर्म-ध्यान, शुक्ल ध्यान में प्रवृत्त होना।

१६. वचन संयम — हिंसक और कठोर भाषा से निवृत्ति तथा शुभ-मधुर वचनों का प्रयोग करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७. काय संयम — आवश्यक कार्यों के लिए उपयोगपूर्वक गमनागमन करना ॥ ५५५ ॥

१० वैयावच्च—स्वयं को दूसरों की सेवा में जोड़ना व्यावृत्ति है, उसका भाव वैयावृत्य है।

१. आचार्य, २. उपाध्याय, ३. तपस्वी विकृष्ट-अविकृष्ट रूप तप करने वाला। विकृष्ट—कठोर, अविकृष्ट—अकठोर, ४. शैक्ष (नूतन दीक्षित जो अभी शिक्षा देने योग्य है), ५.ग्लान (ज्वरादि का रोगी), ६. स्थविर, ७. समनोज्ञ (एक समाचारी वाला), ८. संघ (चतुर्विध), ९. कुल (चन्द्रादि = अनेक सजातीय गच्छों का समूह), १० गण (कुल का समूह = कोटिकादि गण)। गच्छ = एक आचार्य से निर्मित साधु समूह।

आचार्य आदि की अन्न, पान, वस्त्र, पात्र, उपाश्रय, पाट, संस्तारक आदि धर्म साधनों के द्वारा सेवा करना। रोगादि के समय में दवा आदि के द्वारा परिचर्या करना। उपसर्ग के समय देखभाल करना ॥ ५५६ ॥

९ ब्रह्मचर्य गुप्ति—

१. वसति — स्त्री, पशु और नपुंसक से रहित वसति में रहना। स्त्रियाँ दो प्रकार की हैं—देवी व मानुषी। इन दोनों के दो-दो भेद हैं—सचित्त और अचित्त। सचित्त अर्थात् सजीव स्त्री। अचित्त—चित्रलिखित व मूर्तिरूप स्त्री।

पशु—गाय, भैंस, घोड़ी आदि जिनके मैथुन की सम्भावना है।

पण्डक—नपुंसक महामोहनीय कर्म के उदयवाले, स्त्री व पुरुष दोनों के सेवन की अभिलाषा वाले।

इन तीनों से व्यस्त वसति में साधु को नहीं रहना चाहिये। क्योंकि उनकी चेष्टायें देखकर साधु के भी मनोविकार पैदा होने की सम्भावना रहती है। इससे ब्रह्मचर्य दूषित होता है।

२. स्त्री कथा — **(i)** केवल स्त्रियों के सम्मुख धर्मोपदेश न देना।

— **(ii)** स्त्री से सम्बन्धित चर्चा न करना।

स्त्री सम्बन्धी कथा जैसे कर्णाटक की स्त्री काम-क्रीड़ा में निपुण होती है। लाटी स्त्री कौशल प्रिय होती है आदि चर्चा मुनि को नहीं करना चाहिये। रागपोषक स्त्री कथा जैसे, स्त्री के देश, जाति, कुल, वेशभूषा, भाषा, गति, विलास, गीत, हास्य, क्रीड़ा, कटाक्ष, प्रणय सम्बन्धी कलह तथा शृंगार रसपूर्ण कथा मुनियों के मन को भी विकारी बना देती है अतः ऐसी कथायें मुनियों को नहीं करना चाहियें।

३. आसन — स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठना। जिस स्थान पर स्त्री बैठी हो, उस स्थान पर एक मुहूर्त तक (४८ मिनट तक) ब्रह्मचारी न बैठे। स्त्री के उपयोग में लिये गये आसन पर बैठने से, स्पर्शदोष के कारण मन चंचल होने की सम्भावना रहती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इत्थीए मलिय सयणासणंमि तप्फासदोसओ जइणो।

दूसेइ मणं मयणो कुट्ठं जह फासदोसेणं॥

अर्थ—स्पर्श दोष से जैसे कुष्ठरोग शरीर को दूषित कर देता है वैसे स्त्री सेवित शयन-आसन का उपयोग करने से काम मन को दूषित कर देता है।

४. इन्द्रिय — नारी के सुन्दर अंगोपांग को राग दृष्टि से न देखना। उनका चिन्तन न करना। अवलोकन और चिन्तन से निश्चित मोह का उदय होता है।

५. कुड्यांतर — भले भींत की आड़ हो, किन्तु जहाँ पति-पत्नी का प्रेमालाप सुनाई देता हो, ऐसे स्थान में ब्रह्मचारी को नहीं रहना चाहिये।

६. पूर्वक्रीड़ा — गृहस्थावस्था में भोगे हुए भोग, जुआ आदि का साधु जीवन में कदापि स्मरण नहीं करना चाहिये। स्मरण करने से ईधन डालने से भड़की हुई आग की तरह "काम" उत्तेजित होता है।

७. प्रणीताहार — अतिस्निग्ध-अत्यन्त मधुर रसयुक्त आहार न करना (ऐसा आहार करने से धातु पुष्ट होते हैं, "काम" उत्तेजित होकर ब्रह्मचर्य को दूषित करता है)।

८. अति आहार — रूखा-सूखा भी आहार अधिक मात्रा में नहीं करना चाहिये इससे ब्रह्मचर्य का भंग एवं शारीरिक पीड़ा की सम्भावना रहती है।

९. विभूषा — शरीर की स्नान-विभूषा आदि नहीं करना (स्नान-विलेपन करना, नख, दाँत, केश आदि को सँवारना। ये सब विकारवर्धक होने से ब्रह्मचर्य को दूषित करते है)। शरीर अशुचि का घर है, उसे संस्कारित करने का प्रयास व्यर्थ है।

पूर्वोक्त नौ ब्रह्मचर्य की रक्षा के उपाय हैं। इनका पालन करने से ब्रह्मचर्य विशुद्ध बनता है॥५५७॥

३. ज्ञानादि—

ज्ञान — ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न बोध। ज्ञान का हेतु होने से अंग, उपांग, प्रकीर्णक आदि भी ज्ञान है।

दर्शन — जीव-अजीव आदि तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा।

चारित्र — सभी पाप-व्यापारों का ज्ञान व श्रद्धापूर्वक त्याग। वह त्याग दो प्रकार का है—देशत: व सर्वत:।
देशत: श्रावक का, सर्वत: मुनि का॥ ५५८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२ तप — अनशनादि ६ बाह्यतप + प्रायश्चित्त आदि, ६ आभ्यन्तर तप (अतिचार के वर्णन में विस्तार से बताया है) ॥ ५५९-५६० ॥

४. क्रोधादि — संसार भ्रमण के कारणभूत क्रोधादि चार कषायों का निग्रह ॥५६१ ॥

६७ द्वार : करण-भेद—

पिंडविसोही समिई भावण पडिमा य इंदियनिरोहो ।
पडिलेहण गुत्तीओ अभिग्गहा चेव करणं तु ॥५६२ ॥
सोलस उग्गमदोसा सोलस उपायणाय दोसत्ति ।
दस एसणाय दोसा बायालीसं इह हवन्ति ॥५६३ ॥
आहाकम्मुद्देसिय पूईकम्मे य मीसजाए य ।
ठवणा पाहुडियाए पाओयर कीय पामिच्चे ॥५६४ ॥
परियट्टिए अभिहडुब्भिन्ने मालोहडे य अच्छिज्जे ।
अणिसिट्ठेऽज्झोयरए सोलस पिण्डुग्गमे दोसा ॥५६५ ॥
धाई दूई निमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छा य ।
कोहे माणे माया लोभे य हवंति दस एए ॥५६६ ॥
पुव्वि पच्छा संथव विज्जा मंते य चुण्ण जोगे य ।
उप्पायणाय दोसा सोलसमे मूलकम्मे य ॥५६७ ॥
संकिय मक्खिय निक्खित्त पिहिय साहरिय दायगु मिस्से ।
अपरिणय लित्त छड्डिय एसणदोसा दस हवंति ॥५६८ ॥
पिंडेसणा य सव्वा संखित्तोयरइ नवसु कोडीसु ।
न हणइ न किणइ न पयइ कारावणअणुमईहि नव ॥५६९ ॥
कम्मुद्देसियचरिमे तिय पूइयमीसचरिमपाहुडिया ।
अज्झोयर अविसोही विसोहिकोडी भवे सेसा ॥५७० ॥
इरिया भासा एसण आयाणाईसु तह परिट्ठवणा ।
सम्मं जा उ पवित्ती सा समिई पंचहा एवं ॥ ५७१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पढममणिच्च-मसरणं संसारो एगया य अन्नत्तं ।
असुइत्तं आसव संवरो य तह निज्जरा नवमी ॥५७२ ॥
लोगसहावो बोहि य दुलहा धम्मस्स साहओ अरहा ।
एयाउ हुंति बारस जहक्कमं भावणीयाओ ॥५७३ ॥
मासाई सत्तंता पढमा बिइ तइय सत्तराइदिणा ।
अहराइ एगराई भिक्खुपडिमाण बारसगं ॥५७४ ॥
पडिवज्जइ एयाओ संघयणधिइजुओ महासत्तो ।
पडिमाओ भावियप्पा सम्मं गुरुणा अणुन्नाओ ॥५७५ ॥
गच्छेच्चिय निम्माओ जा पुव्वा दस भवे असंपुण्णा ।
नवमस्स तइय वत्थुं होइ जहण्णो सुआभिगमो ॥५७६ ॥
वोसट्ठचत्तदेहो उवसग्गसहो जहेव जिणकप्पी ।
एसणअभिग्गहीया भत्तं च अलेवडं तस्स ॥५७७ ॥
गच्छा विणिक्खमित्ता पडिवज्जइ मासियं महापडिमं ।
दत्तेगा भोयणस्सा पाणस्सवि तत्थ एग भवे ॥५७८ ॥
जत्थऽत्थमेइ सूरो न तओ ठाणा पयंपि संचलइ ।
नाएगराइवासी एगं च दुगं च अण्णाए ॥५७९ ॥
दुट्ठाण हत्थिमाईण नो भएणं पयंपि ओसरइ ।
एमाइनियमसेवी विहरइ जाऽखण्डिओ मासो ॥५८० ॥
पच्छा गच्छमुवेई एव दुमासी तिमासि जा सत्त ।
नवरं दत्ती वड्ढइ जा सत्त उ सत्तमासीए ॥५८१ ॥
तत्तो य अट्ठमीया भवई इह पढमं सत्तराइंदी ।
तीइ चउत्थचउत्थेणऽपाणएणं अह विसेसो ॥५८२ ॥
उत्ताणगणपासल्ली नेसज्जी वारि ठाण ठाइत्ता ।
सहउस्सग्गे घोरे दिव्वाई तत्थ अविकंपो ॥५८३ ॥
दोच्चावि एरिसच्चिय बहिया गामाइयाण नवरं तु ।
उक्कुडलगंडसाई दण्डाययउव्व ठाइत्ता ॥५८४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तच्चावि एरिसच्चिय नवरं ठाणं तु तस्स गोदोही ।
वीरासणमहवावि चिट्ठिज्जा अंबुखुज्जो वा ॥५८५ ॥
एमेव अहोराइ छट्ठं भत्तं अपाणगं नवरं ।
गामनगराण बहिया वग्घारियपाणिए ठाणं ॥५८६ ॥
एमेव एगराई अट्ठमभत्तेण ठाण बाहिरओ ।
ईसीपब्भारगए अणिमिसनयणेगदिट्ठीए ॥५८७ ॥
साहट्टु दोवि पाए वग्घारियपाणि ठायए ठाणं ।
वाघारियलंबियभुओ अंते य इमीइ लद्धित्ति ॥५८८ ॥
फासण रसणं घाणं चक्खू सोयंति इंदियाणेसिं ।
फास रस गंध वण्णा सद्दा विसया विणिद्दिट्ठा ॥५८९ ॥
पडिलेहणाण गोसावराण्हउग्घाडपोरिसीसु तिगं ।
तत्थ पढमा अणुग्गय सूरे पडिक्कमणकरणाओ ॥५९० ॥
मुहपोत्ति चोलपट्टो कप्पतिगं दो निसिज्ज रयहरणं ।
संथारुत्तरपट्टो दस पेहाऽणुग्गए सूरे ॥५९१ ॥
उवगरणचउद्दसगं पडिलेहिज्जइ दिणस्स पहरतिगे ।
उग्घाडपोरिसीए उ पत्तनिज्जोगपडिलेहा ॥५९२ ॥
पडिलेहिऊण उवहिं गोसंमि पमज्जणा उ वसहीए ।
अवरण्हे पुण पढमं पमज्जणा तयणु पडिलेहा ॥५९३ ॥
दोन्नि य पमज्जणाओ उउंमि वासासु तइय मज्झण्हे ।
वसहिं बहुसो पमज्जण अइसंघट्टऽन्नहिं गच्छे ॥५९४ ॥
मणगुत्तिमाइयाओ गुत्तीओ तिन्नि हुंति नायव्वा ।
अकुसलनिवित्तिरूवा कुसलपवित्तिस्सरूवा य ॥५९५ ॥
दव्वे खित्ते काले भावे य अभिग्गहा विणिद्दिट्ठा ।
ते पुण अणेगभेया करणस्स इमं सरूवं तु ॥५९६ ॥

—गाथार्थ—

करण के ७० भेद—**पिंडविशुद्धि, समिति, भावना, प्रतिमा, इन्द्रियनिरोध, प्रतिलेखन, गुप्ति और अभिग्रह—ये करण के ७० भेद हैं ॥५६२ ॥**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्गम के सोलह दोष, सोलह उत्पादना के दोष तथा दस एषणा के दोष—इस प्रकार गौचरी सम्बन्धी ४२ दोष हैं ॥५६३ ॥

१. आधाकर्म, २. औद्देशिक, ३. पूतिकर्म, ४. मिश्रजात, ५. स्थापना, ६. प्राभृतिका, ७. प्रादुष्करण, ८. क्रीत, ९. प्रामित्य, १०. परिवर्तित, ११. अभ्याहृत, १२. उद्भिन्न, १३. मालापहृत, १४. आच्छेद्य, १५. अनिसृष्ट एवं १६. अध्यवपूरक—ये सोलह उद्गम-दोष हैं ॥५६४-५६५ ॥

१. धात्री, २. दूती, ३. निमित्त, ४. आजीवक, ५. वणिमग, ६. चिकित्सा, ७. क्रोध, ८ मान, ९. माया, १०. लोभ, ११. पूर्व संस्तव-पश्चात् संस्तव, १२. विद्या, १३. मंत्र, १४. चूर्ण, १५. योग और १६. मूलकर्म—ये सोलह उत्पादना के दोष हैं ॥५६६-५६७ ॥

१. शंकित, २. प्रक्षित, ३. निक्षिप्त, ४. पिहित, ५. संहृत, ६. दायक, ७. मिश्र, ८. अपरिणत, ९. लिप्त, १० छर्दित—ये दस एषणा के दोष हैं ॥५६८ ॥

पिंडविशुद्धि का सार—सम्पूर्ण पिंडविशुद्धि का संक्षेप से नवकोटि में समावेश हो जाता है। स्वयं हिंसा न करना, स्वयं वस्तु न खरीदना तथा स्वयं न पकाना इन तीनों के कराने व अनुमोदन के साथ तीन-तीन भेद होने से कुल नौ भेद होते हैं ॥५६९ ॥

१. आधाकर्म, २. औद्देशिक के अन्तिम तीन भेद, ३. अध्यवपूरक, ४. पूतिकर्म, ५. मिश्रजात और ६. अन्तिम बादर प्राभृतिका—ये दोष अविशोधिकोटि के हैं। शेष सभी दोष विशोधिकोटि के हैं ॥५७० ॥

१. इर्यासमिति, २. भाषा समिति, ३. एषणा समिति, ४. आदान समिति तथा ५. परिष्ठापना समिति—ये ५ समितियाँ हैं। समिति अर्थात् सम्यग् उपयोगपूर्वक प्रवृत्ति करना ॥५७१ ॥

१. अनित्य, २. अशरण, ३. संसार, ४. एकत्व, ५. अन्यत्व, ६. अशुचित्व, ७. आस्रव, ८. संवर, ९. निर्जरा, १०. लोकस्वभाव, ११. बोधिदुर्लभ तथा १२. धर्मोपदेशक अरिहंत—इन बारह भावनाओं का यथाक्रम चिन्तन करना चाहिये ॥५७२-५७३ ॥

एक से सात प्रतिमायें क्रमशः १-२-३-४-५-६ एवं ७ मास की हैं। आठवीं, नौवीं और दसवीं ये तीन प्रतिमायें ७ अहोरात्रि की हैं। ग्यारहवीं प्रतिमा एक अहोरात्रि की तथा बारहवीं प्रतिमा एक रात्रि की है। इस प्रकार बारह भिक्षु प्रतिमा हैं ॥५७४ ॥

इन प्रतिमाओं को संघयणयुक्त, धैर्ययुक्त, महासत्त्वशाली, भावितात्मा तथा गुरु की आज्ञा जिसने प्राप्त करली है ऐसा आत्मा ही स्वीकार कर सकता है। गच्छ में रहकर जो आहारादि विषय में निपुण हो चुका हो, उत्कृष्ट से दशपूर्व तथा जघन्य से नौ पूर्व की तीसरी वस्तु का ज्ञाता, जिनकल्पी की तरह सदा कायोत्सर्गमुद्रा में रहनेवाला, उपसर्ग सहिष्णु, अभिग्रहपूर्वक भिक्षा ग्रहण करने वाला तथा अलेपकृत भिक्षा ग्रहण करने वाला आत्मा प्रतिमाधारी होता है ॥५७५-५७७ ॥

गच्छ से निकलकर मासिकी महाप्रतिमा स्वीकार करता है। उसमें आहार-पानी की एक-एक दत्ति होती है। जहाँ सूर्य अस्त होता है वहाँ से प्रतिमाधारी एक कदम भी आगे नहीं धरता। एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थान में एक रात ही ठहरता है। अज्ञात स्थान में दो रात भी रह सकता है। हस्ति आदि हिंसक पशुओं के भय से एक कदम भी मार्ग छोड़कर न चले। इस प्रकार नियमों का पालन करते हुए सम्पूर्ण मास व्यतीत करे ॥५७८-५८० ॥

पहली प्रतिमा का एक मास पूर्ण कर पुनः गच्छ में चला जाता हैं। इस प्रकार दो मास की, तीन मास की यावत् सात मास की प्रतिमा वहन करे। मात्र दत्ति की वृद्धि करते जाये, यथा सात मास की प्रतिमा में आहार व पानी की सात-सात दत्ति ग्रहण करे ॥५८१ ॥

तत्पश्चात् सात अहोरात्रि की आठवीं प्रतिमा है। उसमें विशेषता यह है कि चौविहार चतुर्थभक्त के पारणे चौविहार चतुर्थभक्त करे। ऊर्ध्वमुख करके या करवट लेकर या सोते हुए या बैठकर या विशेष आसन में स्थित होकर देवता सम्बन्धी घोर उपसर्गों को निश्चल भाव से सहन करे ॥५८२-५८३ ॥

सात अहोरात्रि की दूसरी अर्थात् नौवीं प्रतिमा भी पूर्ववत् गाँव आदि के बाहर उत्कटुक आसन, वक्रासन अथवा दण्डायत आसन में रहकर पूर्ण करे ॥५८४ ॥

सात अहोरात्रि की दसवीं प्रतिमा भी पूर्ववत् है। परन्तु इसमें गोदोहिकासन, वीरासन अथवा आम्रवत् वक्रासन में बैठे ॥५८५ ॥

ग्यारहवीं प्रतिमा भी पूर्ववत् है। परन्तु इस प्रतिमा में तप में चौविहार छट्ठ होता है और प्रतिमाधारी गाँव-नगर के बाहर हाथ लम्बे करके ध्यान में रहता है। बारहवीं एक अहोरात्रि की प्रतिमा भी इसी तरह है पर इसमें चौविहार अट्ठम होता है तथा प्रतिमाधारी गाँव से बाहर कुछ झुका हुआ अपलक नेत्रों को एक ही वस्तु पर टिकाकर ध्यान स्थित रहता है ॥५८६-५८७ ॥

दोनों पाँवों को एकत्रित करके, दोनों हाथों को लम्बे करके ध्यान में स्थित रहने वाले को अन्त में विशिष्ट लब्धियाँ प्राप्त होती हैं ॥५८८ ॥

१. स्पर्शन, २. रसन, ३. घ्राण, ४ चक्षु एवं ५ श्रोत्र—ये पाँच इन्द्रियाँ हैं और स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द ये ५ इन्द्रियों के विषय हैं ॥ ५८९ ॥

प्रतिदिन साधु को तीन बार पडिलेहण करनी चाहिए—१. प्रभात में, २. अपराण्ह में, ३ उग्घाड़ा पोरिसी में। प्रथम पडिलेहण प्रतिक्रमण करने के पश्चात् तथा सूर्योदय से पूर्व करनी चाहिये ॥५९० ॥

मुहपत्ति, चोलपट्टा, कल्पत्रय, दो निषद्या, रजोहरण, संस्तारक तथा उत्तरपट्ट इन दस का प्रतिलेखन सूर्योदय से पूर्व करना चाहिये ॥५९१ ॥

दिन के तीसरे प्रहर में १४ उपकरणों की प्रतिलेखना करे तथा उग्घाड़ा पोरिसी के समय सप्तविध पात्र नियोग की प्रतिलेखना करे ॥५९२ ॥

सुबह उपधि-पडिलेहण करने के पश्चात् वसति की 'पडिलेहणा' करे। किन्तु अपराह्न में वसति की प्रमार्जना करने के पश्चात् उपधि-पडिलेहण करे ॥५९३ ॥

शीतोष्ण काल में वसति-प्रमार्जन दो बार होता है पर वर्षाकाल में तीसरी बार मध्याह्न में भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करे। यदि जीवोत्पत्ति अधिक हो तो दोनों काल में अधिक बार भी वसति-प्रमार्जन करना चाहिये। यदि जीवों का उपद्रव बहुत अधिक हो तो अन्य वसति में या दूसरे गाँव में चला जाना चाहिये ॥५९४॥

मनोगुप्ति आदि तीन प्रकार की गुप्तियाँ हैं। गुप्ति अप्रशस्त योग से निवृत्ति एवं प्रशस्त योग में प्रवृत्ति रूप है ॥५९५॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से अभिग्रह के ४ प्रकार हैं। इनके भी निमित्त भेद से अनेक भेद हैं ॥५९६॥

—विवेचन—

करण सप्तति = मोक्ष के अर्थी मुनियों के करने योग्य सत्तर बातें।
प्राणातिपातविरति आदि मूलगुण के अस्तित्व में ही इनका अस्तित्व है।

१. **पिंडविशुद्धि** = सजातीय व विजातीय अनेक द्रव्यों का एकत्र मिलन 'पिण्ड' कहलाता है। विशुद्धि आधाकर्मादि दोषरहित। अर्थात् ४२ दोषरहित आहार-पानी ग्रहण करना।

२. **समिति** = जिनाज्ञा के अनुसार चेष्टा—गमनागमन आदि करना।

३. **भावना** = 'अनित्य' आदि १२ भावना का चिन्तन करना।

४. **प्रतिमा** = अभिग्रह विशेष धारण करना।

५. **इन्द्रियनिरोध** = इष्ट विषय में राग तथा अनिष्ट विषय में द्वेष न करना।

६. **प्रतिलेखना** = चोलपट्टा आदि उपकरणों का जीवदया हेतु आगमानुसार निरीक्षण करना।

७. **गुप्ति** = मुमुक्षु आत्मा द्वारा अपने योगों का निग्रह करना।

८. **अभिग्रह** = द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सम्बन्धी अनेक प्रकार के नियम रखना।

प्रश्न—'एषणा समिति' कहने से ही 'पिण्डविशुद्धि' आ जाती है तो अलग से पिण्डविशुद्धि की चर्चा करना व्यर्थ है?

उत्तर—एषणा केवल 'पिण्ड' की ही नहीं होती परन्तु 'वसति' वस्त्र आदि की भी होती है अतः उनके लिये एषणा समिति आवश्यक है। पिण्डविशुद्धि का अलग से कथन यह बताने के लिये आवश्यक है कि मुनि को कारण से ही 'पिण्ड' का ग्रहण करना चाहिये, अथवा यह बताने के लिये कि आहार के बिना 'पिण्ड-विशुद्धि' आदि 'करणसत्तरी' का पालन अशक्य है ॥ ५६२ ॥

१. पिण्डविशुद्धि—दोषरहित आहार।

दोष = आधाकर्मि आदि १६ उद्गमदोष, धात्री आदि १६ उत्पादना दोष तथा शंकित आदि १० एषणा के दोष। कुल ४२ दोष हैं।

- **उद्गमदोष** —आहार बनाते समय गृहस्थ की ओर से लगने वाले दोष।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- **उत्पादनादोष**—आहार लेते समय साधु की ओर से लगने वाले दोष। यह मूलतः शुद्ध पिण्ड को अशुद्ध करता है।
- **एषणा दोष**—आहार ग्रहण करते समय शंका आदि दोषों के द्वारा उसका शोधन करना॥ ५६३॥

उद्गम दोष : १६

१. आधाकर्म — **आधा** = साधु के निमित्त संकल्प करना कि अमुक साधु के लिये मुझे आहार बनाना चाहिये।

कर्म = पाकादि क्रिया करना। उपचार से आहार-पानी भी 'आधाकर्म' कहलाता है। दोषों के प्रसंग में दोषवान् की चर्चा दोष व दोषवान् के अभेद की सूचक है। अथवा साधु के निमित्त आहार-पानी आदि बनाना। सचित्त को अचित्त करना। अचित्त को पकाना आदि आधाकर्म है।

२. औद्देशिक — अपने व सभी याचकों के लिए एक साथ भोजन बनाना या अपने लिये बनाये गये आहारादि को साधु के लिए विशेष-रूप से संस्कारित करना। जैसे अपने लिये भात आदि बनाये हों उनमें से कुछ भात आदि साधु के लिए अलग से बघार कर रखना।

औद्देशिक के दो प्रकार हैं—(i) ओघतः (ii) विभागतः।

(i) ओघतः — यदि यहाँ कुछ भी नहीं दूँगा तो भवान्तर में मुझे कुछ भी नहीं मिलेगा, ऐसा सोचकर भिक्षा देने के लिये अपने लिये बनायी जाने वाली वस्तु में वृद्धि करना। दुर्भिक्ष में भूख सहन करने वाला व्यक्ति सुभिक्ष हो जाने पर विचार करे कि मेरा जीवन बड़ी कठिनाई से बचा है। मेरे पास जीविका का साधन है, यद्यपि मैं सभी अतिथियों की पूर्ति कर सकूँ, इतनी मेरी शक्ति नहीं है, तथापि कुछ दान तो दे ही सकता हूँ। इस जीवन में दान, पुण्य किये बिना परलोक में स्वर्ग आदि की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि प्रकृति का नियम है कि दिये बिना नहीं मिलता। अतः दानादि पुण्य करना चाहिये। ऐसा सोचकर अपने लिये बनाये जाने वाला आहार अधिक मात्रा में बनाना (भोजन का इतना भाग मेरे लिये है और इतना देने के लिए है ऐसा विभाग किये बिना)। यह ओघतः औद्देशिक है।

(ii) विभागतः — विवाह बीतने के बाद शेष बचे हुए पदार्थों में से कुछ हिस्सा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दान हेतु अलग से रखना विभागत: औद्देशिक है—इसके तीन भेद हैं—

(i) उद्दिष्ट, **(ii)** कृत और **(iii)** कर्म।

(i) उद्दिष्ट— अपने लिये बनाये हुए भोजन में से दान के लिये कुछ हिस्सा अलग निकाल कर रखना।

(ii) कृत— बचे हुए भोजन को दान हेतु संस्कारित करना, जैसे चावल का करबा आदि बनाना।

(iii) कर्म— विवाह आदि में बचे हुए लड्डू आदि के चूर्ण को देने हेतु चासनी डालकर पुन: लड्डू बनाना।

उद्दिष्ट, कृत और कर्म इन तीनों के चार-चार भेद हैं—

(i) उद्देश, **(ii)** समुद्देश, **(iii)** आदेश और **(iv)** समादेश।

(i) उद्देश — जितने भी भिखारी, पाखण्डी या गृहस्थ आयेंगे, सभी को भिक्षा दी जायेगी, इस प्रकार का संकल्प करना, वह उद्देश।

(ii) समुद्देश — यह भिक्षा पाखण्डियों (व्रतियों) को दी जायेगी, ऐसा संकल्प करना, समुद्देश है।

(iii) आदेश — यह भिक्षा श्रमणों (बौद्धादिकों) को दी जायेगी, ऐसा संकल्प करना, आदेश है।

(iv) समादेश — यह भिक्षा निर्ग्रन्थ (मुनियों) को दी जायेगी, ऐसा संकल्प करना, समादेश है।

इस प्रकार उद्दिष्ट आदि तीन और उद्देश, समुद्देश आदि चार ३ × ४ = १२ भेद विभागत: औद्देशिक के हैं।

प्रश्न—आधा-कर्म और कर्म औद्देशिक इन दोनों में क्या अन्तर है?

उत्तर—जो पहले से ही साधु के लिए बनाया हो, वह आधाकर्म है, किन्तु पहले बनाया तो अपने लिये हो पर बाद में उसी में से साधु के लिये बढ़ाना या उसे ही विशेष रूप से संस्कारित करना कर्म औद्देशिक है।

३. पूतिकर्म — निर्दोष आहार पानी के साथ सदोष आहार-पानी का संमिश्रण पूतिकर्म है। जैसे, अशुचि पदार्थ का एक कण भी पवित्र भोजन को अपवित्र एवं अग्राह्य बना देता है वैसे, सदोष आहार का लेश-मात्र भी भोजन को अपवित्र व अग्राह्य बना देता है। पूतिदोष से दूषित आहार-पानी का उपयोग करने वाले मुनि का चारित्र दूषित बनता है। यहाँ तक कि आधा-कर्म आदि दोषों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से दूषित आहार के अवयवों से युक्त थाली, कटोरी, चम्मच आदि में आहार लेना भी मुनि को नहीं कल्पता।

४. मिश्र-जात — परिवार और साधु दोनों का संकल्प करके बनाया हुआ भोजनादि। यह तीन प्रकार का है—(i) यावदर्थिक मिश्र (ii) पाखंडी मिश्र (iii) साधु-मिश्र।

(i) **यावदर्थिक मिश्र**—परिवार के लिये तथा गृहस्थ, पाखंडी, भिखारी आदि को देने के लिये एक साथ बनाया हुआ भोजन।

(ii) **पाखंडी मिश्र**—परिवार और पाखंडी के लिये एक साथ बनाया हुआ भोजन।

(iii) **साधु-मिश्र**—केवल परिवार और मुनि के लिये एक साथ बनाया हुआ भोजन।

५. स्थापना — 'यह मुनियों को देना है' ऐसा सोचकर आहारादि कुछ समय तक अलग निकालकर रखना।

(i) चूल्हे पर रखना, स्वस्थान स्थापना, (ii) छींका, टोकरी आदि में रखना परस्थान स्थापना। काल से अल्प-समय तक या अधिक समय तक रखना।

६. प्राभृत — किसी इष्ट या पूज्य के लिये बहुमानपूर्वक दी जाने वाली इच्छित वस्तु प्राभृत/भेंट कहलाती है। साधु पूज्य हैं, अतः उन्हें दी जाने वाली भिक्षा भी उपचार से प्राभृत कहलाती है अथवा साधु को देने की भावना से बनाई गई भिक्षा प्राभृतिका कहलाती है। वह दो प्रकार की है—

(i) बादर और (ii) सूक्ष्म।

(i) **बादर**—अधिक आरम्भ-युक्त भिक्षा बादर प्राभृतिका।

(ii) **सूक्ष्म**—अल्प आरम्भ-युक्त भिक्षा सूक्ष्म-प्राभृतिका।

ये दोनों दो प्रकार के हैं—१. उत्ष्वष्कण, २. अवष्वष्कण।

१. निर्धारित समय के बाद आरम्भ करके बनाई गई भिक्षा उत्ष्वष्कण प्राभृतिका है।

२. निर्धारित समय से पूर्व आरम्भ करके बनाई गई भिक्षा अवष्वष्कण प्राभृतिका है।

बादर उत्ष्वष्कण-अवष्वष्कण प्राभृतिका—

श्रावक ने अपने पुत्रादि की शादी की तिथि निश्चित कर दी, किन्तु गाँव में साधु महाराज नहीं होने से सोचे कि "साधु महाराज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की अनुपस्थिति से शादी में आहार आदि का लाभ नहीं मिलेगा। अत: जब गुरु महाराज पधारेंगे, तभी शादी-विवाह करूँगा। वही आहारादि पवित्र है, जो सत्पात्र में दिये जाते हैं।

तदेवाशनादिकं सफलं यो सुपात्रेषु विनियोगं याति।

इस प्रकार गुरु के आने के बाद लग्न करना। यह बादर उत्ष्वष्कण प्राभृतिका है।

साधु का आगमन हो जाने पर, निश्चित तिथि से पूर्व या पश्चात् विवाह आदि करना बादर अवष्वष्कण प्राभृतिका है।

सूक्ष्म उत्ष्वष्कण-अवष्वष्कण प्राभृतिका—

सूत कात रही अपनी माँ से बच्चा खाना माँग रहा है, किन्तु माँ पड़ोस में भिक्षा के लिये आये हुए मुनि को देखकर बच्चे को कहती है कि "थोड़ी देर शान्ति रख। मुनि गोचरी के लिये अपने घर आयेंगे, तब उन्हें भिक्षा देने के लिए उठना पड़ेगा उस समय तुझे भी खाना दूँगी।" इस प्रकार साधु को भिक्षा देने के बाद, बच्चे को खाना देना, सूक्ष्म उत्ष्वष्कण।

बच्चे को कहा कि खाना बाद में देंगे, किन्तु साधु के जल्दी आ जाने से उन्हें भिक्षा देकर साथ ही बच्चे को भी खाना देना, यह सूक्ष्म अवष्वष्कण है।

नोट—यहाँ मुख्य रूप से गृहस्थ का उठना, साधु को भिक्षा देने के लिये है। बच्चे को भोजन देना आनुषांगिक है। बच्चे को भोजन देकर गृहस्थ हाथ आदि धोता है। इससे अप्काय जीवों की विराधना होती है। इसमें साधु निमित्त बनने से दोष लगता है।

७. प्रादुष्करण — इसके दो अर्थ हैं—१. प्रकट करना, २. प्रकाश करना। अन्धेरे में रखा हुआ आहार-पानी साधु नहीं लेंगे, ऐसा सोचकर मणि, अग्नि, दीपक आदि का प्रकाश करना। खिड़की निकालना। छोटे द्वार को बड़ा करवाना। भींत आदि में छिद्र रखना। इस प्रकार साधु को देने योग्य वस्तु को प्रकाशित करना प्रादुष्करण है।

अन्धेरे में रखी हुई भिक्षा साधु नहीं लेंगे, इस भय से चूल्हा आदि प्रकाश वाले स्थान में बनाना अथवा वस्तु को अन्धेरे से प्रकाश में लाकर रखना। इस प्रकार वस्तु को प्रकट करना भी प्रादुष्करण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोनों ही प्रादुष्करण षट्काय जीव की विराधना के हेतु होने से त्याज्य हैं।

८. क्रीत — साधु के निमित्त खरीदा हुआ। इसके चार प्रकार हैं—

१. आत्म-द्रव्य-क्रीत, २. आत्म-भाव-क्रीत, ३. परद्रव्य क्रीत, ४. परभाव-क्रीत

१. **आत्म-द्रव्य-क्रीत**—गिरनार आदि तीर्थों का प्रसाद, रूपपरावर्तिनी गुटिका, सौभाग्यदायिनी रक्षा आदि गृहस्थ को देकर आहार आदि ग्रहण करना, यह आत्म-द्रव्य-क्रीत है।

दोष—रक्षा आदि देने के बाद यदि श्रावक अचानक बीमार हो जाये, तो साधु को बदनाम करेगा कि 'मैं तो स्वस्थ था, किन्तु साधु ने मुझे बीमार कर दिया।' इससे धर्म की अवहेलना होती है। लोगों की बीमारी सुनकर राजा साधु को दण्डित कर सकता है।

कोई व्यक्ति बीमार है और साधु के द्वारा तीर्थों का प्रसाद, रक्षा आदि देने के बाद स्वस्थ हो गया तो भी लोग 'ये साधु खुशामदखोर हैं' ऐसा कहकर साधु का उपहास कर सकते हैं तथा तीर्थों के प्रसाद आदि के द्वारा स्वस्थ बना गृहस्थ आरम्भादि के द्वारा छः काय जीवों की हिंसा करेगा, इससे मुनि को निमित्तजन्य कर्मबंधन होगा।

२. **आत्म-भाव-क्रीत**—उपदेश, वाद-विवाद, तपस्या, आतापना, कविता आदि के द्वारा लोगों को आकर्षित करके आहार आदि ग्रहण करना, यह आत्मभाव क्रीत है।

दोष—इनसे कर्म निर्जरा के हेतु होने वाली संयम आराधना निष्फल हो जाती है।

३. **परद्रव्य-क्रीत**—गृहस्थ के द्वारा साधु के निमित्त सचित्त, अचित्त या मिश्र द्रव्य से खरीदा हुआ आहार आदि ग्रहण करना। यह परद्रव्य क्रीत है।

दोष—इससे छः काय के जीवों की विराधना होती है।

४. **परभाव-क्रीत**—साधु की भक्ति निमित्त, मंखादि के द्वारा पटादि दिखाकर, धर्मकथा आदि कहकर प्रभावित किये गये लोकों से गृहीत आहार आदि ग्रहण करना परभाव क्रीत है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोष—१. क्रीत दोष, २. लाया हुआ लेने से अभ्याहृत दोष, ३. लाकर साधु को देने के लिए रखने से स्थापना दोष।

९. प्रामित्यक — पड़ौसी आदि से उधार लाकर साधु को बहराना। यह दो प्रकार का है—लौकिक व लोकोत्तर।

(i) लौकिक— घी आदि लौकिक वस्तु उधार लाकर साधु को देना।

दोष—समय पर न लौटा सके तो कोई कठोर व्यक्ति उधार लेने वाले को दास बनावे, कैद करावे, इत्यादि।

(ii) लोकोत्तर— परस्पर साधुओं का लेना देना। इसके दो भेद हैं—**(i)** कोई मुनि किसी मुनि से यह कहकर वस्त्र आदि ग्रहण करे कि कुछ दिन उपयोग करके तुम्हारा वस्त्र वापस लौटा दूँगा। **(ii)** इतने दिनों के बाद तुम्हें इसके ही जैसा दूसरा वस्त्र दूँगा।

दोष—प्रथम भेद में परस्पर साधुओं के बीच कलह की सम्भावना रहती है। जैसे, कि वस्त्र मैला हो गया, चोरी हो गई अथवा खो गया अतः वस्त्र लौटा न पाये तो देने वाले साधु के साथ कलह हो सकती है।

द्वितीय भेद में भी उसकी रुचि के अनुरूप वस्तु न दे सके तो कलह की सम्भावना रहती है।

१०. परिवर्तित — साधु को देने के लिए पड़ौसी या अन्य के साथ वस्तु का विनिमय (अदला-बदली) करना। यह दो प्रकार का है। लौकिक और लोकोत्तर (साधुविषयक)।

(i) लौकिक — दो प्रकार : एकद्रव्यविषयक = जैसे पका हुआ घी देकर ताजा घी लेना।

अन्यद्रव्यविषयक = जैसे कोद्रव देकर शालि चावल लेना।

(ii) लोकोत्तर — दो प्रकार : एकद्रव्यविषयक : जैसे घटिया वस्त्र देकर अच्छा वस्त्र लेना

अन्यद्रव्यविषयक = जैसे वस्त्र के बदले पुस्तक लेना।

दोष पूर्ववत् समझना।

११. अभ्याहृत — साधु के निमित्त अन्य स्थान से लाकर आहार देना। इसके दो भेद हैं—**(i)** अनाचीर्ण, **(ii)** आचीर्ण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

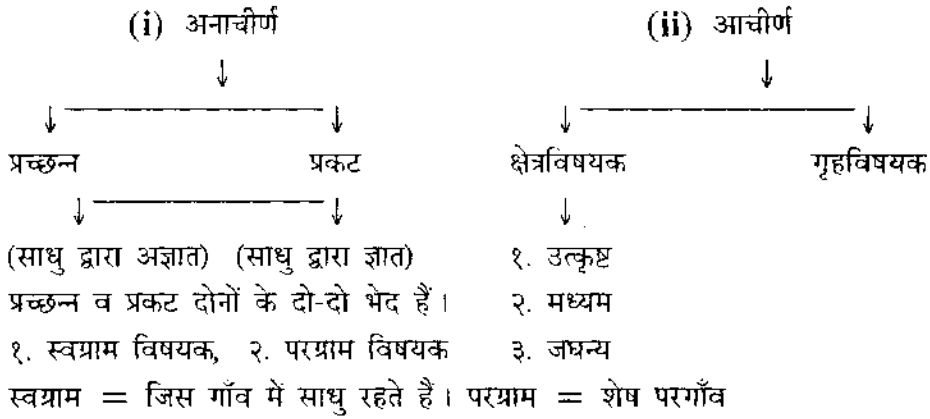

प्रच्छन्न व प्रकट दोनों के दो-दो भेद हैं।
१. स्वग्राम विषयक, २. परग्राम विषयक

स्वग्राम = जिस गाँव में साधु रहते हैं। परग्राम = शेष परगाँव

भक्ति वश साधु का लाभ लेने के लिये कोई श्राविका पाथेय आदि के बहाने लड्डू आदि उपाश्रय में लेकर आवे किन्तु साधु को अभ्याहृत का सन्देह न हो इसलिये कहे कि मैं अपने भाई के घर अथवा भोज आदि में गयी थी। वहाँ से ये लेकर आई हूँ अथवा कहे कि मैं अपने स्वजन के घर उपहार देने गई थी किन्तु रोष के कारण उन्होंने मेरा उपहार नहीं लिया अतः वापस घर ले जा रही हूँ, बीच में उपाश्रय होने से वन्दन के लिये आ गई। मोदक आदि आपके लिये नहीं लाये गये हैं अतः कृपा करके मुझे लाभ दीजिये। इस प्रकार कहकर साधु को वहोराना। यह 'प्रच्छन्न स्वग्रामविषयक अभ्याहृत' कहलाता है।

विवाह आदि के बाद मिठाई आदि खाद्य सामग्री बहुत सारी बची हुई देखकर गृहस्थ विचार करे कि यदि साधुओं का लाभ मिल जाये तो बड़ा पुण्य होगा। किन्तु, साधु अपने गाँव में नहीं हैं समीपस्थ गाँव में हैं। बीच में नदी पड़ने से वे यहाँ आ नहीं सकते। किसी प्रकार पधार भी जायें तो प्रचुर सामग्री देखकर "आधाकर्मी" की शंका से इसे ग्रहण नहीं करेंगे। ऐसा सोचकर मिठाई आदि लेकर साधुओं को वहोराने के लिये स्वयं उस गाँव में जावे और सोचे कि केवल साधुओं को भिक्षा के लिए बुलाने पर वे इस आहार को दूषित समझकर नहीं लेंगे अतः पहले ब्राह्मण आदि को दूँगा। यदि ब्राह्मण आदि को देते हुए मुझे साधु नहीं देखेंगे तो आहार के अशुद्ध होने की शंका उनके मन में पूर्ववत् ही रहेगी, तो जहाँ से मुनि उच्चार-स्थंडिल आदि के लिए आते-जाते मुझे देखेंगे, उस रास्ते पर दूँगा। इस प्रकार सोचकर योग्य स्थान पर सर्व प्रथम थोड़ी-थोड़ी भिक्षा ब्राह्मण आदि को देना प्रारम्भ करे। तत्पश्चात् उच्चारादि के लिये निकले हुए मुनि को देख कर कहे कि—'हे मुनि भगवन्त! हमारे पास प्रचुर मात्रा में बचे हुए मोदक आदि पड़े हैं आप कृपा कर ग्रहण करें।' साधु भी उन्हें शुद्ध समझकर ग्रहण करें। यह 'प्रच्छन्न परग्रामविषयक अभ्याहृत' है। यदि ज्ञात हो जाये की यह आहार दूषित है तो तुरन्त परठ देना चाहिये।

कोई मुनि भिक्षा हेतु भ्रमण करते हुए किसी के घर में गये, वहाँ भोज का प्रसंग होने से गृहस्थ साधु को भिक्षा न दे सका अतः भोजनादि से निवृत्त होने के बाद गृहस्थ द्वारा उपाश्रय में ले जाकर मिठाई आदि वहोराना। 'प्रकट स्वग्रामविषयक अभ्याहृत' दोष है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरे गाँव जाकर वहोराना यह 'प्रकट परग्रामविषयक अभ्याहृत' दोष है।

भोजन समारोह बड़ा हो, खाने वालों की पंक्ति इतनी लम्बी हो कि साधु गौचरी वहोरने के लिये भोजन सामग्री तक न पहुँच सके। ऐसी स्थिति में जहाँ साधु खड़े हों वहाँ भोजन सामग्री लाकर वहोराना 'आचीर्ण क्षेत्र अभ्याहृत' है।

(i) सौ हाथ दूर से लाकर वहोराना उत्कृष्ट क्षेत्राभिहृत।

(ii) कर परावर्तन से लेकर कुछ न्यून सौ हाथ दूर से लाकर वहोराना मध्यम क्षेत्राभिहृत।

(iii) कर परावर्तन द्वारा भोजन में से भिक्षा लेकर साधु के पात्र में वहोराना जघन्य क्षेत्राभिहृत। जैसे कोई श्राविका स्वाभाविक ही हाथ में "मोदक" आदि लेकर खड़ी है, साधु गौचरी के लिये जा रहे हैं, और वह साधु को बुलाकर, हाथ खोलकर "मोदक" पात्र में डाले यह भी जघन्य क्षेत्राभिहृत है।

- सौ हाथ से अधिक दूरी से लाया गया आहार-पानी ग्रहण करना साधु के लिये निषिद्ध है।
- कर परावर्तन = जरा सा हाथ हिला सके इतना क्षेत्र।

गृहविषयक : आचीर्ण-अभ्याहृत—एक पंक्ति में रहे हुए तीन घरों की भिक्षा एक साथ साधु ग्रहण कर सकता है। एक साधु जिस घर से भिक्षा ली जा रही है, उसका उपयोग रखे। पीछे वाला मुनि दोनों घरों से मुनियों तक लाई जा रही भिक्षा का उपयोग रखे (भिक्षा कल्प्य है या नहीं, देने वाला योग्य है या नहीं, भिक्षा विधिपूर्वक लाई गई है या नहीं)। एक साथ चार घर की भिक्षा लेना साधु को नहीं कल्पती।

१२. उद्भिन्न — साधु को भिक्षा देने के लिये सील तोड़ना, लेपन आदि हटाना। यह दो प्रकार का है—**(i)** पिहितोद्भिन्न, **(ii)** कपाटोद्भिन्न।

(i) पिहितोद्भिन्न — जिनका मुँह गोबर, मिट्टी, सीसे आदि से बन्द किया हुआ है और जो प्रतिदिन नहीं खोले जाते हैं, ऐसे घड़े, कोठी कुतुप आदि का मुँह, साधु के निमित्त खोलकर गुड़, शक्कर, घी आदि की भिक्षा देना।

(ii) कपाटोद्भिन्न — जो प्रतिदिन न खुलता हो ऐसा दरवाजा साधु के निमित्त खोलकर गुड़, शक्कर, घी आदि की भिक्षा देना।

दोष — षट्काय जीवों की विराधना। साधु को भिक्षा देने के बाद पुनः मिट्टी आदि से घड़े आदि का मुँह बन्द करने से पृथ्वीकाय, अप्काय जीवों की विराधना। मिट्टी आदि में त्रस जीवों की सम्भावना होने से त्रस जीवों की विराधना। सीसे से मुँह बन्द करे तो उसे अग्नि आदि में तपाने से तेजस्, वायु की विराधना। अप्काय जीवों की विराधना में वनस्पतिकाय के जीवों की विराधना भी निश्चित है। कहा है 'जत्थ जलं, तत्थ वणं' जहाँ जल है, वहाँ वनस्पति अवश्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपहास — मिटटी का शोधन करते समय बिच्छू आदि के डंक देने की सम्भावना होने से लोगों में उपहास। कितने प्रभावशाली हैं ये मुनिलोग कि जिन्हें दान देने वाले दाता को बिच्छू के डंक का फल मिला।

पाप-प्रवृत्ति — साधु के निमित्त खोली गई मटकी में से ग्राहक को घी आदि बेचने से पाप-प्रवृत्ति।

जीव-हिंसा — मटकी आदि का मुँह पुनः बन्द करना भूल जाये तो मूषक आदि अन्दर पड़ने से हिंसा।

- कपाटोद्भिन्न में भी प्रायः ये ही दोष लगते हैं, जैसे—किवाड़ के पास पृथ्वीकाय-मिट्टी आदि पड़ी हो, कदाचित् पानी से भरा लोटा आदि या बीजोरा आदि रखा हो तो किवाड़ खोलने से पृथ्वी आदि के जीवों की विराधना होगी। यदि जल फैलता-फैलता समीपवर्ती चूल्हे में चला जाये तो अग्निकाय के जीवों की विराधना होगी और जहाँ आग होती है वहाँ वायु अवश्य होता है अतः वायुकाय की भी विराधना होगी। यदि जल चूहे आदि के बिल में चला जाये तो कीड़ी, छिपकली आदि त्रसकाय जीवों की विराधना की भी सम्भावना है तथा बालक आदि को देने से, क्रय-विक्रय आदि करने से प्राप-प्रवृत्ति होगी। अतः दोनों प्रकार का उद्भिन्न साधु के लिये अग्राह्य है।
- यदि मटका आदि का मुँह प्रतिदिन खोला जाता हो या केवल कपड़े से ही मुँह बाँधा जाता हो तो उसे खोलकर गुड़, शक्कर आदि साधु को दिया जा सकता है।
- जो दरवाजा प्रतिदिन खोला जाता हो, खोलते समय दरवाजा या सांकल धरती के साथ घिसती न हो तो ऐसा दरवाजा या सांकल खोलकर साधु को भिक्षा दी जा सकती है।

१३. मालापहृत — साधु के निमित्त छींके आदि से उतारकर भिक्षा देना नहीं कल्पता। यह चार प्रकार का है—(i) ऊर्ध्वमालापहृत, (ii) अधोमालापहृत, (iii) उभयमालापहृत तथा (iv) तिर्यग्मालापहृत।

(i) ऊर्ध्वमालापहृत — जघन्य, माध्यम और उत्कृष्ट तीन प्रकार का है।
जघन्य—पाँव के पंजे पर खड़े रहकर आँखों से दिखाई न देने वाली छींके पर या या ताक पर रखी हुई वस्तु उतारना ऊर्ध्वमालापहृत है।
मध्यम—मध्यम ऊँचाई से वस्तु लाकर साधु को भिक्षा देना।
उत्कृष्ट—निसरणी आदि से चढ़कर ऊपर की मंजिल से लाई गई वस्तु।

(ii) अधोमालापहृत — 'भूमि घर' से अशनादि लाकर भिक्षा देना।

(iii) उभयमालापहृत — ऊपर चढ़कर पुनः कोठी, मंजूषा आदि में उतर कर बड़े कष्टपूर्वक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अशनादि लाकर साधु को भिक्षा देना। इसमें चढ़ना और उतरना दोनों क्रियाएँ होने से यह उभयमालापहृत है।

(iv) तिर्यग्मालापहृत — जाड़ी और मोटी दीवार में रहे हुए ऊंडे और गहरे गोखलों में हाथ डालकर दृश्य या अदृश्य वस्तु निकालकर भिक्षा देना।

दोष — खाट, पाट आदि पर चढ़कर छींके से वस्तु उतारते समय, खाट, पाट आदि खिसकने से गृहस्थ नीचे गिरे, जिससे हाथ, पाँव आदि में चोट लगे, कीड़ी आदि त्रस जीवों की तथा पृथ्वी आदि के जीवों की विराधना हो। गिरने वाले के मर्मस्थान में लगे तो मृत्यु की सम्भावना रहती है। इससे धर्म की निंदा होती है, साधु का उपहास होता है कि "ये कैसे मूर्ख साधु हैं जो देने वाले का हिताहित भी नहीं सोचते" या "इनको आहार देने वाले की मृत्यु हो गई अतः ये अशुभ हैं।"

प्रश्न—माला शब्द सामान्यतया ऊपरवर्ती भाग का ही बोधक है। यहाँ निम्न भाग के लिए भी माला शब्द का प्रयोग कैसे किया?

उत्तर—लोकरूढ़ि से ऊपरवर्ती भाग का वाचक 'माला' शब्द का यहाँ उपयोग नहीं है पर आगमप्रसिद्ध 'माला' शब्द ही यहाँ ग्रहण किया गया है। आगम में भूमि-गृहादि के लिए भी 'माला' शब्द का प्रयोग हुआ है।

- सीढ़ी आदि से चढ़कर लाई गई भिक्षा लेना साधु को कल्पती है। देने वाला सीढ़ी आदि चढ़कर ऊपर जाये तब उसके पीछे एषणाशुद्धि के लिये साधु को भी जाना चाहिये।
- अपवाद की स्थिति में भूमिगृह से लाई गई भिक्षा भी साधु को लेना कल्पता है।

१४. आच्छेद्य — पुत्र, नौकर आदि की इच्छा न होते हुए भी उनसे खाद्य पदार्थ लेकर साधु को वहोराना। यह तीन प्रकार का है—

— **(i)** स्वामीविषयक, **(ii)** प्रभुविषयक, **(iii)** स्तेनविषयक।

(i) स्वामीविषयक — गाँव के मुखिया द्वारा गौचरी आदि के लिये जाते हुए साधु को देखकर सरलता से या हठात् अपने कुटुम्बीजनों से खाद्य पदार्थ लेकर साधु को भिक्षा देना।

(ii) प्रभुविषयक — घर वालों की इच्छा न होते हुए भी घर के मालिक के द्वारा उनके हिस्से का खाद्य पदार्थ साधु को वहोरा देना।

(iii) स्तेनविषयक — साधुओं के प्रति श्रद्धालु चोर द्वारा, साधुओं को गौचरी हेतु घूमते हुए देखकर, सार्थ आदि को लूटकर लाई हुई भिक्षा मुनियों को देना। (अपने लिये लूटे, कभी साधु के निमित्त भी लूटकर भिक्षा देना।)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वोक्त तीनों आच्छेद्य अकल्प्य हैं।

- चोर जिन लोगों से खाद्य सामग्री लूटकर मुनियों को वहोरावें उस समय यदि वे लोक मुनियों को कह दें कि "चोर हमसे लूटकर खाद्य सामग्री आपको दे रहे हैं, इससे हमें बड़ा सन्तोष है।" तो वे साधु भिक्षा ग्रहण कर ले किन्तु उसका उपयोग न करे। चोरों के जाने के पश्चात् सार्थ को कहे कि "हमने यह सामग्री चोरों के भय से ग्रहण की थी, अब आप अपनी सामग्री पुनः ग्रहण करें।" यदि सार्थ सामग्री ले ले तो दे दे, यदि न ले तो साधु को उसका उपयोग करना कल्पता है।

दोष — आच्छेद्य ग्रहण करने में, अप्रीति, कलह, आत्मघात, अन्तराय, प्रद्वेष आदि दोषों की सम्भावना है।

१५. अनिसृष्ट — अनेक स्वामी सम्बन्धी वस्तु सभी स्वामियों की अनुज्ञा के बिना ग्रहण करना। इसके तीन भेद हैं—

(i) साधारण अनिसृष्ट — अनेक स्वामी वाली वस्तु। जैसे घाणी का तेल, दुकान में वस्त्र, घर में खाद्य सामग्री, इन पर सभी का स्वामित्व होता है। अगर इन्हें सभी स्वामियों की अनुमति के बिना साधु ग्रहण करे तो साधारण अनिसृष्ट दोष लगता है।

(ii) चोल्लक अनिसृष्ट — चोल्लक = सेठ के द्वारा खेत में काम करने वाले नौकरों को या सेनापति के द्वारा सैनिकों को दिया गया भोजन। यह दो प्रकार का है—**(i)** छिन्न और **(ii)** अच्छिन्न

(i) छिन्न — अलग-अलग व्यक्तियों को बाँटकर दिया गया भोजनादि 'छिन्न' है। मालिक द्वारा नौकरों को भोजन बाँट देने के पश्चात् उस भोजन में से साधु तभी ले सकते हैं जबकि भोजन से सम्बन्धित मालिकों की अनुमति हो। उनकी अनुमति के बिना वह भोजन दूषित होने से साधु को लेना नहीं कल्पता।

(ii) अच्छिन्न — सभी नौकरों के हिस्से का एक ही पात्र में रखा हुआ भोजन अच्छिन्न है। उसे सभी की अनुमति हो तो ही साधु ग्रहण कर सकता है अन्यथा नहीं। एक की अनुमति हो और एक की न हो, तो भी वह भोजन लेना साधु को नहीं कल्पता।

दोष — प्रद्वेष, अन्तराय, परस्पर कलह।

(iii) जड्डुअनिसृष्ट — हाथी के लिए बनाये हुए भोजन में से हाथी की अनुज्ञा के बिना महावत भिक्षा दे तो भी साधु को लेना नहीं कल्पता। राजहस्ती सम्बन्धी भोजन लेने में राजा की अनुज्ञा भी आवश्यक है अन्यथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजा गुस्सा होकर साधु को पकड़े, खींचे, वेष उतार कर निकाल दे इत्यादि दोषों की सम्भावना रहती है।

- "मेरी आज्ञा के बिना अपनी इच्छा से यह हस्ती का भोजन साधु को देता है" इससे रुष्ट होकर राजा महावत को नौकरी से निकाल दे।
- राजा की आज्ञा के बिना लेने से अदत्तादान का दोष लगता है। हस्ती के देखते हुए अगर महावत साधु को उसके पिण्ड में से भिक्षा दे तो साधु को लेना नहीं कल्पता। महावत के पिण्ड में से भी लेना नहीं कल्पता, क्योंकि कदाचित् हाथी गुस्सा होकर राह चलते हुए साधु को दबोच डाले, उपाश्रय को गिरा दे।

१६. अध्वपूरक — गाँव में मुनियों का आगमन सुनकर अपने लिये बनाये जाने वाले भोजन में कुछ हिस्सा और बढ़ा देना। जैसे दाल में पानी डालकर उसे बढ़ा देना। यह तीन प्रकार का है—

(१) स्वगृह-यावदर्थिक मिश्र — अपने लिये भोजनादि का आरम्भ किया हो किन्तु सुना कि गाँव में बहुत से भिखारी आये हैं अतः अपने लिये बनते हुए चावल आदि में कुछ उनके लिये और डाल देना।

यावदर्थिक और मिश्रजात में अन्तर—

यावदर्थिक में आग जलाना, बर्तन चूल्हे पर चढ़ाना, पानी डालना आदि का आरम्भ तो गृहस्थ अपने लिये ही करता है, किन्तु पकती हुई चीज में पीछे से अतिथियों के लिए बढ़ाता है। जबकि मिश्रजात में बनाते समय ही गृहस्थ अपने और अतिथियों के लिए बनाता है।

(२) स्वगृह-पाखंडी-मिश्र — अपने लिये बनाये जाने वाले भोजन में पाखण्डियों का आगमन सुनकर पीछे से उनके लिए अधिक बनाना।

(३) स्वगृह-साधु मिश्र — अपने लिए बनाये जाने वाले भोजन में साधु का आगमन सुनकर पीछे से अधिक बनाना।

विशेष — यावदर्थिक मिश्र में पीछे से जितना बढ़ाया हो उतना भोजन अलग निकाल देने पर या भिखारियों को बाँट देने पर शेष बचे भोजन में से साधुओं को लेना कल्पता है। यह 'विशोधिकोटि' है। किन्तु 'स्वगृह-पाखंडी-मिश्र', या 'स्वगृह-साधु-मिश्र' में—जितना भोजन पाखण्डियों और साधुओं के लिये बढ़ाया था उतना उन्हें दे दिया हो, या अलग से निकाल दिया हो तो भी बचे हुए भोजन में से साधुओं को भिक्षा ग्रहण करना नहीं कल्पता। 'पूति' दोषयुक्त होने से। ये सोलह दोष गृहस्थजन्य हैं॥ ५६४-५६५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्पादना दोष : १६

१. धात्री दोष—धात्री = बच्चों को दूध आदि पिलाने हेतु रखी जाने वाली बाल-पालिका। इसके पाँच कार्य हैं—

(i) दूध पिलाना, **(ii)** स्नान-मंजन कराना, **(iii)** गहना-कपड़ा पहनाना, शृंगार कराना, **(iv)** क्रीड़ा कराना, **(v)** गोद में लेकर खिलाना/सुलाना आदि।

धात्रीपन करने-कराने के द्वारा माता-पिता को खुश करके भिक्षा लेना 'धात्री दोष' है।

कोई मुनि भिक्षा हेतु गृहस्थ के घर गया, वहाँ बच्चे को रोते देखकर कहे कि बालक भूख से रो रहा है अत: मुझे शीघ्र भिक्षा देकर बच्चे को दूध पिलाओ, अथवा पहले बच्चे को दूध पिलाकर फिर मुझे भिक्षा देना, अथवा मैं अभी जाता हूँ तुम पहले बच्चे को दूध पिला दो, मैं फिर भिक्षा के लिए आऊँगा, अथवा तुम बच्चे की चिन्ता मत करो, मैं इसके दूध की व्यवस्था करता हूँ तथा कहे कि दूध पिलाने से बालक बुद्धिमान, नीरोगी व दीर्घायु होता है। अपमानित करने से मंदमति, रोगी तथा अल्पायु होता है, अथवा पुत्र की प्राप्ति होना बड़ी दुर्लभ है अत: तुम सारे काम छोड़कर पहले पुत्र को दूध पिलाओ।

धात्रीपन के दोष—

- बच्चे की माता साधु के प्रति आकर्षित होकर, साधु को आधाकर्मी आदि आहार भिक्षा दे।
- देखने वाले गलत सोचें कि इस साधु का औरत के साथ अवश्य कुछ सम्बन्ध होना चाहिये।
- यदि माता तुच्छ स्वभाव की हो तो सोचे कि 'इस साधु को दूसरों की चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है?'
- कदाचित् बच्चा बीमार हो जाये तो माता को साधु पर सन्देह हो सकता है कि इसने मेरे बच्चे को बीमार कर दिया और वह साधु के साथ झगड़ा करे, इससे धर्म की अवहेलना होती है।

अथवा एक धात्री को निकलवाकर उसके स्थान पर दूसरी को रखवाना धात्रीदोष है। जैसे—साधु भिक्षा हेतु किसी के घर गया, वहाँ औरत को शोकमग्न देखकर उसे पूछे—"तुम दु:खी क्यों हो?" औरत कहे कि "आपको कहने से क्या लाभ? दु:ख तो उसे कहना चाहिये जो उसे दूर कर सके।" मुनि कहे "मेरे सिवा तुम्हारा दु:ख दूर करने वाला अन्य कौन है?" तब औरत कहे कि "मैं धात्री हूँ, किन्तु दूसरी धात्री ने मुझे नौकरी से निकलवा दिया है।" साधु अभिमानपूर्वक कहे "जब तक तुझे पुन: वहाँ न लगा दूँ तब तब तेरे घर की भिक्षा नहीं लूँगा।" ऐसा कहकर दूसरी धात्री के बारे में पूछताछ करे कि—'वह धात्री वृद्धा है या युवा? मोटी है या पतली? काली है या गौरी? पुष्ट स्तनवाली है या कृशस्तन वाली?' इस प्रकार उस धात्री के बारे में जानकर, घर के मालिक के सामने उसके दोष बताये, बालक के पोषण के लिये उसे अयोग्य साबित करे। कहे कि 'यह वृद्धा होने से निर्बल है। इसका दूध पीने से बालक भी निर्बल होगा। यह धात्री स्थूलस्तनवाली है, इसके स्तन के बोझ से बच्चे की नाक चिपटी होने का डर है। यह धात्री कृशस्तनवाली है, इसका स्तनपान करने के लिए बच्चे को

Jain Education International . For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपना मुँह और गर्दन खड़ी रखनी पड़ती है जिससे बच्चे की गर्दन अधिक लम्बी हो जावेगी। यह धात्री काली है, इसका दूध पीने से बालक भी काला होगा। गोरी धात्री का दूध पुष्टिकारक नहीं होता। इसका दूध पीने से बच्चा कमजोर होगा। अतः बालक के लिये सबसे उपयुक्त धात्री श्यामवर्णा है।'

इससे गृहस्वामी उसे निकालकर साधु संमत धात्री को रखे। वह धात्री भी इससे खुश होकर साधु को मनोज्ञ भिक्षा दे।

दोष—जिस धात्री को निकलवाया, वह द्वेषी बनकर साधु को झूठा कलंक दे, "निश्चित ही इस मुनि का उस धात्री के साथ गलत सम्बन्ध है।" प्रद्वेषवश विष मिश्रित भिक्षा देकर साधु को मार डाले।

- साधु ने जिसे गृहस्थ के घर रखवायी वह धात्री भी सोचे कि "आज इस मुनि ने उसे निकलवाकर मुझे रखवाया, कल मुझे भी निकलवा सकता है। अतः पहले ही इसे समाप्त कर देना चाहिये।" और उस मुनि को जहर देकर मार दे।

२. दूतीपिंड — परस्पर संदेशादि पहुँचाकर, भिक्षा लेना दूतीपिंड है। इसके दो प्रकार हैं—

(i) स्वग्रामविषयक, **(ii)** परग्रामविषयक

(i) स्वग्रामविषयक — जिस गाँव में साधु रहता है, उसी गाँव में परस्पर संदेश पहुँचाना।

(ii) परग्रामविषयक — दूसरे गाँव जाकर संदेश पहुँचाना।

पूर्वोक्त दोनों दो के भेद हैं—**(i)** प्रकट और **(ii)** प्रच्छन्न।

(i) अपने—गाँव में या दूसरे गाँव में परस्पर सन्देश प्रकट रूप से अर्थात् सभी के सामने कहना "स्वपरग्रामविषयक प्रकट है।"

(ii) प्रच्छन्न के दो भेद हैं—(अ) लोकोत्तर, (ब) लोक-लोकोत्तर।

(अ) अपने गाँव में या दूसरे गाँव में परस्पर संदेश इस प्रकार पहुँचाना कि लोगों को ज्ञात हो, किन्तु साथ वाले मुनि को ज्ञात न हो। जैसे, किसी पुत्री ने भिक्षा हेतु आये हुए मुनि से निवेदन किया कि "आप मेरी माता के घर जायें तो उसे मेरा यह संदेश अवश्य कहें।" साधु भिक्षा हेतु उसकी माता के घर गया किन्तु सोचे कि दूतीपन साधु के लिये निन्दनीय कर्म है, साथी मुनि मेरे लिये क्या सोचेंगे? अतः सीधे रूप में सन्देश न कहकर परोक्ष रूप से कहे कि— 'बहन! आपकी पुत्री कितनी सरल है कि साधु के साथ संदेश भिजवाती है। उसने मुझे कहा कि आप मेरी माँ को कहें कि तुम्हारी पुत्री आयेगी किन्तु हम साधु हैं। इधर-उधर संदेश देना हमारा धर्म नहीं है।' माता भी साधु का अभिप्राय जानकर बड़ी चतुराई से जवाब दे कि—'अच्छा भगवन! मैं अपनी पुत्री को मना कर दूँगी कि साधु को इस प्रकार नहीं कहना चाहिये।' इस प्रकार साथ वाले मुनि को साधु के दूतीपन का जरा भी सन्देह न हो। यहाँ साथी मुनि से छुपाना अभिप्रेत होने से 'लोकोत्तर प्रच्छन्न' है।

(ब) अपने गाँव में या दूसरे गाँव में परस्पर इस प्रकार संदेश पहुँचाना कि न लोगों को ज्ञात हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और न साथ वाले मुनि को ही कुछ समझ पड़े। जैसे—अमुक काम तुम्हारी इच्छानुसार हो गया है यह लोक-लोकोत्तर प्रच्छन्न है।

दोष—सभी प्रकारों में पाप की प्रेरणा होने से जीव विराधना आदि दोष हैं।

३. निमित्त दोष — ज्योतिष, भूत-भावी-वर्तमान को शुभाशुभ एवं हस्तरेखा आदि बताकर आहार लेना। जैसे—"कल तुम्हें यह लाभ-हानि हुई थी, भविष्य में तुम्हें राजादि से ऐसा लाभ मिलेगा...आज ऐसा होगा।" इत्यादि बताकर लोगों को आकर्षित करके उनसे अच्छी-अच्छी भिक्षा ग्रहण करना।

दोष — इस प्रकार से भिक्षा लेना साधु को नहीं कल्पता। इसमें स्व-पर की हत्या का भय रहता है।

४. जीविका दोष — अपनी जाति, कुल, गण, कर्म एवं शिल्प का परिचय देकर आहारादि ग्रहण करना। इन पाँचों का परिचय दो प्रकार से दिया जाता है—

(i) सूचना अर्थात् संकेत से, **(ii)** असूचना अर्थात् स्पष्ट कहकर।

(i) सूचना—जैसे कोई मुनि भिक्षा हेतु किसी ब्राह्मण के घर गये। वहाँ ब्राह्मण-पुत्र को यज्ञ करते हुए देखकर उसके पिता को कहे—'समिधा, मंत्र, आहुति, स्थान, याग, काल एवं घोष की दृष्टि से आपकी यज्ञ क्रिया सही है या गलत है। आपके पुत्र की यज्ञक्रिया सम्यक् होने से लगता है कि आप श्रोत्रिय-पुत्र हैं अथवा वेद-वेदांग के पारंगत किसी अच्छे गुरु से पढ़े हैं।' यह सुनकर ब्राह्मण बोले—'इस प्रकार यज्ञक्रिया के ज्ञाता होने से लगता है आप ब्राह्मण हैं।' किन्तु साधु कुछ न बोले मौन रहे। इससे वह समझ जाये कि ये मुनि ब्राह्मण हैं। यह संकेत द्वारा अपनी जाति बताना है।

समिधा = — पीपल आदि की आर्द्र लकड़ी या खण्ड। मंत्र : ॐकार आदि वर्ण रचना।

आहुति = — आग में घृत आदि डालना।

स्थान = — **उत्कटुकादि आसन। याग : = अश्वमेधादि।**

काल = — प्रातःकाल आदि।

घोष = — उदात्त-अनुदात्त आदि स्वर। यज्ञ में समिधा आदि का यथायोग्य प्रयोग करना सम्यक् क्रिया है। न्यूनाधिक या विपरीत प्रयोग करना विपरीत क्रिया है।

(ii) असूचना—कोई पूछे या न पूछे मुनि स्वयं बताये कि वह ब्राह्मण है।

दोष — अगर गृहस्थ सरल हो तो जाति प्रेम से साधु के निमित्त आहार बनाकर भिक्षा दे इससे आधाकर्मी दोष। यदि कट्टरवादी हो तो सोचे कि यह धर्मभ्रष्ट, पापात्मा है। इसे घर में भी नहीं घुसने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देना चाहिये और मुनि को दुत्कार कर बाहर निकाले। इस प्रकार कुलादि के लिए भी समझना।

५. वनीपकदोष — भिक्षा देने वाला जिसका भक्त हो, स्वयं को भी उसका भक्त बताकर भिक्षा ग्रहण करना। यति, निर्ग्रन्थ, बौद्ध, तापस, परिव्राजक, ब्राह्मण, मेहमान, श्वान, कौआ, तोता, आजीवक आदि के भक्त के घर भिक्षा निमित्त गया हुआ मुनि भिक्षा हेतु उसके सामने निर्ग्रन्थ आदि की प्रशंसा करे। स्वयं भी उन्हीं का भक्त है यह बताये। निर्ग्रन्थ भक्त के यहाँ इस प्रकार कहे—हे श्रावक कुलतिलक! आपके गुरु सातिशय ज्ञान-सम्पन्न हैं। विशुद्ध आचारनिष्ठ, साधु-समाचारी के पालक, धार्मिकजनों के मन को अपने ज्ञान एवं संयम से प्रभावित करने वाले, मोक्षमार्ग के सच्चे सार्थवाह हैं।

बौद्ध-भक्त के यहाँ बौद्ध भिक्षुओं को भोजन करते हुए देखकर कहे कि—अहो! ये महानुभाव कितने प्रशान्त और निश्चल चित्त से भोजन कर रहे हैं। वास्तव में महात्माओं को इसी प्रकार भोजन करना चाहिये। ये बड़े ही दयालु एवं दानशील हैं।

इसी प्रकार तापस, परिव्राजक, आजीवक, ब्राह्मण आदि के भक्तों के घर उनके आराध्य की प्रशंसा करे.... उनके दान की प्रशंसा करे और उन्हें खुश करके भिक्षा ग्रहण करे।

अतिथि-भक्त के घर कहे—प्रायः लोक परिचितों, आश्रितों एवं उपकारियों का सत्कार-सम्मान करते हैं, किन्तु जो अतिथियों का सत्कार करते हैं उनका दान श्रेष्ठ है।

कुत्ते के भक्तों को कहे—ये कुत्ते नहीं हैं, किन्तु कैलासवासी यक्ष हैं। यहाँ श्वान रूप में विचरण कर रहे हैं। अपने श्रेय के लिये इनकी पूजा करनी चाहिये। इसी प्रकार कौए, तोते आदि के लिए भी कहे।

दोष — सुपात्र या कुपात्र किसी को भी दिया गया दान निष्फल नहीं जाता, ऐसा कथन भी (सुपात्र और कुपात्र दोनों को बराबर समझने से) सम्यक्त्व को दूषित करता है तो कुपात्र शाक्यादि की साक्षात् प्रशंसा का तो कहना ही क्या? वह तो महान् दूषण है। इससे लोगों का मिथ्यात्व दृढ़ होता है। लोग सोचते हैं कि साधु भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इनके धर्म की प्रशंसा करते हैं तो निश्चित रूप से इनका धर्म सत्य है।

- शाक्यादि के भक्त यदि भद्र परिणामी हों तो साधु की प्रशंसा से खुश होकर उसे आधाकर्मी आहार दे। मनोज्ञ आहार के लोभ से कदाचित् मुनि स्वयं बौद्ध बने।
- लोग निन्दा करे कि ये साधु होकर भोजन हेतु लोगों की खुशामद करते हैं।
- वास्तव में गृहस्थ शाक्य भक्त नहीं है किन्तु साधु ने गलती से उसे ऐसा समझ लिया और उसके सामने शाक्यों की खूब प्रशंसा की जिससे गृहस्थ नाराज होकर साधु को घर से बाहर कर दे।
- असंयमियों की प्रशंसा करने से हिंसादि पापों की अनुमोदना होती है।

६. चिकित्सा दोष — किसी गृहस्थ के रोग का स्वयं प्रतिकार करना, या चिकित्सा का उपदेश देना। यह दो प्रकार का है—**(i)** सूक्ष्म, **(ii)** बादर।

(i) सूक्ष्म चिकित्सा — औषध अथवा वैद्य का सूचन करना।

(ii) बादर चिकित्सा — स्वयं चिकित्सा करना अथवा किसी दूसरे से कराना। जैसे—भिक्षा हेतु आये हुए साधु को गृहस्थ पूछे—"आप मेरे रोग का नाशक कोई उपाय जानते हैं?"

साधु—हे श्रावक! जो रोग आपको है वही रोग एक बार मुझे भी हुआ था किन्तु अमुक औषध सेवन करने से मेरा रोग नष्ट हो गया। इस प्रकार रोगी को औषधि का सूचन करे अथवा रोगी द्वारा चिकित्सा के सम्बन्ध में पूछने पर साधु कहे—क्या मैं वैद्य हूँ जो तुम्हें औषधि बताऊँ? इससे यह सूचित किया कि रोग के सम्बन्ध में किसी वैद्य को पूछना चाहिये।

स्वयं वैद्य बनकर, वमन, विरेचन आदि करे, क्वाथ आदि बनावे अथवा दूसरों से करावे। यह बादर चिकित्सा है।

चिकित्सा से खुश होकर गृहस्थ मुझे अच्छी भिक्षा देगा। इस आशय से गृहस्थ की चिकित्सा करे किन्तु तुच्छ भिक्षा के लिए ऐसा करना साधु के लिए सर्वथा अनुचित है। कारण इसमें अनेक दोषों की सम्भावना है।

- चिकित्सा में कन्द, मूलादि का उपयोग करने से जीव हिंसा, असंयम आदि दोष होते हैं।
- स्वस्थ बना गृहस्थ, तपे हुए लोहे के गोले के समान तथा पुनः सबल बन कर अन्धे व्याघ्र के समान अनेक जीवों की आरम्भ समारंभ द्वारा हिंसा करेगा।
- साधु के द्वारा चिकित्सा करते हुए दुर्भाग्यवश रोगी का रोग बढ़ जाये तो रोगी के सम्बन्धी साधु को राजा से दण्डित करावें। भिक्षा के लिये ये लोग चिकित्सा करते हैं इस प्रकार लोगों में अपवाद फैले, इससे शासन की अवहेलना होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. क्रोध दोष — कोई साधु उच्चाटन मारण आदि की विद्या जानता है, तपस्वी है, बलिष्ठ है, राज-वल्लभ है। उसके शाप से गृहस्थ ने किसी को मरते देखा है। "कहीं मेरे पर भी कुपित न हो जाये।" ऐसा सोचकर भय से साधु को भिक्षा देना अथवा कोई व्यक्ति ब्राह्मणादि को दान दे रहा है और साधु को माँगने पर भी नहीं देता इससे साधु कुपित बने। यह देखकर गृहस्थ सोचे कि "साधु का क्रोध अच्छा नहीं होता।" अतः इन्हें भी कुछ देना चाहिये।

यहाँ भिक्षा देने का मुख्य कारण साधु का क्रोध है, विद्या-मंत्र आदि गौण कारण हैं।

८. मानपिंड — जिस भिक्षा का निमित्त मान हो, वह मानपिंड। जैसे—किसी मुनि के कहने पर कि "तुम बड़े लब्धिमान हो। हमें यह भोजन अवश्य कराओगे।" इससे उत्तेजित होकर अथवा "तुम कुछ भी नहीं कर सकते" इससे अपमानित होकर अथवा "अपनी प्रशंसा सुनकर" गर्व से दूसरा साधु बोले—"यह मेरी तारीफ है, मैं कहीं भी जाऊँ, अपनी इच्छित वस्तु मिल ही जाती है।"

फिर गृहस्थ के घर जाकर गर्वयुक्त वचन बोलकर गृहस्थ को दान देने हेतु उत्तेजित करे। परिवार वालों की इच्छा न होने पर भी साधु से प्रेरित गृहस्थ साधु को भिक्षा दे।

९. मायापिंड — कपटपूर्वक भिक्षा ग्रहण करना। विद्या, मंत्र आदि के प्रभाव से अपना रूप बदल कर लड्डू आदि लाना।

१०. लोभपिंड — आसक्तिपूर्वक भिक्षा ग्रहण करना। जैसे, कोई साधु आसक्तिवश पहले से ही ऐसा सोचकर भिक्षा लेने जावे कि 'सिंह केशरिया लड्डू मिलेंगे तो ही ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं।' इस प्रकार इच्छित वस्तु मिले तो ही ले, अन्यथा न ले अथवा "अमुक वस्तु मिलेगी तो ही लूँगा, अन्यथा नहीं।' ऐसा तो न सोचे किन्तु रसयुक्त भोजन ग्रहण करे, सामान्य-भोजन न ले अथवा दूध-दही आदि मिलने के बाद शक्कर, मिश्री आदि के लिये भ्रमण करे।

दोष — कर्मबंध, प्रद्वेष, प्रवचनलाघव आदि दोषों के कारण ये चारों ही पिंड साधु को लेना नहीं कल्पता है।

११. पूर्व-पश्चात् संस्तव — भिक्षादि ग्रहण करने से पूर्व या बाद में देने वाले की प्रशंसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना। इसके दो भेद हैं—(i) वचनसंस्तव (ii) सम्बन्धिसंस्तव।

(i) पूर्ववचनसंस्तव — भिक्षा देने से पूर्व, दाता की प्रशंसा करना। यथा—भिक्षा ग्रहण करने से पूर्व ही सद्-असद् गुणों के द्वारा दाता की प्रशंसा करना कि आपको देखकर पूर्वकालीन दाता का स्मरण हो आता है। आपके जैसा औदार्यादि गुण सम्पन्न दाता मैंने अन्यत्र कहीं देखा न सुना। धन्य हो तुम कि जिसमें ऐसे विश्वविश्रुत गुण हैं। यह पूर्वसंस्तव है।

(ii) पश्चात् वचनसंस्तव — भिक्षा देने के बाद दाता की प्रशंसा करना।

● आपके दर्शन से आज हमारे नेत्र सफल बने, मन शीतल बना। किसी दाता या गुणी को देखकर प्रमुदित होना कोई आश्चर्य की बात नहीं होती। इस प्रकार दान देने के बाद दाता का गुणगान करना पश्चात्संस्तव है।

दोष — मायामृषावाद (कपटपूर्वक झूठ बोलना) तथा असंयमी की अनुमोदना।

(i) पूर्वसंबंधी संस्तव — दाता को माता-पितादि के रूप में विरुदाना। जैसे वृद्धा दात्री को देखकर यह कहना कि आप मेरी 'माँ' की तरह लगती हैं और आँखों से आंसू निकालना। समान वयस्क दात्री से कहे कि आप मेरी बहन की तरह हैं। छोटी उम्रवाली को पुत्री कहकर परिचय करना।

(ii) पश्चात् संबंधी सं. — दाता या दात्री को सास-ससुर के रूप में विरुदाना।

दोष —

● यदि गृहस्थ सरल परिणामी हो तो साधु के साथ सम्बन्धी की तरह व्यवहार करे। स्नेहवश आधाकर्मी आदि आहार मुनि को वहोरावे।

● यदि घर के लोग तुच्छ प्रकृति के हों तो सोचे कि हमें अपना सम्बन्धी बनाकर वह मुनि हमें नीचा दिखाना चाहता है अतः नाराज होकर मुनि को घर से निष्कासित कर दे।

● यह रोकर ढोंग कर रहा है। हमें आकर्षित करने के लिए खुशामद कर रहा है। इस प्रकार गृहस्थ साधु की निन्दा करे।

● "तुम मेरी माँ की तरह हो।" मुनि का ऐसा कथन सुनकर कोई सरलमना नारी वास्तव में मुनि को पुत्र तुल्य समझकर अपनी विधवा पुत्र-वधू को अपनाने की विनती करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

● "तुम मेरी सास जैसी हो।" साधु से यह सुनकर कोई भद्र नारी अपनी विधवा पुत्री को स्वीकार करने की प्रार्थना करे।

१२. विद्यापिंड — जिसकी अधिष्ठात्री देवी हो तथा जो जप, होम आदि करके सिद्ध की जाये, वह विद्या है। विद्या प्रयोग से भिक्षा ग्रहण करना "विद्या पिंड" कहलाता है।

१३. मंत्रपिंड — जिसका अधिष्ठाता देवता हो तथा जो पढ़ने मात्र से सिद्ध हो, वह मंत्र है। मंत्र के प्रयोग द्वारा भिक्षा ग्रहण करना मंत्र पिंड है।

दोष — विद्या और मंत्र से प्रभावित होकर जिसने मुनि को दान दिया, उसे सहज होने के बाद ज्ञात हो कि इसने मुझे प्रभावित कर दान लिया था तो दाता स्वयं या उसका कोई मित्र आदि साधु का द्वेषी बनकर प्रतिविद्या या प्रतिमंत्र से साधु को स्तंभित करे, मारे, पागल बना दे। "ये मुनि विद्या-मंत्र आदि से लोगों का द्रोह करके जीवन जीते हैं।" इस प्रकार लोग मुनियों की निन्दा करे।

ये मुनि जादू-टोने करते हैं। ऐसा सोचकर लोग साधुओं के साथ मार-पीट करे। राजा से उनकी शिकायत करे। उनके कपड़े उतारे, कदर्थनापूर्वक मार डाले।

१४. चूर्णपिंड — अंजन आदि के प्रयोग से अदृश्य होकर भिक्षा ग्रहण करना।

१५. योगपिंड — पादलेपादि के द्वारा अच्छे बुरे रूप बनाकर भिक्षा ग्रहण करना।

दोष — दोनों में विद्यापिंड व मंत्रपिंड की तरह समझना।

प्रश्न—चूर्ण और योग दोनों में क्या अन्तर है?

उत्तर—चूर्ण = अदृश्य करने वाले अंजन आदि। योग = सौभाग्य, दुर्भाग्यकारी पादलेपनादि।

यद्यपि चूर्ण और योग में द्रव्य की दृष्टि से कोई भेद नहीं है, तथापि उपयोग की अपेक्षा से दोनों भिन्न हैं। चूर्ण बाह्य उपयोग की चीज है, किन्तु योग बाह्य और अभ्यन्तर दोनों उपयोग में आता है। जैसे—योग, जल-दूध आदि में घोलकर पिलाया भी जाता है और लेपादि बनाकर पाँव आदि में लगाया भी जाता है। अतः दोनों को अलग दोष माना गया।

१६. मूलकर्म — मूल = संसार वृद्धि का कारण। कर्म = पाप क्रिया। अर्थात् संसार को बढ़ाने वाली पाप क्रिया "मूलकर्म" है। जैसे गर्भाधान, गर्भस्तंभन, गर्भपात, वंध्याकरण, अवंध्याकरण आदि पाप क्रियाओं के द्वारा लोगों से भिक्षा ग्रहण करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोष — गर्भस्तंभन व गर्भपात करने में दो दोष हैं। यदि सम्बन्धित व्यक्ति को मालूम पड़े तो उसे साधु के प्रति भयंकर रोष पैदा हो। साधु का द्वेषी बने। यदि सम्बन्धित व्यक्ति की मृत्यु हो जाये तो साधु को हिंसा लगे। गर्भाधान कराने, योनि को अविकृत बनाने में जीवन भर अब्रह्म में प्रवर्तन। यदि पुत्र जन्मे तो अनुराग से साधु को आधाकर्मी भिक्षा दे तथा योनि विकृत बने तो भोगान्तराय का बन्धन हो ॥ ५६६-५६७ ॥

एषणादोष : १० — साधु या गृहस्थ दोनों के निमित्त से होने वाले दोष।

१. शंकित — आधाकर्म आदि दोषों की सम्भावना से युक्त भिक्षा ग्रहण करना।

चतुर्भंगी — १. भिक्षा लेते समय शंकित और करते समय भी शंकित।
२. भिक्षा लेते समय शंकित किन्तु करते समय अशंकित।
३. भिक्षा लेते समय अशंकित किन्तु करते समय शंकित।
४. भिक्षा लेते समय भी अशंकित और करते समय भी अशंकित।

चौथा भाँगा शुद्ध है। प्रथम तीन भागों में सोलह उद्गम दोष और नौ एषणा के दोषों में से जिस दोष की शंका हो, लेने वाले और वापरने वाले को वही दोष लगता है। उदाहरणार्थ—

कोई लज्जालु मुनि किसी के घर गौचरी हेतु गया। वहाँ प्रचुर मात्रा में भिक्षा मिलती हुई देखकर मन में सोचे कि "यहाँ प्रचुर भिक्षा मिलने का क्या कारण है?" किन्तु लज्जावश गृहस्थ से नहीं पूछा और शंकित मन से भिक्षा ग्रहण करली व खाली। वह प्रथम भाँगा है।

गौचरी गया हुआ मुनि पूर्वोक्त परिस्थितियों में भिक्षा तो शंकित मन से ग्रहण करता है किन्तु गौचरी करते समय अन्य मुनि द्वारा स्पष्टीकरण देने पर कि "उस घर में भोज का प्रसंग है या प्रचुरमात्रा में कहीं से उपहार (भाणा) आया है अतः प्रचुर भिक्षा ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है।" इस प्रकार भिक्षा शुद्ध जानकर अशंकित मन से गौचरी करता है। यह दूसरा भाँगा है।

लेते समय भिक्षा शंका-रहित ग्रहण की, वसति में आने के बाद आलोचना करते समय अन्य मुनियों के मुख से वैसी ही आलोचना सुनकर शंका करे कि "उस गृहस्थ के घर जैसी प्रचुर भिक्षा मुझे मिली वैसी इन मुनियों को भी मिली है अतः निश्चित है कि यह भिक्षा आधाकर्मी है। इस प्रकार शंकित मन से गौचरी करता है। यह तीसरा भांगा है।

२. प्रक्षित — सचित्त या अचित्त पृथ्वीकाय आदि से लिप्त हाथ, चम्मच, पात्र आदि से भिक्षा ग्रहण करना। इसके दो प्रकार हैं—

(i) सचित्त प्रक्षित— (अ) पृथ्वीकाय प्रक्षित, (ब) अप्काय प्रक्षित, (स) वनस्पतिकाय प्रक्षित

(अ) शुष्क या आर्द्र सचित्त पृथ्विकाय से लिप्त हाथ, चम्मच, पात्र आदि से भिक्षा लेना।

(ब) अप्काय प्रक्षित के चार भेद हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

— **(i)** पुरःकर्म—भिक्षा देने से पूर्व साधु के निमित्त हाथ आदि धोना।

(ii) पश्चात्कर्म—भिक्षा देने के बाद हाथ आदि धोना।

(iii) सस्निग्ध—अल्प जल से युक्त हाथ।

(iv) उदकार्द्र—जिन से पानी टपकता हो ऐसे हाथ आदि।

(स) आम के ताजे कटे हुए टुकड़ों से लिप्त हाथ आदि।

अग्नि, वायु और त्रसकाय का भिक्षा के साथ संसर्ग होने पर भी उनसे लिप्त होने की सम्भावना ही नहीं है अतः इनसे प्रक्षित नहीं होता।

(ii) अचित्तप्रक्षित—दो प्रकार का है—

(अ) **अचित्त गर्हित प्रक्षित** — चर्बी आदि घृणित वस्तुओं से लिप्त हाथ आदि (अकल्प्य)।

(ब) **अचित्त अगर्हित प्रक्षित**— घी आदि से लिप्त हाथ आदि (कल्प्य)।

सचित्त प्रक्षित भिक्षा साधु के लिए सर्वथा अकल्प्य है। अचित्त प्रक्षित में घी आदि अगर्हित पदार्थों से प्रक्षित कल्प्य है पर गर्हित पदार्थ चर्बी आदि से प्रक्षित अकल्प्य है।

३. निक्षिप्त — सचित्त वस्तु पर रखी हुई भिक्षा। (सचित्त—पृथ्वी से लेकर त्रस तक छः)

सचित्त निक्षिप्त के दो भेद हैं—अनन्तर और परंपर।

(i) अनन्तर सचित्त निक्षिप्त : साक्षात् पृथ्वी आदि सचित्त वस्तु पर रखी हुई भिक्षा।

(ii) परंपर सचित्त निक्षिप्त : पृथ्वी आदि सचित्त वस्तु पर निहित पात्र में रखी हुई भिक्षा।

- पानी में डाला हुआ ठंसे घी का पिंड अनन्तर निक्षिप्त।
- जल स्थित नाव आदि में रखे हुए मक्खन, पकवान आदि परंपर निक्षिप्त।
- आग पर सेका जाता पापड़ अनन्तर निक्षिप्त।
- आग पर रखे हुए पात्र में स्थित पापड़ आदि परंपर निक्षिप्त।
- वायु द्वारा उड़ाये गये पापड़, शाली आदि अनन्तर निक्षिप्त।
- हवा युक्त थैली, तकिये आदि पर रखे हुए पूए आदि परंपर निक्षिप्त।
- सचित्त धान्य आदि पर रखे हुए पूए आदि अनंतर निक्षिप्त।
- सचित्त धान्य आदि पर रखे हुए पात्र में पड़ी भिक्षा परंपर निक्षिप्त।
- बैल आदि की पीठ पर स्थित भिक्षा अनंतर निक्षिप्त।
- बैल आदि की पीठ पर लदी हुई कुप्पी आदि में रखा हुआ घी परंपर निक्षिप्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सचित्त पृथ्वी आदि पर अनंतर निक्षिप्त अशनादि संघट्टादि दोषों के कारण अग्राह्य है। परंपर निक्षिप्त में यदि संघट्टादि दोष टल सकते हों तो यतनापूर्वक ग्राह्य हैं।

तेजस्काय सम्बन्धित परंपर निक्षिप्त के विषय में कुछ विशेष बात है, जैसे—चूल्हे के साथ चारों ओर मिट्टी से लिप्त कढ़ाई में स्थित गन्ने का रस, यदि देते समय नीचे गिरने की सम्भावना न हो, कढ़ाई का मुँह चौड़ा हो, गन्ने का रस अधिक उष्ण न हो तो मुनि के लिये ग्राह्य है। देते समय यदि रस बिन्दु भूमि पर गिर भी जाये तो भी कोई दोष नहीं है, कारण कढ़ाई चारों ओर से लिप्त होने से बिन्दु मिट्टी पर ही गिरते हैं, आग में नहीं। अतः तेउकाय की विराधना नहीं होती। पात्र विशाल मुख वाला होने से रस लेते समय पात्र का ऊपरी हिस्सा टूटने की सम्भावना भी नहीं है।

अति गर्म इक्षुरस साधु को ग्रहण नहीं करना चाहिये, कारण पात्र गर्म हो जाने से लेने वाले मुनि व देने वाले गृहस्थ के हाथ जलने से आत्मविराधना की सम्भावना रहती है।

जिस स्थान से इक्षुरस दिया जाता है, उस स्थान के गर्म होने से दात्री के जलने की सम्भावना है। अतिगर्म इक्षुरसादि कष्टपूर्वक ही दिया जाता है। देते समय हाथ जलने से शीघ्रता में इक्षुरसादि पात्र से बाहर भी गिर सकता है.... पात्र हाथ से छूट सकता है। इस प्रकार दाता, वस्तु व पात्र तीनों की हानि हो सकती है।

हाथ जलने से मुनि पात्र को तथा दाता बर्तन को तुरन्त नीचे डाल दे, जिससे पात्र टूट जाये, रसादि गिरने से छः काय के जीवों की विराधना हो, जीव विराधना के कारण संयम की विराधना हो, अतः अतिगर्म इक्षुरस मुनि को लेना नहीं कल्पता।

४. पिहित — ढकी हुई भिक्षा। पिहित के दो प्रकार हैं—१. सचित्त पिहित व २. अचित्त पिहित।

१. सचित्त पिहित — पृथ्वी आदि सचित्त पदार्थों से ढकी हुई भिक्षा।
इसके दो भेद हैं—**(i)** अनन्तर सचित्त पिहित, **(ii)** परंपर सचित्त पिहित।

(i) अनन्तर सचित्त पिहित—

- सचित्त पृथ्वी के ढक्कन से ढके हुए पूए आदि— पृथ्वीकाय पिहित।
- बरफ आदि अप्काय पिंड से पिहित भिक्षा— अप्काय पिहित।
- अंगारा डालकर वासित किये गये केर आदि— तेजस्काय पिहित।
- अंगारे पर वायु भी होती है, क्योंकि वायु के सिवाय आग जल ही नहीं सकती। अतः अंगारा डालकर हिंग आदि से वासित किये जाने वाले केर आदि तेजस् और वायु दोनों से पिहित कहलाते हैं।
- फलादि से ढकी हुई भिक्षा—वनस्पतिकाय पिहित।
- कीड़े-मकोड़ों से आच्छादित भिक्षा—त्रसकाय पिहित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ii) परम्पर सचित्त पिहित—

- सचित्त पृथ्वी युक्त भाजन से ढकी हुई भिक्षा।
- सचित्त अप्काययुक्त भोजन से ढकी हुई भिक्षा।
- अंगारों से युक्त शराव आदि से ढका हुआ भिक्षा पात्र।
- वायु से पूर्ण थैली आदि से ढकी हुई भिक्षा।
- फलयुक्त टोकरी आदि से ढकी हुई भिक्षा।
- कीड़ी आदि से भरे हुए शराव आदि से ढकी हुई भिक्षा।

पृथ्वी आदि से अनन्तर पिहित भिक्षा मुनि के लिए सर्वथा अग्राह्य है। लेने में 'संघट्टा' आदि दोषों की सम्भावना है। परंपर पिहित भिक्षा दोष टालते हुए, यतनापूर्वक ग्राह्य है।

२. अचित्त पिहित — अचित्त से ढकी हुई भिक्षा। इसके चार भेद हैं—

चतुर्भंगी—

- भिक्षापात्र भारी ढक्कन भारी।
- भिक्षापात्र भारी ढक्कन हल्का।
- भिक्षापात्र हल्का ढक्कन भारी।
- भिक्षापात्र हल्का ढक्कन हल्का।

- प्रथम-तृतीय भंग में भिक्षा अग्राह्य है, कारण भारी ढक्कन उठाते कदाच गिर जाये, हाथ से छूट जाये तो दाता के पाँव आदि में चोट लग जाये।
- द्वितीय-चतुर्थ भंग में भिक्षा ली जा सकती है, कारण इनमें पात्र भारी है और भारी पात्र बिना उठाये ही कटोरी, चम्मच आदि से भिक्षा दी जा सकती है। इसमें दाता को चोट आदि लगने की सम्भावना नहीं रहती।

५. संहृत — जिस पात्र में लेकर मुनि को भिक्षा देनी हो, उस पात्र में पहले से रखी हुई, सचित्त, अचित्त या मिश्र वस्तु को अन्यत्र डालकर उस पात्र से भिक्षा देना।

चतुर्भंगी—

- सचित्त को सचित्त में डालना।
- अचित्त को सचित्त में डालना।
- सचित्त को अचित्त में डालना।
- अचित्त को अचित्त में डालना।

यहाँ प्रथम के तीनों भांगे 'संघट्ट-दोष' के कारण अशुद्ध हैं। मात्र चौथा भांगा शुद्ध है।

संहृत के भी दो भेद हैं—**(i)** अनन्तर संहृत, **(ii)** परंपर संहृत।

(i) साक्षात् पृथ्वीकाय आदि सचित्त में डालना अनन्तर संहृत है।

(ii) सचित्त पृथ्वीकाय आदि पर रखे हुए पात्र में डालना परंपर संहृत है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनंतर संहृत मुनि के लिए सर्वथा अग्राह्य है। किन्तु 'परंपर सचित्त संहृत' में 'संघट्ट दोष' टल सकता हो तो यतनापूर्वक ग्राह्य है।

६. दायक — दायक = दाता। इसके उनतीस भेद हैं—१. स्थविर, २. अप्रभु, ३. नपुंसक, ४. कंपमान, ५. ज्वरी, ६. अंध, ७. बाल, ८. मत्त, ९. उन्मत्त, १०. लूला, ११. लंगड़ा, १२. कोढ़ी, १३. बंधनबद्ध, १४. पादुका पहना हुआ, १५. धान्य खांडती, १६. पीसती, १७. अनाज भूंजती, १८. चरखा कातती, १९ कपास लोढ़ती, २०. कपास अलग करती, २१. रुई पींजती, २२. अनाज आदि दलती, २३. दही का मन्थन करती, २४. भोजन करती, २५. गर्भिणी, २६. बालवत्सा, २७. छःकाय जीवों का संघट्टा करती, २८. छःकाय जीवों का घात करती, २९. संभावित भयवाली।

१. स्थविर — सत्तर वर्ष (अन्यमतानुसार साठ वर्ष) के ऊपर की आयु वाला स्थविर कहलाता है। इसके हाथ से सामान्यतः भिक्षा लेना नहीं कल्पता।

दोष — मुँह से लाल टपकती हो तो भिक्षा में पड़े, लोग घृणा करें। हाथ काँपने से पात्र नीचे गिरे, जिससे जीवों की हिंसा हो, कमजोर हो तो स्वयं भी गिरे।

अपवाद — जिसका शरीर सशक्त हो, अथवा दूसरों से पकड़ा हुआ हो ऐसे स्थविर के हाथ से भिक्षा लेना कल्पता है।

२. अप्रभु — प्रायः करके वृद्ध होने के बाद 'स्वामित्व' हट जाता है। जिसने अपना स्वामित्व दूसरों को सौंप दिया हो, ऐसे वृद्ध के हाथ से भिक्षा लेना नहीं कल्पता।

दोष — जिसे स्वामी बनाया हो, सम्भव है उसे द्वेष हो जाये कि अब भिक्षा देने का इन्हें अधिकार ही क्या है?

अपवाद — वृद्ध यदि स्वामी हो, शक्ति संपन्न हो तो लेना कल्पता है।

३. नपुंसक — नपुंसक के हाथ से भिक्षा ग्रहण करना नहीं कल्पता।

दोष — अतिपरिचित होने से, नपुंसक को अथवा साधु को वेदोदय हो, जिससे वे परस्पर एक-दूसरे को आलिंगन, चुंबन आदि करे। इससे दोनों के कर्मबंधन। लोकनिन्दा—"ये मुनि ऐसे अधम लोगों के हाथ से भिक्षा लेते हैं।"

अपवाद — यदि वर्धित, चिप्पित, मंत्रोपहत लिंग वाला या ऋषि-देव आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के शाप के कारण नपुंसक हो तो अप्रतिसेवी होने से उससे भिक्षा लेना कल्पता है। अप्रतिसेवी = दुराचार सेवन न करने वाला।

४. कंपमान — जिसका शरीर, अवस्था या रोगादि के कारण काँपता हो, उससे भिक्षा लेना नहीं कल्पता।

दोष — देते समय वस्तु नीचे गिर जाये, पात्र से बाहर भिक्षा डाले, हाथ से भोजन पात्र गिर जाने से साधु का पात्र फूटे।

अपवाद — पात्र को मजबूती से पकड़ा हुआ हो, अन्य द्वारा पकड़ कर भिक्षा दिलाई जाती हो तो लेना कल्पता है।

५. ज्वरित — जिसे बुखार, एकान्तरा आदि आता हो।

दोष — पूर्वोक्त (कंपमान के) दोष लगते हैं तथा ज्वर संक्रामक हो तो साधु को भी बुखार आने की सम्भावना रहती है तथा लोग निन्दा करे कि 'ये मुनिलोग कैसे आहारलिप्सु हैं कि बीमार को भी नहीं छोड़ते।"

अपवाद — असंक्रामक बुखार हो तो यतनापूर्वक भिक्षा दे सकता है।

६. अंध — अंधे से भी भिक्षा ग्रहण न करे।

दोष — लोकनिन्दा—अंधा व्यक्ति नहीं देखने के कारण जीव हिंसा करे, ठोकर खाकर गिरे, पात्र फूटे, देते समय वस्तु बाहर पड़े।

अपवाद — पुत्रादि हाथ पकड़कर यदि उससे भिक्षा दिलायें तो लेना कल्पता है।

७. बाल — आठ वर्ष से कम उम्र का, जो देने का प्रमाण न जानता हो, ऐसे बालक से भिक्षा ग्रहण करना नहीं कल्पता।

दोष — लोग निन्दा करें कि ये साधु नहीं लुटेरे हैं, बड़ों की अनुपस्थिति में बच्चों से मन चाहे जितना आहार लेते हैं। इससे माता आदि को साधु के प्रति द्वेष होने की संभावना रहती है।

अपवाद — बाहर जाते समय बड़ों ने बालक को कहा हो कि हमारे जाने के बाद साधु पधारे तो इतना-इतना आहारादि दे देना अथवा न कहने पर भी बालक थोड़ा सा दे तो लेना कल्पता है। थोड़ा सा देने से माता आदि को साधु के प्रति द्वेष नहीं होता।

८. मत्त — नशा किये हुए व्यक्ति से गौचरी लेना नहीं कल्पता।

दोष — नशे में बेभान होने से साधु से लिपटे, पात्र फोड़े, वमन करे,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिससे साधु या पात्र गन्दे हों, लोग निन्दा करें कि 'ये मुनि कितने घृणित हैं कि शराबी से भी आहार लेते हैं।' कदाचित् कोई मत्त व्यक्ति साधु से रुष्ट होकर कहे कि तू यहाँ क्यों आया और उन्हें मारने दौड़े।

अपवाद — भद्र प्रकृति वाला हो, नशे में धूत न हो, अन्य कोई गृहस्थ न हो तो उसके हाथ से भिक्षा लेना कल्पता है।

९. उन्मत्त — दो प्रकार का है—१. गर्व से उन्मत्त, २. भूतादि से गृहीत होने के कारण उन्मत्त। सामान्यतः दोनों से लेना नहीं कल्पता।

दोष — वमन को छोड़कर शेष दोष मत्त की तरह समझना।

अपवाद — मत्त की तरह समझना।

१०. लूला — हाथ के अभाव में शरीर की शुद्धि नहीं कर सकता, अतः ऐसे व्यक्ति से भिक्षा लेना नहीं कल्पता।

दोष — अशुचि होने से लोक निन्दा, हाथ के अभाव में देने में बड़ा कष्ट हो, पात्र गिरे, फूटे, वस्तु नीचे गिरे, जिससे जीवों की हिंसा हो।

अपवाद — अन्य गृहस्थ न हो और वह यतना से दे सके तो लेना कल्पता है।

११. लंगड़ा — खंडित पाँव वाले से भिक्षा लेना नहीं कल्पता।

दोष — पूर्वोक्त दोष तथा भिक्षा देने के लिए चलने का प्रयास करे तो गिरने की सम्भावना, गिरे तो कीड़ी आदि जीवों की हिंसा।

अपवाद — खण्डित पाँव वाला व्यक्ति यथास्थान बैठा ही भिक्षा दे तथा वहाँ अन्य गृहस्थ न हो तो उससे भिक्षा लेना कल्पता है।

१२. कोढ़ी — कुष्ठी, जिसके व्रण झरते हों उससे भिक्षा लेना नहीं कल्पता।

दोष — उसका श्वास, स्पर्श, मवाद, पसीना, मैल आदि लगने से मुनि को कोढ़ होने का भय रहता है, क्योंकि यह संक्रामक है।

अपवाद — जिसके शरीर पर केवल सफेद दाग रूप कोढ़ हो उसके हाथ का यदि वहाँ कोई अन्य गृहस्थ न हो तो लेना कल्पता है, अन्यथा नहीं।

१३. बंधनबद्ध — जिसके हाथ पैर बंधे हुए हों, ऐसे व्यक्ति से भिक्षा लेना नहीं कल्पता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोष — देने वाले को पीड़ा होती है, उसके हाथ से भिक्षा लेने से लोगों को घृणा होती है।

अपवाद — जिसके हाथ बंधे हुए हैं, उससे भिक्षा लेना सर्वथा अकल्प्य है। इसमें कोई अपवाद नहीं है। जिसके पाँव बंधे हुए हों, यदि उसे चलने में कष्ट न हो तो उसके हाथ से भिक्षा ग्रहण करना कल्पता है। किन्तु जो चलने में असमर्थ हो वह बैठे-बैठे भिक्षा दे तो ही साधु ले सकता है। वहाँ कोई अन्य गृहस्थ नहीं होना चाहिये।

१४. पादुका पहना हुआ — पादुका = लकड़ी की खड़ाउ पहने हुए व्यक्ति से भिक्षा न ले।

दोष — भिक्षा देने के लिए चलते हुए कदाचित् पाँवों का सन्तुलन न रहे तो दाता गिर सकता है। चलते हुए जीव विराधना करता है।

अपवाद — पादुकारूढ़ दाता यदि स्थान पर खड़ा ही भिक्षा दे तो लेना कल्पता है।

१५. खांडती — अनाज खांडती हुई भिक्षा दे तो अकल्प्य।

दोष — सचित्त का संघट्टा होता है। भिक्षा देने से पूर्व और पश्चात् हाथ आदि धोने से दोष।

अपवाद — खांडने के लिए मूशल उठाया हो किन्तु अभी ऊखल में नहीं डाला हो, इतने में मुनि को आये हुए देखकर मूशल को उपयोगपूर्वक कोने में रखकर दात्री वहोरावे तो लेना कल्पता है।

१६. पीसती — अनाज वगैरह सचित्त वस्तु पीसती हुई दात्री भिक्षा दे तो मुनि को ग्रहण करना नहीं कल्पता।

दोष — 'संघट्टा' लगे, हाथ आदि धोने से अप्काय जीवों की विराधना हो।

अपवाद — साधु के आने पर पीसने की क्रिया पूर्ण हो गई हो या अचित्त वस्तु पीस रही हो तो उसके हाथ से भिक्षा लेना कल्पता है।

१७. भूंजती — चने आदि भूंजती हुई दात्री से भिक्षा लेना नहीं कल्पता।

दोष — भिक्षा देने में समय लगने से कढ़ाई में डाले हुए चने आदि जल जाये, इससे दाता के मन में साधु के प्रति अरुचि, द्वेष पैदा हो।

अपवाद — कढ़ाई में डाले हुए चने आदि भूंजकर नीचे ले लिये हों, दूसरे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूंजने के लिये अभी हाथ में नहीं उठाये हों, ऐसी स्थिति में मुनि को भिक्षा देना कल्पता है।

१८. कातती — सूत कातने वाली।

१९. लोढ़ती — कपास से बिनौले अलग करती हुई।

२०. अलग करती — रुई को अलग करती हुई (हाथ से)।

२१. पींजती — रुई पींजती हुई। पूर्वोक्त चारों के हाथ से भिक्षा लेना मुनि को नहीं कल्पता है।

दोष — सचित्त कपास का संघट्टा, पूर्व पश्चात्कर्म (हाथ धोने से)।

अपवाद — कातते समय सूत को अधिक सफेद बनाने के लिए दात्री ने शंख चूर्ण आदि हाथ में न लगाया हो, भिक्षा देते समय हाथ आदि धोना न पड़े, मुनि के आगमन के समय कपास हाथ में न हो, भिक्षा देने के लिये उठते समय संघट्टा न लगे, तो भिक्षा लेना कल्पता है।

२२. दलती — अनाज दलती हुई दात्री के हाथों से भिक्षा लेना नहीं कल्पता।

दोष — संघट्टा दोष, हाथ आदि धोने से जीव हिंसा।

अपवाद — दात्री चक्की को स्पर्श न करती हो अथवा अचित्त वस्तु दल रही हो तो लेना कल्पता है।

२३. मथती — दही का मंथन करती हुई दात्री के हाथ से भिक्षा लेना मुनि को नहीं कल्पता।

दोष — कदाचित् दही संसक्त हो तो उससे लिप्त हाथ से भिक्षा लेने में त्रस जीवों की हिंसा होती है।

अपवाद — दही असंसक्त (जीव रहित) हो तो मंथन करते हुए भी भिक्षा लेना कल्पता है।

२४. खाती — भोजन करती हुई दात्री से भिक्षा लेना नहीं कल्पता।

दोष — हाथ धोकर वहोराने में जीव हिंसा, बिना धोये भिक्षा देने में लोकनिन्दा। कहा है कि 'छः काय जीवों की रक्षा करने वाला भी यदि आहार, नीहार व भिक्षा-ग्रहण घृणित रूप से करता है तो उसे बोधि की प्राप्ति दुर्लभ होती है।'

२५. गर्भिणी — गर्भिणी के हाथ से भिक्षा लेना मुनि को नहीं कल्पता।

दोष — भिक्षा देने हेतु उठते-बैठते गर्भ को पीड़ा होती है।

अपवाद — जिनकल्पी को गर्भिणी के हाथ की भिक्षा सर्वथा नहीं कल्पती।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थविर कल्पी आठ मास तक गर्भिणी के हाथ से भिक्षा ले सकते हैं। नौवें मास में यदि बैठे-बैठे ही भिक्षा दे तो लेना कल्पता है, अन्यथा नहीं।

२६. बालवत्सा — बालक को भूमि, खटिया आदि पर सुलाकर भिक्षा दे तो मुनि ग्रहण नहीं करे।

दोष — बहुत छोटा होने से बच्चे को मांसपिण्ड अथवा खरगोश आदि का बच्चा समझकर बिल्ली या अन्य पशु उसकी हिंसा करे, भिक्षा देने के बाद सूखने के कारण कर्कश बने हाथों से बालक को स्पर्श करे तो उसे पीड़ा हो, भिक्षा देने के बाद हाथ धोये तो हिंसा।

अपवाद — जिनकल्पी के लिए बालवत्सा के हाथ की भिक्षा सर्वथा अग्राह्य है। यदि बालक खाद्यपदार्थ से सन्तुष्ट हो जाये, नीचे बिठाने पर न रोये, शरीर से पुष्ट होने के कारण जिसे बिल्ली आदि से कोई भय न हो, ऐसी बालवत्सा दात्री के हाथ से स्थविरकल्पी मुनि को भिक्षा लेना कल्पता है।

२७. छःकाय संघट्टती — सचित्त नमक, जल, अग्नि, वायु भरी थैली, फल, मछली आदि जिसके हाथ में हो, तिल-जौ, दूर्वा, पत्र-पुष्पादि जिसके मस्तक पर धारण किये हों, पुष्पमाला गले में हो, कानों में फूलों के आभरण हों, कमर में तांबूल आदि के पत्तों का शृंगार हो, पाँव में जलकण लगे हों, ऐसी दात्री के हाथ की भिक्षा मुनि को लेना नहीं कल्पता।

दोष — संघट्टा दोष लगता है।

अपवाद — नहीं है।

२८. छः काय का वध करती– भूमि आदि का खनन करना, स्नान वस्त्रप्रक्षालन, वृक्षादि का सिंचन करना, अंगारे आदि का स्पर्श करना, चूल्हा फूंकना, वायु भरी थैली को इधर-उधर फेंकना, फलादि काटना, खाट आदि से मांकड़ नीचे गिराना इत्यादि कार्यों के द्वारा छःकाय जीवों की विराधना करती हुई, दात्री के हाथ से मुनि भिक्षा नहीं लें।

दोष — संघट्टा, हिंसा

अपवाद — नहीं है।

२९. संभावित भय — भय तीन प्रकार का है। ऊपर से, नीचे से और तिर्यक् दिशा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की ओर से।

(i) ऊपर से—छत के पाट, पट्टी आदि के गिरने की आशंका।

(ii) नीचे से—साँप, बिच्छु, कांटे आदि का भय।

(iii) तिर्यक् से—गाय, बैल आदि का भय।

इन तीनों भय में से किसी एक भी भय की सम्भावना हो तो मुनि को भिक्षा लेना नहीं कल्पता।

दोष — मृत्यु आदि।

अपवाद — नहीं है।

७. उन्मिश्र — सचित्त मिश्रित भिक्षा देना। जैसे—किसी गृहस्थ के घर मुनि गौचरी के लिये आये किन्तु देने योग्य वस्तु अल्प होने से गृहस्थ लज्जावश देयवस्तु में करौंदे, दाड़िम के दाने आदि मिलाकर मुनि को दे। अथवा दो वस्तु अलग-अलग देने में देर लगेगी, मिश्रित दो वस्तुयें अधिक स्वादिष्ट होगी, मुनियों का सचित्त भक्षण का नियम भंग हो, इस प्रकार लज्जा, उत्सुकता, भक्ति, प्रद्वेष अथवा अनाभोग से कल्प्य-अकल्प्य को मिलाकर मुनि को वहोराना।

उन्मिश्र और संहृत में अन्तर—कल्प्य और अकल्प्य दोनों को मिलाना उन्मिश्र है तथा भाजनस्थ अकल्प्य वस्तु को अन्यत्र डालकर उसमें कल्प्य वस्तु लेकर भिक्षा देना संहृत है।

८. अपरिणत — जो वस्तु अचित्त न बनी हो, जैसे कटे हुए फल, रस आदि। यह दो प्रकार का है—(i) द्रव्यतः और (ii) भावतः।

(i) द्रव्यतः अपरिणत — स्वरूपतः सचित्त वस्तु जैसे पृथ्वीकाय आदि फलादि। किन्तु जो पृथ्वीकाय आदि जीवरहित हैं, वे द्रव्यतः परिणत है।

पूर्वोक्त दोनों ही अपरिणत, दाता और ग्रहीता के भेद से दो-दो प्रकार के हैं। यदि सचित्त वस्तु दाता से सम्बन्धित है तो दातृविषयक द्रव्यतः अपरिणत है और ग्रहणकर्त्ता से सम्बन्धित है तो ग्रहीतृ विषयक द्रव्यतः अपरिणत है।

दातृ विषयक भावतः अपरिणत — ऐसी वस्तु जो दो व्यक्ति या अनेक व्यक्तियों के मालिकी की हो, पर जिसे देने का भाव एक का ही हो।

ग्रहीतृ विषयक भावतः अपरिणत — ग्रहणकर्त्ता मुनिओं में से किसी एक को असंमत देय वस्तु। (अशुद्ध की आशंका से)।

साधारण अनिसृष्ट में दाता परोक्ष हैं, किन्तु दातृ-भाव अपरिणत में दाता सम्मुख है। पहले में परोक्ष दाता की असहमति है और प्रस्तुत में प्रत्यक्ष दाता की असहमति है। यही इन दोनों का भेद है।

दोष — शंकित होने से अग्राह्य, कलह आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. लिप्त — दूध-दही, ओसामण आदि लेपकृत द्रव्य उत्सर्गत साधु को नहीं लेना चाहिये।

दोष — रस-लोलुपता, लिप्त हाथ धोने से पश्चात्कर्म आदि अनेक दोष।

अपवाद — साधु को उत्सर्गत: वाल, चना, भात आदि अलेपकृत भिक्षा ही लेना कल्पता है। किन्तु स्वाध्याय आदि पुष्ट कारणों से लेपकृत भिक्षा भी साधु ले सकते हैं।

भिक्षा लेपकृत है तो दाता का हाथ तथा पात्र संसृष्ट-असंसृष्ट दोनों तरह का होता है। भिक्षा सावशेष और निरवशेष दोनों तरह की होती है अत: संसृष्ट-असंसृष्ट हाथ व पात्र तथा सावशेष-निरवशेष भिक्षा इनके योग से कुल आठ भांगे बनते हैं—संसृष्ट = खरड़ा हुआ। सावशेष = देने के बाद बचा हुआ द्रव्य। निरवशेष = देने के बाद कुछ भी न बचा हो, वह द्रव्य निरवशेष है।

१. संसृष्ट हाथ संसृष्ट भाजन, सावशेष द्रव्य।
२. संसृष्ट हाथ संसृष्ट भाजन, निरवशेष द्रव्य।
३. संसृष्ट हाथ असंसृष्ट भाजन, सावशेष द्रव्य।
४. संसृष्ट हाथ असंसृष्ट भाजन, निरवशेष द्रव्य।
५. असंसृष्ट हाथ संसृष्ट भाजन, सावशेष द्रव्य।
६. असंसृष्ट हाथ संसृष्ट भाजन, निरवशेष द्रव्य।
७. असंसृष्ट हाथ असंसृष्ट भाजन, सावशेष द्रव्य।
८. असंसृष्ट हाथ असंसृष्ट भाजन, निरवशेष द्रव्य।

प्रथम, तृतीय, पंचम और सप्तम भांगों में भिक्षा ग्रहण करना कल्पता है, क्योंकि यहाँ सावशेष होने से हाथ और पात्र लिप्त होने पर भी धोने की सम्भावना नहीं रहती, कारण दूसरों को भोजन परोसा जा सकता है।

जिन भांगों में द्रव्य निरवशेष है, वहाँ साधु को दान देने के पश्चात् दात्री निश्चित रूप से हाथ और पात्र दोनों का प्रक्षालन करेगी। अत: द्वितीय, चतुर्थ, षष्ठ और अष्टम भांगों में द्रव्य निरवशेष होने से भिक्षा लेना नहीं कल्पता।

१०. छर्दित — भिक्षा देते समय पदार्थ का नीचे गिरना छर्दित है। गिरने वाला और जिसमें गिरता है वे दोनों ही पदार्थ तीन प्रकार के हैं—सचित्त, अचित्त व मिश्र। जैसे सचित्त का सचित्त में गिरना, सचित्त का अचित्त में गिरना व सचित्त का मिश्र में गिरना। इस प्रकार अचित्त व मिश्र का समझना। इन भांगों में से जहाँ आधारभूत व आधेयभूत पदार्थ मिश्र हैं उन भांगों का सचित्त में ही अन्तर्भाव हो जाने से आधार, आधेयभूत सचित्त व अचित्त द्रव्य के संयोग से केवल चार भांगे ही बनते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. सचित्त का सचित्त में गिरना।, २. सचित्त का अचित्त में गिरना।,
३. अचित्त का सचित्त में गिरना।, ४. अचित्त का अचित्त में गिरना।

सचित्त का संघट्टा होने से प्रथम के तीनों भांगे अशुद्ध हैं। चौथे भांगे में यदि गिरने वाला द्रव्य गर्म है तो दाता और भूम्याश्रित जीवों के जलने की सम्भावना रहती है। यदि गिरने वाला द्रव्य ठण्डा है तो पृथ्वी आदि के जीवों की विराधना का दोष लगता है। अतः चौथा भांगा भी अकल्प्य ही है॥ ५६८॥

पिण्ड-विशुद्धि का संग्रह—

पिण्डविशुद्धि के नियमों का संग्रह नवकोटि में होता है—

१. स्वयं हिंसा न करना, २. न खरीदना, ३. न पकाना—इन तीनों का करण, कारण और अनुमोदन से गुणा करने पर ३ × ३ = ९ कोटि॥ ५६९॥

विशोधिकोटि - अविशोधि कोटि—

१६ प्रकार का उद्गमदोष सामान्यतः दो प्रकार का है—**(i)** विशोधिकोटि रूप और **(ii)** अविशोधिकोटि रूप।

(i) जिन दोषों से दूषित आहार पृथक् कर देने पर शेष आहार कल्पनीय हो जाता है वे दोष विशोधिकोटि के हैं।

(ii) जिन दोषों से दूषित आहार पृथक् कर देने पर भी शेष आहार कल्पनीय नहीं बनता, वे दोष अविशोधिकोटि के हैं।

अविशोधिकोटि—१. आधाकर्म सप्रभेद, २. विभागोद्देशिक के कर्मनामक भेद के अन्तिम तीन भेद, ३. पूति, ४. पाखण्डी गृही मिश्र और साधु गृही मिश्र। ५. बादर प्राभृतिका, ६. अध्यवपूरक के अन्तिम दो भेद **(i)** स्वगृही पाखण्डी मिश्र और **(ii)** स्वगृही साधु मिश्र।

अविशोधिकोटि वाले छाछ आदि लेपकृत एवं वाल-चने आदि अलेपकृत पदार्थों के छोटे से कण से संसृष्ट शुद्ध भोजन परठने के पश्चात् भी पात्र को तीन बार पानी से धोये बिना उसमें आहार आदि लाना नहीं कल्पता। यदि जरा-सा भी अंश रह जाये तो उसमें लाया हुआ शुद्ध भोजन भी पूति (अशुद्ध) हो जाता है।

शेष दोष विशोधिकोटि के हैं। १. औघ-औद्देशिक और नवविध विभाग—औद्देशिक, २. उपकरणपूति, ३. यावदर्थिकमिश्र, ४. स्थापना, ५. अध्यवपूरक का प्रथम भेद, ६. सूक्ष्मप्राभृतिका, ७. प्रादुष्करण, ८. क्रीत, ९. प्रामित्य, १०. परिवर्तित, ११. अभ्याहृत, १२. उद्भिन्न, १३. मालापहृत, १४. आच्छेद्य, १५. अनिसृष्ट।

इन दोषों से दूषित आहार का अंश निकाल देने पर शेष भोजन शुद्ध रह जाता है। इन दोषों में पात्र को तीन बार धोने की आवश्यकता नहीं है।

ग्रहणविधि—

शुद्ध आहार लेने के बाद यदि अनाभोग से विशोधिकोटि के दोष से दूषित आहार ले लिया हो,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाद में मालूम पड़े कि आहार दूषित है, ऐसी स्थिति में आहार के बिना चल सकता हो, तो सारा आहार विधिपूर्वक परठ दें अन्यथा जितना दूषित हो उतना परठे। यदि दूषित, अदूषित को जानना सम्भव न हो अथवा अलग करना सम्भव न हो, तो सारा का सारा आहार परठ दें। विशोधिकोटि के दोष से दूषित होने के कारण यहाँ पात्र को तीन बार धोने की आवश्यकता नहीं है॥ ५७०॥

समिति = उपयोगपूर्वक प्रवृत्ति, सम्यक् प्रवृत्ति समिति है। यह निम्न प्रवृत्तियों की आगमिक संज्ञा है।

१. **ईर्यासमिति** = **ईर्या** = गति, उपयोगपूर्वक गति करना। प्राणिमात्र को अभयदान देने में निपुण मुनि को आवश्यक कारणों से बाहर जाना पड़े तो प्रचलित, सूर्य की तप्त किरणों से तप्त तथा जीवरहित मार्ग से स्व, पर की रक्षा के लिये आगे साढ़े तीन हाथ भूमि को देखते हुए गति करे। **दशवैकालिक सूत्र** में कहा है—अपने पाँव से आगे साड़े तीन हाथ भूमि को देखते हुए मुनि चले। बीज आदि वनस्पति, बे इन्द्रिय आदि त्रस जीव, सचित्त जल व सचित्त पृथ्वी आदि की रक्षा करते हुए गति करे। गर्त, ऊँची-नीची धरती, ठूंठ, दलदल आदि का त्याग करके गमन करे। यदि अन्य मार्ग हो तो जलादि पर रखे हुए पाटिये...पत्थर आदि पर भी न चले।

उपयोगपूर्वक गति करते हुए कदाचित् जीव हिंसा हो जाये तो भी पाप बंधन नहीं होता। किन्तु, उपयोग न रखने पर जीव हिंसा न हो तो भी कर्म बंधन होता है। जहाँ प्रमाद है, वहाँ कर्म बंध है। जहाँ प्रमाद नहीं है, वहाँ कर्म बंध भी नहीं है।

"मुनि ईयासमितिपूर्वक पाँव रखता है फिर भी कोई जीव मर जाये तो उसे उसका पाप नहीं लगता क्योंकि उसका भाव शुद्ध है।" ऐसा आगम में कहा है।

प्रवचनसार में कहा है कि—जीव मरे या न मरे अनुपयोगी को निश्चय से हिंसाजन्य पाप लगता है। किन्तु उपयोगी, समित साधु को हिंसाजन्य पापबंध नहीं होता।

२. **भाषासमिति**—वाक्यशुद्धि अध्ययन में बताई गई सावद्यभाषा तथा धूर्त, कामुक, मांसाहारी, चोर, चार्वाक आदि की भाषा का त्याग करते हुए सर्वजन-हितकारी, अल्प किन्तु अर्थयुक्त और असंदिग्ध भाषा बोलना।

३. **एषणा समिति**—दोषरहित अन्न-पानी, रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि औधिक उपधि, शय्या, पीठफलक, चर्म, दण्ड आदि औपग्रहिक उपधि को ग्रहण करना।

४. **आदान निक्षेप समिति**—आसन, वस्त्र-पात्र, दण्ड आदि को दृष्टि से देखकर उपयोगपूर्वक रजोहरण आदि से प्रमार्जित कर ग्रहण करना तथा उन्हें प्रतिलेखित-प्रमार्जित भूमि पर रखना। जो अनुपयोग से प्रतिलेखना, प्रमार्जना करता है, वह समिति युक्त नहीं होता।

- प्रतिलेखन करते समय बातचीत करना।
- प्रतिलेखन करते समय पच्चक्खाण देना।
- प्रतिलेखन करते समय वाचना लेना या देना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसा करने वाला प्रमादी व षट्काय का विराधक है।

५. **परिष्ठापनिका समिति**—मूत्र-पुरीष, थूंक, श्लेष्म, शरीर का मल, अनुपयोगी वस्त्र-पात्र तथा अन्न-पानी का जीवरहित भूमि पर उपयोगपूर्वक त्याग करना ॥ ५७१ ॥

● **भावना**— प्रतिदिन अभ्यास करने योग्य भाव। उसके बारह प्रकार हैं।

१. अनित्य भावना—

वज्र की तरह अभेद्य शरीर वाले भी अनित्य हैं तो कमल की तरह कोमल शरीर वालों का कहना ही क्या? जिस प्रकार बिल्ली दूध के लालच में मार की परवाह नहीं करती वैसे आत्मा अनित्य सुखों के लालच में यमराज की परवाह नहीं करता। शरीर नदी के प्रवाह की तरह एवं आयु उड़ती हुई ध्वजा की तरह चंचल है। रूप-लावण्य नारी के नेत्र की तरह एवं यौवन मदोन्मत्त हाथी के कानों की तरह अस्थिर है। प्रभुत्व स्वप्नवत् क्षणिक एवं लक्ष्मी विद्युतवत् चपल है। प्रेम, सुख सभी दो पल स्थायी है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ की क्षणिकता एवं अनित्यता का चिंतन करने वाला आत्मा प्रिय पुत्रादि की मृत्यु पर जरा भी शोक नहीं करता। जबकि सबको नित्य मानने वाला मूढ़बुद्धि आत्मा तुच्छ वस्तु के नाश में भी दुःख करता है। अतः मोह का नाश करने वाली अनित्य भावना का सदा चिंतन करना चाहिये।

२. अशरण भावना—

जिस समय आत्मा मृत्यु के मुख में जाता है, उस समय पिता, पत्नी कोई बचा नहीं सकता। जिस समय आत्मा आधि, व्याधि रूपी बेड़ियों से बँधता है, उसके बंधन को काटने में अन्य कोई भी समर्थ नहीं है। जो शास्त्रों के ज्ञाता हैं, मंत्रादि में प्रवीण हैं, ज्योतिष और निमित्त के मर्मज्ञ हैं, वे भी त्रैलोक्य का नाश करने में तत्पर ऐसी मृत्यु का प्रतीकार करने में असमर्थ हैं। अनेकविध शास्त्रों के अभ्यास में निपुण, चारों ओर अंगरक्षकों से घिरे हुए, मदोन्मत्त हाथियों से सुरक्षित इन्द्र, नरेन्द्र एवं चक्रवर्तियों को भी यम के दूत पकड़कर यमलोक में पहुँचा देते हैं। उस समय जीव की धन, कुटुम्ब, मित्र आदि कोई भी रक्षा नहीं कर सकते। मेरु को दण्ड और पृथ्वी को छत्र बनाने में समर्थ तीर्थंकर परमात्मा भी मृत्यु को टाल नहीं सकते। स्वजन के स्नेह रूपी ग्रह का निवारण करने में समर्थ ऐसी अशरण भावना का चिंतन निरन्तर करना चाहिये।

३. संसार भावना—

इस संसार में जीवन अनेकविध विडम्बनाओं का शिकार बनता रहता है, कभी बुद्धिमान, कभी मूर्ख, कभी धनी तो कभी दरिद्री, कभी सुखी तो कभी दुःखी, कभी सुरूप तो कभी कुरूप, कभी सेठ तो कभी नौकर, कभी प्रिय तो कभी अप्रिय, कभी राजा तो कभी प्रजा, कभी देव तो कभी नारक, कभी मनुष्य तो कभी तिर्यंच बनता है। आरम्भ, समारम्भ के द्वारा अनेकविध पापकर्म बाँधकर जीव नरक में जाता है, वहाँ छेदन, भेदन, दहन की ऐसी वेदना भोगता है कि जिसे कहने में ब्रह्मा भी असमर्थ है। आर्त्तध्यान वश तिर्यंच गति में भूख, प्यास, शीत, ताप, बंधन, प्रहार, रोग, भारवहन आदि अवर्णनीय दुःख सहन करता है। भक्ष्य, अभक्ष्य, पाप, पुण्य, कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य के विवेक के अभाव में अनार्य मानव अनेक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विध पापकर्मों का बंधन करते रहते हैं। कुलीन मानव भी कर्मवश दरिद्र, दासपन, मानभंग, अवज्ञा आदि के कारण से महान कष्ट उठाते हैं। कितना दुःखद है यह संसार ! जहाँ मनुष्य जन्म के समय रोम-रोम में एक ही साथ चुभोई गई सूइयों की वेदना से आठ गुणी वेदना सहन करता है। बचपन में मल-मूत्र, धूल, अज्ञान खेलों में आनन्द मानता है, यौवन में धनार्जन, इष्ट-वियोग, अनिष्ट संयोगजन्य व्यथा से व्यथित रहता है, वृद्धावस्था में वयजन्य विडम्बना, देह-कंप, दृष्टि-मन्दता, बहिरापन, श्वास आदि से पीड़ित रहता है, संसार में, ऐसी कौनसी दशा है इस आत्मा की कि जहाँ वह सुख प्राप्त कर सकता है। देव भव में शोक, खेद, भय, ईर्ष्या, अल्प-ऋद्धि, काम, मद मोह, तृष्णादिवश दीर्घ आयुष्य क्लेशपूर्वक पूर्ण होती है। इस प्रकार संसार के स्वरूप को पूर्ण रूपेण पहचान कर मोक्ष-फल को देने वाली वैराग्य-वर्धक संसार भावना का निरन्तर चिन्तन करना चाहिये।

४. एकत्व भावना—

इस संसार में जीव अकेला ही जन्मता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही कर्म करता है और कर्मजन्य परिणामों को भोगता भी अकेला ही है। बड़े परिश्रम से उपार्जित धन के भोग में तो सारा कुटुम्ब शामिल होता है, किन्तु पाप कर्मों को भोगने में जीव अकेला ही रह जाता है। यह आत्मा का एकाकीपन है ! जिसके कारण आत्मा दौड़-धूप करता है, दीन बनता है, धर्म-भ्रष्ट बनता है, हितकारी को ठगता है, अन्याय करता है, वह शरीर मरने के बाद एक कदम भी साथ नहीं आता तो परिवार आदि की तो बात ही क्या करना? ऐसा जीव का एकत्व है। अपने-अपने स्वार्थ में रत स्वजन, शरीर आदि के स्वरूप को अच्छी तरह से पहचान कर सर्वथा कल्याणकारी ऐसे धर्म की शरण ग्रहण करना चाहिये।

५. अन्यत्व भावना—

सबसे प्रिय, शरीर से भी आत्मा अलग हो जाता है तो अन्य वस्तुओं से जुदा होने में आश्चर्य ही क्या है? अतः शरीर के प्रति अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में समभाव रखना हितकर है। इस प्रकार जो आत्मा अन्यत्व-भावना का चिंतन करता है, उसे सर्वस्व का नाश हो जाने पर भी शोक नहीं होता।

६. अशुचि-भावना—

समुद्र में गिरे हुए पदार्थ नमक बन जाते हैं, वैसे ही शरीर के संसर्ग से श्रेष्ठ पदार्थ भी मलिन बन जाते हैं। यह देह सर्वथा अशुचि है, जिस काया के सौन्दर्य को देखकर हम मुग्ध बनते हैं, उस काया का उत्पाद कैसा है? यह काया रक्त और शुक्र के मिलन से उत्पन्न माता द्वारा खाये हुए भोजन से पुष्ट, सात धातुओं से निर्मित एवं रोग का घर है। ऐसी काया को कौन सुन्दर एवं पवित्र मानेगा? जल से भरे सैंकड़ों घड़े इस पर डाले जायें, केशर, कस्तूरी आदि सुगन्धित द्रव्यों से इसे महकाया जाये फिर भी यह अशुचि देह अपनी मलिनता नहीं छोड़ती। इस शरीर को कितनी भी अच्छी चीज खिलाई जाये, लड्डू, पेड़े, दही-दूध, दाख, इक्षुरस, आम आदि किन्तु उनकी परिणति मैले के रूप में ही होती है अतः इस शरीर को पवित्र कैसे कहा जा सकता है? जिसके संसर्ग से शुभ भी अशुभ बन जाता हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो उसे पवित्र मानने की मूर्खता कौन करेगा? शरीर के ममत्व का विसर्जन करने के लिये अशुचि भावना का सतत चिन्तन करना चाहिये।

७. आस्रव भावना—

मन, वचन, काया की शुभ-अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा कर्मों का आत्मा में आगमन आस्रव है। जिसके दिल में मैत्री है, गुणी व सुखी के प्रति प्रमोद भाव है, दुःखी के प्रति करुणा एवं पापी के प्रति उपेक्षा है, वह आत्मा बयालीस प्रकार का पुण्य कर्म बाँधता है तथा जो आत्मा आर्त्त-रौद्रध्यानी है, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद व कषाय का सतत सेवन करता है, वह बयासी प्रकार के पाप कर्म का बंधन करता है। सुदेव, सुगुरु और सद्धर्म पर श्रद्धा रखने वाला, उनके गुणगान करने वाला, हित, मित और सत्य वचन बोलने वाला पुण्यकर्म का बंधन करता है। इसके विपरीत सुदेवादि की निन्दा करने वाला, उत्सूत्र प्ररूपक पाप बाँधता है। देवपूजा, गुरुभक्ति, साधुसेवा आदि सुकृत करने वाला गुप्तिमान आत्मा पुण्य का बंधक है। माँसाहारी, शराबी, हिंसक, चोर, दुराचारी, अशुभकर्म बाँधता है। इस आस्रव भावना का जो सतत चिन्तन करता है वह अनेकविध अनर्थों का जनक आस्रव रूपी समुद्र से अपने मन को बाहर निकाल कर दुःखरूपी दावानल के लिये मेघ के समान व सम्पूर्ण कल्याण के निमित्तभूत शुभ-आस्रव में सतत रमण करता है।

८. संवर भावना—

आस्रव का निरोध करने वाली संवर भावना है। संवर के दो प्रकार हैं—१. सर्वसंवर २. देशसंवर। सर्वसंवर अयोगी केवली के होता है। एक/दो आदि आस्रवों को रोकना देशसंवर होता है। ये दोनों संवर भी द्रव्य और भाव के भेद से दो-दो प्रकार के हैं—(i) आते हुए कर्मपुद्गलों का सर्वतः या देशतः निरोध, द्रव्य संवर है। (ii) संसार-वर्धक क्रिया का सर्वतः या देशतः त्याग, भाव संवर है। आस्रव के कारणों का उनके प्रतिपक्षी उपायों द्वारा निर्मूल करने का प्रयास करना चाहिये। मिथ्यात्व को सम्यक्त्व से, दुर्ध्यान को शुभध्यान से, क्रोध को क्षमा से, मान को विनय से, माया को सरलता से एवं लोभ को संतोष से, निर्मूल करना चाहिये। संवर भावना का चिन्तन करने वाला आत्मा स्वर्ग व मोक्ष की संपदा को अवश्य प्राप्त करता है।

९. निर्जरा भावना—

संसार के मूलकारण रूप कर्म समूह का क्षय होना निर्जरा है। वह सकाम और अकाम दो प्रकार की है जैसे आम का पाक स्वाभाविक और प्रयत्नपूर्वक दो प्रकार से होता है वैसे निर्जरा भी दो प्रकार से होती है। भोग द्वारा स्वतः कर्मक्षय होना अकाम निर्जरा है और तप साधना द्वारा कर्मक्षय होना सकाम निर्जरा है। मुनियों की निर्जरा सकाम एवं अन्य जीवों की अकाम होती है। एकेन्द्रियादि अज्ञानी जीव शीत, ताप, छेदन, भेदन आदि कष्टों को सहन कर जो कर्म-क्षय करते हैं, वह अकाम निर्जरा है और कर्मक्षय करने की इच्छा वाले ज्ञानी-आत्मा तप-त्याग के द्वारा जो अपने कर्मों का क्षय करते हैं, वह सकाम-निर्जरा है। आत्मा को संसार-बंधन से मुक्त करने वाली निर्जरा-भावना का सतत चिन्तन करना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०. लोक-स्वरूप भावना—

इस भावना में लोक-स्वरूप का चिन्तन किया जाता है। यह लोक कमर पर हाथ रखकर खड़े हुए पुरुष के तुल्य आकार वाला है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव वाले द्रव्यों से परिपूर्ण है। यह ऊर्ध्व, मध्य और अधः तीन भागों में विभक्त है। मेरुपर्वत के मध्य में रहे हुए रुचक-प्रदेशों से नौ सो योजन आगे ऊर्ध्वलोक है तथा नव सौ योजन नीचे अधो-लोक है। मध्य के अठारह सौ योजन में मध्यलोक है। ऊर्ध्वलोक सात-राज प्रमाण है, अधो-लोक भी उतना ही है। अधो-लोक में रत्नप्रभा आदि सात नरक हैं, जो चारों ओर से घनोदधि, घनवात और तनवात से घिरी हुई है तथा घोर अन्धकार युक्त है। वहाँ क्षुधा, पिपासा, वध, बन्धन, छेदन, भेदन आदि का भयंकर दुःख भोगने वाले नरक के जीव रहते हैं। प्रथम नरक की पृथुलता एक लाख अस्सी हजार योजन है। इसके ऊपर नीचे के एक हजार योजन को छोड़कर, एक लाख अट्ठहत्तर हजार योजन में भवनपति देवों के भवन हैं, उनमें दश दिक्कुमार देव दक्षिण और उत्तर दिशा में वास करते हैं। दक्षिणवासी देवों का स्वामी चमरेन्द्र है और उत्तरवासी देवों का स्वामी बलीन्द्र है। ऊपर के एक हजार योजन में से पुनः ऊपर नीचे सौ-सौ योजन छोड़कर शेष आठ सौ योजन में आठ व्यंतर-देवों के नगर हैं।

भवनपति देव व उनके इन्द्रों के नाम—

भवनपति	असुर	नाग	तड़ित	सुपर्ण	अग्नि	वायु	स्तनित	अब्धि	द्वीप	दिक्कुमार
दक्षिणेन्द्र	चमर	धरण	हरि	वेणुदेव	अग्निशिख	वेलंब	सुघोष	जलक्रांत	पूर्ण	अमित
उत्तरेन्द्र	बली	भूतानंद	हरिसिंह	वेणुदली	अग्निमाणक	प्रभंजन	महाघोष	जलप्रभ	वशिष्टक	मितवाहन

व्यन्तर देव व उनके इन्द्रों के नाम—

व्यन्तर	पिशाच	भूत	यक्ष	राक्षस	किन्नर	किंपुरुष	महोरग	गंधर्व
दक्षिणेन्द्र	काल	सुरूप	पूर्णभद्र	भीम	किन्नर	सत्पुरुष	अतिकाय	गीतरति
उत्तरेन्द्र	महाकाल	प्रतिरूप	मणिभद्र	महाभीम	किंपुरुष	महापुरुष	महाकाय	गीतयश

रत्नप्रभा के सब से ऊपर के सौ योजन में से दस-दस योजन ऊपर-नीचे छोड़कर, बीच के अस्सी योजन में अल्प ऋद्धि वाले आठ व्यन्तर देव हैं। ये भी दक्षिण-उत्तर दोनों ओर वास करते हैं, अतः इनके भी दो-दो इन्द्र हैं। रत्नप्रभा पृथ्वी के ठीक ऊपर तथा जंबूद्वीप के मध्यभाग में एक लाख योजन ऊँचा सुवर्णमय मेरु पर्वत है। भरत आदि सात क्षेत्र और शाश्वत चैत्यों से विभूषित हिमवंत आदि छः मुख्य पर्वत हैं। जंबूद्वीप से दो गुना विस्तृत उसके चारों ओर घिरा हुआ लवण समुद्र है। उसके बाद गोलाकार धातकीखण्ड द्वीप, कालोदधि समुद्र, पुष्करवर द्वीप व अन्त में स्वयंभूरमण समुद्र है। ये सभी द्वीप समुद्र क्रमशः द्विगुणित हैं।

चार समुद्र का जल सर्व रसपूर्ण है। तीन समुद्र का जल स्वाभाविक स्वादयुक्त है। शेष समुद्र का जल इक्षुरस तुल्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वारुणीवर समुद्र का जल मदिरा तुल्य है। क्षीर सागर का जल औटाये हुए शर्करा मिश्रित दूध की तरह है। घृतवर समुद्र का जल ताजे तपे हुए गाय के घी के समान है। लवण समुद्र का जल नमक तुल्य खारा है। कालोदधि, पुष्करवर और स्वयंभूरमण इन तीनों का जल वर्षा के पानी के तुल्य है किन्तु इनमें कालोदधि का पानी काला और भारी है। पुष्करवर का जल हल्का हितकारी और स्फटिक की तरह स्वच्छ है। स्वयंभूरमण का भी ऐसा ही है। शेष समुद्रों का जल, उबल कर चौथाई-हिस्सा शेष बचे इक्षु-रस के समान मधुर स्वाद वाला है।

समभूतला से सात सौ नब्बे योजन ऊपर ज्योतिषियों के विमान का तल है। वहाँ से दस योजन ऊपर सूर्य है, अस्सी योजन ऊपर चन्द्र है। ऊपर के बीस योजन में ग्रहादि हैं। इस प्रकार ज्योतिष देव-लोक एक सौ दस योजन प्रमाण है।

द्वीप समुद्र में सूर्य-चन्द्र संख्या—

द्वीप-समुद्र सूर्य-चन्द्र	जंबू २-२	लवण ४-४	कालोदधि ४२-४२	पुष्करवर ७२-७२	धातकीखंड १२-१२	कुल १३२-१३२

मानुषोत्तर पर्वत से पचास हजार योजन दूर चन्द्र, सूर्य आदि एक-दूसरे से व्यवहित, मनुष्य लोक के सूर्य-चन्द्र से अर्ध-प्रमाण वाले हैं। क्षेत्र के विस्तार के साथ इनकी संख्या भी बढ़ती जाती है। स्वयंभूरमण तक घंटाकार, मंद व अधिक तेजयुक्त, सतत स्थिर, असंख्य सूर्य-चन्द्र हैं।

समभूतला से डेढ़ राज ऊपर दक्षिण-उत्तर में सौधर्म और ईशान देवलोक हैं। समभूतला से ढाई राज ऊपर दक्षिण-उत्तर में सनत्कुमार और माहेन्द्र देवलोक हैं। ऊर्ध्वलोक के मध्य में ब्रह्म देवलोक है। इस पर लांतक उसके ऊपर महाशुक्र, उस पर सहस्रार देवलोक पाँचवें राजलोक में है। उस पर एक इन्द्रवाले आनत और प्राणत देवलोक चन्द्रवत् गोलाकार हैं। छः राजलोक की ऊँचाई पर चन्द्रवत् गोल, एक इन्द्र वाले, आरण और अच्युत हैं। उस पर नौ ग्रैवेयक है। इससे ऊपर पाँच अनुत्तर विमान हैं। पूर्व में विजय, दक्षिण में वैजयन्त, पश्चिम में जयन्त, उत्तर में अपराजित तथा मध्य में सर्वार्थसिद्ध है। सौधर्म देवलोक से लेकर सर्वार्थ-सिद्ध के देवता क्रमशः आयुष्य, तेज, लेश्या, विशुद्धि, ज्ञान और प्रभाव में उत्तरोत्तर अधिक हैं तथा देहमान, गति, गर्व और परिग्रह में न्यून है।

प्रथम दो देवलोक के विमान घनोदधि पर स्थित हैं, उनके ऊपर के तीन विमान वायु पर आधारित हैं। उनके ऊपर के तीन विमान वायु और पानी पर स्थित हैं। ऊपर के शेष विमान आकाश पर आधारित हैं। सर्वार्थसिद्ध विमान से बारह योजन ऊपर स्फटिकवत् उज्ज्वल, पैंतालीस लाख योजन विस्तारवाली, गोलाकार किन्तु मध्य में आठ योजन मोटी 'ईषत्प्राग्भारा' नामक सिद्धशिला है। इसके ऊपर के अन्तिम योजन के चौथे कोश के छठे भाग में निरामय सिद्ध भगवान विराजमान हैं। सिद्धात्मा अनंत सुख, ज्ञान, वीर्य, दर्शन सम्पन्न, लोकान्त-स्पर्शी परस्पर, अवगाढ़ और शाश्वत हैं।

इस प्रकार जो भव्यात्मा लोक स्वरूप भावना का सतत चिन्तन करते हैं उनका मन संसार के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलकारणभूत विषय समूह के प्रति नहीं दौड़ता, प्रत्युत लोकवर्ती विविध पदार्थों के चिन्तन से समृद्ध ज्ञान के द्वारा उनका मन धर्मध्यान में स्थिर बन जाता है।

लोक स्वरूप भावना का चिंतन विषय-वासना का नाशक है, आत्मा में ज्ञान का प्रकाश देने वाला है तथा धर्म-ध्यान में मन को स्थिर करने वाला है।

११. बोधि दुर्लभ भावना—

यह जीवात्मा संसार में कर्म परवश, पृथ्वी, पानी आदि में अनन्त पुद्गल परावर्तकाल तक भ्रमण करता है। अकाम निर्जरा से कुछ पुण्य प्राप्त कर त्रसभाव को प्राप्त करता है। कुछ और अधिक कर्म-निर्जरा होने से आर्यक्षेत्र, सुजाति, सुकुल, स्वस्थ-शरीर, यावत् राज्य-संपदा को भी प्राप्त करता है, किन्तु सत्य असत्य का विवेक कराने वाली बोधि प्राप्त होना अति दुर्लभ है, बोधि ही मोक्ष-सुख को देने वाली है। बोधि (सम्यक्त्व) प्राप्त होने के पश्चात् आत्मा को दीर्घकाल तक संसार में भ्रमण नहीं करना पड़ता। इस आत्मा ने संसार में परिभ्रमण करते हुए कई बार द्रव्य चारित्र पाया, किन्तु सम्यग्ज्ञानदायिनी बोधि कभी भी प्राप्त नहीं की। यही कारण है कि आत्मा का भव-भ्रमण अभी तक नहीं मिटा। जो भी आत्मा सिद्ध हुए, होते हैं या होंगे, उनकी सिद्धि का मूल कारण बोधि ही है। अतः बोधि प्राप्त करने का सतत प्रयास करना चाहिये।

१२. धर्मोपदेशक अरिहंत—

केवलज्ञान के आलोक में सम्पूर्ण विश्व को देखने वाले अरिहंत परमात्मा ही धर्म का यथार्थ स्वरूप बताने में समर्थ हैं, अन्य कोई नहीं। परमात्मा सर्व-जीवों के हित-चिंतक होने से कभी भी असत्य-भाषण नहीं करते। इसीलिये उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म सत्य है। परमात्मा के द्वारा प्ररूपित क्षमादि दशविध धर्म की आराधना करने वाला आत्मा कदापि भव-समुद्र में नहीं डूबता। पूर्वापर विरोधी, अधर्म प्रेरक, कुतीर्थियों के द्वारा रचित, सद्गति के विरोधी धर्म श्लाघनीय कैसे हो सकते हैं? अन्य शास्त्रों में दया की, सत्य की जो चर्चा है वह कथनमात्र है वास्तविक नहीं है।

जीव को मदोन्मत्त हाथियों की घटावाला साम्राज्य, सभी लोकों को प्रमोद-हर्ष पैदा करने वाला वैभव, चन्द्रवत् निर्मल सद्गुण तथा सौभाग्य आदि की प्राप्ति में मूल कारण धर्म है। उछलती हुई तरंगों वाले समुद्र का अपनी मर्यादा में रहना, वर्षा का पृथ्वी को जलमग्न न करना, सूर्य, चन्द्र का समय पर उदय होकर जगत को प्रकाशित करना आदि सभी धर्म का प्रभाव है। धर्म बंधुरहित का बंधु है। मित्र रहित का मित्र है, रोगी के लिए औषधतुल्य, निर्धन का धन, अनाथों का नाथ तथा अशरण का शरण है। धर्म ही सभी कल्याण का जनक है। अरिहंत भगवान द्वारा कथित धर्म ही सत्य है। इस प्रकार चिन्तन करने वाला आत्मा धर्म में स्थिर बनता है।

जो आत्मा इन भावनाओं में से एक भी भावना का सतत चिंतन करता है उसके दुःखदाया सभी पाप कर्म नष्ट हो जाते हैं तो सम्पूर्ण जैनागमों का अभ्यासी आत्मा यदि बारह ही भावनाओं का अभ्यास करके अक्षयसुख का भागी बने तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? अतः हमें इन भावनाओं का सतत चिन्तन करना चाहिये॥ ५७२-५७३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

● प्रतिमा—

कालमर्यादायुक्त मुनियों की प्रतिज्ञा विशेष को प्रतिमा कहते हैं। यह बारह प्रकार की है। पहली एक मास की, दूसरी दो मास की यावत् सातवीं सात मास की, तत्पश्चात् आठवीं, नौवीं, दशमी सात-सात अहोरात्र की। ग्यारहवीं प्रतिमा एक अहोरात्र प्रमाण। बारहवीं प्रतिमा एक रात्रि की।। ५७४ ॥

प्रतिमा धारक—

१. **संहननयुत** = प्रथम के तीन संघयण में से किसी एक संघयण वाला। ऐसा आत्मा परिषह शान्तिपूर्वक सहन कर सकता है।

२. **धृतियुत** = चित्त की स्वस्थता धृति है। धृतियुक्त आत्मा रति-अरति की बाधा से विचलित नहीं बनता।

३. **महासत्त्व** = अनुकूलता, प्रतिकूलता में सुखी-दुःखी नहीं बनता।

४. **भावितात्मा** = जिसका हृदय सत्त्वादि पाँच भावनाओं से आगम के अनुरूप ओतप्रोत हो अथवा प्रतिमा के अनुष्ठान से भावित हो, ऐसा आत्मा साहसपूर्वक साधना कर सकता हैं (सत्त्वादि पाँच भावनाओं का स्वरूप ६० वें द्वार में द्रष्टव्य है)।

५. **गुरु-अनुमत** = जिसने प्रतिमा वहन करने की गुरु से आज्ञा प्राप्त कर ली हो।

● गुरु या आचार्य स्वयं प्रतिमा वहन करने वाले हों तो वे अपने स्थान पर प्रतिष्ठित आचार्य या गच्छ की अनुमति प्राप्त करें।

६. **परिकर्म** = प्रतिमा स्वीकार करने से पूर्व गच्छ में रहकर उनके योग्य क्षमता अर्जित करना।

परिकर्म दो प्रकार का है—(i) आहार विषयक (ii) उपधि विषयक

(i) आहार परिकर्म : पिण्डैषणा के सात प्रकारों में से प्रथम दो प्रकारों को छोड़कर शेष पाँच में से किसी एक प्रकार से अलेपकृत आहार और दूसरे प्रकार से पानी लेना।

(ii) उपधिपरिकर्म : उपधिग्रहण की चार एषणायें हैं—

१. भिखारी, पाखंडी या गृहस्थ को देने के लिये कल्पित सूती-ऊनी या रेशमी वस्त्र ही ग्रहण करूँगा।

२. प्रेक्षित वस्त्र ही ग्रहण करूँगा।

३. गृहस्थ द्वारा अपने उपयोग में लिया हुआ वस्त्र ही ग्रहण करूँगा।

४. बाहर फेंकने योग्य सर्वथा जीर्ण-शीर्ण वस्त्र ही ग्रहण करूँगा।

प्रतिमा का अभ्यासी (परिकर्म करने वाला) अन्तिम दो एषणा से वस्त्र ग्रहण करता है। वस्त्र लेना अति आवश्यक हो और नियम के अनुसार वस्त्र न मिले तो अन्य एषणा से भी ग्रहण किया जा सकता है किन्तु अपने नियमानुसार वस्त्र मिल जाने पर पूर्वगृहीत वस्त्र का तुरन्त त्याग कर देना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिमाओं का वहन काल व परिकर्म काल तुल्य है।

पहली-दूसरी प्रतिमा और उनका परिकर्म	= १ वर्ष में पूर्ण होता है। (वर्षाकाल में प्रतिमाओं का वहन व परिकर्म नहीं होता)
तीसरी-चौथी प्रतिमा और उसका परिकर्म	= २ वर्ष में पूर्ण होता है।
पाँचवी-छठी व सातवीं प्रतिमा व उनका परिकर्म	= ६ वर्ष में पूर्ण होता है। (पहले वर्ष में परिकर्म व दूसरे वर्ष में प्रतिमा-वहन)
आठवीं-नौवीं और दसवीं प्रतिमा और उनका परिकर्म	= १४-१४ दिन में होता है। (७ दिन प्रतिमा के व ७ दिन परिकर्म के)
११वीं प्रतिमा और उसका परिकर्म	= २ अहोरात्र में पूर्ण होता है।
१२वीं प्रतिमा और उसका परिकर्म	= २ रात्रि में पूर्ण होता है।

प्रथम सात प्रतिमायें, परिकर्म सहित नौ वर्ष में पूर्ण होती हैं।

७. **ज्ञान**—प्रतिमा वहन करने वाला आत्मा जघन्य से नवमें पूर्व की आचार वस्तु तक का ज्ञाता होना चाहिये। इससे न्यून श्रुत वाला योग्य कालादि का ज्ञान नहीं कर सकता। उत्कृष्ट से कुछ कम दशपूर्व का ज्ञाता होना आवश्यक है। पूर्ण दशपूर्व का ज्ञाता धर्मदेशना द्वारा शासन की महान प्रभावना करने वाला होने से उसे प्रतिमा वहन नहीं करना चाहिये।

८. **व्युत्सृष्टदेह**—शारीरिक ममत्त्व का त्यागी।

९. **जिनकल्पीवत्**—जिनकल्पी की तरह देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी उपसर्गों को सहन करने वाला।

१०. **अभिग्रही**—पिण्डैषणा के सात प्रकार हैं, उनके अन्तिम पाँच प्रकार में से एक से आहार ग्रहण करे और दूसरे से पानी ले। विवक्षित दिनों में पाँच में से मात्र दो का ही अभिग्रह करे। आहार अलेपकृत—वाल, चना आदि ही ग्रहण करे॥ ५७५-५७७॥

इस प्रकार परिकर्म करने वाला ही प्रतिमा-वहन कर सकता है। परिकर्म करने के बाद आचार्य की अनुज्ञा लेकर, गच्छ से निकलकर प्रतिमा स्वीकार करे। यदि आचार्य प्रतिमा वहन करने वाले हों तो वे अपने स्थान पर किसी योग्य व्यक्ति को स्थापित कर, शुभकाल में गच्छवासी सभी मुनिओं को आमन्त्रित कर उनसे क्षमापना करे। तत्पश्चात् प्रतिमा स्वीकार करे। कहा है कि प्रतिमावाहक संविग्न आत्मा आबालवृद्ध संघ के साथ यथायोग्य क्षमापना करे। जिनके साथ वैमनस्य हो, उन्हें विशेषरूप से यह कहकर खमावे कि हे भगवन्! मेरे द्वारा प्रमादवश जो कुछ कटु व्यवहार बना हो, मैं आज निःशल्य व निष्कषाय होकर उसके लिये आप से क्षमायाचना करता हूँ।

नियम—

- पहली प्रतिमा में आहार की एक दत्ति और पानी की एक दत्ति ग्रहण करे। एषणा के अन्तिम पाँच प्रकार में से अभिग्रहपूर्वक किसी एक से आहार ग्रहण करे। आहार सर्वथा नीरस तथा एक स्वामी सम्बन्धी होना चाहिये। देने वाली गर्भिणी, बालवत्सा, बच्चे को दूध पिलाती हुई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं होनी चाहिये। योग्य दात्री भी एक पाँव देहली के भीतर और एक पाँव बाहर रखे हुए हो तो ही उससे भिक्षा लेना कल्पता है।

- अविच्छिन्न रूप से पात्र में जितना दिया जाये वह एक दत्ति कहलाती है॥ ५७८॥
- प्रतिमाधारी को चलते-चलते जहाँ सूर्यास्त हो जाये वहाँ से एक कदम भी आगे या पीछे जाना नहीं कल्पता, सूर्योदय तक वहीं रुकना पड़ता है।
- जहाँ लोगों को ज्ञात हो कि ये 'प्रतिमाधारी' हैं वहाँ एक अहोरात्रि ठहरे और जहाँ लोगों को मालूम न हो, वहाँ एक, दो रात भी ठहर सकते हैं।
- मार्ग में हिंसक जंतु सामने आ जाये तो भी मार्ग न छोड़ें क्योंकि हिंसक जीव वहाँ भी पीछा करेंगे, इससे वनस्पति आदि के जीवों की विराधना होगी। यदि जन्तु हिंसक न हो तो मार्ग छोड़ा जा सकता है, क्योंकि वह पीछा नहीं करता।
- सुविधा की दृष्टि से धूप से छाया में और छाया से धूप में नहीं जाये।
- प्रतिमाकाल पर्यन्त अखण्डित रूप से ग्रामानुग्राम विहार करते हैं।
- शय्या, संस्तारक या उपाश्रय की याचना हेतु, सूत्र-अर्थ सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर देने हेतु, स्वपर के संशय निवारण हेतु तृण-काष्ठादि की अनुज्ञा हेतु एक या दो बार बोलना कल्पता है पर अनावश्यक बातचीत करना सर्वथा नहीं कल्पता।
- निम्नांकित तीन प्रकार की वसति में ही वास करना कल्पता है।

(i) पथिक-शाला में, जहाँ योगी, संन्यासी आदि आकर रहते हों,

(ii) खुले घर में अर्थात् ऐसे घर में जिसके द्वार, दीवारें और छत व्यवस्थित न हों।

(iii) वृक्ष के नीचे, दोषों से रहित करीर आदि के पेड़ के नीचे।

- वसति में आग लगने पर भी बाहर न निकले। कोई दूसरा खींचकर निकाले तो निकले। पाँव में काँटा, लकड़ी का टुकड़ा, काँच, कंकर आदि चुभ गया हो तो भी न निकाले। आँख का मैल, रेत या कचरा आदि न निकाले। हाथ, पाँव आदि न धोये। अन्य मुनि आगाढ़ कारण वश हाथ, पाँव, मुँह आदि धो सकते हैं॥ ५७९-५८०॥

इस प्रकार पहली प्रतिमा पूर्ण हो जाने पर प्रतिमाधारी गच्छ में पुनः सम्मिलित होने हेतु आचार्य के पास आता है। आचार्य भी उसका आगमन सुनकर राजा एवं संघ को निवेदन करते हैं कि 'प्रतिमारूप महान् तप को करने वाला तपस्वी मुनि यहाँ आ रहा है।' यह सुनकर संघ सहित राजा मुनि को महोत्सवपूर्वक नगर में प्रवेश कराता है। तप-बहुमान, श्रद्धा-वृद्धि एवं शासन प्रभावना के लिये यह आवश्यक है।

दूसरी प्रतिमा से सातवीं तक — शेष पूर्ववत्, केवल अन्न-पानी की दत्ति दो-दो होती है। इस प्रकार तीसरी प्रतिमा में आहार पानी की दत्ति तीन-तीन होती है। चौथी में चार-चार यावत् सातवीं में सात-सात दत्ति होती है॥ ५८१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आठवीं प्रतिमा — १. यह प्रतिमा ७ अहोरात्रि की है। इस प्रतिमा में चौविहार उपवास व पारणे में आयंबिल होता है। आयंबिल में दत्ति का नियम नहीं है।

२. गाँव के बाहर सीधा या करवट लेकर शयन करे अथवा सुखासन में बैठे।

३. देव-मनुष्य-तिर्यंचकृत घोर उपसर्गों को सहन करे।

४. तन-मन से अडिग रहे। शेष पूर्व की तरह॥ ५८२-५८३॥

नवमी प्रतिमा — तप, पारणा आदि पूर्ववत्, आसन उत्कटुक तथा शयन विषम लकड़ी की तरह, केवल शिर और पाँवों की एड़ी ही भूमि को छूए अन्य अंग नहीं अथवा पीठ भूमि का स्पर्श करे, अन्य अंग नहीं अथवा शवासन से शयन करे। उपसर्गों को शान्तिपूर्वक सहन करे॥ ५८४॥

दशमी प्रतिमा — तप, पारणा, बाहर रहना पूर्ववत्। आसन गोदोहासन (गाय को दुहते समय जो मुद्रा होती है) अथवा वीरासन अर्थात् दृढ़ संहननवालों का आसन, जैसे—धरती पर पाँव रखकर, सिंहासन पर बैठे हुए की तरह शरीर को मोड़कर रखना। अथवा बांया पाँव दाहिनी जांघ पर और दाहिना पाँव बांयीं जांघ पर रखकर, नाभि को स्पर्श करती हुई दाहिनी हथेली को बायीं हथेली पर सीधी रखना (वीरासन), अथवा आम की तरह वक्राकार बैठना। इस प्रकार ७ अहोरात्रि वाली तीनों ही प्रतिमायें कुल २१ दिन में सम्पूर्ण होती हैं॥ ५८५॥

ग्यारहवीं प्रतिमा — यह प्रतिमा अहोरात्रि प्रमाण है। गाँव या नगर से बाहर काउस्सग्ग ध्यान में खड़े रहकर इस प्रतिमा को वहन किया जाता है। अहोरात्रि के अन्त में छट्ठभक्त करने से यह प्रतिमा तीन दिन में पूर्ण होती है।

छट्ठभत्त — जिस तप में धारणे व पारणे के दिन एकासन तथा मध्य में दो उपवास हो वह छट्ठभक्त है। इस तप में दो उपवास के ४ भक्त तथा दो एकासन के २ भक्त इस प्रकार ६ टंक का भोजन त्यागा जाता है अतः इसे छट्ठ भक्त कहते हैं।

बारहवीं प्रतिमा — इस प्रतिमा का वहनकाल एक रात का है। यह प्रतिमा चौविहार अट्ठम भक्त करके पूर्ण की जाती है। प्रतिमावाही नगर या गाँव के बाहर कुब्जवत् शरीर को झुका कर नदी आदि के विषम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किनारे पर कायोत्सर्ग ध्यान में खड़ा रहे। अपलक दृष्टि, एक ही वस्तु में स्थिरनयन वाला तथा इन्द्रियनिग्रही हो। पाँवों की जिनमुद्रा व हाथ की कायोत्सर्गमुद्रा के साथ शारीरिक स्थिति प्रतिमा पूर्ण होने तक एकसी रहनी चाहिये।

लाभ — इस प्रतिमा का विधिपूर्वक वहन करने वाला आत्मा अनेकविध लब्धियों का स्वामी बनता है। जैसे—

(i) अवधिज्ञान, **(ii)** मनपर्यवज्ञान व **(iii)** केवल ज्ञान

दोष — इस प्रतिमा की विराधना करने वाला आत्मा अनेकविध दोष का भागी बनता है। जैसे—

(i) पागलपन, **(ii)** रोग व **(iii)** धर्मभ्रंश

बारहवीं प्रतिमा चार रात व तीन दिन की है, कारण प्रतिमा की एक रात बीतने के बाद अट्ठम किया जाता है॥ ५८६-५८८॥

इन्द्रिय-संयम — इन्द्रियों के शुभाशुभ विषयों में राग-द्वेष न करना।

५ इन्द्रियाँ	=	५ विषय
१ स्पर्शेन्द्रिय	=	स्पर्श
२ रसनेन्द्रिय	=	रस
३ घ्राणेन्द्रिय	=	गन्ध
४ चक्षुरिन्द्रिय	=	रूप
५ श्रोत्रेन्द्रिय	=	शब्द

इन्द्रिय-संयम के अभाव में, विषयासक्त जीव हिरण आदि की तरह दुःख का भागी बनता है। जैसे—

१ शब्द विषय में आसक्ति के कारण हिरण।
२ रूप विषय में आसक्ति के कारण पतंग।
३ गन्ध विषय में आसक्ति के कारण भ्रमर।
४ रस विषय में आसक्ति के कारण मत्स्य और
५ स्पर्श विषय में आसक्ति के कारण हाथी, मृत्यु को प्राप्त करते हैं।

एक-एक इन्द्रिय के विषय में आसक्त जीवों की यह दशा है तो पाँचों इन्द्रियों में आसक्त जीव की दशा का तो पूछना ही क्या है?

घोड़े की तरह चंचल व दुर्दमनीय इन्द्रियाँ जीव को अन्धकारपूर्ण व दुःखद उन्मार्ग में बलात् खींचकर ले जाती हैं अतः बुद्धिमान आत्मा को अपनी इन्द्रियाँ वश में रखनी चाहिये, क्योंकि इन्द्रिय-जय ही इस लोक व परलोक में कल्याणकारी है॥ ५८९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिलेखना—वस्त्र-उपधि आदि का विधिपूर्वक निरीक्षण करना। प्रतिलेखना (पडिलेहण) तीन बार होती है।

१. प्राभातिक, २. उग्घाड़ा पौरिसी के समय व ३. सन्ध्या कालीन।

१. प्राभातिक — १ मुहपत्ति, २ चोलपट्टा, ३, ४ व ५ तीन ओढ़ने के वस्त्र (१ ऊनी, २ सूती), ६-७ दो ओघारिया (निशीथिया), ८ रजोहरण, ९ संथारा, १० उत्तरपट्टा— इन दश वस्त्रों की पडिलेहणा सवेरे इस प्रकार करे कि पडिलेहण के बाद सूर्योदय हो। वसति की पडिलेहणा सूर्योदय के बाद करना।

अन्यमते — पूर्वोक्त १० तथा ११वें दण्ड की भी प्रभात में पडिलेहन करना ऐसा **निशीथचूर्णि** व **कल्पचूर्णि** में कहा है।

यहाँ गाथा का उद्देश्य प्रतिलेखन करने योग्य उपकरणों को बताना मात्र है, नहीं कि प्रतिलेखना का क्रम बताना। क्योंकि प्रतिलेखना का क्रम आगम में भिन्न प्रकार से बताया है। **निशीथचूर्णि** में कहा है कि प्राभातिक प्रतिलेखना में मुहपत्ति, रजोहरण, अन्दर का ओघारिया, बाहर का ओघारिया, चोलपट्टा, तीन कल्प, उत्तरपट्टा, संथारिया व दंडा क्रमशः पडिलेहे। यह क्रम है अन्यथा उत्क्रम होगा।

पहले आचार्य आदि रत्नाधिक की उपधि की पडिलेहण करे बाद में अनशनी, ग्लान और शैक्षक की करे॥ ५९०-५९१॥

२. उद्घाट पोरिसी — चौथाई भाग न्यून एक प्रहर, आगम की भाषा में उग्घाडा पोरिसी कहलाता है। इस समय सप्तविध पात्र नियोंग (पात्र व पात्र सम्बन्धी उपकरण) की पडिलेहणा होती है। मुहपत्ति पडिलेहण करने के बाद निम्न सात की पडिलेहणा करे।

(i) गुच्छा, **(ii)** पड़ला, **(iii)** पात्रकेसरिका, **(iv)** पात्रबंध, **(v)** रजस्त्राण, **(vi)** पात्र, **(vii)** पात्रस्थापन॥ ५९२॥

३ संध्या पडिलेहण — दिन के तीन प्रहर बीतने के बाद निम्न चौदह उपकरणों की प्रतिलेखना करना।

(i) मुहपत्ति, **(ii)** चोलपट्टा, **(iii)** गुच्छा, **(iv)** पूंजणी, **(v)** पात्रबंध, **(vi)** पड़ला, **(vii)** रजस्त्राण, **(viii)** पात्रस्थापना **(ix)** मात्रक, **(x)** पात्र, **(xi)** रजोहरण (बाहर का ओघारिया पहले पडिलेहणा) **(xii.....xiv)** तीन कल्प (कमली, दो चद्दर)। औपग्रहिक उपधि की पडिलेहण भी इसी समय करना है। प्रतिलेखना की विधि विस्तार भय से यहाँ नहीं दी है। वह **ओघनिर्युक्ति, पंचवस्तुक** आदि ग्रन्थों से ज्ञातव्य है॥ ५९३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वसति प्रमार्जन — उपाश्रय जीवाकुल न बने इसलिये उसकी पडिलेहण करना अत्यावश्यक है।

- शीतोष्णकाल में वसति पडिलेहण दो बार करना चाहिये।
  - **(i)** प्राभातिक प्रतिलेखना करने के बाद।
  - **(ii)** सन्ध्याकालीन पडिलेहण करने से पूर्व।
- वर्षाकाल में वसति-पडिलेहण तीन बार करना चाहिये, क्योंकि वर्षा काल में जीवोत्पत्ति अधिक होती है।
  - **(i)** प्राभातिक पडिलेहण करने के बाद।
  - **(ii)** मध्याह्न में।
  - **(iii)** सन्ध्याकालीन पडिलेहण से पूर्व।

अपवाद—वसति जीवाकुल हो तो अधिक बार भी पडिलेहण की जा सकती है। अधिक बार पडिलेहण करते समय जीवों का संघट्टा बहुत ही अधिक होता हो तो वसति या गाँव छोड़ दे ॥ ५९४ ॥

गुप्ति — अशुभ मन-वचन काया के व्यापार का त्याग, अत्यावश्यक हो तो शुभ में प्रवृत्ति करना गुप्ति है। इसके तीन प्रकार हैं:—

(i) मनो गुप्ति — १. आर्त्त-रौद्रध्यान को पैदा करने वाली कल्पनाओं का त्याग।
२. आगमानुसारी, परलोक-हितकारी, धर्मध्यान बढ़ाने वाली मानसिक वृत्ति।
३. योग-निरोध-कालीन आत्मरमणता।

(ii) वचनगुप्ति — मुँह बनाना, आँख-भौं से इशारा करना, अंगुलियाँ ऊपर नीचे करना, खाँसी-हुँकार करना, कंकर फैंकना इत्यादि अर्थसूचक चेष्टाओं के त्यागपूर्वक मौन रहना। मौन की स्थिति में संकेत आदि के द्वारा अपने अभिप्राय को सूचित करना मौनव्रत को निष्फल करना है।

मुँहपत्ति का उपयोग रखते हुए लोक व आगम से अविरुद्ध वाचना देना, स्व-पर का संशय निवारण करने के लिये बोलना या उपदेश आदि देना।

उपयोग एवं विवेकपूर्वक बोलना भी संयमरूप होने से वचन गुप्ति है।

प्रश्न—यदि उपयोग---विवेक पूर्वक बोलना ही वचनगुप्ति है तो भाषा-समिति और इसमें क्या अन्तर है?

उत्तर—गुप्ति निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों रूप हैं, जबकि समिति मात्र प्रवृत्ति रूप है। वचन गुप्ति, वाणी का निरोध और सम्यग् वचन में प्रवृत्ति दोनों रूप है किन्तु भाषा-समिति, सम्यग् वचन में प्रवृत्ति करना मात्र है, अतः समिति और गुप्ति में भेद है। कहा है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समिओ नियमा गुत्तो, गुत्तो समियत्तणंमि भयणिज्जो।
कुशलवयमुदीरंतो, जं वइगुत्तोवि समिओऽवि॥

(iii) कायगुप्ति — आगम-निषिद्ध चेष्टा का त्याग करना। देव-मनुष्य, तिर्यंच सम्बन्धी उपसर्ग एवं क्षुधा-पिपासा आदि परिषह की स्थिति में कायोत्सर्ग से विचलित न होना। योगनिरोध के समय स्थूल व सूक्ष्म सभी प्रकार की कायिक प्रवृत्ति का निरोध करना प्रथम कायगुप्ति है। वाचना देने या लेने हेतु, संदेह आदि निवारण के लिए उपयोगपूर्वक गुरु के पास जाना, शरीर, भूमि, संथारा आदि की उपयोगपूर्वक पडिलेहण करना, आगमविहित क्रिया पूर्वक, शयन आदि करना और भी योग्य, करणीय क्रियाओं में सम्यग् प्रवृत्ति करना दूसरी कायगुप्ति है॥ ५९५॥

- **अभिग्रह**—प्रतिज्ञा विशेष। जैसे भगवान महावीर ने कौशांबी में प्रतिज्ञा ली थी। अभिग्रह चार प्रकार के हैं—**(i)** द्रव्यविषयक, **(ii)** क्षेत्रविषयक, **(iii)** काल विषयक और **(iv)** भावविषयक।

(i) द्रव्यविषयक—सूपड़े के कोने में रखे हुए उड़द के बाकुले ही भिक्षा में ग्रहण करूँगा।

(ii) क्षेत्रविषयक—एक पाँव देहली के अन्दर और एक पाँव देहली के बाहर, बेड़ियाँ पहनी हुई राजकन्या से ही भिक्षा ग्रहण करूँगा।

(iii) कालविषयक—दो पोरिसी दिन बीतने के बाद ही भिक्षा ग्रहण करूँगा।

समितियुक्त आत्मा निश्चित रूप से गुप्तिवाला होता है। किन्तु गुप्तात्मा में समिति वैकल्पिक है। कुशल वचन बोलने वाला गुप्ति और समिति दोनों से युक्त है।

(iv) भावविषयक—मुण्डित, रोती हुई, दात्री से ही ग्रहण करूँगा।

इस प्रकार के अभिग्रह के द्वारा भगवान महावीर ने ५ दिन न्यून छः महीने के उपवास किये थे।

करणसत्तरी का संक्षेप—

पूर्वोक्त बयालीस दोष पिण्ड, शय्या, वस्त्र और पात्र से सम्बन्धित हैं पर इन दोषों की अलग से विवक्षा न करके जिनसे सम्बन्धित वे दोष हैं मुख्य रूप से उन चार की ही विवक्षा की गई है। इससे करण के सत्तर भेद से अधिक भेद नहीं होते।

४ पिण्डविशुद्धि के दोष + ५ समिति + १२ भावना + १२ प्रतिमा + ५ इन्द्रिय निरोध + २५ प्रतिलेखना + ३ गुप्ति + ४ अभिग्रह = ७० करणसप्तति।

चरण-करण में अन्तर—

(i) प्रतिदिन आचरण करने योग्य 'चरण' है, जैसे व्रतादि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ii) विशेष कारण से आचरण करने योग्य करण है, जैसे पिण्डविशुद्धि आदि। क्योंकि ये 'गौचरी' आदि ग्रहण करते समय ही उपयोगी हैं ॥ ५९६ ॥

६८ द्वार : गमन-शक्ति—

अइसयचरणसमत्था जंघाविज्जाहिं चारणा मुणओ।
जंघाहिं जाइ पढमो निस्सं काउं रविकरेऽवि ॥५९७ ॥
एगुप्पाएण गओ रूयगवरंमि य तओ पडिनियत्तो।
बीएणं नंदीसरम्मि एइ तइएण समएणं ॥५९८ ॥
पढमेण पंडगवणं बीउप्पाएण नंदणं एइ।
तइउप्पाएण तओ इह जंघाचारणो एइ ॥५९९ ॥
पढमेण माणुसोत्तरनगं तु नंदीसरं तु बीएणं।
एइ तओ तइएणं कयचेइयवंदणो इहयं ॥६०० ॥
पढमेण नंदणवणे बीउप्पाएण पंडगवणंमि।
एइ इहं तइएणं जो विज्जाचारणो होई ॥६०१ ॥

—गाथार्थ—

जंघाचारण-विद्याचारण की गमन शक्ति—**जंघा और विद्या के द्वारा विशिष्ट रूप से गमनागमन करने में समर्थ मुनि चारण कहलाते हैं। जंघाचारण सूर्यकिरणों का अवलंबन कर गमनागमन कर सकते हैं ॥५९७ ॥**

रुचकवर द्वीप जाते समय जंघाचारण मुनि एक ही डग में वहाँ पहुँच जाते हैं पर आते समय दो डग भरते हैं। दूसरे डग में नन्दीश्वर द्वीप में आते हैं और तीसरे में अपने स्थान पर पहुँच जाते हैं। मेरुशिखर पर जाते समय एक डग में पंडकवन में पहुँच जाते हैं परन्तु आते समय एक डग में नन्दनवन में आते हैं तथा दूसरे डग में अपने स्थान पर पहुँच जाते हैं ॥५९८-५९९ ॥

विद्याचारण मुनि पहले डग में मानुषोत्तर पर्वत पर, दूसरे डग में नन्दीश्वर द्वीप में, चैत्यों को वन्दन कर पुनः एक ही डग में अपने स्थान पर पहुँच जाते हैं। मेरु पर जाते समय प्रथम डग में नन्दनवन में पहुँचते हैं। द्वितीय डग में पंडकवन में जाते हैं। वहाँ चैत्यों की वन्दना करके एक ही डग में स्वस्थान में लौट आते हैं ॥६००-६०१ ॥

—विवेचन—

चारण—गमन-आगमन की लब्धि से सम्पन्न।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जंघाचारण	विद्याचारण
चारित्र और तप के प्रभाव से जिन्हें गमन-आगमन की लब्धि प्राप्त हुई हो।	विद्या के प्रभाव से जिन्हें गमनागमन की लब्धि प्राप्त हुई हो।

१.जंघाचारण—ये रुचकवर द्वीप तक जा सकते हैं। इनका गमनागमन किसी अवलंबन से ही होता है जैसे सूर्य की किरणों का अवलम्बन लेकर गमन करना। विद्याचारणों का गमनागमन विद्याशक्ति से होता है अतः वे निरालंबन ही जाते-आते हैं। जाते समय एक ही उत्पात में रुचक द्वीप पहुँच जाते हैं, किन्तु आते समय एक ही उत्पात में नन्दीश्वर पहुँचते हैं और दूसरे उत्पात में अपने स्थान पर आते हैं। इस प्रकार गमन और आगमन में तीन उत्पात होते हैं। मेरुशिखर पर जाना हो तो एक उत्पात में पंडक वन पहुँचते हैं, किन्तु आते समय एक उत्पात में नन्दीश्वर और दूसरे उत्पात में अपने स्थान पर आ जाते हैं।

जंघाचारण-लब्धि, चारित्र और तप के प्रभाव से प्रकट होती है। इसका प्रयोग करते समय उत्सुकता होती है और उत्सुकता प्रमाद का लक्षण है। इससे चारित्र का अतिशय घटता है अतः आते समय दो उत्पात होते हैं।

२. विद्याचारण—ये नन्दीश्वर द्वीप तक बिना किसी अवलम्बन के जा सकते हैं। एक उत्पात में मानुषोत्तर पर्वत पर और दूसरे उत्पात में नन्दीश्वर पहुँचते हैं। आते समय एक ही उत्पात मे अपने स्थान पर पहुँच जाते हैं।

मेरु पर्वत पर जाते हुए एक उत्पात में (JUMP) नंदन वन और दूसरे उत्पात में पंडक वन में पहुँचते हैं। वहाँ चैत्यों को वंदन कर लौटते हुए एक ही उत्पात में अपने स्थान पर आ जाते हैं। विद्याचारण विद्या के प्रभाव से सम्पन्न होते हैं और विद्या का स्वभाव है कि वह बार-बार परिशीलन करने से अधिकाधिक निर्मल बनती है। अतः जाने की अपेक्षा आते समय विद्या का अतिशय बढ़ जाने से विद्याचारण एक ही उत्पात में अपने स्थान पर पहुँच जाते हैं।

चारणों के भेद—

१. व्योमचारण — सुखासन या कायोत्सर्ग मुद्रा में पाँवों को चलाये बिना ही आकाश में गमन करने वाले।

२. जल-चारण — कुआँ, तालाब, बावड़ी, नदी और समुद्र पर जल जीवों की विराधना किये बिना ही पृथ्वी की तरह गमन करने वाले। इनके गमन में पाँवों का व्यापार होता है।

३. जंघाचारण — पृथ्वी पर चार अंगुल ऊपर रहकर चलने वाले।

४. पुष्पचारण — वृक्ष, लता, गुल्म और पुष्पादि का अवलंबन करके जीवों की विराधना से रहित गमन करने वाले।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. **श्रेणिचारण** — चार सौ योजन ऊँचे निषध व नील पर्वत के कटे हुए किनारों का अवलंबन करके गमन करने वाले।

६. **अग्निशिखाचारण** — अग्निशिखा का अवलंबन करके जीवों की विराधना न करते हुए गमन करने वाले। लब्धि-संपन्न होने से आग का अवलंबन करने पर भी वे जलते नहीं हैं।

७. **धूम्रशिखाचारण** — धूम्र की शिखा का अवलंबन करके चलने वाले।

८. **मरकटतंतुचारण** — झुके हुए वृक्षों के मध्यवर्ती छिद्रों में जाले के रूप में लगे हुए मरकट तंतुओं का अवलंबन करने वाले। लब्धि के प्रभाव से जीवों की विराधना भी नहीं होती और तंतु भी नहीं टूटते।

९. **ज्योतिरश्मि चारण** — सूर्य-चन्द्र-ग्रह और नक्षत्र की किरणों व प्रकाश का अवलंबन करके गमन करने वाले।

१०. **वायुचारण** — अनुलोम या प्रतिलोम चलने वाली वायु के प्रदेशों का अवलंबन कर गमन करने वाले।

११. **नीहारचारण** — तुषार-कणों का अवलंबन कर अप्काय जीवों की विराधना न करते हुए गमन करने वाले।

इनके अतिरिक्त बादल, फल आदि का अवलंबन कर गमन करने वाले भी चारण होते हैं॥ ५९७-६०१ ॥

६९ द्वार : परिहारविशुद्धि—

परिहारियाण उ तवो जहन्न मज्झो तहेव उक्कोसो।
सीउण्हवासकाले भणिओ धीरेहिं पत्तेयं ॥६०२ ॥
तत्थ जहन्नो गिम्हे चउत्थ छट्ठं तु होई मज्झिमओ।
अट्ठममिहमुक्कोसो एत्तो सिसिरे पवक्खामि ॥६०३ ॥
सिसिरे तु जहन्न तवो छट्ठाई दसमचरमगो होइ।
वासासु अट्ठमाई बारसपज्जंतगो नेओ ॥६०४ ॥
पारणगे आयामं पंचसु गहो दोसुऽभिग्गहो भिक्खे।
कप्पट्ठियावि पइदिण करेंति एमेव आयामं ॥६०५ ॥
एवं छम्मासतवं चरिउं परिहारिया अणुचरंति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अणुचरगे परिहारियपरिट्ठिए जाव छम्मासा ॥६०६ ॥
कप्पट्ठिओऽवि एवं छम्मासतवं करेइ सेसा उ ।
अणुपरिहारियभावं वयंति कप्पट्ठियत्तं च ॥६०७ ॥
एवं सो अट्ठारसमासपमाणो य वन्निओ कप्पो ।
संखेवओ विसेसो विसेससुत्ताउ नायव्वो ॥६०८ ॥
कप्पसम्मत्तीए तयं जिणकप्पं वा उविंति गच्छं वा ।
पडिवज्जमाणगा पुण जिणस्सगासे पवज्जंति ॥६०९ ॥
तित्थयरसमीवासेवगस्स पासे व नो व अन्नस्स ।
एएसिं जं चरणं परिहारविसुद्धिगं तं तु ॥६१० ॥

—गाथार्थ—

परिहारविशुद्धि तप—धीर पुरुषों ने ऋतु भेद—अर्थात् शीत-उष्ण व वर्षा के भेद से पारिहारिकों के लिये तप भी जघन्य-मध्यम और उत्कृष्ट तीन प्रकार का बताया है ॥६०२ ॥

ग्रीष्मऋतु में जघन्य तप चतुर्थ भक्त, मध्यम तप छट्ठ भक्त एवं उत्कृष्ट तप अट्ठम भक्त का है। शीतकाल में जघन्य तप छट्ठ, मध्यम तप अट्ठम एवं उत्कृष्ट तप दशम भक्त का होता है। वर्षाऋतु में जघन्य तप अट्ठम, मध्यम तप दशम एवं उत्कृष्ट तप द्वादश भक्त का होता है। पारणा में सर्वत्र आयंबिल होता है। आहार-पानी की सात गवेषणाओं में से अभिग्रह पूर्वक पाँच से ही भिक्षा ग्रहण करे। अन्त में पाँच में से भी दो गवेषणाओं से ही अभिग्रह पूर्वक आहार-पानी ग्रहण करे। कल्पस्थित पाँच मुनि भिक्षा के अभिग्रह पूर्वक प्रतिदिन आयंबिल करे ॥६०३-६०५ ॥

इस प्रकार छः मास तक विशिष्ट तप करने के पश्चात् तपस्वी वैयावच्च करते हैं और जो वैयावच्च करने वाले थे वे छः मास तक तप करते हैं। बारह मास के पश्चात् वाचनाचार्य छः मास का तप स्वीकार करता है और शेष आठ में से एक वाचनाचार्य बनता है और सात तपस्वी की वैयावच्च करते हैं। इस प्रकार अट्ठारह मास में यह तप पूर्ण होता है। यहाँ इसका संक्षेप में वर्णन किया गया है। विशेष जानने के इच्छुक बृहत्कल्प आदि विशेष सूत्रों से जाने ॥६०६-६०८ ॥

कल्प की समाप्ति के पश्चात् आराधक जिनकल्प का स्वीकार करते हैं अथवा पुनः गच्छ में आते हैं। परिहारविशुद्धि कल्प तीर्थंकर परमात्मा के पास स्वीकार किया जाता है या जिन्होंने तीर्थंकर के सान्निध्य में इस कल्प की आराधना की हो, उनके पास स्वीकार किया जाता है। अन्य किसी के पास स्वीकार नहीं किया जा सकता। परिहारविशुद्धि तप करने वालों का चारित्र परिहारविशुद्धि चारित्र कहलाता है ॥६०९-६१० ॥

—विवेचन—

परिहार = तप विशेष। पारिहारिकाः = तप विशेष को करने वाले।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह तप अकेला व्यक्ति नहीं कर सकता। सामान्यत: यह कल्प एक साथ नौ आत्मा स्वीकार करते हैं।

४ निर्विशमानक = तप करने वाले, ४ निर्विष्टकायिक = तपस्वियों की परिचर्या करने वाले, और १ वाचनाचार्य = तपस्वियों व परिचारकों को वाचना देने वाला—इस प्रकार ९ व्यक्ति होते हैं।

कालभेद से त्रिविध तप—

काल	जघन्य	मध्यम	उत्कृष्ट	
१ ग्रीष्मकाल	चतुर्थ भक्त	षष्ठ भक्त	अष्टम भक्त	तीनों कालों में आयंबिल से पारणा होता है। अन्तिम ५ एषणा में से अभिग्रहपूर्वक एक से आहार और एक से पानीग्रहण करते हैं।
२ शीतकाल	षष्ठ भक्त	अष्टम भक्त	दशम भक्त	
३ वर्षाकाल	अष्टम भक्त	दशम भक्त	द्वादश भक्त	

वाचनाचार्य और परिचारक प्रतिदिन आयंबिल करते हैं। वे भी अभिग्रहपूर्वक आहार पानी ग्रहण करते हैं॥ ६०२-६०५॥

४ मुनि छ: मास तक तप करते हैं तथा ४ उनकी परिचर्या करते हैं। पश्चात् तप करने वाले परिचर्या करते हैं और परिचारक छ: मास तक तपस्या करते हैं। तत्पश्चात् वाचनाचार्य छ: मास तक तप करता है तथा शेष आठ में से एक वाचनाचार्य बनता है और शेष सात उनकी परिचर्या करते हैं। इस प्रकार १८ मास में यह तप पूर्ण होता है॥ ६०६-६०८॥

तप पूर्ण होने के बाद इच्छा हो तो पुन: यही तप स्वीकार करते हैं, जिनकल्पी बनते हैं अथवा गच्छ में सम्मिलित हो जाते हैं।

पारिहारिकों के दो भेद हैं—

(i) इत्वरिक — एक बार परिहार-विशुद्धि तप को पूर्ण करने के पश्चात् पुन: उसी तप को या गच्छ को स्वीकार करने वाले इत्वरिक हैं।

(ii) यावत्कथिक — परिहार-विशुद्धि की पूर्णता के बाद तुरन्त जिनकल्प स्वीकार करने वाले यावत्कथिक हैं।

कल्प के प्रभाव से इत्वरिक को देव, मनुष्य, तिर्यंचकृत उपसर्ग एवं मारणान्तिक रोग नहीं होते हैं। जिनकल्प स्वीकार करने वाले जिनकल्प के आचार का पालन करते हैं। यावत्कथिक को उपसर्ग एवं रोगादि होने की सम्भावना रहती है।

पंचवस्तु और **बृहत्कल्पभाष्य** में कहा है कि इत्वरिकों को उपसर्ग, रोग व वेदना नहीं होती है किन्तु यावत्कथिकों को उपसर्गादि की सम्भावना रहती है।

यह तप किसके पास स्वीकार किया जाए?

- तीर्थंकर के पास या जो तीर्थंकर के पास तप कर चुका हो उसके पास।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चारित्र — परिहार विशुद्धि तप करने वाले मुनि का चारित्र भी तप विशेष के द्वारा शुद्ध हो जाने से परिहारविशुद्धि चारित्र ही कहलाता है।

प्रश्न—परिहारविशुद्धिक आत्मा किस क्षेत्र व किस काल में होते हैं?

उत्तर—क्षेत्रादि का निरूपण करने के लिए आगम ग्रन्थों में अनेक द्वार हैं। पर हम ग्रन्थ विस्तार के भय से शिष्यों के अनुग्रहार्थ कुछ ही द्वारों का निरूपण करेंगे।

१. क्षेत्रद्वार — जन्म व सद्भाव दोनों की अपेक्षा से ५ भरत व ५ ऐरवत में होते हैं।

- जिनकल्पी की तरह पारिहारिकों का संहरण नहीं हो सकता अतः उनका अस्तित्व सभी कर्मभूमि या अकर्मभूमि में नहीं होता। तथाविध स्वभाव के कारण विदेह में भी इस कल्प का स्वीकार कोई नहीं करता।
- सद्भाव अर्थात् जिस क्षेत्र में कल्प का स्वीकार किया जाये।
- जन्मतः अर्थात् जिस क्षेत्र में पारिहारिक का जन्म हो।

२. कालद्वार — अवसर्पिणी काल में जन्म की अपेक्षा 'परिहार-विशुद्ध' चारित्री तीसरे- चौथे आरे में तथा सद्भाव की अपेक्षा पाँचवें आरे में भी होते हैं। उत्सर्पिणीकाल में जन्म की अपेक्षा दूसरे, तीसरे व चौथे आरे में तथा सद्भाव की अपेक्षा तीसरे व चौथे आरे में होते हैं।

- प्रतिभाग काल (नो उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी) में यह कल्प नहीं होता क्योंकि प्रतिभागकाल महाविदेह में ही है और वहाँ इस कल्प को स्वीकार करने वाला कोई नहीं होता।

३. तीर्थद्वार — निश्चित रूप से तीर्थंकर के शासन में ही यह कल्प स्वीकार किया जाता है। शासन की स्थापना से पूर्व या विच्छेद होने के बाद यह कल्प कोई नहीं स्वीकारता। जातिस्मरणादि के द्वारा भी इसका स्वीकार कोई नहीं करता।

४. पर्याय द्वार — परिहारविशुद्ध संयमी का जघन्य गृहस्थ पर्याय २९ वर्ष तथा संयम पर्याय २० वर्ष का होना चाहिये। उत्कृष्ट से दोनों पर्याय देशोन पूर्वकरोड़ वर्ष के हैं।

- यहाँ सूत्र में इस कल्प को स्वीकार करने वाले की गृहस्थ पर्याय ३० वर्ष व संयम पर्याय १९ वर्ष का बताया है, वह असंगत प्रतीत होता है, क्योंकि **कल्पभाष्य** से विरोध आता है। **कल्पभाष्य** में गृहस्थ पर्याय २९ वर्ष तथा दीक्षा पर्याय २० वर्ष ही बताया है।

५. आगम द्वार — अपूर्व आगम के अभ्यासी नहीं होते किन्तु स्वीकृत कल्प की उचित आराधना द्वारा कृतकृत्य बनते हैं। मन अशुभ में प्रवृत्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न हो जाये इसलिए पूर्वपठित श्रुत का ही एकाग्र मन से सतत परावर्तन करते हैं।

६. वेद द्वार — प्रतिपद्यमान की अपेक्षा नपुंसकवेदी व पुरुषवेदी दोनों ही इस कल्प को स्वीकार कर सकते हैं। पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा दोनों वेद वाले (श्रेणी के अभाव में) तथा अवेदी (श्रेणी चढ़ते समय) होते हैं।

- स्त्रीवेद में इस कल्प का निषेध है। कहा है कि—प्रवृत्तिकाल की अपेक्षा स्त्रीवेद को छोड़कर शेष दोनों वेद में यह कल्प होता है और पूर्व-प्रतिपन्न की अपेक्षा सवेदी और अवेदी दोनों इस कल्प में मिलते हैं।

७. कल्प द्वार — पारिहारिक स्थितकल्प में ही होते हैं। अस्थितकल्प में नहीं। अचेलत्व आदि दश कल्पों का नियमित पालन 'स्थितकल्प' है तथा शय्यातर आदि चार का नियमित पालन व शेष छः का अनियमित पालन अस्थितकल्प है। (विशेष ७७ व ७८ द्वार में द्रष्टव्य है)

८. लिंग द्वार — द्रव्यलिंग और भावलिंग दोनों होते हैं अन्यथा समाचारी का अभाव हो जायेगा।

९. ध्यान द्वार — प्रतिपद्यमान धर्मध्यान में ही होते हैं।
पूर्व प्रतिपन्न आर्त्त, रौद्र में भी हो सकते हैं (किन्तु उनका आर्त्त, रौद्र ध्यान निरनुबन्ध होता है।

१०. गणना द्वार—

		जघन्य	उत्कृष्ट
गच्छ	प्रतिपद्यमान	३ गण	१०० गण
गच्छ	पूर्वप्रतिपन्न	शतशः	शतशः
पुरुष	प्रतिपद्यमान	२७ पुरुष	१०००
पुरुष	पूर्वप्रतिपन्न	शतशः	सहस्रशः

९ साधुओं का समूह 'गण' कहलाता है। 'कल्प' स्वीकारने के पश्चात् कारण वश यदि कोई निकले और दूसरा उसके स्थान पर प्रवेश करे तो उस समय प्रतिपद्यमान पुरुष १ या २ से ९ भी होते हैं। इस प्रकार पूर्वप्रतिपन्न पुरुष भी १ या २ से ९ मिलते हैं।

११. अभिग्रह द्वार — द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, सम्बन्धी अभिग्रहों में से एक भी अभिग्रह पारिहारिकों के नहीं होता। निरपवाद रूप से अपने स्वीकृत कल्प का पालन करना ही उनका अभिग्रह है। **पंचवस्तुक** ग्रन्थ में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा है कि—परिहारविशुद्धिकों को द्रव्यादि से सम्बन्धित विविध अभिग्रह नहीं होते। जब तक कल्प में हैं इसका उचित पालन ही इनके लिए अभिग्रह रूप है। इस कल्प में गौचरी आदि के नियम सर्वथा अपवाद-रहित हैं। इसका उत्कृष्ट रूप से पालन ही इनका विशुद्धिस्थान है।

१२. प्रव्रज्या द्वार — यथाशक्ति उपदेश देते हैं, किन्तु दीक्षा किसी को नहीं देते क्योंकि इनका यही आचार है।

१३. निष्प्रतिकर्मता द्वार — ● आँख का मल भी दूर नहीं करते।
● घोर संकट में भी अपवाद का सेवन नहीं करते।

१४-१५. भिक्षा या पथ द्वार — आहार और विहार तीसरे प्रहर में होता है, शेष काल में कायोत्सर्ग करते हैं। निद्रा काल अल्प होता है।

जंघाबल क्षीण होने से यदि पारिहारिक विहार न कर सके और एक स्थान में रहना पड़े तो भी किसी प्रकार का अपवाद सेवन नहीं करते पर अपने कल्प के योग्य दोष रहित आराधना करते हैं॥ ६०९-६१०॥

७० द्वार : यथालंद—

लंदं तु होइ कालो सो पुण उक्कोस मज्झिम जहन्नो।
उदउल्लकरो जाविह सुक्कई सो होइ उ जहन्नो॥६११॥
उक्कोस पुव्वकोडी मज्झे पुण होंति एगठाणाईं।
एत्थ पुण पंचरत्तं उक्कोसं होइ अहलंदं॥६१२॥
जम्हा उ पंचरत्तं चरंति तम्हा उ हुंतिऽहालंदी।
पंचेव होइ गच्छो तेसिं उक्कोसपरिमाणं॥६१३॥
जा चेव य जिणकप्पे मेरा सा चेव लंदियाणंपि।
नाणत्तं पुण सुत्ते भिक्खायरिमासकप्पे य॥६१४॥
अहलंदिआण गच्छे अप्पडिबद्धाण जह जिणाणं तु।
नवरं कालविसेसो उउवासे पणग चउमासो॥६१५॥
गच्छे पडिबद्धाणं अहलंदीणं तु अह पुण विसेसो।
उग्गह जो तेसिं तु सो आयरियाण आभवइ॥६१६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एगवसहीए पणगं छव्वीहीओ य गामि कुव्वंति ।
दिवसे दिवसे अन्नं अडंति वीहीसु नियमेणं ॥६१७ ॥
पडिबद्धा इयरेऽवि य एक्केक्का ते जिणा य थेरा य ।
अत्थस्स उ देसम्मि य असमत्ते तेसि पडिबंधो ॥६१८ ॥
लग्गाइसु तूरंते तो पडिवज्जित्तु खित्तबाहिठिया ।
गिण्हंति जं अगहियं तत्थ य गंतूण आयरिओ ॥६१९ ॥
तेसिं तयं पयच्छइ खेत्तं इंताण तेसिमे दोसा ।
वंदंतमवंदंते लोगंमि य होइ परिवाओ ॥६२० ॥
न तरेज्ज जई गंतुं आयरिओ ताहे एइ सो चेव ।
अंतरपल्लि पडिवसभ गामबहि अण्णवसहिं वा ॥६२१ ॥
तीए य अपरिभोगे ते वंदंते न वंदई सो उ ।
तं घेत्तु अपडिबद्धा ताहि जहिच्छाइ विहरंति ॥६२२ ॥
जिणकप्पियावि तहियं किंचि तिगिच्छंपि ते न कारेंति ।
निप्पडिकम्मसरीरा अवि अच्छिमलंपि नऽवणिंति ॥६२३ ॥
थेराणं नाणत्तं अतरंतं अप्पिणंति गच्छस्स ।
तेऽवि य से फासुएणं करेंति सव्वंपि परिकम्मं ॥६२४ ॥
एक्केक्कपडिग्गहगा सप्पाउरणा भवंति थेरा उ ।
जे पुण सिं जिणकप्पे भयएसिं वत्थपायाइं ॥६२५ ॥
गणमाणओ जहण्णा तिण्णि गणा सयग्गसो य उक्कोसा ।
पुरिसपमाणे पनरस सहस्ससो चेव उक्कोसा ॥६२६ ॥
पडिवज्जमाणगा वा एक्काइ हवेज्ज ऊणपक्खेवे ।
होंति जहण्णा एए सयग्गसो चेव उक्कोसा ॥६२७ ॥
पुव्वपडिवन्नगाणवि उक्कोसजहण्णसो परीमाणं ।
कोडिपुहुत्तं भणियं होइ अहालंदियाणं तु ॥६२८ ॥

—गाथार्थ—

यथालंदिक कल्प—**लंद अर्थात् काल, उसके उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य तीन भेद हैं। पानी से भीगा हुआ हाथ जितने समय में सूख जाता है उतनी समयावधि जघन्य काल है। पूर्व क्रोड़ वर्ष**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्कृष्ट काल है। मध्यमकाल अनेक प्रकार का है। यथालंदकल्प के सन्दर्भ में उत्कृष्ट काल पाँच अहोरात्रि का है। यथालंदी पाँच दिन तक एक मोहल्ले में घूमते हैं इसलिये वे यथालंदी कहलाते हैं। उत्कृष्ट रूप से पाँच पुरुष एक साथ इस कल्प का स्वीकार करते हैं अतः इनका गण पाँच का ही होता है। तुलनादि रूप जो मर्यादायें जिनकल्प की हैं, प्रायः वे ही मर्यादायें इस कल्प की हैं। अन्तर केवल तीन विषय में है—सूत्राभ्यास, भिक्षाचर्या तथा मासकल्प में ॥६११-६१४॥

यथालंदिक दो प्रकार के हैं—१. गच्छप्रतिबद्ध और २ गच्छ अप्रतिबद्ध।

गच्छ अप्रतिबद्ध—यथालंदिकों का शेष आचार जिनकल्पिकों के समान है पर काल के विषय में भेद है। यथा, शीतोष्णकाल में पाँच दिन और वर्षाकाल में चार मास पर्यंत यथालंदिक एकस्थान में स्थिर रहते हैं ॥६१५॥

गच्छ प्रतिबद्ध—यथालंदिकों में अपेक्षाकृत अधिक भेद है। गच्छ प्रतिबद्ध यथालंदिकों का क्षेत्रावग्रह ५ कोश का है क्योंकि आचार्य का अवग्रह इतना होता है और आचार्य का क्षेत्रावग्रह ही यथालंदिकों का क्षेत्रावग्रह है। जिनकल्पियों की तरह उनका अलग से अवग्रह नहीं होता ॥६१६॥

यथालंदिक एक वसति में पाँच दिन सतत रह सकते हैं। सम्पूर्ण गाँव को छः भागों में विभक्त करके प्रत्येक भाग में पाँच-पाँच दिन रहते हैं और भिक्षा के लिये भ्रमण करते हैं ॥६१७॥

गच्छ प्रतिबद्ध और अप्रतिबद्ध दोनों प्रकार के यथालंदिकों के पुनः दो-दो भेद होते हैं—जिनकल्पी और स्थविरकल्पी। जिस यथालंदिक मुनि का सूत्रार्थ शेष रह जाता है, उसे गच्छ प्रतिबद्ध रहना पड़ता है ॥६१८॥

यथालंदकल्प स्वीकार करने का शुभ मुहूर्त शीघ्र आ गया हो और सूत्रार्थ पूर्ण होने में अभी देर हो तो गच्छ प्रतिबद्ध रहना पड़ता है। कल्प स्वीकार करने के पश्चात् वाचनादाता गुरु के क्षेत्र से बाहर रहकर अगृहीत अर्थ को ग्रहण करे। आचार्य अपने स्थान से यथालंदिक को वाचना देने उनके स्थान पर आते हैं ॥६१९॥

यथालंदिकों को आचार्य स्वयं उनके स्थान पर जाकर वाचना देते हैं। यथालंदिकों द्वारा आचार्य के समीप आकर वाचना ग्रहण करने में अन्य मुनियों को वन्दन करने और न करने पर दोष लगता है तथा लोकापवाद भी होता है ॥६२०॥

यदि आचार्य यथालंदिक के क्षेत्र में जाने में असमर्थ हो तो यथालंदिक स्वयं अन्तरपल्ली, प्रतिवृषभ गाँव, मूल क्षेत्र से बाहर अथवा मूल वसति में आकर वाचना ग्रहण करे। मूल वसति में आचार्य एकान्त स्थान में यथालंदिक को वाचना दे। गच्छवर्ती मुनि बड़े होने पर भी यथालंदिक को वन्दन करे पर यथालंदिक उनको वन्दन न करे। शेष सूत्रार्थ को ग्रहण करने के पश्चात् यथालंदिक गच्छ से अलग होकर अपने आचार का पालन करते हुए इच्छानुसार विचरण करे ॥६२१-६२२॥

जिनकल्प स्वीकार करने वाले यथालंदिक रोगादि होने पर लेशमात्र भी चिकित्सा नहीं करते। वे निष्प्रतिकर्मा होते हैं। यहाँ तक कि नेत्र का मल भी दूर नहीं करते। स्थविरकल्पी यथालंदिकों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की चर्या भिन्न है। वे रुग्ण मुनि को परिचर्या के लिये गच्छ को सौंप देते हैं और गच्छवर्ती मुनि प्रासुक अन्न-पानी के द्वारा उनकी सेवा करते हैं॥६२३-६२४॥

स्थविर कल्पी यथालंदिक एकपात्री तथा वस्त्रधारी होते हैं। जिनकल्पी यथालंदिकों को वस्त्र-पात्र की भजना होती है। वस्त्र-पात्र रखते भी हैं और नहीं भी रखते हैं॥६२५॥

जघन्य से यथालंदिकों के ३ गण होते हैं। उत्कृष्ट से शतपृथक्त्व गण होते हैं। पुरुषों की अपेक्षा से जघन्य पन्द्रह पुरुष और उत्कृष्ट से सहस्र पृथक्त्व पुरुष होते हैं॥६२६॥

यथालंदिकों के गण में न्यून होने पर अन्य मुनि को सम्मिलित करना पड़ता है। इस अपेक्षा से जघन्यतः प्रतिपद्यमान एक-दो ही होते हैं, किन्तु उत्कृष्टतः प्रतिपद्यमान सैकड़ों भी होते हैं॥६२७॥

पूर्वप्रतिपन्न यथालंदिक जघन्य और उत्कृष्ट दोनों ही कोटि पृथक्त्व होते हैं॥६२८॥

—विवेचन—

लन्द = आगम के अनुसार लन्द काल का वाचक है। इसके तीन भेद हैं—

(i) **जघन्य**—आर्द्र हाथ जितने समय में सूख जाये वह समय की अवधि जघन्य लन्द है। यद्यपि आगम में 'समय' को अति सूक्ष्म बताया है। सबसे जघन्य काल इतना सूक्ष्म है कि उसका कोई विभाग नहीं कर सकता। वह सर्वथा निरंश होता है पर यहाँ 'जघन्य लंद' से काल का वह निरंश भाग अपेक्षित नहीं है, किन्तु प्रत्याख्यान आदि नियम विशेष में उपयोगी 'कालविशेष' ही अपेक्षणीय है। पच्चक्खाण की सबसे जघन्य कालावधि जितने समय में आर्द्र हाथ सूख जाये इतनी ही है।(यद्यपि समय बड़ा सूक्ष्म है, तथापि प्रत्याख्यान इत्यादि में समय का यही प्रमाण ग्राह्य है)।

(ii) **उत्कृष्ट**—पूर्व-क्रोड़ वर्ष (उत्कृष्ट से चारित्र का काल पूर्व-क्रोड़ का ही होता है)।

(iii) **मध्यम**—जघन्य और उत्कृष्ट के बीच का काल—वर्ष, मास आदि।

यथालंदिक—जिनकल्प की तरह यह भी संयम साधना का विशेष प्रकार है। इसे स्वीकार करने वाले आत्मा भी जिनकल्पी की तरह पहले पाँच भावनाओं से स्वयं को भावित करते हैं, पश्चात् कल्प स्वीकारते हैं। कुछ बातों को छोड़कर शेष-साधना जिनकल्पी की तरह ही होती है। यथालंदिक गाँव को पेटा या अर्द्धपेटा आदि के रूप में कल्पित करके किसी एक वीथि में लगातार पाँच दिन तक भिक्षा के लिये जाते हैं, इसलिये वे यथालंदिक कहलाते हैं। उत्कृष्ट से एक साथ पाँच आत्मा इस कल्प को स्वीकार करते हैं॥ ६११-६१३॥

जिनकल्पी और यथालंदिक में भेद—

जिनकल्पी और यथालंदिक में निम्न चार बातों का अन्तर है—

१. **मासकल्प**—गच्छ-प्रतिबद्ध और गच्छ-अप्रतिबद्ध के भेद से यथालंदिक दो प्रकार के हैं। जिन्होंने यथालंद कल्प तो स्वीकार कर लिया किन्तु सूत्रार्थ सम्पूर्ण न होने से जो अभी तक गच्छ से जुड़े हुए हैं, वे गच्छ-प्रतिबद्ध हैं। इससे भिन्न जो यथालंद कल्प स्वीकार कर गच्छ से मुक्त हो चुके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं वे गच्छ-अप्रतिबद्ध हैं। ये दोनों ही जिनकल्पी और स्थविरकल्पी के भेद से पुनः दो-दो प्रकार के हैं—

(i) जिनकल्पी—यथालंदिक कल्प की समाप्ति के पश्चात् जिनकल्प स्वीकार करते हैं।

(ii) स्थविरकल्पी—यथालंदिक कल्प की समाप्ति के पश्चात् पुनः स्थविर-कल्प स्वीकार करते हैं।

दोनों ही प्रकार के यथालंदिक एक स्थान पर शीतोष्णकाल में पाँच दिन व वर्षाकाल में चार मास ठहरते हैं। यदि गाँव बड़ा हो तो शीतोष्णकाल में एक ही गाँव को छः पंक्तियों में विभाजित कर एक-एक पंक्ति में पाँच दिन ठहर सकते हैं और भिक्षा भी पाँच दिन उसी पंक्ति से ले सकते हैं। इस प्रकार छः पंक्तियों में एक मास पूर्ण हो जाता है यदि गाँव छोटा हो तो समीपवर्ती गाँवों में पाँच-पाँच दिन रहकर महीना पूर्ण कर सकते हैं।

गच्छ प्रतिबद्ध यथालंदिकों का क्षेत्रावग्रह जिस आचार्य की निश्रा में वे रहते है, उन आचार्य के अवग्रह से अलग नहीं होता अर्थात् इनका क्षेत्रावग्रह ५ कोश का होता है। किन्तु जो गच्छ से अलग हैं उनका जिनकल्पी की तरह कोई क्षेत्रावग्रह नहीं होता॥ ६१४-६१७॥

२. सूत्र विषयक—सूत्र विषयक भेद गच्छ-प्रतिबद्ध यथालंदिक जैसा ही है। सूत्रों के अर्थ का कुछ भाग ग्रहण करना शेष रह गया हो तो यथालंदिक को गच्छ-प्रतिबद्ध रहना पड़ता है॥ ६१८॥

प्रश्न—सूत्रार्थ पूर्ण करने के पश्चात् ही कल्प स्वीकार करना चाहिये? पहले क्यों स्वीकार करते हैं?

उत्तर—शुभ लग्न, शुभ योग, चन्द्रबल आदि नजदीक में न मिलते हों तो सूत्रार्थ की समाप्ति से पूर्व ही कल्प को स्वीकार कर लेते हैं।

यथालंद कल्प को स्वीकार करने के पश्चात् यथालंदिक गच्छ से निकलकर गुरु के अवग्रह क्षेत्र से दूर रहकर विशिष्ट विरक्तिपूर्वक स्वीकृत कल्प का पालन करते हुए अवशिष्ट सूत्रार्थ को ग्रहण करें।

सूत्रार्थ ग्रहण करने की विधि—

उत्सर्गतः आचार्य स्वयं यथालंदिक के क्षेत्र में जाकर उन्हें सूत्र व अर्थ की वाचना दें। यदि आचार्य जंघाबल क्षीण होने के कारण वहाँ जाने में असमर्थ हो तो यथालंदिक मुनि स्वयं अन्तरपल्ली आचार्य के क्षेत्र (मूलक्षेत्र) से ढाई कोश दूर स्थित गाँव में, प्रतिवृषभ गाँव = मूलक्षेत्र से दो कोश दूर स्थित भिक्षागमन योग्य गाँव में...मूलक्षेत्र से बाहर...मूलक्षेत्रगत अन्य वसति में...कदाचित् मूल वसति (जहाँ आचार्य का निवास हो) में भी आते हैं। तात्पर्य यह है कि यदि आचार्य यथालंदिक के पास जाकर वाचना देने में समर्थ न हो तो यथालंदिकों में जो धारणाकुशल हो वह अन्तरपल्ली में आवे और आचार्य वहाँ जाकर उसे वाचना दें। साधुसंघाटक आचार्य को आहारपानी मूलक्षेत्र से लाकर वहाँ दे। सायंकाल में आचार्य अपने मूलक्षेत्र में लौट आवें। यदि आचार्य अन्तरपल्ली तक भी न आ सकें, तो क्रमशः अन्तरपल्ली व प्रतिवृषभ गाँव के मध्य...प्रतिवृषभ गाँव में...प्रतिवृषभ गाँव व मूलक्षेत्र के मध्य...मूलक्षेत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के बाहर एकान्त प्रदेश में....मूलक्षेत्रगत अन्य वसति में...अन्ततः मूलवसति में ही एकान्त में धारणाकुशल यथालंदिक को अवशिष्ट सूत्रार्थ की वाचना दें। **कल्पचूर्णि** में कहा है कि—

'आचार्य पहले गच्छवासी मुनियों को सूत्र व अर्थपोरिसी देकर पश्चात् यथालंदिकों को वाचना दें। यदि गच्छवासी मुनियों को दोनों पोरिसी देकर यथालंदिकों के पास जाने में समर्थ न हो तो गच्छवासियों को सूत्रपोरिसी स्वयं दे और अर्थपोरिसी देने का काम योग्य शिष्य को सौंपकर स्वयं यथालंदिकों को अर्थपोरिसी दें। यदि ऐसा करना भी सम्भव न हो तो गच्छवासियों को दोनों पोरिसी देने का काम योग्य शिष्य को सौंपकर स्वयं यथालंदिकों को वाचना दें।'

यदि आचार्य क्षेत्र से बाहर जाने में सर्वथा अक्षम हों तो यथालंदिकों में से जो धारणा कुशल हो, वह अंतरपल्ली के बाह्य क्षेत्र में आवे और आचार्य वहाँ जाकर यथालंदिक को वाचना दें। आचार्य के आहारपानी की व्यवस्था मूलक्षेत्र से साधु संघाटक करे। आचार्य वैकालिक (संध्या) समय में पुनः मूलवसति में आवे। यदि आचार्य ऐसा करने में भी समर्थ न हो तो क्रमशः अंतरपल्ली और प्रतिवृषभ गाँव के मध्य....प्रतिवृषभ गाँव के बाहर...मूल गाँव की अन्य वसति में....अन्ततः मूल वसति के एकान्त स्थान में वाचना दे॥ ६१९-६२१॥

क्षेत्र में यथालंदिक के आने के दोष—

(i) यथालंदिक कल्प की मर्यादा है कि वे आचार्य को छोड़कर अन्य किसी को वन्दन नहीं करते, प्रत्युत गच्छवासी मुनि बड़े होने पर भी उन्हें वन्दना करते हैं। यह देखकर लोग निन्दा करे कि ये कैसे लोग हैं जो बड़ों से वन्दना करवाते हैं...स्वयं प्रतिवन्दन भी नहीं करते।

(ii) गच्छवासी मुनियों के प्रति लोगों को शंका हो सकती है कि ये मुनि दुःशील होंगे तभी तो ये आत्मार्थी मुनि इन्हें वन्दना नहीं करते।

(iii) अथवा गच्छवासी मुनियों के लिये सोचे कि ये साधु कितने आत्मार्थी हैं जो इन्हें वन्दन करते हैं और ये कैसे अक्कड़ हैं कि बोलते भी नहीं हैं।

सूत्रार्थ पूर्ण होने के बाद यथालंदिक गच्छ से मुक्त होकर अपने कल्प के अनुसार विचरण करते हैं॥ ६२२॥

३. भिक्षाचर्या—शीतोष्ण काल में यथालंदिक जिस गाँव में रहते हैं उस गाँव को छः वीथी में विभक्त कर एक वीथी में पाँच दिन तक भिक्षा के लिये जाते हैं और वसति ग्रहण भी वहीं करते हैं। प्रतिदिन उद्धृत आदि पाँच एषणा में से किसी एक के अभिग्रहपूर्वक भिक्षा ग्रहण करते हैं।

वर्षाकाल में—चार मास पर्यंत एक ही वसति में रहते हैं। शेष पूर्ववत्। **पंचकल्पचूर्णि** में कहा है कि 'गाँव को छः वीथी में विभक्तकर एक-एक वीथी में ५-५ दिन भिक्षा के लिये भ्रमण करते हैं व वहाँ ही वसति ग्रहण करते हैं। भिक्षा ग्रहण एषणा के अन्तिम ५ प्रकार में से प्रतिदिन अलग-अलग प्रकार से ग्रहण करते हैं।'

वीथी = भिक्षामार्ग अर्थात् भिक्षार्थ गमन करने की पद्धति विशेष।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाणविषय—		जघन्य	उत्कृष्ट
गच्छ प्रमाण	प्रतिपद्यमान	३ गच्छ	२०० से ९०० गच्छ
पुरुष प्रमाण	प्रतिपद्यमान	X १५ पुरुष	२००० से ९००० पुरुष
पुरुष प्रमाण	प्रतिपद्यमान	*१-२ पुरुष	+२०० से ९०० पुरुष
गच्छ प्रमाण	पूर्वप्रतिपन्न	कोटि पृथक्त्व	कोटि पृथक्त्व
पुरुष प्रमाण	पूर्वप्रतिपन्न	कोटि पृथक्त्व	कोटि पृथक्त्व

× जघन्य से तीन गच्छ एक साथ इस कल्प का स्वीकार करते हैं और एक-एक गच्छ में पाँच-पाँच साधु होते हैं। अतः जघन्य से पुरुष प्रमाण ३ × ५ = १५ होता है।

* पाँच साधु इस कल्प को स्वीकार करते हैं, किन्तु उनमें से एक-दो साधु बीमार हो जाएँ तो उन्हें पुनः गच्छ को सौंप दिया जाता है। उनके स्थान पर दूसरे एक या दो मुनि कल्प को स्वीकार करते हैं तब प्रतिपद्यमान पुरुषों की संख्या जघन्य से १...२ मिलती है।

+ यदि सभी गच्छ में रुग्ण मुनि के स्थान पर एक-दो नये मुनि कल्प का स्वीकार करें तो उत्कृष्ट रूप से प्रतिपद्यमान पुरुष भी २०० से ९०० हो सकते हैं।

जिनकल्पिक व स्थविरकल्पिक यथालंदिकों में भेद—

- जिनकल्पी-यथालंदिक—

(i) मारणान्तिक वेदना में भी चिकित्सा नहीं करवाते।

(ii) शारीरिक शुद्धि नहीं करते, यहाँ तक कि आँख का मैल भी नहीं निकालते।

- स्थविरकल्पी-यथालंदिक—

(i) कल्प स्वीकारने के बाद यदि कोई मुनि रुग्ण हो जाये तो उसे चिकित्सा के लिए पुनः गच्छ को सौंप देते हैं। गच्छवासी मुनि भी निरवद्य आहार-पानी के द्वारा उसकी सम्पूर्ण परिचर्या करते हैं तथा अपनी संख्या की पूर्ति के लिए गच्छ में से किसी विशिष्ट संघयणी को कल्प स्वीकार करवाते हैं।

स्थविरकल्पी यथालंदिक एकपात्रधारी तथा वस्त्रधारी होते हैं।

यथालंदिकों में जिनकल्प स्वीकार करने वाले कुछ आत्मा वस्त्रधारण करते हैं तो कुछ आत्मा निर्वस्त्र ही रहते हैं। कुछ पात्रधारी हैं तो कुछ करपात्री हैं॥ ६२३-६२८॥

७१ द्वार : निर्यामक—

उव्वत्त दार संथार कहग वाईय अग्गदारंमि।
भत्ते पाण वियारे कहग दिसा जे समत्था य॥६२९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एएसिं तु पयाणं चउक्कगेणं गुणिज्जमाणाणं ।
निज्जामयाण संखा होइ जहासमयनिद्दिट्ठा ॥६३० ॥
उव्वत्तंति परावत्तयंति पडिवण्णअणसणं चउरो ।
तह चउरो अब्भंतर दुवारमूलंमि चिट्ठंति ॥६३१ ॥
संथारयसंथरया चउरो चउरो कहिंति धम्मं से ।
चउरो य वाइणो अग्गदारमूले मुणिचउक्कं ॥६३२ ॥
चउरो भत्तं चउरो य पाणियं तदुचियं निहालंति ।
चउरो उच्चारं परिट्ठवंति चउरो य पासवणं ॥६३३ ॥
चउरो बाहिं धम्मं कहिंति चउरो य चउसुवि दिसासु ।
चिट्ठंति उवद्दवरक्खया सहसजोहिणो मुणिणो ॥६३४ ॥
ते सव्वाभावे ता कुज्जा एक्केक्कगेण ऊणा जा ।
तप्पासट्ठिय एगो जलाइअण्णेसओ बीओ ॥६३५ ॥

—गथार्थ—

निर्यामक मुनि—१. उद्वर्त्तन, २ द्वार, ३ संस्तारक, ४ कथक, ५ वादी, ६ अग्रद्वार, ७ गौचरी, ८ पानी, ९-१० लघुनीति-बड़ीनीति, ११ धर्मकथक, १२ दिशाओं में समर्थ। पूर्वोक्त १२ पदों में से प्रत्येक में ४-४ मुनि होने से १२x४ गुणा करने पर आगमनिर्दिष्ट गुणयुक्त निर्यामकों की संख्या आती है। अर्थात् कुल ४८ निर्यामक होते हैं ॥६२९-६३० ॥

चार मुनि अनशनी का उद्वर्त्तन-परावर्त्तन करते हैं। चार मुनि भीतर के द्वार के पास बैठते हैं। चार संथारा करने वाले होते हैं। चार मुनि अनशनी को धर्मकथा सुनाते हैं। चार मुनि वादी एवं चार अग्र द्वार पर बैठते हैं। चार मुनि अनशनी की समाधि के लिये आहार आदि लाकर देते हैं। चार मुनि अनशनी के लिये पानी की गवेषणा करते हैं। चार मुनि स्थंडिल और चार मुनि मात्रा परठने वाले होते हैं। चार मुनि लोगों को धर्मोपदेश सुनाते हैं और चार मुनि चारों दिशाओं में एक-एक उपद्रव की रक्षा हेतु रहते हैं ॥६३१-६३४ ॥

यदि ४८ निर्यामक न मिले तो एक-एक न्यून करते....करते अन्त में जघन्यतः दो निर्यामक तो अनशनी के लिये आवश्यक ही हैं। एक अनशनी के पास बैठने वाला तथा दूसरा जलादि की गवेषणा करने वाला ॥६३५ ॥

—विवेचन—

निर्यामकाः ग्लानप्रतिचारिणः = ग्लान अनशनी आदि की सेवा एवं वैयावच्च करने वाले निर्यामक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहलाते हैं। ज्ञातव्य है कि यापनीय परम्परा के अपराजितसूरि ने भगवतीआराधना की टीका में इन्हें निर्यामक कहा है।

पार्श्वस्थ, अवसन्न व अगीतार्थ को निर्यामक नहीं बनाया जाता। किन्तु जो गीतार्थ होने से कालोचित परिचर्या और विशेषत: वैयावच्च करने में निपुण हैं, वे ही निर्यामक होते हैं।

उत्कृष्टत: अड़तालीस परिचारक होते हैं--

१.	रोगी की करवट बदलने आदि शारीरिक सेवा करने वाले	(४)
२.	अभ्यन्तर द्वार पर खड़े रहने वाले	(४)
३.	संथारा करने वाले	(४)
४.	अनशनी को धर्म-कथा सुनाने वाले (यदि बीमार ने अनशन ले लिया हो तो)	(४)
५.	वादी	(४)
६.	अग्र-द्वार पर खड़े रहने वाले	(४)
७.	ग्लान के योग्य गौचरी लाने वाले	(४)
८.	ग्लान के योग्य पानी लाने वाले	(४)
९.	ग्लान का उच्चार (मल) आदि परठने वाले	(४)
१०.	ग्लान का प्रस्रवण (मूत्र) आदि परठने वाले	(४)
११.	आगन्तुकों को धर्मकथा कहने वाले	(४)
१२.	चारों दिशाओं में रक्षा हेतु खड़े रहने वाले सहस्रयोधी आदि	(४)

पूर्वोक्त सभी कार्यों में चार-चार साधुओं की टोली होती है। अत: कुल मिलाकर अड़तालीस साधु होते हैं।

अन्यमतानुसार--उच्चार, प्रस्रवण (मल-मूत्र) इन दोनों के परठने वाले चार-चार साधु अलग से नहीं होते किन्तु दोनों कार्यों के लिए सम्मिलित चार साधु होते हैं तथा उपद्रव से रक्षा करने वाले साधु चारों दिशाओं में एक-एक नहीं किन्तु दो-दो होते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर अड़तालीस साधु होते हैं।

साधुओं के कार्य--

१. उत्सर्गत: अनशनी साधु स्वयं ही करवट बदले परन्तु यदि उसकी शक्ति न हो तो परिचारक साधु उसकी करवट बदले। उसे उठाना, बिठाना, बाहर ले जाना, अन्दर लाना, उसकी उपधि की प्रतिलेखना करना इत्यादि कार्य भी वे ही साधु करें।

२. लोगों की भीड़ से अनशनी मुनि को असमाधि न हो, इस कारण अन्दर के द्वार पर चार मुनि खड़े रहें ताकि लोग सीधे अनशनी के पास न जायें।

३. अनशनी के अनुकूल, सुखदायक स्पर्श वाला, समाधि-संवर्द्धक संथारा बिछावे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. विशिष्ट-देशना-लब्धि-सम्पन्न चार मुनि, तत्त्वज्ञ अनशनी मुनि को संवेग बढ़ाने वाली धर्म कथा सुनावें।

५. अनशनी मुनि की अतिशय प्रभावना देखकर यदि कोई सर्वज्ञ-मत-द्वेषी वाद करने आये तो उसके साथ वाद करने में समर्थ चार साधु तैयार रहें।

६. प्रत्यनीक (विपक्षी, द्वेषी) के प्रवेश को रोकने के लिये चार सामर्थ्य सम्पन्न मुनि अग्र द्वार पर खड़े रहें।

७. परीषह से पीड़ित होकर यदि अनशनी भोजन माँगे तो परिचारक मुनि सर्वप्रथम उसकी परीक्षा करे कि कोई प्रत्यनीक देव तो उसके शरीर में नहीं बोल रहा है। इसका निश्चय करने हेतु सर्वप्रथम अनशनी से पूछे कि तुम कौन हो? गीतार्थ हो या अगीतार्थ? तुमने अनशन स्वीकार किया है या नही? अभी रात है या दिन? इन प्रश्नों के जवाब में यदि अनशनी सत्य बोले तब तो समझना कि वह देवता से अधिष्ठित नहीं है किन्तु क्षुधा परीषह से पीड़ित है। ऐसी स्थिति में उसकी समाधि टिकाने के लिए उसे आहार देना चाहिये। इससे वह भविष्य में परीषहों पर विजय प्राप्त कर सके। यदि भूख की वेदना से पीड़ित अनशनी को आहार न दिया गया तो सम्भव है कि वह आर्त्त-ध्यान में मरकर तिर्यंच या भवनपति देव में उत्पन्न होगा और जिनमत या साधुओं का द्वेषी बनकर उन्हें परेशान करेगा। अतः ऐसी परिस्थिति में आवश्यक है कि चार मुनि अनशनी के योग्य आहार की गवेषणा करें।

८. चार मुनि अनशनी के देह का दाह शान्त करने हेतु जल की गवेषणा करें।

९. चार मुनि स्थंडिल परठें।

१०. चार मुनि प्रस्रवण परठें।

११. चार मुनि आगन्तुकों के चित्त को चमत्कृत करने वाली मनोहर देशना देवें।

१२. महाबलवान चार मुनियों में से उपद्रव की रक्षा हेतु प्रत्येक दिशा में एक-एक खड़ा रहे।

यदि अड़तालीस निर्यामक न मिलें तो सैंतालीस, इतने भी न मिले तो छियालीस, पैंतालीस, चवालीस...अन्त में अनशनी की परिचर्या में दो निर्यामक तो अवश्य होने ही चाहिये। एक अनशनी के पास बैठे और दूसरा आहार आदि की गवेषणा करे। परिचारक एक हो तो अनशन नहीं करना चाहिये, कारण इससे आत्मा एवं जिनाज्ञा का नाश होता है। 'आत्मा त्यक्तः परं प्रवचनं' ॥ ६२९-६३५ ॥

७२ द्वार : शुभ-भावना—

इरियासमिएसया जए उवेह भुंजेज्ज व पाणभोयणं।
आयाणनिक्खेवदुगुंछ संजए समाहिए संजयए मणो वई ॥६३६ ॥
अहस्ससच्चे अणुवीय भासए जे कोह लोह भय मेव वज्जए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से दीहरायं समुपेहिया सया, मुणी हु मोसंपरिवज्जए सिया ॥६३७ ॥
सयमेव उ उग्गहजायणे घडे, मइमं निसम्मा सइ भिक्खु उग्गहं ।
अणुन्नविय भुंजीय पाणभोयणं जाइत्ता साहम्मियाण उग्गहं ॥६३८ ॥
आहारगुत्ते अविभूसियप्पा इत्थी न निज्झाय न संथवेज्जा ।
बुद्धे मुणी खुड्डुकहं न कुज्जा, धम्माणुपेही संधए बंभचेरं ॥६३९ ॥
जे सद्द रूव रस गंधमागए, फासे य संपप्प मणुण्णपावए ।
गेहिं पओसं न करेज्ज पंडिए, से होइ दंते विरए अकिंचणे ॥६४० ॥

—गाथार्थ—

पच्चीस शुभभावना—१. ईर्यासमिति का पालन करने में सदा प्रयत्नशील, २. आहार-पानी उपयोगपूर्वक लाने व वापरने वाला, ३. आदान-निक्षेप-जुगुप्सक, ४. संयत मनवाला और ५. संयत वचन वाला ॥६३६ ॥

१. उपहास रहित सत्य वचन बोलना, २. विचारपूर्वक बोलना, ३-४-५. क्रोध, लोभ और भय का त्यागी मुनि सदा मृषावाद का त्यागी होता है और शीघ्र मोक्ष को प्राप्त करता है ॥६३७ ॥

१. अवग्रह की याचना स्वयं करे, २. अवग्रह दाता का वचन श्रवण करने के पश्चात् ही वस्तु ग्रहण करे, ३. स्पष्ट मर्यादापूर्वक अवग्रह की याचना करे, ४. गुरु आदि की आज्ञा पाने के पश्चात् ही आहार-पानी वापरे तथा ५ स्वधर्मी से उनके अवग्रह की अनुमति लेकर ही उपाश्रय आदि का उपयोग करे ॥६३८ ॥

१. आहार का संयम रखे, २. शारीरिक विभूषा न करे, ३. सरागदृष्टि से स्त्री को न देखे, ४. स्त्री का परिचय न करे तथा ५. तत्त्वज्ञ मुनि स्त्रीकथा भी न करे—इस प्रकार धर्म का अनुप्रेक्षक मुनि अपने ब्रह्मचर्य को पुष्ट करता है ॥६३९ ॥

तत्त्वज्ञ मुनि १. शुभ या अशुभ शब्द, २. रूप, ३. रस, ४. गंध, एवं ५. स्पर्श को प्राप्त कर प्रीति अथवा अप्रीति न करे। ऐसा मुनि दाँत, विरत और अकिंचन होता है ॥६४० ॥

—विवेचन—

अहिंसादि महाव्रतों की दृढ़ता एवं स्थिरता के लिये जो अभ्यास किया जाता है वह भावना कहलाती है ।

जिस प्रकार अभ्यास के अभाव में विद्या नष्ट हो जाती है वैसे ही भावनाओं के अभाव में महाव्रत नष्ट हो जाते हैं ।

प्रत्येक महाव्रत की ५-५ भावनायें हैं ।

प्रथम महाव्रत की भावनायें—

(i) समितिपूर्वक गमन करना अन्यथा हिंसा होती है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ii) उचित उपयोगपूर्वक भिक्षा ग्रहण करना, उपाश्रय में आकर प्रकाश में भिक्षा का अच्छी तरह से अवलोकन करना, फिर खाना अन्यथा हिंसा की सम्भावना रहती है।

(iii) विधिपूर्वक उपधि लेना व रखना। ऐसा करने वाला 'अजुगुप्सक' कहलाता है। यह अहिंसक है। इससे विपरीत आचरण वाला जुगुप्सक है। वह हिंसक है।

(iv) मन को निःशंक व निर्मल रखना। अन्यथा प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की तरह मानसिक हिंसा-जन्य कर्म-बंधन होता है।

(v) उपयोगपूर्वक बोलना अन्यथा कर्म-बंधन होता है। **तत्त्वार्थ सूत्र** में पाँचवीं भावना एषणा समिति रूप बताई है॥ ६३६॥

द्वितीय महाव्रत की भावनायें—

(i) हँसी-मजाक का त्याग कर, सत्य वचन बोलना। हँसी में झूठ बोलने की सम्भावना रहती है।

(ii) विवेकपूर्वक बोलना, सोचकर बोलना। बिना सोचे बोलने से कभी-कभी असत्य भाषण हो जाता है। इससे वैर-बंधन, स्वयं को पीड़ा तथा दूसरे जीवों के नाश की सम्भावना रहती है।

(iii) क्रोध असत्य भाषण का कारण है। इसका त्याग करने वाला ही वास्तव में असत्य का त्यागी हो सकता है। अतः मुनि इसका अवश्य त्याग करे।

(iv) लोभी आत्मा धनलिप्सा के कारण निश्चित असत्यभाषी होता है। अतः मुनि को लोभ का त्याग करना चाहिये।

(v) भयार्त्त आत्मा अपने प्राणों की रक्षा के लिये असत्य भाषण करता है। अतः मुनि को निर्भय रहना चाहिये॥ ६३७॥

तृतीय महाव्रत की भावनायें—

(i) साधु को जिनाज्ञानुसार देवेन्द्र, राजा, गृहपति, शय्यातर व साधर्मिक इन पाँच प्रकार के अवग्रह की याचना स्वामी के पास जाकर स्वयं ही करना चाहिये, दूसरों के माध्यम से नहीं। कभी उस व्यक्ति का मालिक के साथ विवाद हो जाये तो मालिक रुष्ट होकर साधु को बाहर निकाल सकता है। मालिक के सिवाय किसी अन्य से याचना करने पर अदत्तपरिभोग आदि दोष लगते हैं।

(ii) मालिक के द्वारा तृण आदि ग्रहण करने की स्पष्ट अनुज्ञा देने पर ही मुनि अनुज्ञापित अवग्रह से तृणादि ग्रहण करे।

(iii) मालिक के द्वारा अमुक समय तक अवग्रह दे दिया हो तो भी मुनि रोगादि आने पर मात्रा-ठल्ला आदि परठने के स्थान, पात्र, हाथ-पाँव आदि प्रक्षालन करने के स्थानों की समय-समय पर याचना करता रहे ताकि दाता खुश रहे।

(iv) आगमोक्त विधि से गृहीत आहार, पानी का गुरु की आज्ञापूर्वक मांडली में अथवा अकेले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बैठकर उपयोग करना तथा धर्म के साधनभूत औघिक व औपग्रहिक उपकरणों का उपयोग भी गुरु की आज्ञा से ही करना। अन्यथा अदत्त परिभोग का पाप लगता है।

(v) समान धर्म वाले संविग्न साधुओं के द्वारा ग्रहण किये हुए क्षेत्र में उनकी आज्ञा लेकर मासकल्प आदि के लिये क्षेत्रसम्बन्धी अवग्रह (५ कोश पर्यन्त) ग्रहण करना। उपाश्रय, पाट आदि वस्तुओं का उनकी आज्ञा से उपयोग करना॥ ६३८॥

चतुर्थ महाव्रत की भावनायें—

(i) आहार का संयम रखना, स्निग्ध, रसयुक्त या प्रमाणोपरान्त आहार न करना। स्निग्ध आहार करने से धातु पुष्ट बनते हैं, वासना उत्तेजित होती है। अधिक आहार ब्रह्मचर्य को दूषित करने के साथ कायक्लेशकारक भी है।

(ii) स्नान, विलेपन आदि विभूषाप्रिय आत्मा ब्रह्मचर्य का विराधक है। अतः विभूषा का त्याग करना।

(iii) नारी व उसके मुख, स्तन आदि अंग-उपांग को विकार भाव से नहीं देखना। इससे ब्रह्मचर्य खण्डित होता है।

(iv) स्त्री के साथ अधिक परिचय करना, स्त्री से संसक्त वसति में रहना, स्त्री द्वारा काम में लिये गये आसनादि पर बैठना, ब्रह्मचर्य का घातक है।

(v) तत्त्वज्ञ मुनि स्त्री सम्बन्धी कथा कदापि न करे। स्त्री कथा से मन चंचल बनता है।

इन भावनाओं से भावित अन्तःकरण वाला मुनि धर्म का अनुप्रेक्षक, धर्म की आराधना में तत्पर तथा ब्रह्मचर्य का पोषक होता है॥ ६३९॥

पंचम महाव्रत की भावनायें—

(i) साधु इष्ट विषय में राग और अनिष्ट विषय में प्रद्वेष न करे, परन्तु इन्द्रियों पर संयम रखते हुए बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह से विरत बने, अथवा

(ii. v) शुभ-अशुभ शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श के प्रति राग-द्वेष नहीं रखे। शब्दादि के प्रति राग या द्वेष रखने से पाँचवां महाव्रत खण्डित होता है।

इस प्रकार पाँच-महाव्रतों की कुल पच्चीस भावनायें होती हैं। **समवायांग** व **तत्त्वार्थ सूत्र** में ये भावनायें अन्य तरह से बताई गई हैं॥ ६४०॥

७३ द्वार : अशुभ-भावना—

कंदप्पदेव किव्विस अभिओगा आसुरी य सम्मोहा।
एसा हु अप्पसत्था पंचविहा भावणा तत्थ॥६४१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कंदप्पे कुक्कुइए दोसीलत्ते य हासकरणे य।
परविम्हियजणणेऽवि य कंदप्पोऽणेगहा तह य ॥६४२॥
सुयनाण केवलीणं धम्मायरियाण संघ साहूणं।
माई अवण्णवाई किव्विसियं भावणं कुणइ ॥६४३॥
कोउय भूईकम्मे पसिणेहिं तह य पसिणपसिणेहिं।
तहय निमित्तेणं चिय पंचवियप्पा भवे सा य ॥६४४॥
सइ विग्गहसीलत्तं संसत्ततवो निमित्तकहणं च।
निक्किवयावि य अवरा पंचमगं निरणुकंपत्तं ॥६४५॥
उम्मग्गदेसणा मग्गदूसणं मग्गविपडिवत्ती य।
मोहो य मोहजणणं एवं सा हवइ पंचविहा ॥६४६॥

—गाथार्थ—

पच्चीस अशुभ भावना—१. कन्दर्पी, २. देवकिल्विषी, ३. अभियोगिकी, ४. आसुरी, ५. सम्मोही—ये पाँच अप्रशस्त भावनायें हैं ॥६४१॥

१. कन्दर्प, २. कौकुच्य, ३. दुःशीलत्त्व, ४. हास्यकरण एवं ५. परविस्मय-जनन आदि कन्दर्प के अनेक प्रकार हैं ॥६४२॥

१. श्रुतज्ञान, २. केवली, ३. धर्माचार्य, ४. संघ और ५ साधु आदि की निन्दा करने वाले तथा मायावी आत्मा की भावना किल्विषीक भावना है ॥६४३॥

१. कौतुक, २. भूतिकर्म, ३. प्रश्न, ४. प्रश्नाप्रश्न तथा ५. निमित्त-आभियोगिकी भावना के पूर्वोक्त पाँच भेद हैं ॥६४४॥

१. सदा कलह करने की प्रवृत्ति, २. संसक्ततप, ३. निमित्तकथन, ४. निर्दयता एवं ५. निरनुकंपा—ये पाँच आसुरी भावना के प्रकार हैं ॥६४५॥

१. उन्मार्गदेशना, २. मार्गदूषण, ३. मार्ग-विप्रतिपत्ति, ४. मोह और ५. मोह जनन—इस प्रकार पंचविध संमोही भावना है ॥६४६॥

—विवेचन—

१. **कन्दर्पी**—कन्दर्प अर्थात् कामदेव, भांड की तरह हँसी-मजाक में मस्त देव विशेष। उनकी तरह निरन्तर हँसी-मजाक करना कन्दर्पी भावना है।

२. **किल्विषी**—किल्विषः = पाप, पापरूप होने से जो देवताओं में अछूत माने जाते हैं वे किल्विषी देव कहलाते हैं उन देवों की तरह चिन्तन करना।

३. **अभियोगी**—किंकर स्थानीय देवों की तरह चिन्तन करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. **आसुरी**—भवनवासी देवों की तरह भावना करना।

५. **सम्मोही**—मूढ़ात्मा देव विशेष की तरह भावना करना।

पूर्वोक्त पाँच प्रकार के देवों का जो स्वभाव है उस स्वभाव में वर्तन करना, वह भावना कहलाती है। यदि साधु ऐसे स्वभाव में वर्तन करे तो वह चारित्र-पालन के पुण्य-फलस्वरूप मरकर कन्दर्प, किल्विषी आदि तत्तद् स्वभाव वाले देवों में उत्पन्न होता है। **पंचवस्तुक** ग्रंथ में कहा है कि जो मुनि कन्दर्पी आदि ५ अशुभ भावनाओं में वर्तन करता है वह तत्तद् स्वभाव वाले देवों में उत्पन्न होता है। किन्तु 'जो सर्वथा चारित्रहीन है उसके लिये देवगति की भजना समझना। कदाचित् वह तत् तत् स्वभाव वाले देवों में भी उत्पन्न हो सकता है, कदाचित् नरक, निर्यंच या मनुष्य में भी उत्पन्न हो सकता है'॥ ६४१ ॥

कन्दर्प-भावना के पाँच प्रकार—

१. कन्दर्प, २. कौकुच्य, ३. दुःशील, ४. स्वपर हास्यजनन, ५. परविस्मयजनन।

१. कन्दर्प—

(i) जोर-जोर से हँसना।

(ii) परस्पर हँसी-मजाक करना।

(iii) गुर्वादि के साथ भी निष्ठुरता, वक्रता एवं उच्छृंखलतापूर्वक व्यवहार करना।

(iv) काम-कथा करना।

(v) कामोपदेश, कामविषयक प्रशंसा करना।

२. कौकुच्य—भांड चेष्टावत् हावभाव। उसके दो भेद हैं।

(i) कायकौकुच्य — स्वयं न हँसे पर भौंहें, नेत्रादि से ऐसी चेष्टायें करे कि जिसे देखकर दूसरों को हँसी आ जाये।

(ii) वाक्कौकुच्य — हास्योत्पादक वचन बोलना, मुँह से विविध जीवों की आवाज, वाजिंत्रों की आवाज निकाल कर दूसरों को हँसाना।

३. दुःशील—संभ्रम और आवेश के वश बिना विचारे बोलना, शरद्कालीन गर्वित सांढ की तरह जल्दी-जल्दी चलना। बिना सोचे-समझे जल्दी-जल्दी कार्य करना। शान्ति से बैठे-बैठे ऐसी चेष्टा करना कि मानों गर्व से फूट रहा हो।

४. स्वपर-हास्यजनन—भांड की तरह दूसरों के वेष की, बोली की नकल निकाल कर स्वयं हँसना और दूसरों को भी हँसाना।

५. परविस्मय-जनन—इन्द्रजालिक की तरह कुतूहल करके तथा प्रहेलिका, वक्रोक्ति, दंतकथा आदि कहकर लोगों को आश्चर्य चकित बनाना॥ ६४२ ॥

किल्विषी भावना के पाँच प्रकार—

१. श्रुतज्ञान, २. केवली, ३. धर्माचार्य, ४. संघ और ५. साधु

इन पाँचों का अवर्णवाद बोलने वाले तथा अपनी शक्ति को छुपाने वाले मायावी पुरुष की भावना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(i) श्रुतज्ञान का अवर्णवाद — श्रुतज्ञान सम्बन्धी असद्भूत दोष कहना। जैसे—पृथ्वीकाय आदि जीवों का वर्णन षड्जीवनिकाय में भी है और शास्त्र-परिज्ञा अध्ययन में भी है। प्राणातिपात निवृत्ति आदि का वर्णन भी जगह-जगह है। प्रमाद-अप्रमाद का वर्णन भी बार-बार किया है। इस प्रकार शास्त्रों में पुनरुक्ति है।

सूर्यप्रज्ञप्ति आदि ज्योतिष शास्त्रों की मोक्ष-मार्ग के लिये क्या आवश्यकता है? मुक्ति के इच्छुक साधुओं के लिये योनि-प्राभृतादि की क्या आवश्यकता है? क्योंकि ये शास्त्र संसार-वर्धक है।

(ii) केवली का अवर्णवाद — केवली को ज्ञान और दर्शन का उपयोग क्रमशः होता है या एक साथ? यदि क्रमशः होता है तो ज्ञान के समय दर्शन का उपयोग और दर्शन के समय ज्ञान का उपयोग नहीं होगा। इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञानोपयोग के समय दर्शन का आवरण है और दर्शनोपयोग के समय ज्ञान का आवरण है। यदि दोनों उपयोग एक साथ हैं तो परस्पर संकर हो जायेंगे। अतः ये बातें अयुक्त हैं।

(iii) धर्माचार्य का अवर्णवाद — इनकी जाति ठीक नहीं है, इनका व्यवहार ठीक नहीं है, इन्हें उचित-अनुचित का ज्ञान नहीं है। इस प्रकार गुरु के साथ अविनय-पूर्वक वर्तन करना। इतना ही नहीं, गुरु का छिद्रान्वेषण करना, उनके असद्भूत दोष कहना, सदा गुरु से प्रतिकूल रहना।

(iv) संघ का अवर्णवाद — पशुओं का भी संघ होता है, यह फिर नया कौनसा संघ है? जिसकी इतनी प्रशंसा की जाती है।

(v) साधु का अवर्णवाद — ये साधु एक-दूसरे के द्वेषी हैं। एक-दूसरे की स्पर्धा में विचरण करते हैं अन्यथा सभी साथ क्यों नहीं रहते? ये साधु धीरे-धीरे चलते हैं, इसका कारण यह है कि ये मायावी हैं, लोगों को ठगते हैं। बड़े-बड़े सेठ-साहूकारों के सामने भी ये लोग निष्ठुर बने रहते हैं, ये प्रकृति से 'क्षणे रुष्टाः क्षणे तुष्टाश्च' होते हैं। गृहस्थ के सामने खुशामद करके अपनी आत्मा की वंचना करते हैं। ये संग्रह-खोर हैं। मुँह से तो अनित्यता का ढिंढोरा पीटते हैं और वास्तव में एक तुम्बी भी फूट जाये तो शोक मनाते हैं।

अन्यत्र संघ के अवर्णवाद के स्थान पर 'सव्व साहूण' ऐसा पाठ है अर्थात् चौथा साधु का अवर्णवाद है और साधु के अवर्णवाद के स्थान पर पाँचवी मायावी भावना है अर्थात् अपने आत्म-स्वरूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को तथा दूसरों के सद्भूत गुणों को छुपाना, चोर की तरह सर्वत्र शंका करना और गूढ़-आचरण करना मायावी भावना है ॥ ६४३ ॥

अभियोगी भावना के पाँच प्रकार—

१. कौतुक २. भूमि कर्म ३. प्रश्न ४. प्रश्नाप्रश्न ५. निमित्त ।

(i) कौतुक—बालक आदि की रक्षा के निमित्त स्नान करना, हाथ ऊँचा-नीचा घुमाकर मंत्रोच्चारण करना, थू-थू करना, धूप-रखना, आग में नमक डालना । कहा है कि बालक आदि की रक्षा के लिये स्नान कराना, होम करना, नजर आदि उतारने के लिये सिर पर हाथ फेरना, नमक आग में डालना, धूप करना, विचित्र वेष धारण करना, भय पैदा करना, स्तंभन व बंधन करना ।

(ii) भूमि कर्म—वसति, शरीर, उपधि आदि को डोरे से बाँधना, उनके चारों ओर भस्म से कार निकालना (रक्षा हेतु) ।

(iii) प्रश्न—दूसरों से अपनी लाभ-हानि के सम्बन्ध में पूछना तथा स्वयं अंगूठा, काँच, तलवार, जल आदि में देखकर दूसरों को लाभ-हानि बताना ।

(iv) प्रश्नाप्रश्न—देवी द्वारा स्वप्न में या देवाधिष्ठित घण्टी आदि के माध्यम से कहा गया शुभ-अशुभ, जीवन-मरण दूसरों को बताना ।

(v) निमित्त—निमित्त देखकर लाभालाभ बताना । निमित्त = त्रैकालिक वस्तु को बताने वाला ज्ञान विशेष ।

इन पाँचों भावनाओं को यदि मुनि अपना गौरव बढ़ाने हेतु प्रयोग करे तो अभियोगी देवता के योग्य कर्म बंधन करता है ।

अपवाद—अपने स्वार्थ या गौरव से रहित मात्र शासन की उन्नति के लिये यदि मुनि निमित्त आदि का प्रयोग करता है तो कोई दोष नहीं लगता प्रत्युत शासन की प्रभावना करने से उच्च-गोत्र कर्म का बंधन करता है ॥ ६४४ ॥

आसुरी भावना के पाँच प्रकार—

१. विग्रहशीलता २. संसक्त तप ३. निमित्त कथन ४. निर्दयता ५. निरनुकंपा ।

(i) विग्रहशीलता—कलह करके पश्चात्ताप न करना । चाहे गृहस्थ हो या साधु, क्षमा माँगने वाले को क्षमा न देना ।

(ii) संसक्त तप—आहार, उपधि, शय्या आदि की प्राप्ति के लिये उपवास आदि तप करना ।

(iii) निमित्त कथन—अभिमान या अभिनिवेश वश त्रैकालिक लाभालाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण सम्बन्धी भविष्य बताना ।

(iv) निर्दयता—पृथ्वी आदि में जीव का अस्तित्व न मानते हुए निर्दयतापूर्वक उन पर चलना, बैठना । 'ये जीव हैं' ऐसा दूसरों के द्वारा कहने पर भी पश्चात्ताप न करना ।

(v) निरनुकंपा—किसी दीन-दुःखी व दयापात्र को देखकर अनुकम्पा न करना ॥ ६४५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संमोही भावना के पाँच प्रकार—

१. उन्मार्ग देशना २. मार्ग-दूषण ३. मार्ग-विप्रतिपत्ति ४. संमोह ५. मोहजनन।

(i) उन्मार्ग देशना—ज्ञानादि को दूषित न करते हुए दूसरों को धर्म से विपरीत मार्ग बताना, जैसे 'तुम्हें पूजा ही करना है तो हनुमान की पूजा कर लेना।' ऐसा उपदेश स्व-पर के लिए अहितकर है।

(ii) मार्ग-दूषण—ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप भाव-मार्ग तथा उसकी आराधना करने वाले साधुओं पर मन कल्पित आरोप लगाना।

(iii) मार्ग-विप्रतिपत्ति—रत्नत्रय के मार्ग को असत्य बताते हुए जमाली की तरह आंशिक उन्मार्ग का प्रतिपादन करना।

(iv) संमोह—अति गहन वीतराग प्ररूपित धर्म को समझ न पाने के कारण भ्रमित होना व अन्य धर्मों के अनेकविध आडम्बर देखकर उनके प्रति आकृष्ट होना।

(v) मोहजनन—सहज भाव से अथवा माया से दूसरों को अन्य-धर्म का रागी बनाना। ऐसे आत्मा को बोधि की प्राप्ति नहीं होती।

ये पच्चीस भावना सम्यक् चारित्र की बाधक होने से अशुभ हैं अतः साधुओं को इन भावनाओं का त्याग करना चाहिये। इनके त्याग से सम्यक् चारित्र का लाभ होता है॥ ६४६॥

७४ द्वार : महाव्रत—

पंचवओ खलु धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमयाण जिणाणं चउव्वओ होइ विन्नेओ ॥६४७॥

—गाथार्थ—

महाव्रतों की संख्या—**प्रथम और अन्तिम जिनेश्वर के मुनियों का आचार धर्म पाँच महाव्रत रूप है। मध्यम बावीस तीर्थंकरों का धर्म चार महाव्रत रूप है॥६४७॥**

—विवेचन—

महाव्रत = चारित्र धर्म। महाव्रत के ५ प्रकार हैं—

(i) प्राणातिपातविरमणव्रत	:	हिंसा का सर्वथा त्याग
(ii) मृषावाद विरमणव्रत	:	असत्य का सर्वथा त्याग
(iii) अदत्तादान विरमणव्रत	:	चोरी का सर्वथा त्याग
(iv) मैथुनविरमणव्रत	:	अब्रह्म का सर्वथा त्याग
(v) परिग्रह परिमाण व्रत	:	मूर्च्छा का सर्वथा त्याग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेष—प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के शासन में पाँच महाव्रत होते हैं शेष बावीस तीर्थंकर के शासन में चौथे व पाँचवें महाव्रत को एक मानने से चार ही महाव्रत होते हैं। क्योंकि धर्म नियमों का प्रतिपादन तत्कालीन आराधक आत्माओं के स्वभाव के अनुरूप किया जाता है तथा आराधकों का स्वभाव काल-स्वभाव पर आधारित होता है। कालभेद से आत्मा तीन प्रकार के हैं—१. ऋजु जड़ २. वक्र जड़ और ३. ऋजु प्राज्ञ।

१. ऋजु जड़— ऋजु = सरल, जड़ = पूर्वापर के विचार से शून्य, मात्र दूसरों के कथनानुसार करने वाला। प्रथम तीर्थंकर के समय में ऐसे आत्मा होते हैं। उदाहरणार्थ ऋषभदेव परमात्मा के शासन के कुछ मुनि गौचरी हेतु गाँव में गये। वापस लौटने में बहुत समय लगा। गुरु ने पूछा—महानुभाव! आज गौचरी में इतना समय क्यों लगा? सरलमना शिष्यों ने कहा—गुरुदेव! गौचरी जाते हुए आज हम नटों का नृत्य देखने लग गये थे। गुरु ने उपालंभ देते हुए कहा—राग-वृद्धि का कारण होने से साधु को नटों का नृत्य नहीं देखना चाहिये। शिष्यों ने गुरु आज्ञा शिरोधार्य की। दूसरे दिन गौचरी लाने में पुनः देर लगी। आने पर गुरु ने देरी का कारण पूछा। सरलता से शिष्यों ने बताया—गुरुदेव! आज हम नटी का नृत्य देखने लग गये थे। गुरु ने कहा—मैंने तुम्हें नृत्य देखने का मना किया था फिर तुम क्यों रुके? सरल होने से शिष्य बोले—भगवन्! आपने हमें नटों का नृत्य देखने का मना किया था, न कि नटी का। उनकी सरलता देखकर गुरु ने कहा—वत्स! नट का नृत्य देखने का निषेध करने पर अति-राग का कारण होने से नटी का नृत्य देखना तो सुतराम् निषिद्ध है। तब शिष्यों ने कहा—अब नहीं देखेंगे। इस प्रकार के हैं ऋजु जड़ आत्मा।

२. वक्र जड़—वक्र = कपट, जड़ = मूर्ख या अविवेकी, जो कपट और अविवेक दोनों से युक्त हो, वे वक्र जड़ हैं। जैसे भगवान महावीर के शासन के जीव। उदाहरण पूर्व की तरह। किन्तु इतना अन्तर है कि नट का नृत्य देखने का गुरु के द्वारा निषेध करने पर भी जब वे नटी का नृत्य देखकर आते हैं और गुरु उन्हें पूछते हैं, तब वे गुरु पर ही आक्षेप लगाते हुए कहते हैं कि आपने हमें नट का नृत्य देखने का ही मना किया था, न कि नटी का। इसमें हमारा दोष ही क्या है?

३. ऋजु प्राज्ञ—ऋजु = सरल, प्राज्ञ = पूर्वापर का चिंतन करने वाला। बावीस तीर्थंकरों के शासन के मुनि ऐसे होते हैं। दृष्टान्त पूर्ववत् किन्तु इतना अन्तर है कि नट का नृत्य देखने का गुरु द्वारा निषेध करने के बाद वे स्वयं समझ जाते हैं कि नटी का नृत्य भी मुनि को नहीं देखना चाहिये। इनकी प्रबुद्धता को देखते हुए उनके लिये चौथा और पाँचवाँ महाव्रत एक कर दिया गया। वे समझते हैं कि अपरिगृहीता स्त्री का भोग नहीं हो सकता, अतः चौथा व्रत पाँचवें व्रत में अन्तर्भूत हो जाता है। किन्तु प्रथम तीर्थंकर के साधु ऋजुजड़ होने से बहुत समझाने पर समझते हैं और भगवान् महावीर के साधु वक्र-जड़ होने से नियम का पालन करने में कमजोर पड़ते हैं। वे नियम में तर्क-वितर्क करके अधिक से अधिक अपवाद सेवन करने का प्रयास करते हैं। भगवान ऋषभदेव और भगवान महावीर के शासन में मुनिलोग यह न समझें कि भगवान ने चार-महाव्रत बताकर स्त्री-सेवन की छूट दी है। इसलिए ब्रह्मचर्य महाव्रत, पाँचवें-अपरिग्रह महाव्रत से अलग बताया गया॥ ६४७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७५ द्वार : कृतिकर्म—

चत्तारि पडिक्कमणे किइकम्मा तिण्णि हुंति सज्झाए।
पुव्वण्हे अवरण्हे किइकम्मा चउदस हवंति ॥६४८॥

—गाथार्थ—

७५ : दैनिक वन्दन की संख्या—**प्रतिक्रमण के चार और स्वाध्याय के तीन, कुल सात वन्दन पूर्वाह्न के और इसी प्रकार सात वन्दन अपराह्न के होते हैं। दोनों मिलकर १४ वन्दन होते हैं ॥६४८॥**

—विवेचन—

कृतिकर्म : वन्दन

प्रतिक्रमण में चार—

१. आलोचन वंदन (तृतीय आवश्यक में)
२. क्षामणक वंदन (अब्भुट्ठिओं से पूर्व)
३. आचार्यादि सकल संघ के लिये वंदन (आयरिय उवज्झाय में)
४. प्रत्याख्यान वंदन (छः आवश्यक में)

स्वाध्याय के तीन—

१. स्वाध्याय की प्रस्थापना करते समय (योगोद्वहन में)।
२. स्वाध्याय प्रवेदन करते समय।
३. स्वाध्याय के पश्चात्।

कालग्रहण, उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा आदि के वंदन स्वाध्याय वंदन के अन्तर्भूत हैं। अतः अलग से नहीं कहे।

सात प्रातः + सात सायं = चौदह। पूर्वोक्त चौदह वंदन प्रतिदिन उपवास कर्त्ता के हैं। आहार करने वाले के अपराह्न में प्रत्याख्यान लेते समय एक वंदन और अधिक होने से पन्द्रह वंदन होते हैं॥ ६४८॥

७६ द्वार : क्षेत्र-चारित्र-संख्या—

तिण्णि य चारित्ताइं बावीसजिणाण एरवयभरहे।
तह पंचविदेहेसुं बीयं तइयं च नवि होई ॥६४९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—गाथार्थ—

क्षेत्रों में चारित्र संख्या—**बावीस तीर्थंकरों के काल में तथा पाँच महाविदेह में तीन चारित्र होते हैं। इस काल में तथा महाविदेह में दूसरा और तीसरा चारित्र नहीं होता। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के काल में सामायिक आदि पाँचों ही चारित्र होते हैं॥६४९॥**

—विवेचन—

	क्षेत्र	समय	चारित्र संख्या
(i)	पाँच भरत पाँच ऐरवत	● बावीस तीर्थंकर के समय में	सामायिक, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात-चारित्र।
(ii)	पाँच भरत पाँच ऐरवत	● प्रथम व चरम तीर्थंकर के समय में	सामायिक, सूक्ष्मसंपराय, यथाख्यात, छेदोपस्थापनीय और परिहारविशुद्धि चारित्र।
(iii)	पाँच महाविदेह	● सर्वकाल में	सामायिक, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात चारित्र।

यद्यपि सभी चारित्र सामायिक चारित्रपूर्वक होते हैं, किन्तु मोहनीय कर्म के क्षयोपशम की विचित्रता से ये भेद किये गये हैं॥ ६४९॥

७७ द्वार : स्थितकल्प—

सिज्जायरपिंडंमि य चाउज्जामे य पुरिसजेट्ठे य।
किइकम्मस्स य करणे ठिइकप्पो मज्झिमाणंतु॥६५०॥

—गाथार्थ—

स्थितकल्प—**१. शय्यातरपिंड, २. चार महाव्रत, ३. पुरुष ज्येष्ठ, ४. कृतिकर्म—ये चार मध्यमजिन कालीन स्थितकल्प हैं॥६५०॥**

—विवेचन—

स्थित = सतत आचरण करने योग्य, कल्प = साधु-समाचारी।

सामान्यतः १० प्रकार का है:—

१. अचेलक	५. मासकल्प	९. कृतिकर्म
२. औद्देशिक	६. पर्युषणाकल्प	१०. चार महाव्रत (प्रथम व अन्तिम जिन के ५ महाव्रत हैं।)
३. प्रतिक्रमण	७. शय्यातरपिंड	
४. राजपिंड	८. पुरुषप्रधानधर्म	

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- प्रथम और अन्तिम जिन के साधुओं के द्वारा सतत आसेवनीय होने से यह दस प्रकार का कल्प स्थित-कल्प कहलाता है। प्रथम व अन्तिम जिन के मुनियों की तरह बाईस जिन के साधुओं के भी शय्यातर पिंड, चार-महाव्रत, पुरुष-प्रधान धर्म और कृति-कर्म ये चार कल्प तो सतत आसेवनीय हैं, शेष अचेलत्व आदि छः में भजना है अतः उनकी अपेक्षा से ये चार स्थित कल्प हैं व शेष छः अस्थित कल्प हैं।
- शय्यातर पिंड ग्रहण करने का सभी तीर्थंकरों ने निषेध किया है। अतः सभी के लिये स्थित कल्प है। बाईस तीर्थंकरों का धर्म चार महाव्रत रूप है, क्योंकि वे स्त्री को परिग्रह में गिनते हैं। किन्तु स्त्री को अलग गिनने से प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर का धर्म पाँच महाव्रत रूप है।
- प्रथम व अन्तिम जिन के साधु-साध्विओं का बड़ा-छोटापन बड़ी दीक्षा की अपेक्षा से गिना जाता है। बावीस तीर्थंकरों के साधु-साध्वियों में बड़ा-छोटापन दीक्षा-पर्याय से ही गिना जाता है। सभी साधु-साध्वी पर्याय ज्येष्ठ को वन्दन करते हैं। यह कृतिकर्म कल्प है। साध्वी की अपेक्षा यह विशेष है कि पर्याय ज्येष्ठ भी साध्वी पुरुष की प्रधानता होने से आज के दीक्षित भी मुनि के द्वारा वन्दनीय नहीं होती। इस प्रकार शय्यातर आदि चारों ही कल्प सभी तीर्थंकर के मुनियों द्वारा सतत आसेवनीय होने से स्थित कल्प है।

स्त्री में अनेक दोषों की सम्भावना रहती है। जैसे—स्त्री स्वभाव से तुच्छ होने के कारण जल्दी गर्वित बन जाती है। पराभव से नहीं डरती। इस प्रकार माधुर्य से वश होने वाली स्त्री में अन्य भी अनेक दोषों की सम्भावना रहती है॥ ६५०॥

७८ द्वार : अस्थित-कल्प—

आचेलक्कुद्देसिय पडिक्कमणे रायपिंड मासेसु।
पज्जुसणाकप्पंमि य अट्ठियकप्पो मुणेयव्वो॥६५१॥
आचेलक्को धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमगाण जिणाणं होइ सचेलो अचेलो वा॥६५२॥
मज्झिमगाणं तु इमं कडं जमुद्दिस्स तस्स चेवत्ति।
नो कप्पइ सेसाणं तु कप्पइ तं एस मेरत्ति॥६५३॥
सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स व पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमयाण जिणाणं कारणजाए पडिक्कमणं॥६५४॥
असणाइचउक्कं वत्थपत्तकंबलयपायपुंछणए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निवपिंडंमि न कप्पति पुरिमअंतिमजिणजईणं ॥६५५॥
पुरिमेयरतित्थकराण मासकप्पो ठिओ विणिद्दिट्ठो।
मज्झिमगाण जिणाणं अट्ठियओ एस विण्णेओ ॥६५६॥
पज्जोसवणाकप्पो एवं पुरिमेयराइभेएणं।
उक्कोसेयरभेओ सो नवरं होइ विन्नेओ ॥६५७॥
चाउम्मासुक्कोसो सत्तरि राइंदिया जहन्नो उ।
थेराण जिणाणं पुंण नियमा उक्कोसओ चेव ॥६५८॥

—गाथार्थ—

अस्थितकल्प—१. सचेलक, २. औद्देशिक, ३. प्रतिक्रमण, ४. राजपिंड, ५. मासकल्प ६. पर्युषणकल्प—ये छः कल्प अस्थित हैं॥६५१॥

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर का अचेलक धर्म है। शेष बाईस तीर्थंकरों का धर्म दोनों प्रकार का है—सचेलक और अचेलक॥६५२॥

बाईस तीर्थंकरों के मुनियों का यह कल्प है कि जिस मुनि को उद्देश करके आहार आदि बनाया हो उसी को वह नहीं कल्पता, शेष मुनियों को कल्पता है। उनकी यही मर्यादा है॥६५३॥

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के मुनियों का सप्रतिक्रमण धर्म है पर बाईस तीर्थंकरों के साधु कारण उपस्थित होने पर ही प्रतिक्रमण करते हैं, अन्यथा नहीं॥६५४॥

प्रथम और अन्तिम जिन के मुनियों को राजपिंड सम्बन्धी अशनादि चार, वस्त्र, पात्र, कंबल तथा पादपूँछन लेना नहीं कल्पता॥६५५॥

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के मुनियों के लिये मासकल्प स्थित कल्प कहा है। किन्तु मध्यम तीर्थंकरों के मुनियों के लिये मासकल्प अस्थितकल्प बताया है॥६५६॥

प्रथम, अन्तिम और मध्यम जिनेश्वरों के मुनियों के लिये पर्युषणाकल्प, मासकल्प की तरह ही समझना चाहिये। पर जघन्य और उत्कृष्ट के भेद से पर्युषणाकल्प दो प्रकार का है॥६५७॥

स्थविरकल्पी मुनियों का पर्युषणाकल्प उत्कृष्टतः चार मास का एवं जघन्यतः सत्तर दिन का है। किन्तु जिनकल्पियों का पर्युषणाकल्प नियम से उत्कृष्ट ही होता है॥६५८॥

—विवेचन—

अस्थित = बाईस तीर्थंकरों के मुनियों के लिये जिनका पालन अनिवार्य नहीं होता ऐसा **कल्प** = साधु-समाचारी।

१. **अचेलक**—वस्त्ररहित अथवा जीर्ण-शीर्ण वस्त्र वाला। व्यक्ति के सम्बन्ध से धर्म भी आचेलक्य कहलाता है। अचेल दो प्रकार के होते हैं:—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(i) अविद्यमानवस्त्र—वस्त्र रहित जैसे, देवताओं द्वारा दिये गये देवदूष्य वस्त्र के चले जाने के बाद तीर्थंकर परमात्मा वस्त्र रहित हो जाते हैं

(ii) विद्यमानवस्त्र—तीर्थंकर के अतिरिक्त सभी साधु यद्यपि वस्त्र धारण करते हैं तथापि उनके वस्त्र अल्प मूल्यवाले एवं जीर्ण-शीर्ण होने से वस्त्र होते हुए भी वे निर्वस्त्र ही कहलाते हैं। उदाहरण के तौर पर पहनी हुई साड़ी सर्वथा जीर्ण-शीर्ण होने से पहनने वाली को सामान्यतः यही कहते सुना है कि-"हम निर्वस्त्र हैं हमें वस्त्र चाहिये।" प्रथम व अन्तिम जिन के मुनि ऋजुजड़ व वक्रजड़ होने से उनके लिये मूल्यवान वस्त्र ग्रहण करना सर्वथा निषिद्ध है। उनके लिये तो श्वेत व जीर्ण-शीर्ण वस्त्र ग्रहण करने की ही अनुज्ञा है।

- बाईस तीर्थंकर के मुनि ऋजु-प्राज्ञ होने से उन्हें मूल्यवान एवं सर्व रंग के वस्त्र पहनने की अनुज्ञा है। इस प्रकार वे सवस्त्र (मूल्यवान वस्त्रवाले) और निर्वस्त्र (जीर्ण प्रायः वस्त्रवाले) दोनों होते हैं। अतः यह अस्थित-कल्प है॥ ६५२॥

२. **औद्देशिक**—साधु के निमित्त बनाया हुआ आहारादि आधा-कर्मी दोष युक्त होता है। ऐसा आहार प्रथम और अन्तिम जिन के मुनियों को सर्वथा नहीं कल्पता किन्तु बाईस तीर्थंकर के मुनियों का यह आचार है कि जिसके लिये बनाया हो, उसे ही नहीं कल्पता। अन्य मुनि उसका उपयोग कर सकते हैं। अतः यह भी अस्थित-कल्प है। तत्कालीन जीवों की योग्यता के भेद से मर्यादा में भेद किया गया॥ ६५३॥

३. **प्रतिक्रमण**—बाईस तीर्थंकर के साधु दोष लगते हैं तो ही प्रतिक्रमण (षडावश्यक रूप तथा इरियावहिया रूप) करते हैं, अन्यथा नहीं। किन्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के साधु दोष लगे या न लगे नियमित प्रतिक्रमण करते हैं। इस प्रकार यह भी अस्थित कल्प है। बाईस तीर्थंकरों के मुनिलोग ऋजुप्राज्ञ होने से प्रायः निरतिचार संयम वाले होते हैं। कदाचित् अतिचारों का सेवन हो भी जाये तो तुरन्त प्रतिक्रमण कर लेते हैं और शुद्ध हो जाते हैं। जैसे रोग होते ही चिकित्सा करने वाले शीघ्र ही रोगमुक्त बन जाते हैं॥ ६५४॥

४. **राजपिण्ड**—चक्रवर्ती, मांडलिक राजा आदि के घर का अशन-पान-खादिम-स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कम्बल और पाद पोंछन ये आठ प्रकार का पिंड बाईस तीर्थंकरों के मुनियों को ग्रहण करना कल्पता है, किन्तु ऋजुजड़ या वक्रजड़ होने से प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के मुनियों को लेना नहीं कल्पता। इस अपेक्षा से यह अस्थित कल्प है।

राजपिण्ड ग्रहण करने में दोष—

(i) भीड़ भरे राजकुल में जाते आते परस्पर टकराने से अथवा साधु को अपशकुन रूप मानकर कोई राजपुरुष क्रुद्ध होकर मुनि के पात्र तोड़ दे, मुनि को मारे-पीटे इत्यादि।

(ii) राजा मुनि को चोर, लुच्चा, हत्यारा समझकर कुल, गण, संघ को हानि पहुँचावे।

(iii) लोग निन्दा करे कि 'ये लोग कैसे हैं? जो निन्दनीय राजपिंड को भी नहीं छोड़ते।' स्मृति में भी राजपिंड को निन्दनीय मानते हुए बताया है कि—'हे युधिष्ठिर! राजपिंड का उपयोग करने वाले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ब्राह्मणों का भीगे हुए बीजों की तरह पुनर्जन्म नहीं होता। अर्थात् भीगे हुए बीज की जैसे उत्पादक शक्ति नष्ट हो जाती है, वैसे ब्राह्मणों का ब्राह्मणत्व ही नष्ट हो जाता है'॥ ६५५॥

५. **मास-कल्प**—शीतोष्ण काल में एक क्षेत्र में साधु अधिक से अधिक एक मास ठहर सकते हैं। चातुर्मास के सिवाय निष्कारण एक क्षेत्र में इससे अधिक ठहरना साधु को नहीं कल्पता। यह मास-कल्प है। बाईस तीर्थंकरों के साधु, जिनकल्पी और महाविदेह के साधुओं के मास-कल्प का कोई नियम नहीं होता। वे एक स्थान पर एक वर्ष भी रह जाते हैं और वर्षारहित काल हो तो चातुर्मास में भी विहार कर लेते हैं, किन्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के मुनि मास-कल्प नियत करते हैं अन्यथा संयम में दोष लगने की सम्भावना रहती है—

(i) शय्या या शय्यातर के साथ राग होना।

(ii) लोग-निन्दा करें कि यह मुनि घर का मोह छोड़कर दूसरों के घर के मोह में फँस गये हैं इसलिए विहार नहीं करते।

(iii) विहार करने से भव्य आत्माओं का जो उपकार हो सकता है, वह नहीं होता।

(iv) दूसरे क्षेत्र में रहे हुए गुणी-पुरुषों के वन्दनादि का लाभ अथवा अपने सम्मान का लाभ नहीं मिलता।

(v) सुविहित चारित्र धर्म का पालन नहीं होता।

(vi) विहार करते हुए अनेक देशों में भ्रमण करने से अनेक प्रकार के तथ्य अर्थात् लौकिक व लोकोत्तर व्यवहार का ज्ञान देखने और सुनने को मिलता है। एक स्थान में रहने वाले इनसे वंचित रहते हैं।

(vii) जिनाज्ञा की विराधना होती है। कहा है—'मासकल्प को छोड़कर अन्य विहार आगम-विरुद्ध है।' **बृहत्कल्प भाष्य** में कहा है कि—बाईस जिन के मुनि दोषों के अभाव में पूर्व क्रोड़ वर्ष तक एक स्थान में रह सकते हैं। यदि विहार भूमि जीव-जंतु व कीचड़ रहित हो तो चातुर्मास में भी विहार कर सकते हैं। कारण हो तो मासकल्प पूर्ण किये बिना ही विहार कर जाते हैं। जिनकल्पिकों का व महाविदेह के मुनियों का भी यही आचार है।

अपवाद—अन्यक्षेत्र, अकालग्रस्त, उपद्रवग्रस्त अथवा रोगाक्रान्त हो, संयम के अनुकूल न हो, शरीर के लिये आहार-पानी की दृष्टि से अनुकूल न हो, रोगी की सेवा व अध्ययन का प्रबल कारण हो तो एक क्षेत्र में एकमास से अधिक भी रहना कल्पता है। ऐसी स्थिति में यद्यपि बाह्य मासकल्प नहीं होता पर वसति परिवर्तन व एक ही वसति में स्थान परिवर्तन द्वारा भाव मासकल्प अवश्य होता है। बाईस तीर्थंकर के मुनि ऋजुप्राज्ञ होने से एक स्थान पर अधिक ठहरे तो भी दोषों की सम्भावना नहीं रहती॥ ६५६॥

६. **पर्युषणा-कल्प**—परि = सर्वथा, वसन = रहना विधिपूर्वक, कल्प = आचार अर्थात् पर्युषणं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्बन्धी मुनियों का आचार पर्युषणा कल्प है। अर्थात् आत्मरमणता कराने वाले मुनियों का आचार विशेष।

१. ऊणोदरी करना।
२. एक को छोड़कर शेष सभी विगय का त्याग करना।
३. पीठ-फलक-संथारा आदि का ग्रहण करना।
४. मात्रा आदि के लिये मात्रक ग्रहण करना।
५. पूर्व ग्रहण किये हुए राख, पाषाणखंड आदि का त्याग करके नये ग्रहण करना।
६. केश-लोच करना।
७. दीक्षा न देना।
८. वर्षाकालीन आराधना में सहायक उपकरणों को दुगुना ग्रहण करना तथा चातुर्मास लगने के बाद नये उपकरण ग्रहण न करना।
९. पाँच कोश से उपरान्त जाने-आने का त्याग करना इत्यादि वर्षाकाल का समाचार है।

बाईस तीर्थंकरों के मुनि इनका पालन अनियमित करते हैं अतः ये अस्थित कल्प है। प्रथम और अन्तिम जिन के मुनि इनका पालन नियमित रूप से करते हैं। पर्युषणा-कल्प जघन्य और उत्कृष्ट भेद से दो प्रकार का है—

(i) जघन्यतः भादवा सुद पाँचम से कार्तिक पूर्णिमा तक सत्तर अहोरात्रि पर्यन्त पर्युषणा कल्प करते हैं। यह पर्युषणा कल्प प्रथम व अन्तिम जिन के स्थविर-कल्पी मुनियों के होता है।

(ii) उत्कृष्टतः आषाढ़ पूर्णिमा से लेकर कार्तिक पूर्णिमा तक पर्युषणा-कल्प करते हैं। जिन कल्पियों के निश्चित रूप से चार महिने का ही पर्युषणा-कल्प होता है, क्योंकि जिन कल्पियों का आचार निरपवाद है॥ ६५७-६५८॥

७९ द्वार : चैत्य-पंचक—

भत्ती मंगलचेइय निस्सकड अनिस्सकडचेइयं वावि।
सासयचेइय पंचममुवइट्ठं जिणवरिंदेहि॥६५९॥
गिहि जिणपडिमाए भत्तिचेइयं उत्तरंगघडियंमि।
जिणबिंबे मंगलचेइयंति समयन्नुणो बिंति॥६६०॥
निस्सकडं जं गच्छस्स संतियं तदियरं अनिस्सकडं।
सिद्धाययणं च इमं चेइयपणगं विणिद्दिट्ठं॥६६१॥
नीयाइं सुरलोए भत्तिकयाइं च भरहमाईहिं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निस्सानिस्सकयाइं मंगलकयमुत्तरंगंमि ॥६६२ ॥
वारत्तयस्स पुत्तो पडिमं कासीय चेइए रम्मे ।
तत्थ य थली अहेसी साहम्मिय चेइयं तं तु ॥६६३ ॥

—गाथार्थ—

७९ : चैत्यपंचक—१. भक्तिचैत्य, २. मंगलचैत्य, ३. निश्राकृतचैत्य, ४. अनिश्राकृतचैत्य तथा ५. शाश्वतचैत्य—इस प्रकार जिनेश्वरों ने पाँच प्रकार के चैत्य बताये हैं ॥६५९ ॥

सिद्धान्तविदों ने कहा है कि गृह मन्दिर में विराजित प्रतिमा भक्तिचैत्य है। दरवाजे के ऊपर के भाग में खुदी हुई (लगाई हुई) जिन प्रतिमा मंगलचैत्य है। गच्छ विशेष के जिनालय में विराजमान प्रतिमा निश्राकृत चैत्य है। जहाँ सभी गच्छवाले आकर आराधना करते हैं ऐसे जिनालय में विराजमान प्रतिमा अनिश्राकृत है। शाश्वत प्रतिमायें शाश्वत चैत्य हैं। इस प्रकार चैत्य पंचक कहलाते हैं ॥६६०-६६१ ॥

शाश्वत चैत्य देवलोक में हैं। भरत महाराजा आदि के द्वारा बनाये गये चैत्य भक्तिचैत्य हैं। भक्तिचैत्य दो प्रकार के हैं—निश्राकृत और अनिश्राकृत। दरवाजे के ऊपर बनाया गया मंगलचैत्य है। वारत्तकमुनि के पुत्र ने सुन्दर चैत्यगृह बनाकर उसमें पिता-मुनि की मूर्ति विराजित की जो स्थली के नाम से प्रसिद्ध हुई वह साधर्मिक चैत्य है ॥६६२-६६३ ॥

—विवेचन—

चैत्य = जिन प्रतिमा, मन्दिर। चैत्य के पाँच भेद हैं।

१. भक्ति चैत्य
२. मंगल चैत्य
३. निश्राकृत चैत्य
४. अनिश्राकृत चैत्य
५. शाश्वत चैत्य ॥ ६५९ ॥

१. भक्ति चैत्य—प्रतिदिन त्रिकालपूजन, वन्दन आदि के लिये घरमन्दिर में प्रतिष्ठापित यथोक्तलक्षण सम्पन्न जिन-प्रतिमा भक्ति चैत्य है।

२. मंगल चैत्य—गृहद्वार के ऊपरी बारशाख में मंगल हेतु बनाई गई जिन प्रतिमा मंगल चैत्य है। मथुरा नगरी में प्रत्येक घर के द्वार पर जिन प्रतिमा बनवाने की परम्परा थी अन्यथा वह घर ही गिर जाता था। स्तुति में वर्णन आता है कि "जिस नगरी के प्रत्येक घर के द्वार पर मंगल हेंतु पार्श्वनाथ परमात्मा की प्रतिमा बनाई जाती थी उस नगरी के दर्शन पुण्यहीन आत्मा नहीं कर सकते।"

३. निश्राकृत चैत्य—गच्छ विशेष से सम्बन्धित मन्दिर, प्रतिमा आदि, जहाँ वही गच्छ प्रतिष्ठा आदि करवा सकता है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी वहाँ कुछ नहीं करा सकता वह निश्राकृत चैत्य है।

४. अनिश्राकृत चैत्य—जहाँ सभी गच्छ के लोग प्रतिष्ठा, दीक्षा, मालारोपण आदि कार्य कर सकते हों वह अनिश्राकृत चैत्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. **शाश्वत चैत्य**—शाश्वत जिन मन्दिर शाश्वत चैत्य है। अथवा अन्य प्रकार से भी चैत्य पंचक होते हैं।

१. शाश्वत चैत्य—देवलोक सम्बन्धी सिद्धायतन, मेरुशिखर, कूट, नन्दीश्वर, रुचकवरद्वीप के चैत्य।

२. निश्राकृत भक्ति चैत्य—भरत आदि के द्वारा बनाये गये भक्ति चैत्य।

३. भक्ति चैत्य—निश्राकृत व अनिश्राकृत दो प्रकार के हैं।

४. मंगल चैत्य—मथुरा नगरी के गृहद्वारों के ऊपरी भाग पर बनाई गई मंगल मूर्तियाँ॥ ६६०-६६२॥

५. साधर्मिक चैत्य—स्वधर्मी की प्रतिमा। जैसे वारत्तक मुनि के पुत्र ने अपने रमणीय देवगृह में वारत्तक मुनि की प्रतिमा विराजमान की थी। उसके लिये रूढ़ शब्द 'स्थली' है।

कहानी—

वारत्तक नगर के राजा का नाम अभयसेन तथा मन्त्री का नाम वारत्तक था। एकदा धर्मघोष मुनि मंत्री के घर भिक्षा के लिये पधारे। मंत्री-पत्नी ने मुनि को वहोराने के लिए खीर से भरा पात्र उठाया। उठाते समय पात्र में से घृत मिश्रित खीर का एक बिन्दु जमीन पर गिर गया। परमात्मा द्वारा बताई गई भिक्षाविधि के अनुसार भिक्षा ग्रहण करने में प्रयत्नशील महात्मा धर्मघोष मुनि ने उस भिक्षा को छर्दित दोषयुक्त जानकर खीर नहीं वहोरी और मंत्री के घर से यूं ही लौट गये। हाथी पर बैठे हुए वारत्तक मंत्री ने यह सब देखा और विचार किया कि मुनि ने मेरे घर की भिक्षा क्यों नहीं ली? वह इस प्रकार सोच ही रहा था कि इतने में जमीन पर गिरे हुए घृत बिन्दु पर मक्खियाँ भिनभिनाने लगीं। थोड़ी देर बाद मक्खियों पर गिरोली झपटने लगी। गिरोली को देखकर गिरगिट झपटा...उस पर बिल्ली झपटी... बिल्ली पर कुत्ता झपटा, यह देखकर दूसरे कुत्ते ने उस कुत्ते को दबोचा। परस्पर दोनों कुत्तों में भिडन्त हो गई। यह देखकर अपने-अपने कुत्तों के पक्ष में उनके मालिक भी मैदान में कूद पड़े। उनके बीच झगड़ा छिड़ गया। यह देखकर वारत्तक मंत्री समझ गया कि घी की इतनी सी बूँद का जमीन पर गिरना कितने बड़े पाप का कारण है! बस, इसी कारण पापभीरु महात्मा ने मेरे घर से भिक्षा ग्रहण नहीं की। कितना महान् है भगवान का धर्म? वीतराग परमात्मा के सिवाय ऐसा धर्म बताने में कौन समर्थ हो सकता है? आज से मेरे भी वे ही देव हैं। उनके द्वारा उपदिष्ट अनुष्ठान ही मेरे द्वारा करणीय है। इस प्रकार सोचते.....सोचते उसे संसार से वैराग्य हो गया, शुभ ध्यान की लौ लग गई और मंत्री को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। देवता ने उसे साधुवेष अर्पित किया और वारत्तक मंत्री मुनि बन गये। दीर्घकाल पर्यन्त संयम का पालन कर आराधना के बल से केवलज्ञान प्राप्त किया व अन्त में सिद्ध बने।

उन्हीं वारत्तक मुनि के पुत्र ने पितृप्रेम से प्रेरित होकर रजोहरण, मुहपत्ति आदि साधु योग्य उपकरणों से युक्त पिता-मुनि की प्रतिमा बनवाकर रम्य देवालय में स्थापित की। वहाँ 'दानशाला' भी खुलवाई। ऐसे स्थान आगमिक भाषा में 'साधर्मिक स्थली' कहलाते हैं॥ ६६३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८० द्वार : पुस्तक-पंचक—

गंडी कच्छवि मुट्ठी संपुडफलए तहा छिवाडी य।
एयं पोत्थयपणगं वक्खाणमिणं भवे तस्स ॥६६४॥
बाहल्लपुहुत्तेहिं गंडीपोत्थो उ तुल्लगो दीहो।
कच्छवि अंते तणुओ मज्झे पिहुलो मुणेयव्वो ॥६६५॥
चउरंगुलदीहो वा वट्टागिइ मुट्ठिपुत्थगो अहवा।
चउरंगुलदीहो च्चिय चउरंसो होई विन्नेओ ॥६६६॥
संपुडगो दुगमाई फलया वोच्छं छिवाडिमित्ताहे।
तणुपत्तूसियरूवो होइ छिवाडी बुहा बेंति ॥६६७॥
दीहो वा हस्सो वा जो पिहुलो होई अप्पबाहल्लो।
तं मुणियसमयसारा छिवाडिपोत्थं भणंतीह ॥६६८॥

—गाथार्थ—

पुस्तक पंचक—१. गंडी, २. कच्छपी, ३. मुष्टी, ४. संपुटफलक तथा ५. छेदपाटी—इस प्रकार पुस्तक के पाँच भेद हैं। जिनकी व्याख्या निम्न है ॥६६४॥

जिसकी मोटाई-चौड़ाई तुल्य और लम्बाई अधिक है वह गंडी पुस्तक है। जिसके दोनों छोर पतले और मध्य भाग विस्तृत हो वह कच्छपी पुस्तक है। जो चार अंगुल परिमाण लंब गोल है अथवा जो चार अंगुल लंबी और मोटी है वह मुष्टी पुस्तक है। जिसके दोनों ओर काष्ठ की पाटी या पुट्ठे लगे हों वह संपुटफलक पुस्तक है। अल्पपृष्ठ युक्त और ऊँचाईवाली पुस्तक छेदपाटी पुस्तक है। छेदपाटी पुस्तक का अन्य लक्षण भी है जिस पुस्तक का विस्तार दीर्घ अथवा ह्रस्व हो पर मोटाई अल्प हो वह छेदपाटी पुस्तक है ॥६६५-६६८॥

—विवेचन—

आकार-प्रकार एवं उपयोग के भेद से पुस्तक के पाँच प्रकार हैं।

१. **गंडिका पुस्तक**—जिस पुस्तक की चौड़ाई व मोटाई समान हो पर लम्बाई अधिक हो अर्थात् जो पुस्तक समचतुरस्र लम्बी हो वह गंडिका पुस्तक है। जैसे ताड़पत्रीय प्रतियां।

२. **कच्छपी पुस्तक**—जिस पुस्तक के दोनों किनारे पतले हों पर मध्य भाग मोटा हो वह कच्छपी पुस्तक है। अर्थात् जिस पुस्तक के दोनों छोर लंबे, गोल व तीखे हों।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. **मुष्टिका पुस्तक**—चार अंगुल लम्बी व गोलाकार पुस्तक मुष्टिका पुस्तक है अथवा चार अंगुल लम्बी व चार अंगुल मोटी चौकोर पुस्तक मुष्टिका है। जैसे गुटकाकार पुस्तक।

४. **संपुटफलक**—व्यापारियों की हिसाब की बही के समान जिस पुस्तक के दोनों ओर जिल्द बँधी हुई हो वह संपुटफलक पुस्तक है।

५. **छेदपाटी पुस्तक**—जो पुस्तक लम्बाई में अधिक या न्यून हो, चौड़ाई में ठीक-ठीक हो तथा मोटाई में अल्प हो वह छेटपाटी पुस्तक है। (ताड पत्र के ग्रन्थ)

पुस्तकों के इन भेदों का वर्णन बुद्धिकल्पित नहीं है वरन् **निशीथचूर्णि** के अनुसार यहाँ बताया गया है॥ ६६४-६६८॥

८१ द्वार : दंड-पंचक—

लट्ठी तहा विलट्ठी दंडो य विदंडओ य नाली अ।
भणियं दंडयपणगं वक्खाणमिणं भवे तस्स ॥६६९॥
लट्ठी आयपमाणा विलट्ठी चउरंगुलेण परिहीणा।
दंडो बाहुपमाणो विदंडओ कक्खमित्तो उ ॥६७०॥
लट्ठीए चउरंगुल समूसिया दंडपंचगे नाली।
नइपमुहजलुत्तारे तीए थग्घिज्जए सलिलं ॥६७१॥
बज्झइ लट्ठीए जवणिया विलट्ठीए कत्थइ दुवारं।
घट्टिज्जई ओवस्सयतणयं तेणाइरक्खट्ठा ॥६७२॥
उउबद्धम्मि उ दंडो विदंडओ घिप्पए वरिसयाले।
जं सो लहुओ निज्जइ कप्पंतरिओ जलभएणं ॥६७३॥
विसमाइ वद्धमाणाइं दस य पव्वाइं एगवन्नाइं।
दंडेसु अपोल्लाइं सुहाइं सेसाइं असुहाइं ॥६७४॥

—गाथार्थ—

दंडपंचक—१. यष्टि, २. वियष्टि, ३. दंड, ४. विदंड और ५. नाली—ये दंड के पाँच प्रकार हैं। इनका स्वरूप आगे बताया जायेगा॥६६९॥

१. आत्मप्रमाण दंड यष्टि कहलाता है। २. यष्टि से चार अंगुल न्यून दंड वियष्टि कहलाता है। ३. स्कंध प्रमाण दंड कहलाता है। ४. कक्षा पर्यंत लम्बा विदंड कहलाता है तथा ५ यष्टि से चार अंगुल ऊँचा नालिका है। यह नदी आदि उतरते समय जल का माप करने में उपयोगी होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। यष्टि पर्दा बाँधने में उपयोगी है। वियष्टि, चोर आदि से रक्षा करने के लिये उपाश्रय के द्वार को बजाने के लिये आवश्यक है। शीतोष्ण काल में गौचरी आदि के लिये बाहर जाते समय दंड तथा वर्षाकाल में विदंड ले जाया जाता है, कारण विदंड छोटा होने से अप्काय जीवों की विराधना से बचने के लिये उसे कल्प के भीतर डाला जा सकता है ॥६७०-६७३॥

जिस दंड में पर्व विषम संख्या में हों, उत्तरोत्तर प्रवर्धमान परिमाण वाले हो, सभी पर्व एक रंग के हो, जो दंड भीतर से ठोस हो, वह शुभ होता है। शेष दंड अशुभ है। दश पर्ववाला दंड भी शुभ माना जाता है ॥६७४॥

—विवेचन—

१. यष्टि — साढ़े तीन हाथ लम्बी देह-प्रमाण होती है।

प्रयोजन — गौचरी करते समय गृहस्थ न देखे इसलिये यवनिका बाँधने में उपयोगी।

२. वियष्टि — यष्टि से चार अंगुल न्यून प्रमाण वाली।

प्रयोजन — उपाश्रय के दरवाजे को बन्द करके अटकाने में उपयोगी। चोर आदि के भय के समय दरवाजा बजाकर उन्हें भगाने में उपयोगी।

३. दण्ड — कंधे से लेकर नीचे तक लम्बा।

प्रयोजन — शीतोष्ण काल में गौचरी जाते समय द्विपद, चतुष्पद अथवा शिकारी पशुओं का निवारण करने के लिये, जंगल में व्याघ्र-चोरादि के उपद्रव के समय सुरक्षा के लिये, तथा वृद्ध व्यक्ति को चलते समय सहारा लेने के लिए आवश्यक है।

४. विदण्ड् — ऊँचाई में कक्षा प्रमाण।

प्रयोजन — वर्षा काल में गौचरी जाते समय उपयोगी। छोटा होने से वर्षा के समय कामली के भीतर रखा जा सकता है जिससे अप्काय की विराधना न हो।

५. नालिका — शरीर से चार अंगुल अधिक प्रमाणवाली अर्थात् तीन हाथ सोलह अंगुल प्रमाणवाली।

प्रयोजन — विहार करते समय नदी, द्रह में उतरना पड़े तो इसके द्वारा पानी मापा जाता है॥ ६६९-६७३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लक्षण—

शुभ	अशुभ	पर्व	फल	पर्व	फल
१. ऊपर-ऊपर प्रवर्धमान पर्व वाली। २. एक ही वर्ण के पर्व वाली। ३. निबिड़ (छिद्ररहित) पर्व वाली। ४. स्निग्ध कोमल और गोलाकार।	टेढ़ा-मेढ़ा, कीड़ा लगा हुआ। रेखा-युक्त, पोला, जला हुआ। स्थान पर ही सूखा हुआ। तथा विविध वर्ण वाला दंड अशुभ है।	१ २ ३ ४ ५	प्रशंसा कलह लाभ मरण कलह-निवारण	६ ७ ८ ९ १०	अत्यन्त रोग आरोग्य असम्पति यश सर्वसंपति

८२ द्वार : तृण-पंचक—

तणपणगं पुण भणियं जिणेहिं जियरागदोसमोहेहिं।
साली वीहिय कोद्दव रालय रन्ने तणाईं च ॥६७५॥

—गाथार्थ—

८२ : तृण पंचक—राग, द्वेष और मोह विजेता तीर्थंकरों ने पाँच प्रकार के तृण बताये हैं। **१. शाली-घास, २. व्रीहि-घास, ३. कोद्रव का घास, ४. कंगु का घास तथा ५. श्यामाक का घास ॥६७५॥**

—विवेचन—

तृण = पलाल, घास

(i)	शालिक	—	कमलशालि आदि चावलों का भूसा या घास।
(ii)	व्रीहिक	—	व्रीहि आदि धान्य का भूसा या घास।
(iii)	कोद्रव	—	कोद्रव का भूसा या घास।
(iv)	रालक	—	कंगु धान्य विशेष का भूसा या घास।
(v)	अरण्यतृण	—	श्यामाक आदि धान्यों का भूसा या घास॥ ६७५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८३ द्वार : चर्म-पंचक—

अय एल गावि महिसी मिगाणमजिणं च पंचमं होइ।
तलिगा खल्लग वद्धे कोसग कित्ती य बीयं तु ॥६७६॥

—गाथार्थ—

८३ : चर्म पंचक—१. **बकरा, २. भेड़, ३. गाय, ४. भैंस तथा ५. हिरन का चर्म अथवा दूसरी तरह से भी चर्म पंचक है। यथा १. उपानह, २. चर्म के पादरक्षक, ३. चर्म निर्मित डोरी, ४. चर्म की थैली एवं ५. कृति ॥६७६॥**

—विवेचन—

चर्म = चमड़ा, पाँच प्रकार का है।

(i) बकरी का चर्म **(ii)** भेड़ का चर्म **(iii)** गाय का चर्म
(iv) भैंस का चर्म **(v)** हरिण का चर्म अथवा दूसरी तरह से चर्म के पाँच भेद हैं—

(i) तलिग — एक तलिये वाले जूते यदि न मिले तो दो, तीन व चार तलिये वाले भी ग्रहण किये जा सकते हैं।

प्रयोजन — किसी सार्थ के साथ रात्रि को विहार करना पड़े तो कंटकादि से पाँव की सुरक्षा के लिये तथा कोई मुनि अति सुकुमाल हो, नंगे पैर चलने में असमर्थ हो तो जूतों का उपयोग किया जा सकता है। कारणवश उन्मार्ग में जाना पड़े और वहाँ हिंसक पशुओं के भय से शीघ्रगमन करना पड़े तो काँटे इत्यादि से पाँव की रक्षा के लिये जूते पहनना आवश्यक है।

(ii) खल्लक — विशेष प्रकार के जूते। (पूरे पाँव को ढकने वाले)

प्रयोजन — जिसके पाँव सर्दी के कारण अधिक फट जाते हों, जिससे चलने में अत्यन्त कठिनाई होती हो अथवा सुकोमल होने से बिवाइयाँ फटने के कारण जो नंगे पैर नहीं चल सकते हों तो 'खल्लक' का उपयोग किया जा सकता है।

(iii) वर्धा — सीने का उपकरण विशेष। वधा = वाघर, चमड़े की डोरी

प्रयोजन — फटे हुए उपानह आदि को सीने में उपयोगी।

(iv) कोशक — चर्ममय उपकरण (छोटा थैला)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयोजन — किसी के पाँव के नख आदि में चोट लग गई हो तो चलने में सुविधा रहे इसलिये अंगुलि आदि में पहना जाता है अथवा नखरदनिका (नाखून काटने का उपकरण विशेष) रखने के लिये उपयोगी होती है।

(v) कृत्ति — मोटा-चमड़ा।

प्रयोजन — रास्ते में दावानल से बचने के लिये मोटा चमड़ा रखना आवश्यक है, ताकि आग में से निकलना हो तो चमड़ा ओढ़कर निकला जा सकता है तथा अत्यधिक सचित्त पृथ्वीकाय वाले स्थान पर जीवों की रक्षा के लिये बिछाया जा सकता है। कदाचित् उपधि चोरों ने लूट ली हो तो प्रावरण के अभाव में चर्म ओढ़ा भी जा सकता है॥ ६७६ ॥

८४ द्वार : दूष्य-पंचक—

अप्पडिलेहियदूसे तूली उवहाणगं च नायव्वं।
गंडुवहाणाऽऽलिंगिणि मसूरए चेव पोत्तमए ॥६७७ ॥
पल्हवि कोयवि पावार नवयए तह य दाढिगाली य।
दुप्पडिलेहियदूसे एयं बीयं भवे पणगं ॥६७८ ॥
पल्हवि हत्थुत्थरणं कोयवओ रूयपूरिओ पडओ।
दढगाली धोयपोत्ती सेस पसिद्धा भवे भेया ॥६७९ ॥
खरडो तह वोरुट्ठी सलोमपडओ तहा हवइ जीणं।
सदसं वत्थं पल्हविपमुहाणमिमे उ पज्जाया ॥६८० ॥

—गाथार्थ—

दूष्यपंचक—**जिसका पडिलेहण नहीं हो सकता वह अप्रत्युपेक्षित वस्त्र है। उसके पाँच भेद हैं—१. तूली, २. उपधानक, ३. गंडोपधानिका, ४. आलिंगिनी तथा ५. मसूरक। जिसकी पडिलेहण अच्छी तरह से नहीं हो सकती वह दुष्प्रत्युपेक्षित वस्त्र है। जैसे १. पल्हवी, २. कोयविक, ३. प्रावारक, ४. नवतक तथा ५. दृढ़गालि ॥६७७-६७८ ॥**

हाथी की पीठ पर डाला जाने वाला वस्त्र (झूल) पल्हवी है। रूई से भरी हुई रजाई आदि कोयविक है। धोया हुआ रेशेदार वस्त्र दृढ़गाली है। शेष दोनों वस्त्र प्रसिद्ध हैं। खरड़, वोरुट्ठी, सलोमपट, जीन एवं दशीवाला वस्त्र—ये क्रमशः पल्हवी आदि के पर्याय हैं ॥६७९-६८० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

दूष्य = वस्त्र। यह दो प्रकार का है—(१) अप्रत्युपेक्ष और (२) दुष्प्रत्युपेक्ष।

(१) **अप्रत्युपेक्ष**—जिसकी प्रतिलेखना न की जा सके। इसके पाँच भेद हैं—

(i) तूली = सूती या रेशमी रूई से भरा हुआ बिस्तर या गादी।
(ii) उपधानक = हंस के रोम या तूल आदि से भरा हुआ तकिया।
(iii) गण्डोपधानिका = तकिये के ऊपर गाल के नीचे रखने का छोटा तकिया।
(iv) आलिंगिणी = घुटने या कोहनी के नीचे रखने का छोटा तकिया।
(v) मसूरक = बूर से भरा हुआ कपड़े या चर्म का आसन।

(२) **दुष्प्रत्युपेक्ष**—जिसकी प्रतिलेखना अच्छी तरह से न की जा सके। इसके पाँच भेद हैं—

(i) पल्हवी = हाथी, ऊँट आदि पर डालने योग्य अल्प या अधिक रोएं वाला वस्त्र जिसे देश्यभाषा में 'खरड़' कहते हैं।
(ii) कोयविक = रूई से भरी हुई रजाई आदि नेपाल के कम्बल आदि का भी इसी में अन्तर्भाव होता है। इसे 'वोरुट्टी' कहते हैं।
(iii) प्रावारक = रोएं वाला वस्त्र तथा मोटा वस्त्र, किसी के अनुसार प्रावारक का अर्थ मोटा कंबल है। यह सलोम पट भी कहलाता है।
(iv) नवतक = बिछाने का ऊनी वस्त्र जिसे भाषा में जीण कहते हैं। (जीण = घोड़े पर डाली जाती है)।
(v) दृढ़गाली = ब्राह्मणों के पहनने योग्य रेशे वाला वस्त्र जिसे उत्तरासन, दुपट्टा या खेस कहते हैं॥ ६७७-६८०॥

८५ द्वार : अवग्रह-पंचक—

देविंद राय गिहवइ सागरि साहम्मि उग्गहे पंच।
अणुजाणाविय साहूण कप्पए सव्वया वसिउं॥६८१॥
अणुजाणावेयव्वो जईहिं दाहिणदिसाहिवो इंदो।
भरहंमि भरहराया जं सो छक्खंडमहिनाहो॥६८२॥
तह गिहवईवि देसस्स नायगो सागरित्ति सेज्जवई।
साहम्मिओ य सूरी जंमि पुरे विहियवरिसालो॥६८३॥
तप्पडिबद्धं तं जाव दोण्णि भासे अओ जईण सया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अणणुन्नाए पंचहिवि उग्गहि कप्पइ न ठाउं ॥६८४॥

—गाथार्थ—

पाँच प्रकार का अवग्रह—१. देवेन्द्र, २. राजा, ३. गृहपति, ४. सागारिक एवं ५. स्वधर्मी इन पाँच से सम्बन्धित ५ अवग्रह हैं। मुनि को इनके अवग्रह में अनुमति लेकर ही रहना कल्पता है॥६८१॥

१. दक्षिण दिशा के अधिपति इन्द्र की, २. भरत क्षेत्र में छः खण्ड के अधिपति भरत राजा की, ३. देश के नायक-गृहपति की, ४. शय्यातर गृहस्थ की तथा ५. स्वधर्मी-आचार्य की, जिसका चातुर्मास उस क्षेत्र में हुआ हो। दो महीने तक वह क्षेत्र उनका अवग्रह माना जाता है—इन पाँचों की अनुमति के बिना इनके अवग्रह में रहना साधु को नहीं कल्पता है॥६८२-६८४॥

—विवेचन—

अवग्रह—क्षेत्र, निवासयोग्य वसति आदि।

१. देवेन्द्र का अवग्रह—तिरछा लोक के मध्य-भाग में मेरु-पर्वत है। मेरु के ऊपरवर्ती मध्यभाग में ऊपर से नीचे प्रतररूप और तिरछी एक प्रदेश वाली एक श्रेणि है। यह श्रेणि लोक को उत्तर और दक्षिण दो भागों में विभक्त करती है। दक्षिण भाग का अधिपति शक्रेन्द्र है और उत्तरभाग का अधिपति ईशानेन्द्र है। लोक के दक्षिण भाग में रहने वाले मुनि शक्रेन्द्र से अवग्रह की याचना करे और उत्तर में रहने वाले मुनि इशानेन्द्र से अवग्रह की याचना करे।

२. राजा का अवग्रह—चक्रवर्ती, राजा आदि के स्वामित्व वाला क्षेत्र। चक्रवर्ती का स्वामित्व ऊपर क्षुल्लहिमवान् पर्वत पर चौंसठ योजन पर्यंत, सूत्रकार के मतानुसार बहत्तर योजन तक है। नीचे गर्त, अवटादि पर्यंत, तिरछा मागध आदि तीर्थ के उस भाग तक जहाँ तक कि चक्रवर्ती का बाण जाता है। जिस क्षेत्र में जिस समय जो चक्रवर्ती हो उसके अधिपत्य वाले क्षेत्र में मुनि को जो भी व्यवहार करना हो उसके लिये स्वामी का अवग्रह अवश्य माँगना चाहिये।

३. गृहपति का अवग्रह—देश का स्वामी गृहपति कहलाता है। जिस देश में मुनि रहते हों, उस देश के अधिपति का अवग्रह माँगकर ही वहाँ ठहरना चाहिये।

४. सागारिक का अवग्रह—शय्यातर-वसति का मालिक। वसति जिस मालिक की हो उसके पास जाकर वसति की याचना करने के बाद ही वसति में ठहरना चाहिये।

यह तिर्यग् दिशा सम्बन्धी अवग्रह है। अधोदिशा में वापी, कूप, भूमिगृह तक गृहपति और सागारिक दोनों का अवग्रह माना जाता है। ऊर्ध्वदिशा में पर्वत, वृक्ष के शिखर पर्यन्त पूर्वोक्त दोनों का अवग्रह माना जाता है।

५. साधर्मिक का अवग्रह—साधर्मिक = समान धर्म वाले। जैसे, कोई मुनि किसी गाँव में गया और वहाँ कोई आचार्य आदि पहले से स्थित है और उन्होंने चार्तुमास भी वहीं किया हो तो उस गाँव के आस-पास का क्षेत्र उनका अवग्रह कहलाता है। काल से चातुर्मास के बाद दो महिने तक उनका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवग्रह कहलाता है। अगर इस बीच अन्य मुनि को वहाँ रहना हो तो पूर्व-स्थित मुनि या आचार्य की अनुज्ञा लेना आवश्यक है। उनकी अनुज्ञा के बिना उस क्षेत्र में उतने काल तक रहना नहीं कल्पता।

अपवाद—विशेष अवग्रह से सामान्य अवग्रह बाधित हो जाते हैं अर्थात्

१. राजा के अवग्रह में देवेन्द्र का अवग्रह बाधित होता है (वहाँ राजा की आज्ञा लेना कल्पे)।

२. गृहपति के अवग्रह में राजा का अवग्रह बाधित होता है (वहाँ गृहपति की आज्ञा लेना कल्पे)।

३. सागारिक के अवग्रह में गृहपति का अवग्रह बाधित होता है (वहाँ सागारिक की आज्ञा लेना कल्पे)।

४. साधर्मिक के अवग्रह में सागारिक का अवग्रह बाधित होता है (वहाँ साधर्मिक की आज्ञा लेना कल्पे)॥ ६८१-६८४॥

८६ द्वार : परीषह—

खुहा पिवासा सी उण्हं दंसा चेला रइत्थिओ।
चरिया निसीहिया सेज्जा अक्कोस वह जायणा ॥६८५॥
अलाभ रोग तणफासा मल सक्कार परीसहा।
पन्ना अन्नाण सम्मत्तं इइ बावीसं परीसहा ॥६८६॥
दंसणमोहे दंसणपरीसहो पन्नऽनाण पढमंमि।
चरमेऽलाभपरीसह सत्तेव चरित्तमोहम्मि ॥६८७॥
अक्कोस अरइ इत्थी निसीहियऽचेल जायणा चेव।
सक्कारपुरक्कारे एक्कारस वेयणिज्जंमि ॥६८८॥
पंचेव आणुपुव्वी चरिया सेज्जा तहेव जल्ले य।
वह रोग तणफासा सेसेसुं नत्थि अवयारो ॥६८९॥
बावीसं बायरसंपराय चउद्दस य सुहुमरायम्मि।
छउमत्थवीयरागे चउदस एक्कारस जिणंमि ॥६९०॥
वीसं उक्कोसपए वट्टंति जहन्नओ य एक्को य।
सीओसिणचरियनिसीहिया य जुगवं न वट्टंति ॥६९१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—गाथार्थ—

बावीस परीषह—**१. क्षुधा, २. पिपासा, ३. शीत, ४. उष्ण, ५. दंश, ६. अचेलक, ७. अरति, ८. स्त्री, ९. चर्या, १०. नैषेधिकी, ११. शय्या, १२. आक्रोश, १३. वध, १४. याञ्चा, १५. अलाभ, १६. रोग, १७. तृणस्पर्श, १८. मल, १९. सत्कार, २०. प्रज्ञा, २१. अज्ञान और २२. सम्यक्त्व—ये बावीस परीषह हैं ॥६८५-६८६ ॥**

कर्म में परीषह—**दर्शनमोहनीय में दर्शनपरीषह का, ज्ञानावरणीय में प्रज्ञा और अज्ञान का, अन्तराय में अलाभ का, चारित्रमोह में आक्रोश, अरति, स्त्री, नैषेधिकी, अचेलक, यांचा, सत्कार का, वेदनीय में प्रथम पाँच, चर्या, शय्या, मल, वध, रोग और तृणस्पर्श का समवतार होता है। शेष कर्मों के उदय में परीषह नहीं होते ॥६८७-६८९ ॥**

गुणस्थान में परीषह—**बादर संपराय गुणस्थान पर्यंत बावीस परीषह होते हैं, सूक्ष्म संपराय गुणस्थान, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में चौदह परीषहों का उदय होता है तथा तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में ग्यारह परीषहों का उदय होता है ॥६९० ॥**

काल में परीषह—**एक साथ उत्कृष्ट से २० परीषह और जघन्य से एक परीषह होता है। क्योंकि शीत और उष्ण, चर्या और नैषेधिकी परस्पर विरोधी होने से एक साथ उदय में नहीं आते ॥६९१ ॥**

—विवेचन—

परीषह = संयम मार्ग में दृढ़ व स्थिर रहने हेतु तथा कर्म-निर्जरार्थ जो सहन किये जाये वे 'परीषह' कहलाते हैं। वे बावीस हैं। इनमें से 'दर्शन' और 'प्रज्ञा' परीषह संयम मार्ग में स्थिरता लाने हेतु हैं तथा शेष बीस परीषह कर्म-निर्जरार्थ हैं।

२२ परीषह—

१. क्षुधा	७. अरति	१३. वध	१९. सत्कार
२. पिपासा	८. स्त्री	१४. याञ्चा	२०. प्रज्ञा
३. शीत	९. चर्या	१५. अलाभ	२१. अज्ञान
४. उष्ण	१०. नैषेधिकी	१६. रोग	२२. सम्यक्त्व।
५. दंश	११. शय्या	१७. तृण-स्पर्श	
६. अचेल	१२. आक्रोश	१८. मल	

१. क्षुधा—सभी वेदनाओं में क्षुधा (भूख) की वेदना महान् मानी गई है। उस वेदना को जो शान्तभाव से सहन करता है अथवा अकल्प्य आहार का त्याग करते हुए पेट की आँतों को जलाने वाली भूख को आगम-संमत विधि से आहार ग्रहण कर शान्त करता है वह आत्मा क्षुधा परीषह पर विजय प्राप्त करता है। जो भूख की वेदना से व्याकुल बनकर अकल्प्य आहार ग्रहण कर लेता है वह क्षुधा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परीषह से पराजित हो जाता है। यह परीषह सभी परीषहों में अत्यन्त दुस्सह होने से सर्वप्रथम माना गया है।

२. **पिपासा**—क्षुधा-वेदना से पीड़ित मुनि उसे शान्त करने के लिये ऊँच-नीच कुलों में गौचरी के लिये भ्रमण करते हैं। इस परिश्रम के कारण प्यास लगने की अधिक सम्भावना रहती है अतः क्षुधा परीषह के बाद दूसरा स्थान 'पिपासा' को दिया गया। जल पीने की इच्छा 'पिपासा' है। प्यास व्यक्ति को अत्यन्त व्याकुल बना देती है। ऐसी स्थिति में भी शीतल जल की इच्छा न रखते हुए शान्त भाव से प्यास को सहन करना पिपासा परीषह है। यदि कल्प्य जल मिलता हो तो प्राणिमात्र के प्रति दयालु मुनि के द्वारा उसे ग्रहण कर अपनी पिपासा शान्त कर शरीर की रक्षा अवश्य करनी चाहिये।

३. **शीत**—भ्रमणशील मुनि को सर्दी व गर्मी दोनों सहन करनी पड़ती है अतः तीसरा व चतुर्थ स्थान शीत-उष्ण परीषह को दिया गया। गत्यर्थक 'श्यैङ्' धातु से 'क्त' प्रत्यय व संप्रसारण आदि होकर 'शीत' शब्द बनता है। कड़ाके की सर्दी पड़ने पर भी वस्त्ररहित या जीर्णवस्त्र वाला मुनि अकल्पनीय वस्त्र ग्रहण करने की चाह नहीं करे प्रत्युत शान्तभाव से सर्दी सहन करे। आगमोक्त विधि से यदि एषणीय वस्त्र मिल जाये तो अवश्य ग्रहण करे किन्तु शीत से पीड़ित बनकर अग्नि आदि का आरम्भ न करावे, न अन्य द्वारा प्रज्वलित आग का सेवन करे। इस प्रकार मुनि शीत परीषह का विजेता बनता है।

४. **उष्ण**—ऋतुजन्य ताप व उससे तप्त शिला... आँगन ... मार्ग आदि मुनि के लिये परीषहरूप है। गर्मी से पीड़ित होने पर भी जलावगाहन, स्नान, पंखे की हवा आदि की लेशमात्र भी इच्छा न करे। न धूप से बचने के लिये छाते आदि का उपयोग करे। इस प्रकार मुनि उष्ण परीषह को शान्तिपूर्वक सहन करे।

५. **दंश**—जो काटते हैं जैसे; डांस, मच्छर, मांकण आदि 'दंश' कहलाते हैं। वे परीषहरूप है। डांस, मच्छर आदि के काटे जाने पर भी मुनि स्थान छोड़ने की इच्छा न करे। मच्छर आदि को भगाने के लिये धूआँ आदि का प्रयोग भी न करे, न ही पंखा चलाकर उन्हें भगाने का प्रयास करे। इस प्रकार दंशपरीषह पर मुनि विजय प्राप्त करता है।

६. **अचेल**—जिनकल्पियों के लिये निर्वस्त्र रहना अचेल परीषह है किन्तु स्थविरकल्पी मुनियों के लिए अल्पमूल्य वाले अथवा जीर्ण-शीर्ण वस्त्र धारण करना अचेल परीषह है। जिस प्रकार दुराचारी व्यक्ति 'अशील' कहलाता है, वैसे अल्पमूल्य वाले व जीर्ण-शीर्ण वस्त्र वाले मुनि वस्त्र सहित होने पर भी 'अचेलक' कहलाते हैं। मुनि अल्पमूल्य वाले, फटे-पुराने, मैले-कुचेले वस्त्र धारण करे, परन्तु मन में कभी ऐसा विचार नहीं करे कि मेरे पास पूर्वगृहीत अच्छे वस्त्र नहीं हैं। ऐसा कोई दाता नहीं मिल रहा है। अच्छा होता पहले ही वस्त्र ग्रहण कर लेता, आदि। उत्तम वस्त्र मिलने की सम्भावना से आनन्दित भी न बने।

७. **अरति**—संयम में स्थिरता रति है उससे विपरीत स्थिति 'अरति' है। अरति परीषह रूप है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विहार करते हुए या एक स्थान में रहते हुए यदि मुनि को संयम के प्रति अरति उत्पन्न हो जाये तो मन को धैर्यपूर्वक संयम में जोड़ने का पूर्ण प्रयास करे पर खिन्न न बने।

८. **स्त्री**—तीव्रराग का हेतु होने से स्त्री स्वयं परीषह रूप है। राग के हेतुभूत स्त्री की गति, हाव-भाव, इंगित, आकार को देखने पर भी जो मुनि यह सोचता है कि—त्वचा, रक्त, मांस, मेद, स्नायु, हड्डियाँ, नाडियाँ व छिद्रों से दुर्गन्धयुक्त नारी के रूप को स्तन, नयन, योनि, मुख व जंघाओं में मुग्ध बना आत्मा ही रूप मानता है। नारी के रूप में मुग्ध आत्मा की विडंबना तो देखो, वैसे थूंक की घृणा करता है पर नारी के अधर का पान करता है। स्तन व योनि के 'स्राव' की घृणा करता है पर सेवन भी उन्हीं का करता है। वह स्त्री परीषह पर विजय प्राप्त करता है अर्थात् वह नारी के अंग-प्रत्यंग, गति-स्थान, हाव-भाव, विलास, चित्ताकर्षक चेष्टाओं से कदापि आकृष्ट नहीं होता। यहाँ तक कि मोक्ष मार्ग के लिये बाधा रूप नारी के प्रति रागरंजित दृष्टि तक नहीं डालता।

९. **चर्या**—द्रव्य और भाव से चर्या के दो भेद हैं। ग्रामानुग्राम विचरण करना द्रव्य चर्या है। अनासक्त भाव से एक स्थान में रहना भावचर्या है। यही मुनि के लिये परीषह रूप है। अप्रमत्त होकर ग्राम, नगर, कुलादि में अनियमित वास करते हुए अनासक्त भाव से मासकल्पी विहार करने वाला मुनि चर्या परीषह का विजेता है।

१०. **नैषेधिकी**—सावद्यकर्म व गमनागमनादि क्रिया का निषेध करना प्रयोजन है जिसका वह 'नैषेधिकी' है। शून्यघर, श्मशान आदि में सभी सावद्य क्रियाओं का त्यागकर शान्तभाव से स्वाध्याय करना नैषेधिकी परीषह है। अन्यमते—नैषेधिकी के स्थान पर 'निषद्या' ऐसा पाठ मानते हैं, उसका अर्थ है कि स्त्री, पशु, नपुंसक आदि से रहित स्थान में रहते हुए अनुकूल व प्रतिकूल उपसर्गों को शान्तिपूर्वक सहन करना निषद्या परीषह है।

११. **शय्या**—जहाँ और जिस पर सोते हैं वह शय्या कहलाती है जैसे उपाश्रय, संथारा आदि। उपाश्रय की भूमि सम-विषम हो, धूल कचरे वाली हो, वसति अतिशीत व अति उष्ण हो, संथारा ऊँचा-नीचा, कठिन व कोमल हो तथापि परीषह विजेता मुनि तनिक भी उद्विग्न न बने।

१२. **आक्रोश**—अनिष्ट वचन परीषह रूप है। उन्हें सहना आक्रोश परीषह है। यदि कहने वाले की बात सत्य है तो क्रोध करना व्यर्थ है? प्रत्युत वहाँ ऐसा सोचना चाहिये कि यह मेरा उपकारी है जो सही बात कहकर मुझे शिक्षा दे रहा है। मैं भविष्य में ऐसी गलती कभी नहीं करूंगा। यदि कहने वाले की बात असत्य है तो भी क्रोध करना व्यर्थ है क्योंकि उससे हमारा कोई लेना देना नहीं है। ऐसा सोचकर क्रोध न करना वरन् अनिष्ट वचन को शान्तभाव से सहन करना आक्रोश परीषह पर विजय पाना है।

१३. **वध**—ताड़न-तर्जन वध है। वही परीषह रूप है। यदि कोई दुष्ट आत्मा हाथ, एड़ी, लात, चाबुक आदि के द्वारा द्वेषवश मुनि को मारे-पीटे तो भी मुनि उस पर क्रोध न करे परन्तु शान्तभाव से उसे सहन करे व सोचे कि—पुद्गलों का उपचय रूप यह शरीर आत्मा से सर्वथा भिन्न है। आत्मा का कोई नाश नहीं कर सकता। यह तो मुझे अपने कृतकर्मों का फल ही मिला है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४. **याञ्चा**—याचना करना...प्रार्थना करना। यह भी परीषह रूप है। मुनि संयम में उपयोगी वस्त्र, पात्र, अन्न, पान, वसति आदि दूसरों से ही उपलब्ध करते हैं। यद्यपि इनकी याचना करने में मुनि को लज्जा आती है तथापि संयम का पालन करने के लिये आवश्यकता पड़ने पर मुनि को इनकी याचना अवश्य करनी चाहिये।

१५. **अलाभ**—इच्छित वस्तु की प्राप्ति लाभ है। उसका न मिलना अलाभ है। यह परीषह रूप है। याचना करने पर भी यदि इच्छित पदार्थ न मिले तो भी मुनि यह सोचकर प्रसन्न व शान्त बना रहे कि—'दूसरों के घर विपुलमात्रा में अनेक प्रकार के खादिम-स्वादिम आदि पदार्थ हैं। यह दाता की इच्छा है कि वह मुनि को दे या न दें। न देने पर ज्ञानी मुनि कुपित नहीं होते।'

१६. **रोग**—रोग रूप परीषह, रोगपरीषह है। ज्वर, खाँसी, श्वास आदि रोग होने पर भी गच्छ से निर्गत जिनकल्पी मुनि चिकित्सा नहीं करते किन्तु रोग को स्वकृत कर्म का फल मानते हुए समतापूर्वक सहन करते हैं। गच्छवासी स्थविरकल्पी मुनि लाभ-हानि का विचार कर सहन भी करते हैं और विधिपूर्वक चिकित्सा भी करवाते हैं।

१७. **तृण-स्पर्श**—तृणादि के कठोर स्पर्श को सहन करना तृणस्पर्श परीषह है। गच्छवासी या गच्छनिर्गत मुनियों के लिये परमात्मा ने छिद्ररहित तृणों के उपयोग की अनुज्ञा दी है। जिन मुनियों को तृण के उपयोग की अनुज्ञा दी है वे मुनि आर्द्रभूमि पर तृण बिछाकर उस पर संथारा व उत्तरपट्टा लगाकर सोते हैं। कभी ऐसा प्रसंग भी आता है कि चोर उपधि का अपहरण करले अथवा संथारा व उत्तरपट्टा अत्यन्त जीर्ण हो...पतला हो तो मुनि को तृण बिछाना पड़े। जिससे शरीर में चुभन-पीड़ा हो परन्तु मुनि उसे समतापूर्वक सहन करे।

१८. **मल**—पसीने के कारण जमी हुई धूल मल है। मल परीषह रूप होता है, जमा हुआ मल गर्मी की ऋतु में पसीने से आर्द्र होकर भयंकर दुर्गन्ध मारता है। इससे मन उद्विग्न बनता है पर मुनि न तो उससे उद्विग्न बने, न ही मल को दूर करने के लिये स्नानादि की अभिलाषा करे परन्तु उसे समभाव से सहन करे।

१९. **सत्कार**—आहार-पानी, वस्त्र-पात्र आदि का दान, वन्दन, अभ्युत्थान, आसन-प्रदान, सद्भूत गुणों का गान करना आदि गौरव सत्कार है। अभिमानोत्पादक होने से सत्कार भी परीषह रूप है। दूसरों से सत्कार मिलने पर मुनि गर्वित न बने तथा सत्कार न मिले तो प्रद्वेष नहीं करे।

२०. **प्रज्ञा**—जिस से वस्तु-स्वरूप का अवबोध हो वह प्रज्ञा है। अतिशय प्रज्ञा भी परीषह रूप है। मुनि अपनी तीव्र, विशिष्ट बुद्धि का गर्व न करे परन्तु ऐसा सोचकर विनम्रता व सरलता रखे कि 'विश्व में मुझसे भी अधिक अनेक प्रज्ञावान व प्रतिभा-सम्पन्न आत्मा हैं।' प्रज्ञा न हो तो खेद न करे प्रत्युत इसे कर्मफल मानकर सहन करे।

२१. **अज्ञान**—प्रज्ञा से विपरीत अज्ञान है। यह भी कष्टप्रद होने से परीषह रूप है। यदि मुनि को ज्ञान का क्षयोपशम अधिक न हो तो भी मन में खेद नहीं करे कि मैं आगम नहीं जानता, मैं मूर्ख हूँ इत्यादि। पर इसे अपने ही कर्मों का फल समझकर शान्ति रखे। विशिष्ट ज्ञान हो तो गर्वित न बने।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२२. सम्यक्त्व—वीतराग के वचनों पर श्रद्धा रखना सम्यक्त्व है। क्रियावादी, अक्रियावादी आदि विभिन्न मतवालों की बातें सुनकर श्रद्धा से विचलित न होना। यह परीषह रूप है।

आवश्यक के मतानुसार—

आवश्यक के मतानुसार २२वाँ असम्यक्त्व परीषह है। "मैं सभी पापों से विरत, महान् तपस्वी, निःस्पृह शिरोमणि हूँ तथापि धर्म-अधर्म (पाप-पुण्य), देव, नारक आदि भाव मुझे दिखाई नहीं देते। इससे लगता है कि ये सब असत्य हैं।" यह असम्यक्त्व है। इस पर विजय प्राप्त करने के लिये मुनि को यह सोचना चाहिये कि धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप स्वरूप होने से कर्मपुद्गल रूप है। उन कर्मों का परिणाम प्रत्यक्ष है अतः उससे कारण रूप धर्म-अधर्म का अनुमान किया जा सकता है। क्योंकि निष्कारण कोई कार्य नहीं होता। उदाहरणार्थ—क्षमा धर्म रूप है, क्रोध अधर्म रूप है। ये दोनों ही स्वानुभव प्रत्यक्ष हैं। यदि उन्हें असत्य मानें तो प्रत्यक्ष से विरोध होगा। अतः मानना होगा कि धर्म-अधर्म है। वैसे ही देव, अत्यन्तसुखासक्त होने से, मनुष्य लोक में उनके आगमन का कोई प्रबल कारण न होने से, दुःषमकाल के प्रभाव से मर्त्यलोक में नहीं आते, अतः इनका प्रत्यक्ष नहीं होता। नरक के जीव अत्यन्त दुःखी व कर्म परतन्त्र होने से यहाँ नहीं आ सकते। इस प्रकार असम्यक्त्व परीषह पर विजय प्राप्त करना चाहिये ॥६८५-६८६॥

परीषहों का समवतार—

परीषहों का समवतार दो प्रकार का है:—१. प्रकृति समवतार और २. गुणस्थान समवतार।

(i) **प्रकृति समवतार**—कौनसा परीषह किस कर्म के उदय का परिणाम है।

(ii) **गुणस्थान समवतार**—कौनसा परीषह किस गुणस्थान तक उदय में आता है।

- **प्रकृति समवतार—**
  - **ज्ञानावरणीय में**—प्रज्ञा व अज्ञान परीषह का समवतार होता है, क्योंकि ये दोनो ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम व उदय से जन्य हैं।
  - **वेदनीयकर्म में**—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंश, मल, वध, रोग, चर्या, शय्या, तृणस्पर्श—इन ग्यारह परीषहों का समवतार होता है, क्योंकि ये वेदनीय कर्म से जन्य हैं।
  - **दर्शनमोहनीय में**—सम्यक्त्व परीषह का अन्तर्भाव होता है।
  - **चारित्र मोहनीय में**—आक्रोश, अरति, स्त्री, नैषेधिकी, अचेल, याचना, सत्कार—इन सात परीषहों का अन्तर्भाव होता है।
  - **अन्तराय में**—अलाभ परीषह का समवतार होता है।
    - ♣ चारित्र मोह से जन्य परीषह क्रमशः क्रोध, अरति, पुरुषवेद, भय-मोह, जुगुप्सामोह, मान कषाय, लोभ कषाय के परिणाम हैं।
    - ♣ अलाभ परीषह लाभान्तराय का परिणाम है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- दर्शनावरण, आयु, नाम व गोत्र—इन चार कर्मों के उदय में कोई भी परीषह नहीं आता अत: इनमें किसी भी परीषह का समवतार नहीं होता ॥ ६८७-६८९ ॥

गुणस्थान समवतार—

९वें गुणस्थान पर्यन्त	२२ परीषह होते हैं।
१०वें, ११वें, १२वें गुणस्थान पर्यन्त	क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंश, चर्या, शय्या, वध, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, प्रज्ञा व अज्ञान परीषह होते हैं।
१३वें १४वें गुणस्थान पर्यन्त	क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंश, चर्या, वध, मल, शय्या, रोग, तृणस्पर्श परीषह होते हैं।

- १०वें गुणस्थान में मोहनीय का क्षय व उपशम हो जाने से चारित्रमोह से सम्बन्धित सात परीषह व दर्शनमोह से सम्बन्धित एक परीषह कुल आठ परीषह कम हो जाते हैं अत: ११वें और १२वें गुणस्थान में १४ परीषह ही होते हैं। १३वें और १४वें गुणस्थान में मात्र वेदनीय जन्य ११ परीषह ही रह जाते हैं। कहा है—

क्षुत्पिपासा च शीतोष्णे, दंशाश्चर्या वधो मल:।

शय्या रोगतृणस्पर्शी, जिने वेद्यस्य सम्भवात्॥ ६९० ॥

प्रश्न—एक साथ एक आत्मा को उत्कृष्ट व जघन्य से कितने परीषह सहन करने पड़ते हैं?

उत्तर—एक साथ एक आत्मा को उत्कृष्ट से २० व जघन्य से एक परीषह होता है।

प्रश्न—उत्कृष्टत: एक साथ बावीस परीषह क्यों नहीं होते?

उत्तर—शीत और उष्ण, चर्या व नैषेधिकी परस्पर विरोधी होने से एक ही समय में एक साथ नहीं हो सकते। जब शीत परीषह होता है तब उष्ण परीषह नहीं हो सकता और जब उष्ण होता है तब शीत नहीं हो सकता। ऐसे ही चर्या व निषद्या का समझना। अत: एक साथ बीस ही परीषह सम्भवित होते हैं।

प्रश्न—जैसे नैषेधिकी के साथ चर्या का विरोध है वैसे शय्या के साथ भी चर्या का विरोध होगा? ऐसी स्थिति में एक साथ २० परीषह भी कैसे होंगे?

उत्तर—चर्या के साथ शय्या का विरोध नहीं है, कारण मूत्र, पुरीषादि की बाधा में अंगों के हिलने-डुलने की सम्भावना रहती है। नैषेधिकी के साथ चर्या नहीं हो सकती, कारण—नैषेधिकी स्वाध्यायभूमि में स्थिरता रूप है।

तत्त्वार्थमते—तत्त्वार्थ के अनुसार एक साथ १९ परीषह ही होते हैं कारण चर्या, शय्या, निषद्या में से एक साथ एक ही परीषह होता है, दो नहीं होते। जैसे—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- चर्या है तो निषद्या, शय्या नहीं होती।
- निषद्या है तो चर्या, शय्या नहीं होती।
- शय्या है तो निषद्या, चर्या नहीं होती॥ ६९१ ॥

८७ द्वार : मण्डली—

सुत्ते अत्थे भोयण काले आवस्सए य सज्झाए।
संथारे चेव तहा सत्तेया मंडली जइणो ॥६९२ ॥

—गाथार्थ—

सात प्रकार की मांडली—**१. सूत्र, २. अर्थ, ३. भोजन, ४. काल, ५. आवश्यक, ६. स्वाध्याय तथा ७. संथारा—मुनियों की ये सात मांडली हैं॥६९२॥**

—विवेचन—

मांडली = क्रिया कलाप के लिये एकत्रित समूह। यह सात प्रकार की है—

(i) सूत्र मांडली, **(ii)** अर्थ मांडली, **(iii)** भोजन मांडली, **(iv)** कालग्रहण मांडली, **(v)** प्रतिक्रमण मांडली, **(vi)** स्वाध्याय मांडली, **(vii)** संथारा मांडली

इन सातों मांडली में एक-एक आयंबिल करने के बाद में प्रवेश किया जा सकता है॥ ६९२ ॥

८८ द्वार : १० व्यवच्छेद—

मण परमोहि पुलाए आहारग खवग उवसमे कप्पे।
संयमतिय केवल सिज्झणा य जंबुंमि वोच्छिन्ना ॥६९३ ॥

—गाथार्थ—

दस स्थानों का विच्छेद—**१. मनःपर्यवज्ञान, २. परमावधिज्ञान, ३. पुलाकलब्धि, ४. आहारक शरीर, ५. क्षपक श्रेणि, ६. उपशमश्रेणि, ७. जिनकल्प, ८. संयमत्रिक, ९. केवलज्ञान एवं १० सिद्धिगमन—ये दस वस्तुयें जंबूस्वामी के सिद्धिगमन के पश्चात् विच्छिन्न हो गई हैं॥६९३॥**

—विवेचन—

१. मनःपर्यवज्ञान
२. परमावधिज्ञान
३. पुलाकलब्धि
४. आहारकलब्धि
५. क्षपकश्रेणि
६. उपशमश्रेणि
७. जिनकल्प
८. संयमत्रिक (परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय, यथाख्यात)
९. केवलज्ञान
१०. सिद्धिगमन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- मूलगत 'मण' शब्द समुदाय का परिचायक होने से उसका अर्थ होता है 'मनःपर्यवज्ञान'।
- 'परमावधिज्ञान' में परम व अवधि दो शब्द हैं। परम का अर्थ है प्रकृष्ट। जिस ज्ञान के उत्पन्न होने के बाद केवलज्ञान अवश्यंभावी हो वह ज्ञान प्रकृष्ट है। अवधि अर्थात् मूर्त्तद्रव्य का अवबोधक ज्ञान विशेष।
- जंबूस्वामी के सिद्धिगमन के पश्चात् पूर्वोक्त १० वस्तुओं का अभाव हुआ।

प्रश्न—केवलज्ञान और सिद्धिगमन दोनों के विच्छेद का कथन अनावश्यक है, कारण किसी एक के विच्छेद से दूसरे का विच्छेद होना सिद्ध है। जैसे केवलज्ञान के विच्छेद से सिद्धिगमन का विच्छेद या सिद्धिगमन के विच्छेद से केवलज्ञान का विच्छेद स्वतः सिद्ध है। अतः दोनों के विच्छेद का कथन क्यों किया?

उत्तर—दोनों का ग्रहण इस बात का द्योतक है कि केवली निश्चित सिद्ध होता है व जो सिद्ध होता है वह निश्चित केवली होता है।

- निम्न तीन वस्तुयें १४ पूर्वधर स्थूलभद्र स्वामी के स्वर्गगमन के पश्चात् विच्छिन्न हुई :—

१. प्रथम संघयण, २. प्रथम संस्थान व ३. अन्तर्मुहूर्त्त काल में १४ पूर्व के चिन्तन का अपूर्व क्षयोपशम। कहा है—

'प्रथम संघयण, प्रथम संस्थान व पूर्व का उपयोग ये तीनों ही पदार्थ श्रुतकेवली स्थूलभद्र स्वामी के स्वर्गगमन के पश्चात् विच्छिन्न हुए' ॥ ६९३ ॥

८९ द्वार : क्षपकश्रेणि—

अणमिच्छमीससम्मं अट्ठ नपुंसित्थीवेयछक्कं च।
पुंवेयं च खवेई कोहाईएवि संजलणे ॥६९४॥
कोहो माणो माया लोहोऽणंताणुबंधिणो चउरो।
खविऊण खवइ संढो मिच्छं मीसं च सम्मत्तं ॥६९५॥
अप्पच्चक्खाणे चउरो पच्चक्खाणे य सममवि खवेइ।
तयणु नपुंसगइत्थीवेयदुगं खविय खवइ समं ॥६९६॥
हासरइअरइपुंवेयसोयभयजुयदुगुंछ सत्त इमा।
तह संजलणं कोहं माणं मायं च लोभं च ॥६९७॥
तो किट्टीकयअस्संखलोहखंडाइं खविय मोहखया।
पावइलोयालोयप्पयासयं केवलं नाणं ॥६९८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नवरं इत्थी खवगा नपुंसगं खविय थीवेयं ।
हासाइछगं खविउं खवइ सवेयं नरो खवगो ॥६९९ ॥

—गाथार्थ—

क्षपकश्रेणि—अनन्तानुबंधी चार, मिथ्यात्व, मिश्र एवं सम्यक्त्वमोहनीय, आठ कषाय, नपुंसक वेद, स्त्री वेद, हास्य षट्क, पुरुषवेद और संज्वलन क्रोधादि चार का क्षय करता है । ।६९४ ॥

श्रेणी करने वाला नपुंसक सर्वप्रथम अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय करके मिथ्यात्व, मिश्र एवं सम्यक्त्वमोहनीय का क्षय करता है ॥६९५ ॥

तत्पश्चात् अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण आठ कषाय का क्षय करता है। पश्चात् नपुंसकवेद और स्त्रीवेद को एक साथ क्षय करके पुनः हास्य, रति, अरति, पुरुषवेद, शोक, भय एवं जुगुप्सा इन सातों का तथा संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय करता है ॥६९६-६९७ ॥

लोभ की सर्वप्रथम असंख्य कीट्टियाँ करता है पश्चात् उन्हें क्षय करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण मोह का क्षय हो जाने से आत्मा लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान को प्राप्त करता है ॥६९८ ॥

किन्तु स्त्रीवेदी क्षपक प्रथम नपुंसक वेद को क्षय कर पश्चात् स्त्रीवेद का क्षय करता है। पुरुषवेदी क्षपक नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्यादिषट्क को क्षय करके अन्त में पुरुषवेद को क्षय करता है ॥६९९ ॥

—विवेचन—

क्षपकश्रेणि = यथायोग्य गुणस्थानों में कर्मक्षय करने की परिपाटी, क्रम ।

क्षपकश्रेणि का अधिकारी—

- आठ वर्ष से अधिक आयु वाला ।
- वज्रऋषभनाराच संघयणी ।
- शुद्धध्यानी ।
- ४-५-६ या ७ गुणस्थानवर्ती ।

यदि अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती आत्मा पूर्वधर है तो श्रेणिकाल में शुक्लध्यानी होता है । शेष सभी आत्मा श्रेणिकाल में धर्मध्यानी होते हैं । अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना—वि+संयोजना, हटाना, जुदा करना अर्थात् अनन्तानुबंधी कषाय को सत्ता से हटाना, अलग करना । विसंयोजना व क्षपणा में अन्तर है । विसंयोजित कर्मप्रकृति निमित्त पाकर पुनः सत्ता में आ सकती है पर क्षय की हुई प्रकृतियाँ पुनः सत्ता में कदापि नहीं आतीं ।

श्रेणी के अप्रतिपत्ता, चारों गति के क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि अविरति, आत्मा, देशविरति तिर्यंच अथवा मनुष्य तथा सर्वविरति मनुष्य अनंतानुबन्धी कषाय का क्षय करने के लिये सर्वप्रथम यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण व निवृत्तिकरण रूप तीन करण करते हैं । जब आत्मा अनिवृत्तिकरण में प्रवेश करता है तब अन्तरकरण के द्वारा अनन्तानुबंधी कषाय की स्थिति दो भागों में बँट जाती है । एक अन्तरकरण की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऊपरवाली स्थिति व दूसरी अन्तरकरण के नीचे की स्थिति। यहाँ आत्मा परिणाम विशुद्धि के द्वारा नीचे की आवलिकामात्र स्थिति को छोड़कर उद्वलना संक्रमण से ऊपरवर्ती स्थितिगत सम्पूर्ण अनन्तानुबंधी का क्षय करता है तथा नीचे की स्थिति गत आवलिका प्रमाण दलिक को भी स्तिबुक संक्रमण के द्वारा वेद्यमान प्रकृति में डाल देता है। इस प्रकार अनंतानुबंधी चतुष्क का क्षय करने के पश्चात् आत्मा दर्शनमोहनीय का क्षय करने के लिये पुनः तीन करण करता है। अनिवृत्तिकरण काल में वर्तमान आत्मा, पल्योपम के असंख्यातवें भाग की स्थिति वाले दर्शनत्रिक के दलिकों को छोड़कर, शेष दलिकों को उद्वलना संक्रमण के द्वारा अन्य प्रकृतियों में डाल देता है। जैसे मिथ्यात्व के दलिकों को सम्यक्त्व व मिश्र में डालता है। डालने का क्रम यह है कि प्रथम समय में अल्प, द्वितीय समय में असंख्यातगुण, तृतीय समय में उससे असंख्यातगुण, इस प्रकार क्रमशः संक्रमण करते-करते अन्तर्मुहूर्त के चरम समय में एक आवलिका प्रमाण दलिक को छोड़कर उपान्त्य समय में संक्रमित दलिक की अपेक्षा असंख्यात गुण अधिक दलिक का संक्रमण करता है। एक आवलिका प्रमाण दलिक रहता है उसे भी स्तिबुक संक्रमण के द्वारा अन्त में सम्यक्त्व में डाल देता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त में मिथ्यात्व क्षय हो जाता है। तत्पश्चात् इसी क्रम से मिश्रमोह के दलिकों को भी सम्यक्त्व में डालकर क्षय कर देता है। तदनन्तर सम्यक्त्वमोह की स्थिति को अन्तर्मुहूर्त में अपवर्तना करण द्वारा घटाकर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण शेष रखता है। उस दलिक को भी समयाधिक आवलिका प्रमाण शेष रखते हुए उदीरणा द्वारा भोगकर क्षय कर देता है। इसके बाद उदीरणा नहीं होती। समयाधिक आवलिकागत दलिक को केवल भोगकर ही क्षीण करता है। इस प्रकार आत्मा 'क्षायिक सम्यग् दृष्टि' बन जाता है।

क्षपकश्रेणि के आरम्भक दो प्रकार के आत्मा होते हैं:— १. बद्धायु (क्षपकश्रेणि के प्रारम्भ से पूर्व ही जिसका आयु बँध चुका है) व २. अबद्धायु (जिसने अभी पूर्वभव सम्बन्धी आयुष्य नहीं बाँधा है)। यदि श्रेणि आरम्भक बद्धायु है तो अनंतानुबंधी कषाय का क्षय करने के बाद कदाचित् मृत्यु हो जाये तो श्रेणि वहीं समाप्त हो जाती है और कदाचित् मिथ्यात्व का उदय हो जाये तो आत्मा पुनः अनंतानुबंधी कषाय का बंधक बन जाता है। क्योंकि अनंतानुबंधी का बीजभूत मिथ्यात्व अभी बैठा है। पर, जिस आत्मा का मिथ्यात्व क्षय हो चुका है वह आत्मा अनंतानुबंधी कषाय का पुनः बंध कदापि नहीं करता क्योंकि कारण ही नष्ट हो चुका है।

जिस आत्मा ने अनंतानुबंधी चतुष्क तथा दर्शनत्रिक का क्षय कर दिया है वह यदि अपतित परिणामी है तो मरकर अवश्य देवगति में उत्पन्न होता है। पर, पतितपरिणामी आत्मा चारों गतियों में जाता है।

बद्धायु आत्मा यदि अनंतानुबंधी चतुष्क का क्षय करने के पश्चात् काल नहीं करता तो भी दर्शनत्रिक का क्षय करके अटक जाता है पर चारित्रमोह के क्षय का प्रयास नहीं करता।

प्रश्न—अनंतानुबंधी चतुष्क व दर्शनमोहत्रिक का क्षय करके मरने वाला आत्मा कितने भव के पश्चात् मोक्ष जाता है?

उत्तर—तीसरे या चौथे भव में मोक्ष जाता है। जो आत्मा मरकर देवगति से नरकगति में जाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है वह तीसरे भव में आयु पूर्णकर मनुष्य बनता है और उसी भव में मोक्ष जाता है। पर जो आत्मा यहाँ से मरकर मनुष्य या तिर्यंच में जाता है वह युगलिक बनता है। वहाँ से निकलकर तीसरे भव में देव बनता है क्योंकि युगलिक की देवगति ही होती है। देव से निकलकर मनुष्य जीवन प्राप्त कर चौथे भव में मोक्ष जाता है।

जो बद्धायु आत्मा सप्तक के क्षीण होने पर भी काल नहीं करता तो वह कदाचित् वैमानिक देव में जाता है। कदाचित् चारित्रमोहनीय की उपशमना का प्रयत्न करता है। मनुष्यभव के सिवाय आत्मा चारित्रमोह का उपशम नहीं कर सकता।

प्रश्न—जिस आत्मा का दर्शनमोहत्रिक क्षय हो चुका है वह सम्यग्दृष्टि है या असम्यग्दृष्टि?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन के अभाव में वह सम्यग्दृष्टि कैसे होगा?

उत्तर—दर्शनमोहत्रिक में जो सम्यक्त्वमोह क्षय हुआ वह पौद्गलिक है। जिसकी मदशक्ति क्षीण हो चुकी है। मदनकोद्रव धान्य के समान जिनका मिथ्यास्वभाव चला गया है ऐसे मिथ्यात्व के पुद्गल ही सम्यक्त्वमोह रूप है। यहाँ उसी का क्षय हुआ है, न कि तत्त्वार्थश्रद्धानरूप आत्मपरिणति का। वास्तविक सम्यग्दर्शन तो यही है और ऐसा सम्यग्दर्शन दर्शनमोहत्रिक के क्षय हो जाने पर और अधिक विशुद्धतर बन जाता है। जैसे मोतियाबिंद की परत हटने से मनुष्य की दृष्टि विशुद्धतर बन जाती है। अर्थात् दर्शनमोहत्रिक के क्षय हो जाने पर आत्मानुभूति रूप निश्चय सम्यक्त्व रहने से आत्मा सम्यग्दृष्टि ही होता है।

यदि क्षपकश्रेणि का आरम्भक अबद्धायु है तो सप्तक के क्षीण होने पर विशुद्ध अध्यवसायवश निश्चित रूप से चारित्रमोह का क्षय करने हेतु प्रयत्न करता है। सर्वप्रथम वह यथाप्रवृत्ति आदि तीन करण करता है। इनका क्रम निम्नानुसार है—

- यथाप्रवृत्तिकरण.....अप्रमत्त गुणस्थान में।
- अपूर्वकरण.....अपूर्वकरण गुणस्थान में।
- अनिवृत्तिकरण.....अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में।

अपूर्वकरण गुणस्थान में स्थितिघात, रसघात आदि के द्वारा प्रत्याख्यानावरण, अप्रत्याख्यानावरण, कषाय अष्टक को आत्मा इस प्रकार क्षय करता है कि अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में उसकी स्थिति मात्र पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितनी ही शेष रहती है। अनिवृत्तिकरण के संख्याता भाग बीतने के पश्चात् स्त्यानर्द्धित्रिक, नरकगति, नरकानुपूर्वी, तिर्यग्गति, तिर्यगानुपूर्वी, चार जाति, स्थावर, आतप, उद्योत, सूक्ष्म और साधारण इन सोलह प्रकृतियों के दलिक पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितने रखकर शेष दलिकों को उद्वलना कारण के द्वारा उद्वेलित करता है। तत्पश्चात् गुणसंक्रम के द्वारा इन्हें बध्यमान प्रकृतियों में डालकर क्षीण करता है। अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, कषाय-अष्टक के सम्पूर्ण क्षय होने से पूर्व वे सोलह प्रकृतियाँ क्षय हो जाती हैं और अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् कषाय-अष्टक का क्षय होता है ऐसा सूत्र का अभिप्राय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्यमतानुसार—पहले सोलह प्रकृतियों के क्षय की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, मध्य में आठ प्रकृतियों का क्षय होता है पश्चात् सोलह प्रकृतियों का सम्पूर्ण क्षय होता है। उसके बाद अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण नोकषाय और संज्वलन चतुष्क = १३ प्रकृतियों का अन्तरकरण किया जाता है स्थापना इस प्रकार है $\frac{\Delta}{\Delta}$ अर्थात् कर्म को ऊपर नीचे दो भागों में विभक्त कर दिया जाता है। जिस प्रकृति का उदय होता है, उसकी प्रथम-स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण और शेष प्रकृतियों की प्रथम स्थिति एक आवलिका प्रमाण रहती है। अन्तरकरण क्रिया के बाद आत्मा ऊपरवर्ती स्थितिगत नपुंसक वेद के दलिक को उद्वलनाकरण के द्वारा क्षय करना प्रारम्भ करता है। (नौवे गुणस्थान में पहले नपुंसक वेद सत्ता में से नष्ट होता है अत: उसका सर्वप्रथम क्षय होना आवश्यक है। उसके क्षय की क्रिया आठवें गुणस्थान के प्रथम समय में ही प्रारम्भ हो जाती है)। क्षय होते-होते जब नपुंसक वेद का पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण अन्तिम खण्ड सत्ता में शेष रहता है तब उसे गुणसंक्रम के द्वारा बध्यमान प्रकृतियों में संक्रमित कर अन्तर्मुहूर्त में क्षय कर दिया जाता है।

नपुंसक वेद के उदय में क्षपक श्रेणी करने वाला आत्मा नपुंसक वेद की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण निम्न स्थिति को भोगकर क्षय करता है किन्तु अन्य वेद में क्षपक श्रेणि करने वाला आत्मा एक आवलिका प्रमाण निम्न स्थिति को उदयगत प्रकृति में संक्रमित कर नपुंसक वेद का सर्वथा क्षय करता है। इसी प्रकार अन्तर्मुहूर्त में स्त्रीवेद का भी क्षय हो जाता है इसके बाद हास्यादि छः प्रकृतियों को एक साथ क्षय करना प्रारम्भ करता है। क्षय के प्रारम्भ में ही हास्यादि षट्क के दलिक (ऊपरवर्ती स्थितिगत) का पुरुषवेद में संक्रमण न करके संज्वलन क्रोध में संक्रमण करता है तथा अन्तर्मुहूर्त में इसे सत्ता में से पूर्णरूपेण नष्ट कर देता है।

जिस समय हास्यादि षट्क पूर्णरूपेण सत्ता में से नष्ट होता है उसी समय पुरुषवेद की बंध, उदय, उदीरणा का विच्छेद हो जाता है और एक समय न्यून दो आवलिका प्रमाण काल में बद्ध दलिकों को छोड़कर शेष सभी दलिकों का क्षय हो जाता है। पश्चात् पुरुषवेद का विच्छेद हो जाने से आत्मा अवेदी बन जाता है।

पुरुषवेद की बंध, उदय, उदीरणा का विच्छेद होने के तुरन्त बाद आत्मा संज्वलन क्रोध के नाश का प्रयत्न करता है। पुरुषवेद के उदय के विच्छेद काल से लेकर जहाँ तक संज्वलन क्रोध का रसोदय रहता है वह काल कार्यभेद से तीन भागों में विभक्त होता है—

(i) अश्वकर्णकरणाद्धा—अपूर्व स्पर्धकों का रचनाकाल। जैसे घोड़े के कान प्रारम्भ में चौड़े व क्रमशः संकरे होते-होते अन्त में नुकीले होते हैं, वैसे ही क्रमशः अनन्तगुणहीन रसाणु वाली वर्गणाओं से अपूर्व स्पर्धकों की रचना इस काल में होने से यह अश्वकर्ण = घोड़े के कान, करणाद्धा = की तरह स्पर्धकों की रचना करने का काल है।

(ii) किट्टीकरणाद्धा—कर्मप्रकृतिगत रस, प्रदेश आदि को घटाना, अल्पकरना किट्टी है। जिस काल में यह होता है, वह किट्टीकरणाद्धा कहलाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(iii) किट्टीवेदनाद्धा—किट्टीकृत कर्मप्रकृतियों का वेदनकाल, किट्टीवेदनाद्धा है।

- अश्वकर्णकरणाद्धा में वर्तमान आत्मा अन्तरकरण की ऊपरवर्ती स्थितिगत संज्वलन कषाय के दलिकों में से प्रतिसमय अपूर्व स्पर्धकों की रचना करती है।

प्रश्न—अपूर्व-स्पर्धक का क्या अर्थ है?

उत्तर—आत्मा अपने काषायिक अध्यवसायों के द्वारा अनन्तानन्त पुद्गलों से निर्मित अनन्तानंत स्कंधों को ग्रहण करता है। उन कर्मपुद्गलगत सबसे जघन्य रसवाले परमाणु में भी सर्वजीवों से अनंतगुण अधिक रस होता है। इतने रसवाले सजातीय परमाणुओं का समुदाय 'वर्गणा' कहलाती है।

पूर्वापेक्षा एक 'रसांश' जिनमें अधिक है, ऐसे अनन्त परमाणुओं का समुदाय दूसरी वर्गणा है। दूसरी वर्गणा के परमाणुगत रस की अपेक्षा एक रसांश जिनमें अधिक है, ऐसे अनन्तपरमाणुओं का समुदाय तीसरी वर्गणा है। इस प्रकार पूर्व की अपेक्षा एक-एक रसांश जिसमें अधिक हो ऐसे अनन्तानन्त परमाणुओं का समुदाय, चौथी, पाँचवीं, छठी आदि वर्गणा होती है।

इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते अभव्य से अनंतगुण अधिक व सिद्ध के अनन्तवें भाग से अधिक रसांश वाले परमाणुओं से निष्पन्न वर्गणा अन्तिम होती है। कुल वर्गणायें सिद्ध के जीवों की अपेक्षा अनन्तवें भाग प्रमाण तथा अभव्य से अनंतगुणा हैं। इससे आगे वर्गणाएँ नहीं बनती, कारण अभव्य से अनन्तगुण रसांश वाले परमाणु की अपेक्षा से एक रसांश जिसमें अधिक हो ऐसा एक भी परमाणु नहीं मिलता।

इस प्रकार एकोत्तर बढ़ते हुए रसाणुओं की समान संख्या वाले परमाणुओं से निष्पन्न वर्गणाओं का समुदाय स्पर्धक कहलाता है। स्पर्धक का व्युत्पत्ति निष्पन्न अर्थ भी यही है कि क्रमशः एक-एक रसांश की वृद्धि के द्वारा मानों जिसमें वर्गणाएँ परस्पर स्पर्धा कर रही हों। वस्तुतः 'स्पर्धक' नाम अन्वर्थक है।

पहले स्पर्धक की अन्तिम वर्गणा के एक-एक परमाणु में जितने रसांश हैं उनकी अपेक्षा एक, दो, तीन यावत् संसारी सभी जीवों की अपेक्षा अनन्तगुण अधिक रसांश वाला एक भी परमाणु नहीं मिलता है। अतः उन परमाणुओं की वर्गणा भी नहीं बनती किन्तु प्रथम-स्पर्धक की अन्तिम वर्गणा के एक परमाणु में जितने रसांश हैं उनकी अपेक्षा संसारी सर्व जीवों से अनन्तगुण अधिक रसांश वाले परमाणु मिलते हैं। ऐसे अनंत परमाणुओं का समुदाय द्वितीय स्पर्धक की पहली वर्गणा होती है। इसकी अपेक्षा एक, दो, तीन यावत् अभव्य से अनन्तगुण अधिक रसांश वाले परमाणुओं से निष्पन्न पुद्गल-समूह दूसरी, तीसरी, चौथी यावत् अन्तिम वर्गणा होती है और इन वर्गणाओं का समुदाय 'द्वितीय स्पर्धक' कहलाता है।

इस प्रकार पूर्व-स्पर्धक की अन्तिम वर्गणा में जितने रसांश हैं उनमें एक अधिक, सर्वजीवों से अनन्तगुण रसांश वाले परमाणुओं को मिलाने पर जो समुदाय बनता है वह तृतीय स्पर्धक की पहली वर्गणा है। इस स्पर्धक की अन्तिम वर्गणा अभव्य से अनन्त गुण रसांश वाले परमाणुओं से निष्पन्न होती है। इस तरह अभव्य से अनन्तगुणी वर्गणाओं का समुदाय तृतीय स्पर्धक है ऐसे अनन्त स्पर्धकों से युक्त कर्म पुद्गल जीव प्रति समय बाँधता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन स्पर्धकों में से क्रमशः वर्गणाओं को ग्रहण करके आत्मा विशुद्धि के प्रकर्ष से उसे अनन्तगुणहीन रस वाली करता है। वर्गणा से पूर्ववत् स्पर्धक बनाता है। यही अपूर्व-स्पर्धक है, कारण ऐसे स्पर्धक पहले कभी भी नहीं बने थे।

इस काल (अश्वकरणकरणाद्धा) में पुरुषवेद के सत्तागत दलिक को एक समय न्यून दो आवलिका प्रमाण काल में गुणसंक्रम के द्वारा क्रोध में संक्रमित करता है। अन्तिम समय में सर्व संक्रम के द्वारा संक्रमित कर उसका नाश करता है।

अपूर्व-स्पर्धक निर्माण की क्रिया पूर्ण होने के पश्चात् आत्मा किट्टी-करणाद्धा में प्रवेश करता है। यहाँ संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ के ऊपरवर्ती स्थितिगत दलिकों की किट्टी बनाता है।

किट्टीकरण—पूर्व स्पर्धक व अपूर्वस्पर्धक में से क्रमशः वर्गणाओं को ग्रहण कर आत्मा अध्यवसायों की विशुद्धि के द्वारा उन्हें अनन्तगुण हीन रसवाली बनाता है तथा संख्या की अपेक्षा से महान् तारतम्य वाली वर्गणाओं को क्रमशः व्यवस्थित करता है। उदाहरणार्थ माना कि उन वर्गणाओं में १००, १०१, १०२, १०३, आदि रसांश हैं। उन रसाणुओं को आत्मविशुद्धि के द्वारा घटाकर १०, १५, २० आदि तक ले आता है और उन्हें इसी अन्तर में व्यवस्थापित करता है, यही किट्टीकरण है।

वस्तुतः ये किट्टियाँ अनन्त हैं किन्तु स्थूल भेद की अपेक्षा वर्गीकरण करने पर किट्टियाँ १२ ही होती हैं—क्रोध की तीन, मान की तीन, माया की तीन और लोभ की तीन। माना कि कुल वर्गणायें (किट्टियाँ) १ से लेकर १०० रसाणु वाली हैं। इनमें से एक रसाणु वाली किट्टियों से लेकर ३३ रसाणु वाली किट्टयों का प्रथम वर्ग, ३४ रसाणुवाली किट्टयों से लेकर ६६ रसाणुवाली किट्टियों का दूसरा वर्ग तथा ६७ रसाणु वाली किट्टियों से लेकर १०० रसाणु वाली किट्टियों का तृतीय वर्ग। इस प्रकार क्रोधादि चारों कषाय की किट्टियों का तीन-तीन भाग में समावेश होता है।

- क्रोध के उदय में श्रेणी चढ़ने वाला आत्मा १२ किट्टियाँ करता है।
- मान के उदय में श्रेणी चढ़ने वाला आत्मा, क्रोध का नाश हो जाने से शेष तीन कषाय की नौ किट्टियाँ ही करता है।
- माया के उदय में श्रेणी करने वाला आत्मा क्रोध, मान दोनों का नाश हो जाने से माया और लोभ इन दो की ही छः किट्टियाँ करता है।
- लोभ के उदय में श्रेणी करने वाला आत्मा क्रोध, मान, माया का पूर्ववत् क्षय हो जाने से मात्र लोभ की ही तीन किट्टियाँ करता है।

किट्टिकरणाद्धा पूर्ण हो जाने के पश्चात् क्रोध के उदय में श्रेणी चढ़ने वाला आत्मा, क्रोध की द्वितीय स्थिति में से प्रथम वर्ग के किट्टीकृत दलिकों को खींचकर उनकी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण प्रथम स्थिति बनाता है और उसे समयाधिक आवलिका जितना रखकर शेष दलिक को भोगकर क्षीण कर देता है। इसी प्रकार द्वितीय और तृतीय किट्टीकृत दलिक को भी द्वितीय स्थिति में से खींचकर पूर्ववत् भोगकर क्षीण करता है। तीनों प्रकार की किट्टियों के भोगकाल में ऊपरवर्ती-स्थितिगत दलिक को गुणसंक्रम के द्वारा उत्तरोत्तर असंख्य गुण वृद्धि से संज्वलन मान में डालता है। तृतीय किट्टी के भोगकाल के अन्तिम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समय में संज्वलन क्रोध के बंध, उदय, उदीरणा का युगपत् विच्छेद हो जाता है। समयोन दो आवलिका काल में बद्ध संज्वलन क्रोध के दलिक को छोड़कर शेष सत्तागत दलिक का भी विच्छेद हो जाता है, कारण सत्तागत शेष दलिक का मान में प्रक्षेप हो जाता है।

तदनन्तर द्वितीय स्थितिगत मान की प्रथम किट्टी के दलिक को खींचकर आत्मा उसकी प्रथम स्थिति बनाता है और उसे अन्तर्मुहूर्त तक भोगता है। इसी समय क्रोध के बंधादि का विच्छेद हो जाने से क्रोध का एक समय न्यून दो आवलिका प्रमाण बद्ध दलिक जो सत्ता में शेष रहा था, उसे भी मान में संक्रमित कर अन्त में पुरुषवेद की तरह सर्व संक्रमण द्वारा नाश कर देता है। मान का प्रथम स्थिति के रूप में विद्यमान दलिक (प्रथम किट्टिकृत) भी समयाधिक आवलिक प्रमाण शेष रहता है। तत्पश्चात् द्वितीय स्थितिगत मान की द्वितीय किट्टी के दलिक को खींचकर प्रथम स्थिति बनाता है और उसे समयाधिक आवलिका मात्र रखकर शेष दलिक को भोगकर क्षीण करता है। पश्चात् तृतीय किट्टीगत दलिक को खींचकर (तृतीय किट्टी के द्वितीय स्थितिगत दलिक को) प्रथम स्थिति बनाता है और समयाधिक आवलिका प्रमाण दलिक को छोड़कर शेष दलिक को भोगता है। उसी समय मान के बंध, उदय उदीरणा का युगपत् विच्छेद हो जाता है और समयोन दो आवलिका में बद्ध सत्तागत दलिक को छोड़कर शेष सत्ता का भी नाश कर देता है। सत्तागत दलिक का माया के प्रथम किट्टीगत दलिक को भोगते समय क्रोध की तरह मान-माया में प्रक्षेप कर देता है।

पुनः माया की द्वितीय स्थिति में से प्रथम किट्टिगत दलिक को खींचकर प्रथम स्थिति बनाता है और अन्तर्मुहूर्त तक उसका वेदन भी करता है। उसी समय संज्वलन मान के बन्धादि का विच्छेद करते हुए एक समय न्यून दो आवलिका में गुणसंक्रम के द्वारा माया में प्रक्षेप करता है। माया का प्रथम स्थिति में आगत प्रथम किट्टी का दलिक भी आवलिका मात्र ही शेष रहता है। तत्पश्चात् माया की द्वितीय किट्टी के दलिक को द्वितीय स्थिति में से खींचकर प्रथम स्थिति के रूप में बनाता है तथा समयाधिक आवलिका प्रमाण दलिक रखकर शेष का वेदन करता है। तृतीय किट्टी के दलिक को द्वितीय स्थिति में से खींचकर प्रथम स्थिति बनाकर समयाधिक एक आवलिका न्यून दलिक का वेदन भी करता है। उस समय माया के बंध, उदय, उदीरणा का विच्छेद हो जाता है। सत्ता समयोन दो आवलिका में बद्ध दलिक की ही होती है। सत्तागत शेष दलिक का गुणसंक्रम के द्वारा लोभ में प्रक्षेप हो जाता है। उसके बाद लोभ के प्रथम किट्टीगत दलिक को द्वितीय स्थिति में खींचकर प्रथम स्थिति बनाकर अन्तर्मुहूर्त तक उसका वेदन करता है। उस समय संज्वलन माया के बंधादि का विच्छेद हो जाता है। सत्तागत दलिक का समयोन दो आवलिका प्रमाण समय में लोभ में प्रक्षेप हो जाता है और प्रथम स्थिति के रूप में व्यवस्थापित वेद्यमान संज्वलन लोभ का प्रथम किट्टीगत दलिक भी आवलिका मात्र ही शेष रहता है।

लोभ की द्वितीय किट्टी के दलिक को द्वितीय स्थिति में से खींचकर प्रथम स्थिति बनाकर उसका वेदन करता है। उसी समय तृतीय किट्टी के दलिक को ग्रहण कर उसकी सूक्ष्म किट्टियाँ बनाता है। किट्टीकरण का यह क्रम वहाँ तक चलता है जहाँ तक कि प्रथम स्थिति के रूप में व्यवस्थापित द्वितीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किट्टी का वेदन समयाधिक आवलिका मात्र शेष रहता है। उस समय संज्वलन लोभ के बंध का विच्छेद, बादर-कषाय का उदय, उदीरणा का विच्छेद तथा नौवे गुणस्थान का भी विच्छेद हो जाता है। फिर द्वितीय स्थितिगत सूक्ष्म किट्टियों के दलिक को खींचकर प्रथम स्थिति बनाकर उसका वेदन करता है। उसका वेदन करने वाला आत्मा दसवें गुणस्थान में होता है। पूर्वोक्त तृतीय किट्टी की जो एक आवलिकायें शेष है, उन्हें वेद्यमान पर-प्रकृति में (सूक्ष्म-किट्टी में) स्तिबुक संक्रमण के द्वारा संक्रमाता है और प्रथम, द्वितीय किट्टी की जो आवलिका शेष रही थी उन्हें क्रमशः दूसरी, तीसरी किट्टी में डालकर भोगता है।

लोभ की सूक्ष्म किट्टियों का वेदन करता हुआ दसवें गुणस्थानवर्ती आत्मा द्वितीय स्थिति में स्थित सूक्ष्म किट्टियों के दलिक को तथा समयोन दो आवलिका में बद्ध दलिक (जो सत्ता में शेष है) का प्रतिसमय स्थिति-घातादि के द्वारा क्षय करता है। क्षय का यह क्रम दसवें गुणस्थान के संख्याता भाग में से एक भाग शेष रहने तक चलता है (संख्यातवाँ भाग भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है) संज्वलन लोभ की स्थिति को अपवर्तनाकरण के द्वारा घटाकर सूक्ष्म संपराय के शेषकाल प्रमाण करता है।

इसके आगे मोहनीय कर्म के स्थितिघातादि नहीं होते, शेष कर्मों के होते हैं। अपवर्तनाकरण के द्वारा अपवर्तित लोभ की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति का उदय, उदीरणा के द्वारा वहाँ तक वेदन करता है जबकि उसकी स्थिति सत्ता में समयाधिक आवलिका मात्र शेष रहती है। तत्पश्चात् उसकी उदीरणा नहीं होती। सत्ता में स्थित उदयावलिका को केवल उदय के द्वारा दसवें गुणस्थान के अंतिम समय में भोगकर क्षीण कर देता है। दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में—

ज्ञानावरणीय	५
दर्शनावरणीय	४
अन्तराय	५
यशः कीर्ति	१
और उच्चगोत्र	१

इन १६ प्रकृतियों का बंध एवं मोहनीय के उदय व सत्ता का विच्छेद होता है।

तदनन्तर आत्मा क्षीण कषायी बन जाता है।

बारहवें गुणस्थान में शेष कर्मों के स्थितिघातादि पूर्ववत् ही होते हैं। इनका क्रम बारहवें गुणस्थान के संख्यातवें भाग में से एक संख्यातवाँ भाग शेष रहता है तब तक चलता रहता है। उस समय ज्ञानावरणीय ५, दर्शनावरणीय ४, निद्रा २ एवं अन्तराय ५ = १६ प्रकृतियों के सत्तागत दलिक की स्थिति अपवर्तनाकरण के द्वारा घटाकर बारहवें गुणस्थान के काल प्रमाण की जाती है। मात्र निद्राद्विक की स्थिति एक समय न्यून होती है। अभी भी बारहवें गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है। इस समय पूर्वोक्त प्रकृतियों के स्थितिघातादि कार्य समाप्त हो जाते हैं। शेष प्रकृतियों के स्थिति घातादि प्रवृत रहते हैं। निद्राद्विक हीन पूर्वोक्त चौदह प्रकृतियों की उदय, उदीरणा तब तक होती है जब तक इनकी सत्ता समयाधिक आवलिका मात्र शेष रहती है। तत्पश्चात् उदीरणा समाप्त हो जाती है और सत्तागत दलिक का क्षीण कषाय के उपान्त्य समय तक केवल उदय द्वारा ही वेदन होता है। निद्राद्विक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का स्वरूप सत्ता की अपेक्षा से उपान्त्य समय में और चौदह प्रकृतियों का चरम समय में क्षय होता है। उसके बाद घाती कर्म का सम्पूर्ण क्षय हो जाने से आत्मा केवली बन जाता है।

नपुंसक वेद में श्रेणि करने वाला—

अनन्तानुबंधी चार का युगपत् क्षय करके मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व का क्रमशः अन्तर्मुहूर्त में क्षय करता है (सर्व प्रकृतियों का क्षपणकाल एवं सम्पूर्ण श्रेणिकाल दोनों ही अन्तर्मुहूर्त प्रमाण हैं, कारण अन्तर्मुहूर्त के असंख्यात भेद है)। पश्चात् अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण कषाय का युगपत् क्षय करके नपुंसक वेद और स्त्रीवेद की सत्ता का एक साथ नाश करता है। उसी समय पुरुष वेद के बंध का विच्छेद करता है (सत्ता समयोन दो आवलिका प्रमाण रहती है)। एक समय न्यून दो आवलिका के बाद आत्मा हास्य षट्क और पुरुषवेद का युगपत् नाश करके संज्वलन क्रोध, मान व माया का क्रमशः क्षय करता है।

लोभ के किट्टिकृत असंख्यात खण्डों को क्षय करके लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान का वरण करता है।

- लोभ के उदय में श्रेणी करने वाला आत्मा लोभ की ही किट्टी करता है।
- माया के उदय में श्रेणी करने वाला आत्मा माया व लोभ की किट्टी करता है।
- मान के उदय में श्रेणी करने वाला आत्मा मान, माया व लोभ तीन की किट्टी करता है और
- क्रोध के उदय में श्रेणी करने वाला आत्मा क्रोध, मान, माया और लोभ चारों की किट्टी करता है।

स्त्रीवेद में श्रेणी करने वाला—

स्त्रीवेद के उदय में श्रेणी करने वाला आत्मा पहले नपुंसक वेद का बाद में स्त्रीवेद का क्षय करता है। उसी समय पुरुषवेद का बंध विच्छेद हो जाने से आत्मा अवेदी बन जाता है। हास्यादि षट्क तथा पुरुषवेद का युगपत् क्षय करता है। शेष पूर्ववत्।

पुरुषवेद में श्रेणी करने वाला—

पुरुषवेद में श्रेणी करने वाला आत्मा सर्वप्रथम नपुंसक वेद का, बाद में स्त्रीवेद का क्षय करता है। पश्चात् हास्यादि षट्क का क्षय करके पुरुषवेद का नाश करता है। शेष पूर्ववत्॥ ६९४-६९९॥

९० द्वार : उपशम-श्रेणि—

अणदंसनपुंसित्थीवेयछक्कं च पुरिसवेयं च।
दो दो एगंतरिए सरिसे सरिसं उवसमेइ ॥७००॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोहं माणं मायं लोभमणंताणुबंधमुवसमइ।
मिच्छत्तमिस्ससम्मत्तरूवपुंजत्तयं तयणु ॥७०१॥
इत्थिनपुंसगवेए तत्तो हासाइछक्कमेयं तु।
हासो रई य अरई य सोगो य भयं दुगुंछा य ॥७०२॥
तो पुंवेयं तत्तो अप्पच्चक्खाणपच्चखाणा य।
आवरणकोहजुयलं पसमइ संजलणकोहंपि ॥७०३॥
एयक्कमेण तिन्निवि माणे मायाउ लोह तियगंपि।
नवरं संजलणाभिहलोहतिभागे इय विसेसो ॥७०४॥
संखेयाइं किट्टीकयाइं खंडाइं पसमइ कमेणं।
पुणरवि चरिमं खंडं असंखखंडाइं काऊण ॥७०५॥
अणुसमयं एक्केक्कं उवसामइ इह हि सत्तगोवसमे।
होइ अपुव्वो तत्तो अनियट्टी होइ नपुमाइ ॥७०६॥
पसमंतो जा संखेयलोहखंडाओ चरिमखंडस्स।
संखाईए खंडे पसमंतो सुहुमराओ सो ॥७०७॥
इय मोहोवसमम्मि कयम्मि उपसंतमोहगुणठाणं।
सव्वट्ठसिद्धिहेउं संजायइ वीयरायाणं ॥७०८॥

—गाथार्थ—

उपशमश्रेणि—सर्वप्रथम अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ का उपशम होता है। पश्चात् मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्वमोह, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्यादि षट्क एवं पुरुषवेद का क्रमशः उपशम होता है। तत्पश्चात् अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण क्रोध युगल की युगपत् उपशमना होती है उसके बाद एक संज्वलन क्रोध की उपशमना होती है। इस प्रकार एकान्तरित दो-दो की उपशमना होती है॥७००॥

सर्वप्रथम अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ की उपशमना होती है। पश्चात् मिथ्यात्व, मिश्र एवं सम्यक्त्वरूप तीन पुंजों की उपशमना होती है। तत्पश्चात् स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, भय, शोक और दुगुंछारूप हास्यादि षट्क की उपशमना होती है॥७०१-७०२॥

तब पुरुषवेद अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण क्रोध युगल और उसके पश्चात् संज्वलन क्रोध का उपशम होता है। इस क्रम से अप्रत्याख्यानावरण आदि तीनों प्रकार के मान, तीनों प्रकार की माया एवं तीनों प्रकार के लोभ की उपशमना होती है। किन्तु संज्वलन लोभ की त्रिभागगत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो विशेषता है उसे बताते हैं। संज्वलन लोभ के किट्टीकृत संख्याता खंडों की क्रमशः उपशमना होती है। तत्पश्चात् अंतिम खंड के असंख्याता खंड करके उनकी क्रमशः उपशमना की जाती है ॥७०३-७०५ ॥

लोभ के अन्तिम खण्ड के असंख्याता खण्डों में से प्रतिसमय एक-एक खण्ड की उपशमना होती है। श्रेणीकर्त्ता आत्मा दर्शनसप्तक की उपशमना करते समय अपूर्वकरणगुणस्थानवर्ती होता है। नपुंसकवेद की उपशमना से लेकर बादर लोभ के संख्याता खंडों की उपशमना पर्यन्त अनिवृत्ति-बादर रूप नौवे गुणस्थान में होता है। तत्पश्चात् किट्टीकृत अन्तिम खंड के असंख्याता खंडों की उपशमना करते समय श्रेणीकर्त्ता आत्मा सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानक में होता है। इस प्रकार मोहनीय का सर्वथा उपशम हो जाने से जीव को उपशान्तमोह गुणस्थान उपलब्ध होता है। वीतरागभाव से पतित न होने वाले आत्मा के लिये यह गुणस्थान सर्वार्थसिद्ध विमान की प्राप्ति का कारण बनता है ॥७०६-७०८ ॥

—विवेचन—

अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती आत्मा उपशम श्रेणि का प्रारम्भकर्त्ता है। इसमें मोहनीय की उत्तर प्रकृतियों का क्रमशः उपशम होता है अतः इसे उपशम श्रेणी कहते हैं। श्रेणी पूर्ण होने के पश्चात् आत्मा अप्रमत्त, प्रमत्त, देशविरत या विरत किसी भी गुणस्थानक में जा सकता है।

अन्यमते—अनन्तानुबंधी कषाय की उपशमना अप्रमत्त संयत गुणस्थानवर्ती आत्मा ही कर सकता है, ऐसा नियम नहीं है प्रत्युत अनन्तानुबंधी कषाय की उपशमना अविरत, देशविरत, प्रमत्त या अप्रमत्त सभी कर सकते हैं। दर्शनत्रिक की उपशमना संयमी आत्मा ही कर सकता है, ऐसा नियम है।

सर्वप्रथम अनन्तानुबंधी कषाय की उपशमना होती है उसकी विधि निम्न प्रकार है—४, ५, ६ या ७वें गुणस्थानवर्ती, तीन योग में से किसी एक योग वाला तेज, पद्म और शुक्ललेश्या में से किसी एक लेश्या वाला, साकारोपयोगी, अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति वाला आत्मा उपशम श्रेणी का कर्त्ता है। श्रेणी के प्रारम्भ से अन्तर्मुहूर्त पूर्व ही उसके अध्यवसाय विशुद्ध हो जाते हैं जिससे वह परावर्तमान शुभ प्रकृति को बाँधते हुए प्रतिसमय शुभ प्रकृति के अनुभाग की अनंतगुण वृद्धि एवं अशुभ प्रकृति के अनुभाग की अनंतगुण हानि करता है। यहाँ पूर्वापेक्षा स्थितिबंध भी हलका होता है। तत्पश्चात् क्रमशः अन्तर्मुहूर्त समय प्रमाण यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण करता है। अन्त में आत्मा उपशान्त अद्धा में प्रविष्ट होता है।

यथाप्रवृतिकरण आदि का स्वरूप **कर्मप्रकृति** ग्रन्थ से ज्ञातव्य है।

- यथाप्रवृत्तिकरण मे वर्तमान आत्मा प्रतिसमय अध्यवसायों की अनंत गुण विशुद्धि के द्वारा शुभ प्रकृतियों के रस में अनंत गुण वृद्धि और अशुभ प्रकृतियों के रस में अनन्त गुण हानि करता है। पूर्व स्थितिबंध की अपेक्षा उत्तरोत्तर पल्योपम के असंख्यातवें भाग न्यून स्थितिबंध करता है। तथाविध विशुद्धि के अभाव से स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी या गुणसंक्रम यहाँ नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- यथाप्रवृत्तिकरण के बाद आत्मा अपूर्वकरण करता है। इसमें स्थितिघात, रसघात, आदि पाँचों ही अपूर्व कार्य होते हैं। (स्थितिघात आदि का विवेचन पूर्ववत् समझना)।
- इस प्रकार अपूर्वकरण-काल समाप्त होने के पश्चात् आत्मा अनिवृत्तिकरण-काल में प्रवेश करता है। यहाँ भी पूर्वोक्त पाँचों कार्य होते हैं। अनिवृत्तिकरण के असंख्यात भाग बीतने पर व एक भाग शेष रहने पर आत्मा अन्तरकरण करता है। अन्तरकरण अनन्तानुबंधी कषाय के एक आवलिका प्रमाण निषेकों को छोड़कर शेष ऊपरवर्ती निषेकों का होता है। यहाँ भी मिथ्यात्व की तरह कर्मों की स्थिति दो भागों में बँट जाती है। एक अन्तरकरण के नीचे की स्थिति, जो मात्र एक आवलिका प्रमाण होती है और दूसरी अन्तरकरण के ऊपर की स्थिति, जो लम्बी होती है। तदनन्तर आत्मा अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अन्तरकरण के दलिकों को वहाँ से उठा-उठाकर बध्यमान प्रकृतियों में डालता है तथा एक आवलिका प्रमाण नीचे की स्थिति के दलिकों को भोग्यमान प्रकृतियों में डालकर क्षीण करता है। अन्तरकरण के द्वितीय समय में ऊपर की स्थिति में वर्तमान दलिकों का उपशमन प्रारम्भ होता है। प्रथम समय में अल्प दलिकों की तथा द्वितीय, तृतीय आदि समय में उत्तरोत्तर असंख्यात गुण अधिक दलिकों की उपशमना होती है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त के अन्त तक सम्पूर्ण अनन्तानुबंधी कषाय का उपशम हो जाता है।
- उपशम का अर्थ है सर्वथा शान्त हो जाना। जैसे पानी छींटकर घन द्वारा पीटी गई धूल जम जाती है वैसे विशुद्धि रूप जल के छींटों द्वारा सिंचित एवं अनिवृत्तिकरण रूप मुद्गर से पीटे गये कर्म दलिक ऐसे शान्त हो जाते हैं कि संक्रमण, उदय, उदीरणा, निधत्ति और निकाचनाकरण भी उन्हें परिवर्तित नहीं कर सकते। इस प्रकार अनन्तानुबंधी कषाय की उपशमना होती है।

अन्यमते—कुछ आचार्यों का मत है कि अनन्तानुबंधी कषाय की उपशमना नहीं होती परन्तु विसंयोजना या क्षपना होती है (देखें पूर्व द्वार)।

अनन्तानुबंधी कषाय की उपशमना करने के बाद दर्शनत्रिक की उपशमना होती है। दर्शनत्रिक की उपशमना क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि, संयमी आत्मा करता है। इसका काल प्रमाण अन्तर्मुहूर्त का है। दर्शनत्रिक की उपशमना करने वाले आत्मा को भी तीनों करण करने पड़ते हैं। वह भी अनिवृत्तिकरण के संख्यात भाग बीतने के बाद अन्तरकरण करता है। इससे सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और मिश्र इन तीनों प्रकृतियों के दलिक दो भागों में विभक्त हो जाते हैं। एक अन्तरकरण के नीचे का भाग जो प्रथम-स्थिति या नीचे की स्थिति कहलाती है और दूसरा ऊपर का भाग, जो द्वितीय स्थिति या ऊपर की स्थिति कहलाती है। इनमें सम्यक्त्व की प्रथम स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण एवं मिथ्यात्व व मिश्र की स्थिति एक आवलिका प्रमाण होती है, कारण इतनी स्थिति शेष रहने पर ही विवक्षित प्रकृतियों का अन्तरकरण होता है। तत्पश्चात् अन्तरकरण काल का दलिक वहाँ से उठा-उठाकर सम्यक्त्व की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण प्रथम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थिति में डाला जाता है तथा मिथ्यात्व व मिश्र का एक आवलिका प्रमाण प्रथम स्थितिगत दलिक स्तिबुक-संक्रमण के द्वारा सम्यक्त्व के प्रथम स्थितिगत दलिक में संक्रमित किया जाता है। अन्त में सम्यक्त्व के प्रथम स्थितिगत दलिक को भोगकर क्षय किया जाता है। इस प्रकार क्रमशः दर्शनत्रिक को क्षय करके आत्मा उपशम सम्यक्त्व को उपलब्ध करता है तथा दर्शनत्रिक की ऊपरी स्थिति में रहे हुए दलिकों का उपशमन करता है।

दर्शनत्रिक की उपशमना करने वाला आत्मा प्रमत्त तथा अप्रमत्त गुणस्थान में सैंकड़ों बार आवागमन करता रहता है तथा चारित्रमोह की उपशमना का प्रयास करता है।

चारित्र मोहनीय की उपशमना—चारित्र मोह की उपशमना करने के लिये पुनः तीन करण करने पड़ते हैं। इसमें इतना विशेष है कि यथाप्रवृत्तिकरण अप्रमत्त गुणस्थान में, अपूर्वकरण अपूर्वकरण-गुणस्थान में तथा अनिवृत्तिकरण अनिवृत्तिकरण-गुणस्थान में होता है। यहाँ भी पूर्वोक्त पाँचों कार्य होते हैं किन्तु चौथे और सातवें गुणस्थान में होने वाले गुणसंक्रम की अपेक्षा अपूर्वकरण गुणस्थान मे होने वाला गुणसंक्रम कुछ विशिष्ट है। यहाँ सम्पूर्ण अशुभ प्रकृतियों का गुणसंक्रम होता है, केवल बध्यमान प्रकृतियों का ही नहीं।

उसके बाद स्थितिघात, रसघात आदि करने से विशुद्ध बना आत्मा अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रवेश करके अनिवृत्तिकरण करता है। अनिवृत्तिकरण के संख्याता-भाग बीतने के बाद दर्शन-सप्तक रहित मोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों का अन्तरकरण करता है। अन्तरकरण से इक्कीस प्रकृतियों के दलिक दो भागों में बँट जाते हैं इनमें उदयगत वेद और संज्वलन कषाय की प्रथम-स्थिति स्व-उदयकाल प्रमाण होती है और शेष ग्यारह कषाय और आठ नोकषाय की प्रथम-स्थिति एक आवलिका प्रमाण होती है। अन्तरकरण में स्थित इन प्रकृतियों के दलिकों को वहाँ से उठा-उठाकर प्रथम स्थिति या दूसरी स्थिति में डाला जाता है। इतना विशेष है कि जिन कर्मों का बंध और उदय दोनों उस समय चलते हैं उनके अन्तरकरण के दलिक पहली और दूसरी स्थितियों में डाले जाते है जैसे पुरुषवेद में श्रेणी चढ़ने वाला आत्मा पुरुषवेद के दलिकों का प्रक्षेप दोनों स्थितियों में करता है किन्तु जिस कर्म का केवल उदय ही चल रहा हो उसके अन्तरकरण सम्बन्धी दलिकों का प्रक्षेप पहली स्थिति में ही होता है। जैसे स्त्रीवेद के उदय में श्रेणी चढ़ने वाला आत्मा, स्त्रीवेद के दलिकों को पहली स्थिति में ही डालता है किन्तु जिस प्रकृति का मात्र बंध होता है इसमें, अन्तरकरण के दलिकों का निक्षेप दूसरी स्थिति ही होता है। जैसे संज्वलन क्रोध के उदय में श्रेणी चढ़ने वाला आत्मा शेष संज्वलन कषाय के अन्तरकरण सम्बन्धी दलिकों का निक्षेप दूसरी स्थिति में ही करता है।

किन्तु जिन प्रकृतियों का बंध या उदय दोनों ही नहीं होते उन प्रकृतियों के दलिक अन्य प्रकृतियों में ही डाले जाते हैं। जैसे नौवें गुणस्थान में दूसरे, तीसरे कषाय का बंध या उदय दोनों ही नहीं होता। अतः उनके अन्तरकरण सम्बन्धी दलिकों का प्रक्षेप अन्य प्रकृतियों में होता है। इस प्रकार अन्तरकरण करने के पश्चात् नपुंसक वेद का उपशम होता है (दूसरी स्थिति में रहे हुए नपुंसक वेद के दलिकों का उपशम होता है)। प्रथम समय में अल्प दलिकों की, दूसरे समय में असंख्यात-गुण दलिकों की उपशमना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होती है। यह क्रम अन्तिम समय तक चलता है। साथ ही पर-प्रकृति में प्रक्षेप प्रतिसमय उपशमित दलिकों की अपेक्षा उत्तरोत्तर असंख्यात गुण अधिक दलिकों का होता है। यह प्रक्षेप उपान्त्य समय तक ही होता है कारण, चरम समय में संक्रमण योग्य दलिक की अपेक्षा, उपशम योग्य दलिक असंख्यात गुण अधिक होता है।

इसी प्रकार एक-एक अन्तर्मुहूर्त में स्त्रीवेद व हास्यषट्क का उपशम तथा पुरुषवेद के बंध, उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है। तत्पश्चात् एक समय न्यून दो आवलिका में सम्पूर्ण पुरुषवेद का, अन्तर्मुहूर्त काल में अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण क्रोध का उपशम तथा संज्वलन क्रोध के बंध, उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है। पश्चात् एक समय न्यून दो आवलिका में संज्वलन-क्रोध, अन्तर्मुहूर्त में अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण मान का उपशम तथा संज्वलन मान के बंध, उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है पश्चात् एक समय न्यून दो आवलिका में वह भी उपशान्त हो जाता है। तदनन्तर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण माया का उपशम तथा संज्वलन माया के बंध, उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है। संज्वलन माया की प्रथम स्थिति सम्बन्धी आवलिका प्रमाण दलिक तथा एक समय न्यून दो आवलिका में बद्ध दलिकों को छोड़कर शेष दलिक भी उपशान्त हो जाते हैं। तत्पश्चात् संज्वलन माया की प्रथम-स्थिति सम्बन्धी आवलिका गत दलिक स्तिबुक संक्रमण से संज्वलन लोभ में संक्रान्त हो जाता है। पश्चात् एक समय न्यून दो आवलिका में बद्ध दलिक का उपशम होकर संज्वलन लोभ में संक्रमण होता है।

संज्वलन माया के बंध, उदय और उदीरणा के विच्छेद होने के समयान्तर बाद ही संज्वलन-लोभ की दूसरी स्थिति के दलिकों के प्रथम-स्थिति की रचना होती है। उस समय मात्र लोभ का ही वेदन रहता है। लोभ का वेदन-काल तीन भागों में विभक्त हो जाता है।

(i) अश्वकर्णकरणाद्धा, **(ii)** किट्टीकरणाद्धा, **(iii)** किट्टीवेदनाद्धा

(i) प्रथम विभाग में संज्वलन लोभ की दूसरी स्थिति में से दलिकों को ग्रहण करके प्रथम स्थिति की रचना होती है और आत्मा उनका वेदन करता है। पूर्व स्पर्धकवर्ती दलिकों को रसहीन करने का कार्य तथा अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण व संज्वलन लोभ की उपशमना का प्रारम्भ भी इसी काल में होता है। एक समय न्यून दो आवलिका में संज्वलन माया की उपशमना के साथ अश्वकर्णकरणाद्धा पूर्ण हो जाता है।

(ii) द्वितीय विभाग में दूसरी स्थिति के दलिकों से प्रथम स्थिति की रचना होती है और उनका वेदन भी होता है। पूर्व व अपूर्व स्पर्धकों के दलिकों को अनन्त गुण रसहीन करके किट्टीकरण भी इसी समय में होता है। किट्टीकरणाद्धा के चरम समय में एक ही साथ अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण लोभ की उपशमना तथा संज्वलन लोभ का बंध व बादर संज्वलन लोभ के उदय, उदीरणा का विच्छेद हो जाता है। अन्त में आत्मा नौवें गुणस्थान से निकलकर दसवें 'सूक्ष्मसंपराय' गुणस्थान में प्रविष्ट होता है।

(iii) दसवें गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त का है। यहाँ आत्मा दूसरी स्थिति के रसहीन कुछ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दलिकों को लेकर सूक्ष्मसंपराय के काल-प्रमाण प्रथम स्थिति बनाता है, उसका वेदन करता है तथा एक समय न्यून दो आवलिका में बद्ध दलिकों की उपशमना भी करता है। सूक्ष्मसंपराय के अन्तिम समय में संज्वलन लोभ पूर्णरूपेण उपशान्त हो जाता है और आत्मा तत्क्षण उपशान्तमोही बन जाता है। इसका कालमान जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त का है। तत्पश्चात् आत्मा का अवश्यमेव पतन होता है।

पतन के दो कारण हैं—(i) भवक्षय या (ii) कालक्षय

(i) भवक्षय—ग्यारहवें गुणस्थान में मरने वाला आत्मा निश्चित रूप से अनुत्तर विमान में जाता है। वहाँ उसे चौथा गुणस्थान ही मिलता है। ग्यारहवें गुणस्थान से आत्मा का यह पतन भवक्षय के कारण होता है।

(ii) कालक्षय—'उपशान्तमोह' गुणस्थान का काल पूर्ण होने के पश्चात् आत्मा जिस रीति से ऊपर चढ़ा था, उसी रीति से पुनः नीचे आता है। जिन गुणस्थानों में जिन प्रकृतियों का बंध, उदय व उदीरणा का विच्छेद किया था, वहाँ पुनः उन्हें प्रारम्भ करता है। पतन का यह क्रम किसी आत्मा का प्रमत्त गुणस्थान में आकर रुकता है तो किसी का पाँचवें, चौथे यावत् सास्वादन गुणस्थान में रुकता है।

उपशम श्रेणी कितनी बार?

एक भव की अपेक्षा—

जघन्य = एक बार

उत्कृष्ट = दो बार

अनेक भव की अपेक्षा जघन्य व उत्कृष्ट संसार चक्र में ५ बार उपशम श्रेणी प्राप्त होती है।

कर्मग्रन्थ के मतानुसार—जो आत्मा एक भव में दो बार उपशम श्रेणी करता है, वह उस भव में क्षपक श्रेणी नहीं कर सकता किन्तु एक बार उपशम श्रेणी करने वाला क्षपक श्रेणी कर सकता है।

आगम के मतानुसार—एक भव में एक ही श्रेणी होती है।

श्रेणी....

मोहोपशमो एकस्मिन्, भवे द्विः स्यादसन्ततः।

यस्मिन् भवे तूपशमः, क्षयो मोहस्य तत्र न॥

प्रश्न—उपशम श्रेणी का प्रारम्भ अविरति, देशविरति आदि गुणस्थानों में होता है तथा उन गुणस्थानों में सम्यक्त्वमोह मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी कषायों की उपशमना भी होती है अन्यथा मिथ्यात्वादि के उदय में सम्यक्त्व की प्राप्ति ही नहीं होगी। ऐसी स्थिति में मिथ्यात्वादि के पुनः उपशम की चर्चा कैसे संगत होगी?

उत्तर—वहाँ उन प्रकृतियों का क्षयोपशम होता था यहाँ उपशम होता है अतः विसंगति का कोई प्रश्न नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न—क्षयोपशम का अर्थ है उदयगत कर्मों को भोगकर क्षय करना और सत्तागत कर्म दलिकों का उपशम करना तथा उपशम का अर्थ भी प्राय: यही है तो फिर दोनों में अन्तर ही क्या है?

उत्तर—क्षयोपशम में सम्यक्त्वादि के घातक कर्मों का विपाकोदय नहीं होता किन्तु प्रदेशोदय अवश्य रहता है जबकि उपशम में दोनों ही नहीं रहते।

प्रश्न—मिथ्यात्वादि के प्रदेशोदय की स्थिति में यहाँ सम्यक्त्व आदि कैसे सम्भव होंगे? जैसे सास्वादन गुणस्थान में मिथ्यात्व आदि के उदय होने पर सम्यक्त्व नहीं होता।

उत्तर—उदय दो प्रकार का है—रसोदय/विपाकोदय और प्रदेशोदय। इनमें रसोदय ही सम्यक्त्वादि गुणों का द्योतक है प्रदेशोदय नहीं। कारण प्रदेशोदय अत्यन्त मन्द होता है और मन्द उदय वाला कर्म अपने आवार्य गुण का घात नहीं कर सकता। जैसे मतिज्ञानावरणादि ध्रुवोदयी प्रकृतियों का सर्वदा विपाकानुभव होने पर भी वे अपने आवार्य गुणों (मतिज्ञान आदि) का सम्पूर्ण रूपेण घात नहीं करते। कारण उनका विपाकोदय मन्द होता है। प्रदेशोदय तो विपाकोदय की अपेक्षा और अधिक मन्द होने से अपने आवार्य गुणों को सुतरां नष्ट नहीं कर सकता। अत: अनन्तानुबंधी आदि कषायों का उन गुणस्थानों में प्रदेशोदय होने पर भी वहाँ सम्यक्त्वादि गुणों का नाश नहीं होता। पूर्वोक्त उपशमना का क्रम पुरुषवेद में श्रेणी चढ़ने वालों की अपेक्षा से है।

नपुंसक वेद में श्रेणी चढ़ने वाला—

जो आत्मा नपुंसक वेद के उदय में श्रेणी का प्रारम्भ करते हैं, वे आत्मा सर्वप्रथम अनन्तानुबन्धी कषाय एवं दर्शनत्रिक की, पश्चात् नपुंसकवेद और स्त्रीवेद की उपशमना (पूर्ववत्) करते हैं। स्त्रीवेद की उपशमना नपुंसक वेद के उदयकाल के उपान्त्य समय तक पूर्ण हो जाती है। अन्त समय में मात्र नपुंसक वेद एक समय प्रमाण शेष रहता है। उसका क्षय होते ही आत्मा अवेदी बन जाता है। तत्पश्चात् पुरुषवेद आदि ७ प्रकृतियों की उपशमना एक ही साथ प्रारम्भ करता है।

स्त्रीवेद में श्रेणी चढ़ने वाला—

जो आत्मा स्त्रीवेद के उदय में श्रेणी चढ़ता है वह दर्शनत्रिक के उपशमन के पश्चात् सीधा ही नपुंसक वेद का उपशमन करता है, बाद में चरम समय प्रमाण उदय स्थिति को छोड़कर स्त्रीवेद के शेष दलिकों का उपशम व चरम समयगत दलिकों को भोगकर क्षय करता है। अन्त में अवेदी बनकर पुरुषवेद आदि सात प्रकृतियों की उपशमना एक ही साथ प्रारम्भ करता है।

- किट्टीकृत संज्वलन लोभ के संख्याता खंडों का प्रतिसमय उपशम होता है। अन्तिम खंड शेष रहने पर उसके पुन: असंख्याता खंड होते हैं और उनमें से प्रतिसमय एक-एक खंड का उपशम होता है।

किस प्रकृति का कौन से गुणस्थान में उपशम होता है?

- अनन्तानुबंधी ४ और दर्शनत्रिक = ७ प्रकृतियों का उपशम करने के पश्चात् अपूर्वकरण गुणस्थान में उपशमन करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- नपुंसक वेद आदि तथा बादर लोभ के असंख्याता खंडों का अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में उपशमन करता है।
- अन्तिम सूक्ष्म किट्टीकृत खण्ड के असंख्यात खण्डों का सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में उपशमन करता है ॥ ७००-७०८ ॥

९१ द्वार : स्थंडिल—

अणावायमसंलोए परस्साणुवघायए।
समे अज्झुसिरे यावि अचिरकालकयंमि य ॥७०९ ॥
विच्छिन्ने दूरमोगाढे नासन्ने बिलवज्जिए।
तसपाणबीयरहिए उच्चाराईणि वोसिरे ॥७१० ॥

—गाथार्थ—

स्थंडिल भूमि का स्वरूप—**१. अनापात-असंलोक, २. दूसरे जीवों के लिये अनौपघातिक, ३. समतल, ४. अशुषिर, ५. अचिरकालकृत, ६. विस्तृत, ७. दूरावगाढ़, ८. अनासन्न, ९. बिल रहित एवं त्रस, प्राण व बीजरहित भूमि में स्थंडिल आदि परठे ॥७०९-७१० ॥**

—विवेचन—

(१) अनापात-असंलोक, (२) अनौपघातिक, (३) सम, (४) ठोस, (५) अचिरकालकृत, (६) विस्तीर्ण, (७) दूरावगाढ़, (८) अनासन्न, (९) बिल वर्जित, (१०) त्रस-जीव, बीज आदि रहित।

ऐसे स्थंडिल में ही साधु को मलोत्सर्ग करना चाहिये।

१. अनापात—जहाँ स्वपक्ष और परपक्ष का आगमन नहीं होता, वह अनापात स्थंडिल भूमि है।

असंलोक—वृक्षादि से ढके हुए होने के कारण जहाँ किसी की दृष्टि न पड़ती हो, ऐसी भूमि असंलोक कहलाती है।

नापात और असंलोक इन दोनों पदों से मिलकर चतुर्भंगी बनती है—

१. अनापात असंलोक स्थंडिल	=	शुद्ध (भेद रहित)
२. अनापात संलोकवत् स्थंडिल	=	अशुद्ध (संलोक के भेद, प्रभेद तथा दोषों से युक्त)
३. आपातवत् असंलोक स्थंडिल	=	अशुद्ध (आपात के भेद, प्रभेद तथा दोषों से युक्त)
४. आपातवत् संलोकवत् स्थंडिल	=	अशुद्ध (आपात और संलोक के भेद, प्रभेद तथा दोषों से युक्त)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वोक्त चारों भांगों में प्रथम भांगा शुद्ध होने से अनुज्ञात है। शेष तीनों ही भांगे निषिद्ध हैं। चौथे भांगे की व्याख्या करने से अन्य भांगों के गुणदोष सुगमता से ज्ञात हो जाते हैं अतः उसी भांगे की यहाँ व्याख्या की जाती है।

चतुर्थ भंग आपातवत् संलोकवत् स्थंडिल का है। आपातवत् का अर्थ है गमनागमन वाला तथा संलोकवत् का अर्थ है जहाँ दूर से जाता-आता दिखाई दे।

१. आपातवत् स्थंडिल के दो भेद हैं—**(i)** स्वपक्ष = संयत वर्ग के आपातवाला।
(ii) परपक्ष = गृहस्थ वर्ग के आपातवाला।

२. संयत के आपातवाला स्थंडिल भी दो प्रकार का है—**(i)** संयत = साधु के आपात वाला
(ii) संयती = साध्वी के आपातवाला।

३. संयत-संयती के आपातवाला स्थंडिल भी दो प्रकार का है—**(i)** संविज्ञ संयत-संयती के आपातवाला, **(ii)** असंविज्ञ संयत-संयती के आपातवाला। संविज्ञ = यथाविधि साधु समाचारी के पालक। असंविज्ञ = शिथिलाचारी, पार्श्वस्थ।

४. संविज्ञ भी दो प्रकार के हैं—**(i)** मनोज्ञ = समान समाचारी वाले।
(ii) अमनोज्ञ = भिन्न समाचारी वाले।

५. असंविज्ञ के भी दो भेद हैं—**(i)** संविज्ञ पाक्षिक = अपने दोषों की निन्दा करने वाले तथा विशुद्ध समाचारी के प्ररूपक। **(ii)** असंविज्ञ पाक्षिक = धर्महीन, सुसाधुओं की निन्दा करने वाले। कहा है—

आपात के दो प्रकार हैं—स्वपक्ष सम्बन्धी व परपक्ष सम्बन्धी।

स्वपक्ष के दो भेद हैं साधु व साध्वी। साधु-साध्वी भी दो प्रकार के हैं—

संविज्ञ और असंविज्ञ। संविज्ञ के दो भेद हैं:—मनोज्ञ व अमनोज्ञ। असंविज्ञ के दो भेद हैं—संविज्ञ पाक्षिक व असंविज्ञपाक्षिक। देखें चार्ट पृष्ठ संख्या ३८९।

६. परपक्ष के आपातवाला स्थंडिल भी दो प्रकार का है मनुष्य के आपातवाला तथा तिर्यंच के आपातवाला। पूर्वोक्त दोनों ही स्थंडिल के तीन-तीन भेद हैं—**(i)** पुरुष के आपातवाला, **(ii)** नपुंसक के आपातवाला, **(iii)** स्त्री के आपातवाला।

७. पुरुष तीन प्रकार के हैं—**(i)** राजकुल से सम्बन्धित, **(ii)** सेठ साहूकार व **(iii)** सामान्यजन। इनके आपात से स्थंडिल के तीन भेद हैं।

८. पुनः **(i)** शौचवादी व **(ii)** अशौचवादी के भेद से तीनों प्रकार के पुरुष द्विविध हैं।

९. स्त्री व नपुंसक के भी पुरुष की तरह तीन-तीन भेद हैं। इनके आपात से स्थंडिल के भी तीन-तीन भेद हैं। शौचवादी व अशौचवादी के भेद से स्त्री व नपुंसक भी द्विविध हैं। देखें चार्ट पृष्ठ संख्या ३९०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिर्यंच के आपातवाला स्थंडिल—

१. तिर्यंच के दो भेद हैं—**(i)** दृप्त = हिंसक पशु, **(ii)** अदृप्त = पालतू पशु।

दोनों प्रकार के पशु जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट तीन श्रेणि के हैं। पशुओं के जघन्य, मध्यमादि भेद मूल्य की अपेक्षा से हैं। जैसे—अल्प मूल्य वाले होने से बकरी, घेटा आदि जघन्य हैं। कुछ अधिक मूल्यवान होने से भैंस, गाय आदि मध्यम हैं तथा मूल्यवान होने से हाथी आदि उत्कृष्ट श्रेणी के पशु हैं। इसी तरह स्त्री, पशु व नपुंसक पशु का भी समझना। देखें चार्ट पृष्ठ संख्या ३९१।

२. सभी पशु निन्दनीय व अनिन्दनीय के भेद से पुनः द्विविध हैं। गर्दभ आदि निन्दनीय (निम्न जाति के) हैं व घोड़ी आदि अनिन्दनीय (उच्च जाति के) हैं। कहा है कि—दृप्त-अदृप्त के भेद से तिर्यंच के दो भेद हैं। जघन्य-मध्यम व उत्कृष्ट के भेद से दृप्त अदृप्त भी त्रिविध हैं। इसी तरह स्त्री, पशु व नपुंसक पशु का भी समझना। पुनः वे निन्दनीय व अनिन्दनीय के भेद से द्विविध हैं। (**बृहत्कल्प भाष्य** ४२४, **पंचवस्तुक** ४१२, **ओघनिर्युक्ति** ३०२)

संलोकवत् स्थंडिल = जहाँ जाता-आता दिखाई दे। यहाँ संलोक मनुष्य सम्बन्धी ही समझना।

१. मनुष्य के तीन भेद हैं—**(i)** पुरुष, **(ii)** स्त्री, **(iii)** नपुंसक। तीनों के पुनः तीन-तीन भेद हैं—**(i)** सामान्यजन, **(ii)** सेठ साहूकार तथा **(iii)** राजपुरुष। इनमें से प्रत्येक के दो भेद हैं—शौचवादी व अशौचवादी। कहा है—

आलोक मनुष्य सम्बन्धी ही होता है। मनुष्य पुरुष, स्त्री व नपुंसक तीन प्रकार के हैं। इनमें से प्रत्येक सामान्य जन, सेठ साहूकार तथा राजपुरुष के भेद से त्रिविध हैं। ये त्रिविध भी शौचवादी व अशौचवादी के भेद से द्विविध हैं। देखें चार्ट पृष्ठ संख्या—३९२।

चौथे भांगे में आपात व संलोक, तृतीय भांगे में आपात व द्वितीय भांगे में संलोक के भेद-प्रभेद का समावेश होता है। इन तीनों भांगों से युक्त स्थंडिल का उपयोग करने में निम्न दोष हैं:—

१. स्वपक्ष-संयत-संविज्ञ-अमनोज्ञ के आपात वाले स्थंडिल में साधु को उच्चार-प्रस्रवण आदि के लिये नहीं जाना चाहिये क्योंकि इसमें कलह आदि की सम्भावना रहती है। भिन्न-भिन्न आचार्यों की भिन्न-भिन्न समाचारी है। जहाँ अमनोज्ञ का जाना-आना है ऐसे स्थंडिल में यदि नवदीक्षित मुनि जावे और अमनोज्ञ मुनियों की विपरीत समाचारी देखकर स्वसमाचारी के रागवश कदाचित् उन्हें असत्य प्रमाणित करे तो परस्पर कलह की सम्भावना रहती है।

२. असंविज्ञ पार्श्वस्थ के आपात वाले स्थंडिल में तो मुनियों को कदापि नहीं जाना चाहिये क्योंकि वे मलशुद्धि हेतु प्रचुर जल का उपयोग करते हैं। उन्हें ऐसा करते देखकर शौचवादी नवदीक्षित मुनि के मन में ऐसा भाव आ सकता है कि ये भी साधु हैं, हम भी साधु हैं पर इनका जीवन अच्छा है अतः इन्हीं के पास रहना चाहिये, ऐसा सोचकर उनके पास चला जाये।

३. मनोज्ञ के आपात वाले स्थंडिल में जा सकते हैं।

४. संयती साध्वी के आपात वाले स्थंडिल में मुनि को कदापि जाना नहीं कल्पता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. परपक्ष सम्बन्धी आपात वाले स्थंडिल में यदि पुरुष के आपात वाला स्थंडिल है तो मुनि को स्वच्छ व प्रचुर जल लेकर जाना चाहिये। अति अल्प जल, अस्वच्छ जल सहित या सर्वथा जल रहित मुनि को देखकर 'ये अपवित्र है' लोग ऐसी निन्दा करे, ऐसे अपवित्र लोगों को आहार-पानी नहीं देना चाहिये इस प्रकार भिक्षा का निषेध करे। नवागन्तुक श्रावक को साधु के प्रति अरुचि हो जाये।

६. स्त्री व नपुंसक के आपात वाले स्थंडिल में जाने से साधु, गृहस्थ या दोनों के विषय में सन्देह पैदा हो सकता है। साधु के विषय में सन्देह जैसे लगता है—यह साधु किसी स्त्री को भ्रमित करना चाहता है। स्त्री व नपुंसक के विषय में सन्देह करना, यथा—ये दुरात्मा साधु से दुराचरण करना चाहते हैं। साधु व गृहस्थ दोनों के विषय में सन्देह करना कि—ये दोनों ही यहाँ दुराचार के लिये आये हैं।

७. स्त्री व नपुंसक के आपात वाले स्थंडिल में जाने से परस्पर एक-दूसरे को देखकर वेदोदय होने से मैथुन सेवन की सम्भावना रहती है। उन्हें मैथुन सेवन करते देखकर कोई मनुष्य राजादि से कहकर उन्हें दण्डित करावे, इससे शासन की भारी अवहेलना हो।

८. हिंसक पशुओं के आपात वाले स्थंडिल में भी मुनि को नहीं जाना चाहिये। ऐसे स्थंडिल में जाने से कई दोष हैं। कदाचित् पशु सींग पिरो दे, मार दे आदि।

९. निन्दनीय पशु, स्त्री व नपुंसक के आपात वाले स्थंडिल में भी मुनि को नहीं जाना चाहिये। कारण वहाँ जाने से लोगों के मन में मुनि के प्रति दुराचार करने का सन्देह उत्पन्न होता है। कदाचित् आवेग प्रबल हो जाये तो मैथुन का सेवन भी कर ले।

पूर्वोक्त दोष आपातवत् स्थंडिल में जाने के हैं। इसी प्रकार मानवीय संलोकवत् स्थंडिल के भी समझना। तिर्यंच के संलोक वाले स्थंडिल में जाने में पूर्वोक्त एक भी दोष नहीं लगता।

यद्यपि मनुष्य के संलोक वाले स्थंडिल में जाने में कदाचित स्वपर व उभय प्रेरित मैथुन की सम्भावना न भी हो तथापि लोकापवाद का अवकाश अवश्य रहता है।जैसे—कुछ लोग कह सकते हैं कि जिस दिशा में युवतियाँ जाती हैं उसी दिशा में ये मुनि लोग स्थंडिल के लिये जाते हैं। लगता है ये किसी स्त्री को चाहते हैं अथवा संकेत किया हुआ है अतः ये आये हैं तथा नपुंसक मनुष्य या नारी स्वभाववश अथवा वायु विकार के कारण विकृत लिंग को देखकर भोगेच्छा से साधु को उपद्रवित करे। इसलिये स्त्री, पुरुष व नपुंसक तीनों के संलोक में स्थंडिल जाना वर्ज्य है।

इस प्रकार अन्तिम (चौथे) भांगे में आपात व संलोक के दोष, तीसरे भांगे में आपात के दोष तथा दूसरे भांगे में संलोक के दोष होने से तीनों भांगों वाला स्थंडिल अशुद्ध है। मात्र प्रथम भांगा युक्त दोनों स्थंडिल (आपात व संलोक) के दोषों से रहित होने से शुद्ध हैं। अतः ऐसे स्थंडिल में साधु को गमन करना चाहिये। कहा है—स्थंडिल तीसरे भांगे में आपात से सम्बन्धित दोष है, दूसरे भांगे में संलोक से सम्बन्धित दोष है, किन्तु प्रथम भंग निर्दोष है अतः साधु को ऐसे स्थंडिल में ही गमन करना चाहिये।

२. **अनौपघातिक**—जहाँ जाने से निन्दा, उपहास तथा वध आदि की सम्भावना हो वह औपघातिक स्थंडिल है और इससे भिन्न अनौपघातिक है। औपघातिक के तीन भेद हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(i) **आत्मौपघातिक**—बगीचा आदि में मलोत्सर्ग करना, इससे मालिक क्रुद्ध होकर साधु की ताड़ना-तर्जना करे।

(ii) **प्रवचनौपघातिक**—अत्यन्त गन्दे स्थानों पर मलोत्सर्ग करने से लोग निन्दा करें कि "ये साधु लोग कैसे हैं? ऐसे गन्दे स्थान पर मलोत्सर्ग करते हैं?"

(iii) **संयमौपघातिक**—कोयले आदि बनाने के स्थान पर मलोत्सर्ग करना। इससे बनने वाले उस स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर कोयले आदि बनायेंगे। इससे जो जीव हिंसा होगी उसके दोष का भागी साधु बनेगा। अतः इन तीनों स्थंडिलों में मलोत्सर्ग नहीं करना चाहिये अथवा साधु की टट्टी को अन्यत्र स्थंडिल में डालेंगे।

३. **सम**—समतल भूमि में मलोत्सर्ग करना चाहिये। विषम स्थान में जाने से गिरने का भय रहता है। इससे आत्म-विराधना तथा भूमिगत जीवों की विराधना होने से जीव हिंसा का दोष लगता है।

४. **ठोस**—तृणादि से रहित ठोस भूमि पर मलादि करना चाहिये। खोखली भूमि पर स्थंडिल आदि जाने से छिद्र में रहे हुए सांप, बिच्छु आदि के काटने का डर रहता है। इससे आत्मविराधना तथा छेद आदि में पानी, पेशाब आदि जाने से जीव-विराधना होती है।

५. **अचिरकालकृत**—जो भूमि जिस ऋतु में आग आदि जलाकर अचित्त बनायी गयी हो, वह उसी ऋतु तक अचित्त रहती है, बाद में सचित्त या सचित्त-मिश्र बन जाती है। जैसे हेमन्त ऋतु में अचित्त बनाई गई भूमि उसी ऋतु तक अचित्त रहती है दूसरी ऋतु आते ही सचित्त या सचित्त-मिश्र हो जाने से स्थंडिल रूप नहीं रहती। अतः ऐसी भूमि में उस ऋतु में ही मलोत्सर्ग करना चाहिये।

जिस भूमि पर वर्षाकाल में पूरा का पूरा एक गाँव बसा हो, वह भूमि बारह वर्ष पर्यन्त **स्थंडिल** रहती है। इसके बाद अस्थंडिल हो जाती है।

६. **विस्तीर्ण**—विस्तार वाला। जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद से तीन प्रकार का है—

(i) **जघन्य**—एक हाथ लम्बी चौड़ी भूमि।

(ii) **मध्यम**—जघन्य और उत्कृष्ट के बीच की लम्बाई चौड़ाई वाली।

(iii) **उत्कृष्ट**—बारह योजन लम्बी चौड़ी, जहाँ चक्रवर्ती ने अपनी छावनी डाली हो।

एक हाथ से कम विस्तार वाले स्थंडिल में मलोत्सर्ग नहीं करना चाहिये अन्यथा आत्मविराधना या संयम-विराधना होती है।

७. **दूरावगाढ़**—गहरा। यह जघन्य, उत्कृष्ट भेद से दो प्रकार का है—

(i) जघन्य—जो भूमि अग्नि आदि के ताप से चार अंगुल नीचे तक अचित्त बन गई हो।

(ii) उत्कृष्ट—जो भूमि चार अंगुल से अधिक नीचे तक अचित्त बन गई हो। ऐसी भूमि पर मलोत्सर्ग किया जाता है। वृद्धों का मत है कि चार अंगुल तक अचित्त भूमि में मलोत्सर्ग किया जा सकता है और इससे अधिक गहराई तक अचित्त भूमि में मात्रा (मूत्र) किया जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. **अनासन्न**—मन्दिर, बगीचे आदि से दूर मलोत्सर्ग करना चाहिये। आसन्न के दो भेद हैं—

(i) द्रव्यासन्न व (ii) भावासन्न

(i) द्रव्यासन्न— बगीचा, घर, खेत, रास्ता आदि के नजदीक स्थंडिल जाना। इससे मन्दिर आदि का मालिक साधु पर क्रुद्ध होकर उसकी ताड़ना-तर्जना आदि करे। इससे आत्मविराधना तथा नौकर आदि के द्वारा मल को वहाँ से हटाकर दूर डलवाने... उस स्थान को पुनः लीपने व हाथ आदि के प्रक्षालन से संयम विराधना होती है।

(ii) भावासन्न—स्थंडिल गमन की शीघ्रता वाला। साधु की गति से जानकर कि इन्हें स्थंडिल जोर से आ रहा है, कोई प्रत्यनीक साधु को मजाक बनाने के लिये प्रश्न पूछने के बहाने रास्ते में ही मुनि को खड़ा रखे, जिससे साधु को स्थंडिल रोकना पड़े। इससे रोगादि होने से आत्म-विराधना, स्थंडिल न रुके और जंघादि भर जाये तो लोगों में हँसी होने से प्रवचन विराधना, शरीर-वस्त्र आदि धोने से संयम विराधना हो। अतः द्रव्यासन्न और भावासन्न दोनों का त्याग करना चाहिये। शीघ्रता में अप्रत्युपेक्षित स्थंडिल में मलोत्सर्ग करे, तो भी संयम-विराधना होती है।

९. **बिलवर्जित**—बिलरहित स्थान में मलोत्सर्ग करना चाहिये। बिलयुक्त स्थान में मलोत्सर्ग करने से मात्रा, पानी आदि बिल में जाने से उसमें रही हुई कीड़ियाँ आदि जीवों की विराधना होती है। बिलगत साँप, बिच्छु आदि जीवों के काटने से आत्म-विराधना होती है।

१०. **त्रस-प्राण बीज रहित**—स्थावर और जंगम जन्तुओं से रहित स्थंडिल। जीव युक्त (त्रस व बीजयुक्त) भूमि में मलोत्सर्ग करने से हिंसा के कारण संयम-विराधना होती है। सर्पादि के काटने से तथा बीज चुभने वाले हों तो पाँव में चुभने से साधु के गिरने की सम्भावना रहती है, इससे आत्म-विराधना।

पूर्वोक्त दशविध स्थंडिल के १ संयोगी...२ संयोगी...३ संयोगी

यावत् १० संयोगी भांगा करने से कुल १०२४ भांगे होते हैं।

किस संयोग में कितने भांगे होते हैं? इन्हें लाने की निम्न रीति है—

भांगा की करणगाथा—

उभयमुहरासिदुगं हेट्ठिल्लाणंतरेण भय पढ़मं।

लद्धहरासि विभत्ते, तस्सुवरि गुणित्तु संजोगा॥

जितने संयोगी भांगे करने हो, उतनी संख्या को क्रमशः लिखना। उसके नीचे पश्चानुपूर्वी से वही संख्या लिखना। फिर निम्न पंक्ति की पहली संख्या से उसके ऊपर की संख्या को गुणा करना। जो गुणनफल आवे, उसे नीचे लिखना। फिर नीचे की दूसरी संख्या से उस गुणनफल में भाग देना। जो भागफल आवे, उसे ऊपर की दूसरी संख्या से गुणा करके गुणनफल नीचे लिखना। फिर उसे नीचे की तीसरी संख्या से भाग देना। जो भागफल आवे, उसे ऊपर की तीसरी संख्या से गुणा करके नीचे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिखना। इस प्रकार आगे-आगे करते जाना। इससे जितने संयोगी भांगे बनाने हैं, उनकी संख्या आ जाती है।

संयोगी	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
	१०	९	८	७	६	५	४	३	२	१
भांगा	१	१०	४५	१२०	२१०	२५२	२१०	१२०	४५	१०

यहाँ नीचे की पंक्ति के १ अंक को ऊपर के १० के साथ गुणा करके नीचे रखना। फिर २ से १० में भाग देकर जो भागफल आया उसे २ के ऊपर के अंक ९ से गुणाकर गुणनफल ४५ को उसके नीचे रखना। इस प्रकार नीचे की संख्या से पूर्व के गुणनफल को भाग देना और भागफल से ऊपर की संख्या का गुणा करना। इस तरह किसी भी संख्या के संयोगी भांगे बनाये जा सकते हैं।

यहाँ पर			
	१ संयोगी =	१०	— अशुद्ध
	२ संयोगी =	४५	
	३ संयोगी =	१२०	
	४ संयोगी =	२१०	
	५ संयोगी =	२५२	
	६ संयोगी =	२१०	
	७ संयोगी =	१२०	
	८ संयोगी =	४५	
	९ संयोगी =	१०	— शुद्ध
	१० संयोगी =	१	— शुद्ध
	=	१०२४ कुल भांगे होते हैं।	

अशुद्ध-स्थंडिल भांगा-१०२३

शुद्ध स्थंडिल भांगा-१ ॥७०९-७१०॥

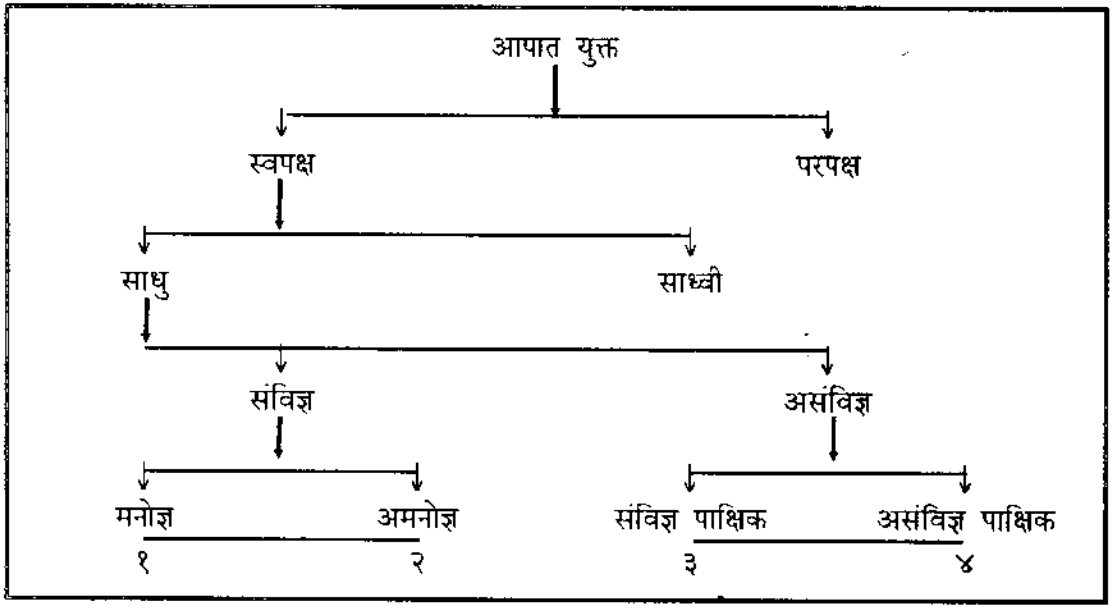

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

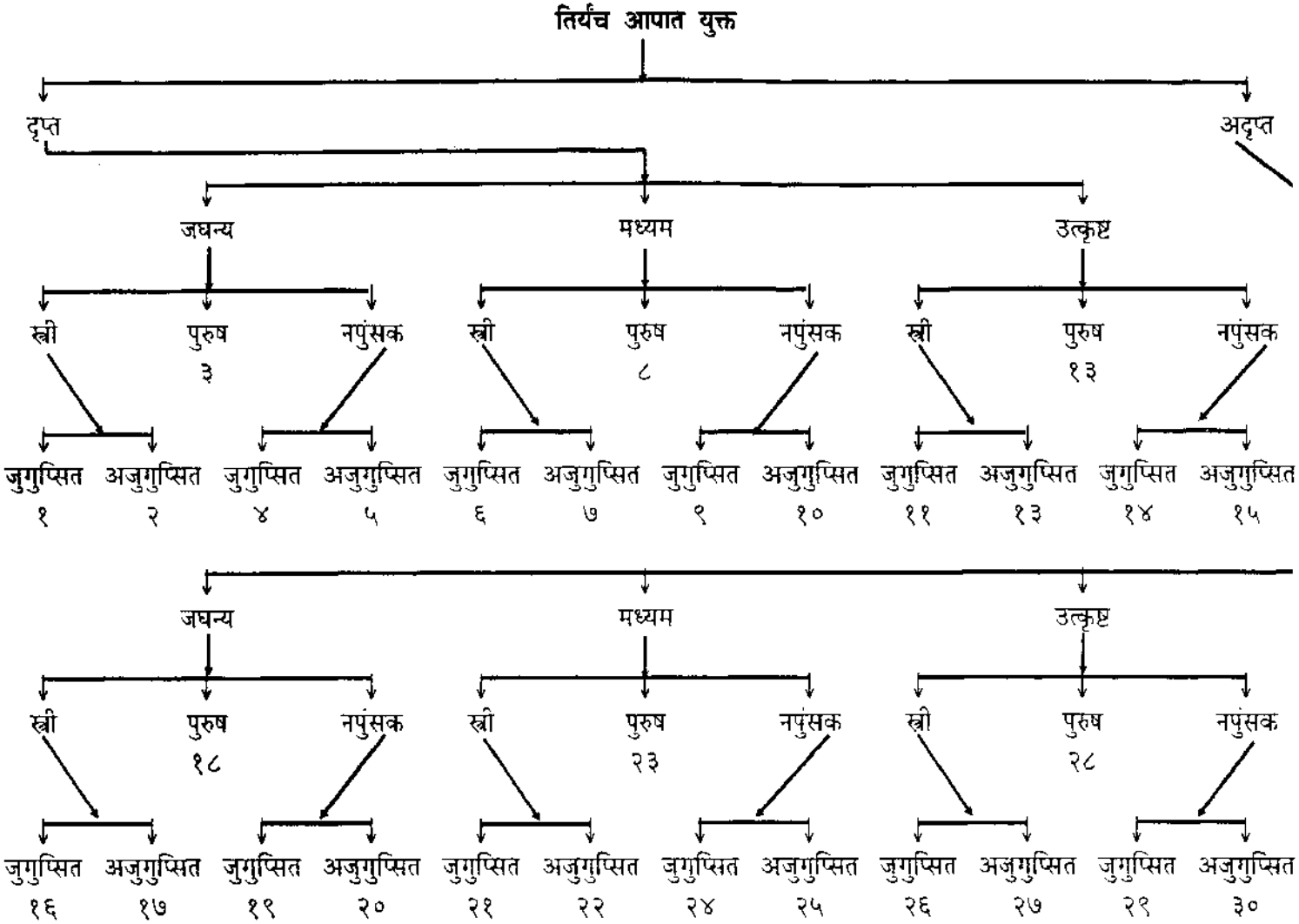

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

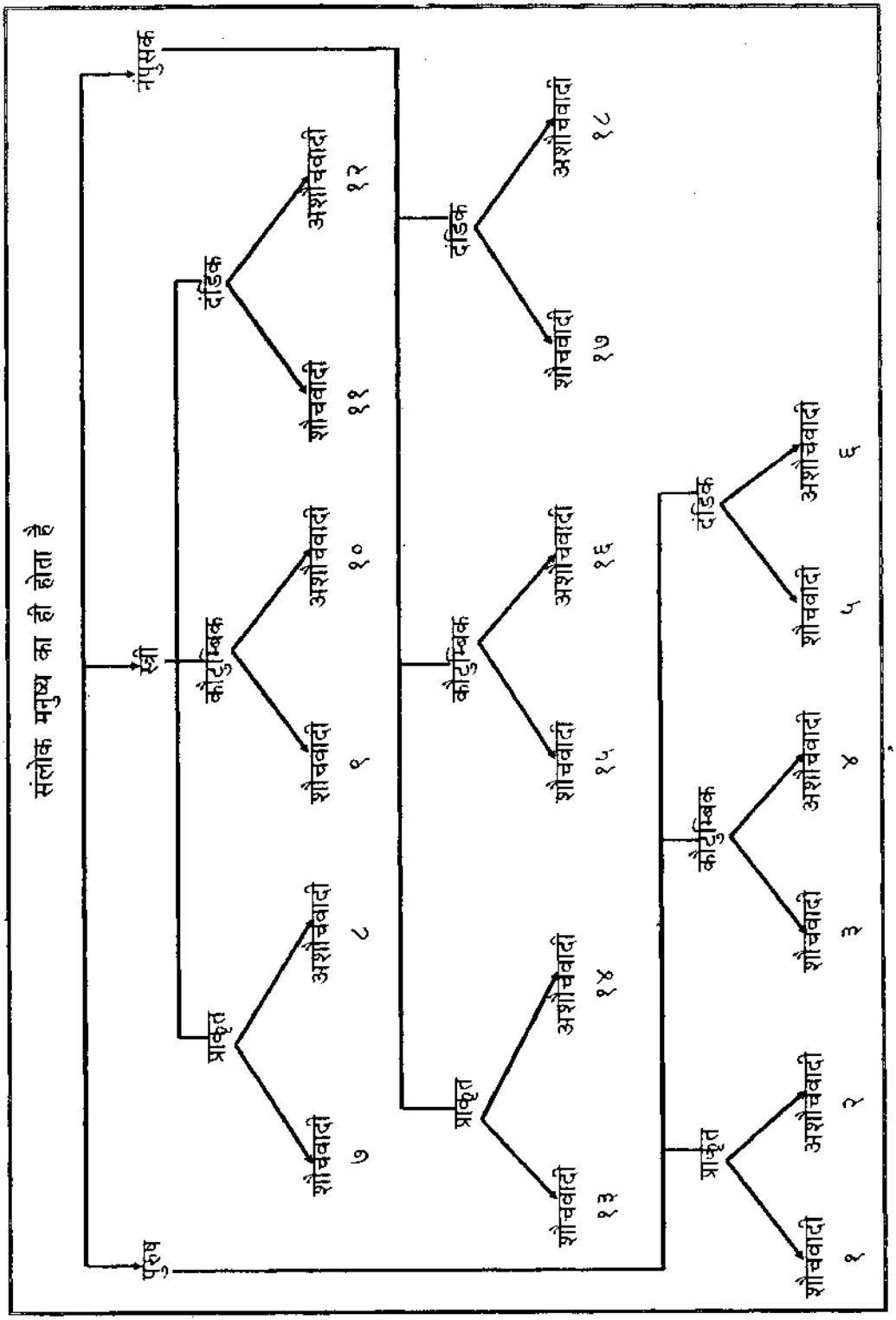

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९२ द्वार : १४ पूर्व—(नाम-पद-संख्या)

उप्पायं पढमं पुण एक्कारसकोडिपयपमाणेणं ।
बीयं अग्गाणीयं छन्नउई लक्खपयसंखं ॥७११ ॥
विरियप्पवायपुव्वं सत्तरिपयलक्खलक्खियं तइयं ।
अत्थियनत्थिपवायं सट्ठीलक्खा चउत्थं तु ॥७१२ ॥
नाणप्पवायनामं एयं एगूणकोडिपयसंखं ।
सच्चप्पवायपुव्वं छप्पयअहिएगकोडीए ॥७१३ ॥
आयप्पवायपुव्वं पयाण कोडी उ हुंति छत्तीसं ।
समयप्पवायगवरं असीई लक्ख पयकोडी ॥७१४ ॥
नवमं पच्चक्खाणं लक्खा चुलसी पयाण परिमाणं ।
विज्जप्पवाय पनरस सहस्स एक्कारस उ कोडी ॥७१५ ॥
छव्वीसं कोडीओ पयाण पुव्वे अवंझणामंमि ।
छप्पन्न लक्ख अहिया पयाण कोडी उ पाणाऊ ॥७१६ ॥
किरियाविसालपुव्वं नव कोडीओ पयाण तेरसमं ।
अद्धत्तेरसकोडी चउदसमे बिंदुसारम्मि ॥७१७ ॥
पढमं आयारंगं अट्ठारस पयसहस्सपरिमाणं ।
एवं सेसंगाण वि दुगुणादुगुणप्पमाणाइं ॥७१८ ॥

—विवेचन—

१. उत्पादपूर्व — यह प्रथमपूर्व है। इसमें सभी द्रव्य और पर्यायों के उत्पाद का स्वरूप बताया गया है। — ११ करोड़पद

२. आग्रायणी पूर्व — जिससे सभी द्रव्य-पर्याय तथा जीव विशेष के परिमाण का ज्ञान होता है वह आग्रायणीपूर्व। अग्र = परिमाण, अयनं = ज्ञान, जिससे हो ॥ ७११ ॥ — ९६ लाखपद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. वीर्यप्रवाद	— इसमें सिद्ध-संसारी जीवों की तथा अजीवों की वीर्य-शक्ति का वर्णन है।	७० लाखपद
४. अस्तिनास्ति प्रवाद	— जगत में जिनका अस्तित्त्व है, एसे धर्मास्तिकाय आदि तथा जिनका अभाव है ऐसे गधे के सींग आदि अथवा स्याद्वाद की दृष्टि से सभी वस्तुयें स्वरूप से अस्तित्ववाली हैं और पररूप से अस्तित्व के अभाववाली हैं, इस प्रकार की चर्चा जिसमें है वह पूर्व ॥ ७१२ ॥	६० लाखपद
५. ज्ञानप्रवाद	— जिसमें पाँचों ज्ञान का भेद-प्रभेद सहित वर्णन है।	१ पद न्यून करोड़पद
६. सत्यप्रवाद	— संयम अथवा सत्य का जिसमें सप्रभेद वर्णन है ॥ ७१३ ॥	१ करोड़ ६ पद
७. आत्मप्रवाद	— जिसमें अनेकविध नयों के द्वारा आत्मा का वर्णन किया गया है।	३६ करोड़पद
८. समयप्रवाद	— कर्म के स्वरूप को बतानेवाला अर्थात् जिसमें ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों के बंध, उदय, उदीरणा, सत्ता आदि का तथा मूलोत्तर भेदों का सस्वरूप वर्णन है ॥ ७१४ ॥	१ करोड़ ८० लाखपद
९. प्रत्याख्यानप्रवाद	— सप्रभेद प्रत्याख्यान के स्वरूप को बताने वाला पूर्व विशेष।	८४ लाखपद
१०. विद्यानुप्रवाद	— साधन-सिद्धि सहित जिसमें अनेक विद्याओं का वर्णन है ॥ ७१५ ॥	१ करोड़ १५ हजार पद
११. अवन्ध्यप्रवाद (कल्याण प्रवाद)	— ज्ञान, तप आदि अनुष्ठानों के शुभफल का तथा प्रमादादि अशुभ योगों के अशुभ फल का वर्णन करने वाला पूर्व।	२६ करोड़पद
१२. प्राणायुपूर्व	— जीवों के १० प्राण तथा अनेकविध आयु के स्वरूप को बताने वाला पूर्व ॥ ७१६ ॥	१ करोड़ ५६ लाख पद
१३. क्रियाविशाल	— जिसमें कायिकी आदि क्रियाओं का सप्रभेद वर्णन है।	९ करोड़ पद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४. लोकबिन्दुसार	— श्रुतलोक में अक्षरों के ऊपर लगने वाला अनुस्वार सर्वोत्तम होता है, वैसे 'सर्वाक्षर सन्निपातलब्धि' का कारणभूत 'लोकबिन्दुसार' पूर्व सर्वोत्तम है ॥ ७१७ ॥	१२ $\frac{१}{२}$ करोड़ पद

- पूर्ण अर्थ की उपलब्धि कराने वाला शब्द समूह पद कहलाता है। पद का लक्षण इस प्रकार है परन्तु परम्परा के अभाव में इस लक्षण के अनुसार पद का प्रमाण वर्तमान में ज्ञात नहीं है।
- समवायांग की टीका में पद के परिमाण के विषय में कुछ भिन्नता दिखाई देती है।

पूर्वशब्द का अर्थ—

तीर्थंकर परमात्मा, तीर्थ की स्थापना करते समय गणधर भगवन्तों को सर्वप्रथम सभी सूत्रों का आधारभूत पूर्वगत अर्थ का ही उपदेश देते हैं। इसलिये इन्हें 'पूर्व' कहा जाता है। तत्पश्चात् गणधर भगवन्त उस अर्थ से आचारांग आदि सूत्रों की रचना करते हैं तथा क्रमशः उन्हें व्यवस्थित करते हैं।

मतान्तरे—सर्वप्रथम तीर्थंकर परमात्मा ने पूर्वगत अर्थ का कथन किया। तत्पश्चात् गणधर भगवन्तों ने पूर्वो (सूत्ररूप पूर्व) के रूप में सूत्र रचना की। तत्पश्चात् आचारांग आदि की रचना की।

प्रश्न—आचारांग निर्युक्ति में सर्वप्रथम आचारांग की रचना करने का कथन है, यह कैसे संगत होगा? कहा है—सव्वेसिं आयारो (गा. ८)।

उत्तर—आचारांग निर्युक्ति का कथन सूत्रों की रचना से सम्बन्धित न होकर स्थापना से सम्बन्धित है अर्थात् सूत्रों के स्थापनाक्रम में गणधरों ने सर्वप्रथम स्थापना आचारांग की की, पर रचना क्रम में तो प्रथम पूर्व है।

	अंग नाम—	पद संख्या—
१.	आचारांग	१८ हजार पद
२.	सूत्रकृतांग	३६ हजार पद
३.	स्थानांग	७२ हजार पद
४.	समवायांग	१४४ हजार पद
५.	भगवती	२८८ हजार पद
६.	ज्ञाताधर्मकथा	५७६ हजार पद
७.	उपासकदशा	११ लाख ५२ हजार पद
८.	अन्तकृद्दशा	२३ लाख ४ हजार पद
९.	अनुत्तरोपपातिक	४६ लाख ८ हजार पद
१०.	प्रश्न व्याकरण	९२ लाख १६ हजार पद
११.	विपाकसूत्र	१ करोड़ ८४ लाख ३२ हजार पद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न—पूर्वाचार्यों द्वारा प्रदर्शित व्युत्पत्ति के अनुसार तीर्थंकर परमात्मा एवं गणधर भगवन्तों के द्वारा अर्थ व सूत्र रूप में सर्वप्रथम रचे जाने के कारण 'उत्पादादि' पूर्व कहलाये। पूर्वों में संपूर्ण सूत्रों का समावेश हो जाता है तो अंग व अंगबाह्यसूत्रों की अलग से रचना क्यों की?

उत्तर—जगत के प्राणी विचित्र मति वाले हैं। कोई अल्पमति वाले हैं तो कोई तीव्रबुद्धि सम्पन्न हैं। जो अल्पबुद्धि वाले हैं वे अति गम्भीर अर्थ युक्त होने से पूर्वों का अध्ययन नहीं कर सकते, स्त्रियाँ अनधिकारी होने से पूर्वों का अध्ययन नहीं कर सकतीं। उनके अनुग्रहार्थ अंग व अंगबाह्य सूत्रों की रचना की गई है। कहा है कि—"तुच्छ, गर्वयुक्त, चंचल व धैर्यहीन होने के कारण स्त्रियाँ उत्थानश्रुत आदि अतिशय सम्पन्न शास्त्र तथा दृष्टिवाद पढ़ने की अधिकारी नहीं हैं।

विशेष—पूर्वोक्त पाठ से स्पष्ट है कि साध्वियों के लिये कुछ विशेष सूत्रों को छोड़कर शेष सूत्रों के अध्ययन का निषेध नहीं है। मूलपाठ—'अत्रातिशेषाध्ययनानि—उत्थानश्रुतादीनि विविधविशिष्टातिशयसंपन्नानि शास्त्राणि, भूतवादो = दृष्टिवादः। ततो दुर्मेधसां, स्त्रीणां चानुग्रहाय शेषाङ्गानामङ्गबाह्यस्य च विरचनम्' ॥ ७१८ ॥

प्र. सा. टीका (पत्राङ्क २०९)

९३ द्वार : निर्ग्रन्थ-पंचक—

पंच नियंठा भणिया पुलाय बउसा कुसील निग्गंथा।
होइ सिणाओ य तहा एक्केक्को सो भवे दुविहो ॥७१९॥
गंथो मिच्छत्तधणाइओ मओ जे य निग्गया तत्तो।
ते निग्गंथा वुत्ता तेसि पुलाओ भवे पढमो ॥७२०॥
मिच्छत्तं वेयतियं हासाई छक्कगं च नायव्वं।
कोहाईण चउक्कं चउदस अब्भिंतरा गंथा ॥७२१॥
खेत्तं वत्थुं धणधन्नसंचओ मित्तनाइसंजोगो।
जाणसयणासणाणि य दासा दासीउ कुवियं च ॥७२२॥
धन्नमसारं भन्नइ पुलायसद्देण तेण जस्स समं।
चरणं सो हु पुलाओ लद्धीसेवाहि सो य दुहा ॥७२३॥
उवगरणसरीरेसुं बउसो दुविहो वि होइ पंचविहो।
आभोग अणाभोए संबुड अस्संबुडे सुहुमे ॥७२४॥
आसेवणा कसाए दुहा कुसीलो दुहावि पंचविहो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाणे दंसण चरणे तवे य अहसुहुमए चेव ॥७२५ ॥
उवसामगो य खवगो दुहा नियंठो दुहावि पंचविहो ।
पढमसमओ अपढमो चरम अचरमो अहासुहुमो ॥७२६ ॥
पाविज्जइ अट्ठसयं खवगाणुवसामगाण चउपन्ना ।
उक्कोसओ जहन्नेणेक्को व दुगं व तिगमहवा ॥७२७ ॥
सुहझाणजलविसुद्धो कम्ममलावेक्खया सिणाओत्ति ।
दुविहो य सो संजोगी तहा अजोगी विणिद्दिट्ठो ॥७२८ ॥
मूलुत्तरगुणविसया पडिसेवा सेवए पुलाए य ।
उत्तरगुणेसु बउसो सेसा पडिसेवणारहिया ॥७२९ ॥
निग्गंथसिणायाणं पुलायसहियाण तिण्ह वोच्छेओ ।
समणा बउसकुसीला जा तित्थं ताव होहिंति ॥७३० ॥

—गाथार्थ—

पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थ—१. पुलाक, २. बकुश, ३. कुशील, ४. निर्ग्रन्थ एवं स्नातक—ये पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थ हैं। इनमें से प्रत्येक के दो-दो भेद हैं॥७१९॥

ग्रन्थ अर्थात् ग्रन्थि-गाँठ। मिथ्यात्वादि रूप आभ्यन्तर ग्रन्थि एवं धनादि रूप बाह्य ग्रन्थि से जो रहित हो चुके हैं वे निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। उनमें पुलाक निर्ग्रन्थ प्रथम है॥७२०॥

मिथ्यात्व, तीन वेद, हास्यादि षट्क एवं क्रोधादि चार—ये चौदह आभ्यन्तर ग्रन्थियाँ हैं॥७२१॥

क्षेत्र, वास्तु, धन-धान्य का संग्रह, मित्र-ज्ञाति वर्ग का संयोग, वाहन, शयन, आसन, दास-दासी एवं घरेलू सामान—ये दस बाह्यग्रन्थि हैं॥७२२॥

धान्य रहित छिलके 'पुलाक' कहलाते हैं। छिलके जैसा सारहीन जिसका चारित्र है, वह साधु पुलाक कहलाता है। लब्धिपुलाक और सेवापुलाक के भेद से पुलाक द्विविध है॥७२३॥

बकुश के दो भेद हैं—उपकरण बकुश और शरीर बकुश। दोनों प्रकार के बकुश १. आभोग, २. अनाभोग, ३. संवृत्त, ४. असंवृत्त एवं ५. सूक्ष्म के भेद से पाँच प्रकार के हैं॥७२४॥

कुशील के दो भेद हैं—आसेवनाकुशील और कषाय कुशील। ये दोनों पाँच प्रकार के हैं—१. ज्ञानकुशील, २. दर्शनकुशील, ३. चारित्रकुशील, ४. तपकुशील एवं ५. सूक्ष्मकुशील॥७२५॥

निर्ग्रन्थ दो प्रकार के हैं—उपशामक और क्षपक।

इन दोनों के पाँच-पाँच भेद हैं—१. प्रथमसमयी, २. अप्रथमसमयी, ३. चरमसमयी, ४. अचरमसमयी तथा ५. यथा सूक्ष्म॥७२६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक समय में उत्कृष्ट से क्षपक १०८ तथा उपशामक ५४ होते हैं। एक समय में जघन्य से क्षपक तथा उपशामक १-२ या ३ होते हैं॥७२७॥

कर्मरूपी मैल की अपेक्षा से जो शुभध्यानरूपी जल से (कर्मरूपी मैल को दूरकर) विशुद्ध—रहित हो चुका है वह स्नातक है। 'स्नातक' सयोगी और अयोगी के भेद से दो प्रकार का है॥७२८॥

मूलगुण व उत्तरगुण सम्बन्धी अतिचारों का सेवन करने वाले पुलाक हैं तथा उत्तरगुण सम्बन्धी अतिचारों का सेवन करने वाले बकुश हैं। शेष निर्ग्रन्थ मूलगुण और उत्तरगुण के अविराधक हैं॥७२९॥

निर्ग्रन्थ, स्नातक और पुलाक इन तीनों का वर्तमान में विच्छेद हो चुका है। किन्तु बकुश और कुशील यावत्तीर्थ विद्यमान रहेंगे॥७३०॥

—विवेचन—

ग्रन्थ—कषायवश आत्मा जिसे बाँधता है अथवा जिसके कारण आत्मा कर्म से बंधता है वह ग्रंथ है। उसके दो भेद हैं—बाह्य व आभ्यन्तर।

बाह्यग्रन्थ	आभ्यन्तर ग्रन्थ
धन-धान्य, क्षेत्र, वास्तु, मित्रज्ञाति-संयोग, शयन-आसन, दास-दासी और कुप्य।	मिथ्यात्व-कषाय और नोकषाय = १४
१. धन—सोना, चाँदी आदि। धान्य—शाली, ओदन, मूँग आदि।	१. मिथ्यात्व—तत्त्व पर अश्रद्धा
२. क्षेत्र—खेत-कुँआ-पुल आदि।	२-४. वेदत्रिक—स्त्री, पुरुष, नपुंसक
३. वास्तु—मकान, महल, घर इत्यादि।	५. हास्य—हँसी
४. मित्रज्ञातिसंयोग—मित्र और स्वजनों का सम्बन्ध	६. रति—असंयम में प्रीति
५. यान—शिबिका, रथ आदि वाहन।	७. अरति—संयम में अप्रीति
६. शयन—पलंग, आदि।	८. भय—इहलोक, परलोक आदि सात प्रकार का
७. आसन—सिंहासन आदि।	९. शोक—इष्ट वियोग जन्य मानसिक संताप
८. दास—पुरुष नौकर।	१०. जुगुप्सा—साधु की मलिनता से घृणा
९. दासी—स्त्री नौकर।	११-१४. कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ
१०. कुप्य—घरेलू सामान।	

॥ ७१९-७२२ ॥

पूर्वोक्त दोनों प्रकार के ग्रन्थ से जो रहित हैं वे निर्ग्रन्थ हैं। उसके ५ भेद हैं।

१. पुलाक—अनेक दोषों के कारण जिसका चारित्र धान्य रहित छिलके की तरह सारहीन हो। चक्रवर्ती के सैन्य को चूर्ण करने में समर्थ, तप और ज्ञानातिशय से उत्पन्न लब्धि के अनावश्यक उपयोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से एवं ज्ञानादि के अतिचारों का सेवन करने से जिसने अपने संयम को सर्वथा असार कर दिया है, वह पुलाक है। उसके दो भेद हैं—१. लब्धि पुलाक और २. प्रतिसेवना पुलाक। मूलगुण व उत्तरगुण में परिपूर्ण न होने पर भी जो वीतराग प्रणीत आगम के प्रति श्रद्धावान है, वह पुलाक है।

(१.) **लब्धि पुलाक**—इन्द्र के समान समृद्धिशाली, संघादि का कार्य उपस्थित होने पर चक्रवर्ती की सेना को भी चूर्ण करने वाली लब्धि से सम्पन्न। किसी का मत है कि ऐसी लब्धि का उपयोग करने वाला ज्ञान-पुलाक ही लब्धि पुलाक कहलाता है।

(२.) **प्रतिसेवना पुलाक**—इसके पाँच भेद हैं—

(i) ज्ञान पुलाक, **(ii)** दर्शन पुलाक, **(iii)** चारित्र पुलाक, **(iv)** लिंग पुलाक और **(v)** यथासूक्ष्म पुलाक।

(i) ज्ञान पुलाक—स्खलनादि दोषों से ज्ञान की विराधना द्वारा आत्मा को असार बनाने वाला ज्ञान पुलाक है।

(ii) दर्शन पुलाक—मिथ्या-दृष्टि के संस्तव आदि से दर्शन की विराधना द्वारा आत्मा को असार करने वाला दर्शन पुलाक है।

(iii) चारित्र पुलाक—मूल-गुण और उत्तर गुण की विराधना द्वारा आत्मा को असार बनाने वाला चारित्र पुलाक है।

(iv) लिंग पुलाक—आगमोक्त प्रमाण से अधिक उपकरण ग्रहण करने वाला, निष्कारण गृहस्थ व कुतीर्थिकों के लिंग-धारण करने वाला लिंग पुलाक है। लिंग = वेशभूषा आदि।

(v) यथासूक्ष्म पुलाक—प्रमाद वश या जानबूझकर अकल्प्य वस्तु को ग्रहण करने वाला।

अन्यमते—ज्ञान-पुलाक आदि पूर्वोक्त चार भेदों में अल्प विराधना करने वाला यथासूक्ष्म पुलाक है॥ ७२३॥

२. **बकुश**—शबल, कर्बुर और बकुश ये तीनों ही एकार्थक हैं। अतिचार रूपी मैल से जिसका चारित्र मलिन (शुद्धाशुद्ध) हो गया है वह बकुशनिर्ग्रन्थ है। यह दो प्रकार का है— १. उपकरण बकुश और २. शरीर बकुश।

(१.) **उपकरण बकुश**—अकारण वस्त्र धोने वाला, उत्तम वस्त्र की चाह रखने वाला, विभूषा के भाव से पात्र, डंडे इत्यादि को तेल लगाकर चमकाने वाला।

(२.) **शरीर बकुश**—हाथ-पाँव आदि धोने वाला, आँख, नाक की सफाई करने वाला, केश, नख, दाँत को संवारने वाला। (विभूषा के भाव से।)

पूर्वोक्त दोनों ही प्रकार के बकुश के पाँच भेद हैं—

(i) आभोग बकुश—साधु को शरीर, उपकरण आदि की विभूषा नहीं करनी चाहिये ऐसा जानते हुए भी विभूषा करने वाला।

(ii) अनाभोग बकुश—शरीर, उपकरण आदि की अज्ञानवश विभूषा करने वाला।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(iii) संवृत बकुश—छुपकर दोष सेवन करने वाला।

(iv) असंवृत बकुश—लोकों से ज्ञात दोष वाला अथवा मूलगुण से संबद्ध दोषों से युक्त संवृत बकुश है तथा उत्तरगुणाश्रित दोषों से युक्त असंवृत बकुश है।

(v) सूक्ष्म बकुश—अल्प प्रमादी, नाक, आँख आदि की सफाई करने वाला।

दोनों प्रकार के बकुश सामान्यतः ऋद्धि और यश की कामना वाले, शातागौरवयुक्त अविविक्त परिवार वाले तथा छेद योग्य सबल चारित्र वाले होते हैं। ऋद्धि—प्रचुर मात्रा से वस्त्र पात्र का संग्रह करने वाले। यश—ये साधु गुणवान हैं विशिष्ट प्रकार के हैं इत्यादि ख्याति के इच्छुक। अविविक्त परिवार = असंयमी शिष्य परिवार वाले अर्थात् समुद्र के फेन आदि से रगड़कर पिण्डी आदि का मैल उतारने वाले, तैलादि से शरीर की मालिश करने वाले, कतरनी आदि से बालों को काटकर सँवारने वाले ऐसे—शिष्य परिवार से युक्त, छेद प्रायश्चित्त के योग्य दूषित चारित्र वाले होते हैं।

साता = सुख। गौरव = आदर वाले अर्थात् सुखालिप्सु-रात दिन करने योग्य अनुष्ठानों के प्रति प्रमादी।

बकुश के लिये दो प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान है—

१. देशछेद प्रायश्चित्त और २. सर्वछेद प्रायश्चित्त।

१. देशछेद प्रायश्चित्त—दोषों के अनुपात में दीक्षा-पर्याय को कम करना।

२. सर्वछेद प्रायश्चित्त—सम्पूर्ण दीक्षा-पर्याय का छेद करके पुनः दीक्षा देना॥ ७२४॥

३. कुशील—मूलोत्तरगुण की विराधना करने वाला एवं संज्वलन कषाय के उदय से कुत्सित चारित्र वाला। इसके दो भेद हैं—१. प्रतिसेवना कुशील और २. कषाय-कुशील।

(i) प्रतिसेवना कुशील—संयम की विपरीत भाव से आराधना करने वाला। यह पाँच प्रकार का है १. ज्ञान कुशील, २. दर्शन कुशील, ३. चारित्र कुशील, ४. तप कुशील और ५. यथासूक्ष्म कुशील।

१-४. ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की आराधना से लोकों में प्रशंसा आदि प्राप्त करने वाला।

५. यथासूक्ष्म—'यह महान् तपस्वी है' ऐसी प्रशंसा सुनकर सन्तुष्ट होने वाला।

अन्यमते—तप कुशील के स्थान पर लिंग कुशील ऐसा पाठ है। अर्थात् जो मात्र वेषधारी है।

(ii) कषाय कुशील—यह भी पूर्ववत् पाँच प्रकार का है।

१-२. ज्ञान, दर्शन-कुशील—संज्वलन कषाय के उदय से अपने ज्ञान और दर्शन को दूषित करने वाला।

३. चारित्र कुशील—कषायवश शाप देने वाला।

४. तप-कुशील—संज्वलन कषाय के उदय से तप को दूषित करने वाला।

५. यथासूक्ष्म—मन से क्रोधादि करने वाला अथवा संज्वलन कषायवश ज्ञान, दर्शन, चारित्र व तप की विराधना करने वाले अर्थात् ज्ञानादि को अतिचारों से मलिन करने वाले ज्ञानादि कषायुक्त कुशील हैं॥ ७२५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. **निर्ग्रन्थ**—मोह रूपी ग्रन्थि से रहित। इसके दो भेद हैं—

(i) उपशान्तमोह **(ii)** क्षीणमोह।

(१) **उपशान्तमोह**—जिस आत्मा का मोहकर्म ऐसा उपशान्त हो गया हो कि जिसका संक्रमण, उद्वर्त्तन कुछ भी न हो सके। इसके पाँच भेद हैं—

(i) प्रथमसमय निर्ग्रन्थ—उपशान्त मोह के प्रथम समय में स्थित आत्मा।

(ii) अप्रथमसमय निर्ग्रन्थ—उपशान्त मोह के प्रथम समय को छोड़कर शेष काल में स्थित आत्मा।

(iii) चरम समय निर्ग्रन्थ—उपशान्त मोह के अन्तिम समय में वर्तमान आत्मा।

(iv) अचरम समय निर्ग्रन्थ—उपशान्त मोह के अन्तिम समय को छोड़कर शेष समय में वर्तमान आत्मा।

(v) यथासूक्ष्म निर्ग्रन्थ—उपशान्त मोह के सम्पूर्ण समय में वर्तमान आत्मा।

(२) **क्षीणमोह**—सूक्ष्मसंपराय अवस्था में संज्वलन लोभ का सर्वथा क्षय हो जाने से जिसका मोह सर्वथा क्षीण हो चुका हो। इसके पाँच भेद हैं।

(i) प्रथम समय निर्ग्रन्थ—अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण निर्ग्रन्थ काल के प्रथम समय में निर्ग्रंथता को प्राप्त करने वाला आत्मा।

(ii) अप्रथम समय निर्ग्रन्थ—क्षीणमोह के प्रथम समय को छोड़कर शेष समय में वर्तमान आत्मा। प्रथम-अप्रथम समय निर्ग्रन्थ की प्ररूपणा पूर्वानुपूर्वी की अपेक्षा से है।

(iii) चरमसमय निर्ग्रन्थ—क्षीणमोह के चरम समय में वर्तमान आत्मा।

(iv) अचरम समय निर्ग्रन्थ—क्षीणमोह के चरम समय को छोड़कर शेष समय में वर्तमान आत्मा। चरम-अचरम समय निर्ग्रन्थ की प्ररूपणा पश्चानुपूर्वी की अपेक्षा से है।

(v) यथासूक्ष्म—क्षीणमोह के सम्पूर्ण काल में वर्तमान आत्मा। ये भेद विवक्षाकृत हैं।

उपशमश्रेणि वाला आत्मा कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं भी होता है, क्योंकि उपशम श्रेणि का अन्तर काल उत्कृष्टतः दो से नौ वर्ष का है। एक समय में एक साथ उपशम श्रेणि प्रारम्भ करने वाले जीव जघन्यतः १-२-३, उत्कृष्टतः ५४ हो सकते हैं।

उपशमश्रेणि में अनेक समय आश्रयी प्रवेश करने वालों की संख्या पन्द्रह कर्मभूमि की अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त काल में उत्कृष्टतः संख्याता है, क्योंकि उपशम श्रेणि निरन्तर नहीं होती।

क्षपकश्रेणि में एक समय में प्रवेश करने वाले आत्मा जघन्यतः १-२-३, क्षीणमोही कदाचित् नहीं भी होता है, क्योंकि क्षपक श्रेणि का अन्तर उत्कृष्ट से छः महीने का है। उत्कृष्टतः १०८ एक समय में क्षपक होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षपकश्रेणि में अनेक समय आश्रयी प्रवेश करने वालों की संख्या पन्द्रह कर्मभूमि की अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त काल परिमाण में उत्कृष्ट: २०० से ९०० है। क्योंकि क्षपक श्रेणि निरन्तर नहीं होती।

प्रश्न—उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणि का कालमान अन्तर्मुहूर्त का है और एक अन्तर्मुहूर्त के असंख्यात समय होते हैं। असंख्यात समय में यदि एक जीव भी प्रतिसमय प्रवेश करे तो कुल मिलाकर अन्तर्मुहूर्त काल में असंख्यात उपशामक और असंख्यात ही क्षपक हो जाते हैं। जबकि उपशम श्रेणि में प्रतिसमय उत्कृष्टत: प्रवेश करने वाले ५४ और क्षपक श्रेणि में १०८ जीव होते हैं। अत: उपशामक और क्षपक की पूर्वोक्त संख्या कैसे घटेगी?

उत्तर—श्रेणी काल में प्रतिसमय जीवों का प्रवेश हो तब तो आपका प्रश्न यथार्थ है किन्तु प्रति समय जीवों का प्रवेश नहीं होता क्योंकि ज्ञानियों ने अपने ज्ञान में ऐसा ही देखा है तथा गर्भज मनुष्यों की संख्या संख्यात ही है, असंख्यात नहीं। उनमें भी श्रेणी चढ़ने वाले संयमी ही होते हैं अन्य नहीं। अत: उपशामक और क्षपक की पूर्वोक्त संख्या यथार्थ है॥ ७२६-७२७॥

५. **स्नातक**—शुक्लध्यानरूपी जल से धो लिया है समस्त घातिकर्मरूपी मैल को जिसने (स्नान किये हुए की तरह), ऐसा आत्मा अर्थात् केवलज्ञानी स्नातक कहलाते हैं। इनके दो भेद हैं—

(i) सयोगी—मन-वचन-काया की प्रवृत्ति वाले।

(ii) अयोगी—मन-वचन और काया की प्रवृत्ति से रहित।

विशेष—भगवती में पुलाक, बकुश आदि निर्ग्रन्थों का ३६ द्वारों से चिन्तन किया गया है। इनमें अत्यन्त उपयोगी तथा शेष द्वारों का उपलक्षण रूप होने से यहाँ 'प्रतिसेवना' द्वार की व्याख्या की जाती है। प्रतिसेवना = प्राणातिपात विरमण आदि मूलगुणों की तथा पिण्डविशुद्धि आदि उत्तरगुणों की सम्यग् आराधना सेवा है। उनकी विराधना प्रतिसेवा है। मूल व उत्तरगुणों में से किसी एक की विराधना पुलाक प्रतिसेवना व कुशील प्रतिसेवना है।

- तत्त्वार्थभाष्य के मतानुसार पाँच मूलगुण तथा रात्रिभोजन विरमणव्रत में से किसी एक की दूसरों के आग्रह से या बलात्कार से विराधना करने वाला प्रतिसेवना पुलाक है।

किसी का मत है कि ब्रह्मचर्य व्रत की विराधना करने वाला प्रतिसेवना पुलाक कहलाता है॥७२८॥

- मूलगुण को सुरक्षित रखने वाला व उत्तरगुण की अल्प-विराधना करने वाला प्रतिसेवना कुशील है। मात्र उत्तरगुणों का विराधक 'बकुश' होता है। शेष निर्ग्रन्थ मूल व उत्तरगुण के अविराधक होते हैं।

प्रश्न—प्रतिसेवना पुलाक और प्रतिसेवना कुशील विराधक होने से निर्ग्रन्थ कैसे कहे जाते हैं?

उत्तर—संयम-स्थान असंख्यात है और चारित्र की परिणति संयम-स्थान रूप होने से प्रतिसेवना पुलाक और प्रतिसेवना कुशील भी निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। पूर्वोक्त निर्ग्रन्थ के पाँच भेदों में चारित्र के अनन्त-अनन्त पर्याय होते हैं। कहा है—'हे भगवन्, पुलाक संयमी के कितने चारित्र पर्याय होते हैं? हे गौतम! अनन्त चारित्र पर्याय होते हैं ऐसा स्नातक पर्यन्त समझना'॥ ७२९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्ग्रन्थों का काल—निर्ग्रन्थ, स्नातक और पुलाक सर्वदा नहीं होते। जम्बूस्वामी के पश्चात् इनका विच्छेद हो चुका है। बकुश और कुशील यावत्तीर्थ रहेंगे ॥ ७३० ॥

९४ द्वार : श्रमण-पंचक—

निग्गंथ सक्क तावस गेरुय आजीव पंचहा समणा।
तम्मी निग्गंथा ते जे जिणसासणभवा मुणिणो ॥७३१ ॥
सक्का य सुगयसीसा जे जडिला ते उ तावसा गीया।
जे धाउरत्तवत्था तिदंडिणो गेरुया ते उ ॥७३२ ॥
जे गोसालगमयमणुसरंति भन्नंति ते उ आजीवा।
समणत्तणेण भुवणे पंचवि पत्ता पसिद्धिमिमे ॥७३३ ॥

—गाथार्थ—

श्रमण पंचक—**१. निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरुक एवं आजीवक—ये पाँच प्रकार के श्रमण हैं। इनमें जो निर्ग्रन्थ हैं वे जैन मुनि हैं। बुद्ध के शिष्य शाक्य हैं। जो जटाधारी हैं, वे तापस हैं। भगवा वेष पहनने वाले त्रिदंडी गैरुक हैं। गौशालक के मत का अनुसरण करने वाले साधु आजीवक कहलाते हैं। ये पाँचों जगत में श्रमणरूप से प्रसिद्धि को प्राप्त हैं ॥७३१-७३३ ॥**

—विवेचन—

१. **निर्ग्रन्थ**—वीतराग शासन के अनुयायी सुसाधु।
२. **शाक्य**—बौद्ध मतानुयायी साधु।
३. **तापस**—जटाधारी, वनवासी एवं अन्य मतानुयायी साधु।
४. **गैरुक**—गैरुए वस्त्र पहनने वाले, त्रिदंडी, परिव्राजक।
५. **आजीवक**—गौशालक के मतानुयायी। ये पाँचों श्रमणरूप से प्रसिद्ध हैं ॥ ७३१-७३३ ॥

९५ द्वार : ग्रासैषणा-पंचक—

संजोयणा पमाणे इंगाले धूम कारणे चेव।
उवगरणभत्तपाणे सबाहिरऽब्भंतरा पढमा ॥७३४ ॥
कुक्कुडिअंडयमेत्ता कवला बत्तीस भोयणपमाणे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राएणाऽऽसायंतो संगारं करइ सचरित्तं ॥७३५ ॥
भुंजंतो अमणुन्नं दोसेण सधूमगं कुणइ चरणं ।
वेयणआयंकप्पमुहकारणा छच्च पत्तेयं ॥७३६ ॥
वेयण वेयावच्चे इरियट्ठाए य संजमट्ठाए ।
तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिंताए ॥७३७ ॥
आयंके उवसग्गे तितिक्खया बंभचेरगुत्तीसु ।
पाणिदया तवहेऊ सरीरवोच्छेयणट्ठाए ॥७३८ ॥

—गाथार्थ—

ग्रासैषणा-पंचक—**१. संयोजना, २. प्रमाण, ३. अंगार, ४. धूम्र तथा ५ कारण—ये ग्रासैषणा के पाँच दोष हैं। इनमें प्रथम दोष संयोजना, उपकरणविषयक और भक्तपान विषयक दो प्रकार की है। इन दोनों के भी बाह्य और आभ्यंतर ऐसे दो भेद हैं॥७३४॥**

मुर्गी के अण्डे जितने परिमाण वाले ३२ कवल भोजन का वास्तविक प्रमाण है। आहार को रागपूर्वक खाने वाला मुनि अपने संयम का अंगारा—कोयला कर देता है॥७३५॥

अमनोज्ञ भोजन द्वेषपूर्वक करने वाला मुनि अपने संयम को सधूम करता है। भोजन करने और न करने के क्रमशः वेदनादि छः और आतंक आदि छः कारण हैं॥७३६॥

१. वेदना, २. वैयावृत्त्य, ३. ईर्यासमिति का पालन ४. संयम, ५. प्राणधारण एवं ६. धर्मचिन्तन—ये भोजन करने के छः कारण हैं॥७३७॥

१. रोग, २. उपसर्ग, ३. ब्रह्मचर्य का पालन, ४. जीवदया, ५. तप एवं ६. शरीर त्याग—इन छः कारणों से भोजन का त्याग किया जाता है॥७३८॥

—विवेचन—

ग्रास = भोजन, एषणा = भोजन सम्बन्धी शुद्धि-अशुद्धि विषयक पर्यालोचन।

ग्रासैषणा के पाँच दोष हैं—१. संयोजना, २. प्रमाण, ३. अंगार, ४. धूम, ५. कारण।

१. संयोजना—किसी द्रव्य को अधिक शोभनीय व रसयुक्त बनाने के लिये अन्य द्रव्य से संयुक्त करना। इसके भी दो प्रकार हैं—**(i)** उपकरण विषयक, **(ii)** भक्तपानविषयक।

(i) उपकरण विषयक संयोजना भी बाह्य आभ्यन्तर भेद से दो तरह की होती है। जैसे किसी के घर सुन्दर चोलपट्टा मिल गया तो उसी समय अन्य के घर से योग्य चादर माँगकर वसति के बाहर पहनना उपकरण विषयक बाह्य संयोजना है। विभूषा के लिये वसति के अन्दर पहनना आभ्यन्तर संयोजना है।

(ii) भक्त-पान विषयक संयोजना भी बाह्य आभ्यन्तर भेद से दो तरह की है। दूध-आदि द्रव्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को अधिक रस युक्त बनाने के लिये वसति के बाहर ही शक्कर आदि से मिश्रित करना, भक्त-पान विषयक बाह्य संयोजना है। आभ्यन्तर संयोजना तीन तरह की है—

(अ) पात्र-विषयक—गौचरी करते समय दूध आदि को शक्कर आदि से मिश्रित करना।

(ब) कवल विषयक—कौर तोड़कर हाथ में लेने के बाद उसे रस युक्त बनाने के लिये शक्कर आदि से युक्त करना।

(स) मुखविषयक—पहले मंडक (एक प्रकार की रोटी) को मुख में डालकर फिर उसके स्वाद को और अधिक बढ़ाने के लिये गुड़ आदि मुँह में डालना।

अपवाद—गौचरी करने के बाद बचे हुए घी आदि को उठाने के लिये यदि उसमें शक्कर आदि मिश्रित की जाये तो 'संयोजना' दोष नहीं लगता। पेट भरा हुआ होने से मंडक आदि के साथ घी नहीं खाया जा सकता। अगर उसे परठा जाये तो जीवों की विराधना होगी। अतः शर्करा आदि से मिश्रित करके उठाना आवश्यक है।

बीमार को स्वस्थ करने के लिये संयोजन करे तो दोष नहीं लगता।

दीक्षित राजपुत्रादि एवं नूतन मुनि के लिये संयोजना करने में दोष नहीं लगता। क्योंकि राजपुत्र सुकुमार होने से तथा नूतनदीक्षित चारित्र में दृढ़ न होने से कदाचित् संयम के प्रति अभाव वाले बनें। अतः इनके लिये 'रसवृद्धि' के हेतु भी यदि संयोजना करनी पड़े तो भी दोष नहीं लगता॥ ७३४॥

२. प्रमाण—कुर्कुटी अर्थात् मुर्गी के अण्डे जितने बड़े परिमाण वाले ३२ कवल भोजन का प्रमाण है। कुर्कुटी के दो भेद हैं—**(i)** द्रव्यकुर्कुटी और **(ii)** भावकुर्कुटी।

(i) द्रव्यकुर्कुटी—साधु का शरीर कुर्कुटी है और उसका मुँह अण्डा है अतः जितना बड़ा कौर मुँह में सुखपूर्वक समा सके तथा उसे चबाने पर आँख, नाक, गाल, होठ या भ्रू जरा भी विकृत न बने, इतना बड़ा कवल द्रव्य-कुर्कुटी कहलाता है। द्रव्य कुर्कुटी की अपेक्षा से पुरुष, स्त्री व नपुंसक का आहार क्रमशः ३२, २८ और २४ कवल प्रमाण होता है।

(ii) भाव कुर्कुटी—जितना आहार करने से व्यक्ति भूखा न रहे, शरीर में स्फूर्ति रहे तथा ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि हो, उतना आहार भाव कुर्कुटी कहलाता है और उस आहार का ३२वाँ भाग अण्डक है। अतः भाव कुर्कुटी की अपेक्षा से पुरुष, स्त्री व नपुंसक का आहार क्रमशः ३२, २८ और २४ अण्डक (कवल) प्रमाण होता है।

इससे अधिक आहार पाचन न होने से रोग, वमन व मृत्यु का कारण बनता है। ऐसा **पिंडनिर्युक्ति** में कहा है॥ ७३५॥

३. अंगार दोष—राग से दाता या भोजन की प्रशंसापूर्वक खाया जाने वाला शुद्ध आहार भी चारित्र को कोयला बना देता है। इसके दो भेद हैं—

(i) द्रव्य अंगार—लकड़ी को जलाकर बनाये गये अंगारे (जलते कोयले)।

(ii) भाव-अंगार—जैसे अग्नि से जला हुआ ईंधन निर्धूम होने के बाद अंगारा कहलाता है, वैसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही राग रूप अग्नि से जला हुआ चारित्र रूप ईधन अंगारे तुल्य होता है। भोजनगत विशिष्ट गन्ध, रस आदि में आसक्त बने आत्मा का प्रशंसापूर्वक आहार करना जैसे—अहो! यह आहार कितना मधुर है...सुसंस्कृत है...स्निग्ध, पक्व व सुस्वादु है। इस प्रकार आसक्तिपूर्वक किया जाने वाला आहार सांगार कहलाता है।

साधु के आहार करने के एवं न करने के भगवान ने छः ही कारण बताये हैं। इनसे विपरीत आचरण करने वाला भगवान की आज्ञा का विराधक होता है। अतः राग आदि के निमित्त से आहार करने वाला, भोजन या दाता की प्रशंसा करने वाला आत्मा राग रूपी अग्नि से अपने चारित्र को जलाकर अंगारे जैसा बना देता है॥ ७३६॥

४. धूम दोष—देने वाले की या आहार की निन्दा करते हुए गौचरी करना। यह द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है—

(i) द्रव्य धूम-दोष—आधी जली हुई लकड़ी आदि से उत्पन्न होने वाला धुआँ।

(ii) भाव धूम-दोष—द्वेष रूप अग्नि से जलते हुए चारित्र रूपी ईंधन से उत्पन्न निन्दा रूपी धुआँ। जैसे आधा जला हुआ ईंधन सधूम होता है, वैसे द्वेषाग्नि से जला हुआ चारित्र रूप ईंधन भी सधूम होता है। भोजन की विरूपता से द्वेषी बनकर "यह भोजन विरूप, दुर्गंधयुक्त, कच्चा, असंस्कृत, नमक हीन है," इस प्रकार निन्दा करते हुए गौचरी करना धूम दोषयुक्त है।

५. कारण—आहार करने और न करने के कारण।

मुनि के आहार करने के छः कारण हैं और न करने के भी छः कारण हैं।

आहार करने के छः कारण—

(i) वेदना शमन—भूख की वेदना असह्य होती है, उसे शान्त किये बिना संयम का पालन अशक्य हो जाता है। अतः क्षुधा वेदना को शान्त करने के लिये मुनि आहार करता है।

(ii) ईर्या-समिति—भूख से पीड़ित नेत्र कमजोर हो जाने से ईर्या-समिति का पालन अच्छी तरह से नहीं कर सकता। अतः ईर्या-समिति की शुद्धि के लिये मुनि आहार करता है।

(iii) संयम मार्ग—प्रेक्षा, उत्प्रेक्षा और प्रमार्जना संयम की वृद्धि के लिये मुनि आहार करता है।

(iv) प्राण-वृत्ति—प्राणों के टिकाने हेतु अथवा जीने के लिये मुनि आहार करता है, अविधि से प्राण त्यागना भी हिंसा है। कहा है—जिन वचन से भावित व मोहरहित आत्मा के लिये स्वपर की आत्मा में कोई भेद नहीं होता। अतः परपीड़ा की तरह स्वपीड़ा का भी त्याग करना चाहिये।

(v) वैयावच्च—गुरु आदि की वैयावच्च के लिये मुनि आहार करता है।

(vi) धर्मचिन्ता—धर्मध्यान, स्वाध्याय, वाचना आदि के लिये मुनि आहार करता है क्योंकि भूख से पीड़ित व्यक्ति आर्त्तध्यान के कारण धर्म-ध्यानादि नहीं कर सकता।

यद्यपि क्षुधा वेदना का उपशम, ईर्यासमिति का पालन आदि आहार के छः कारण शब्द शक्ति से तो ऐसे लगते हैं जैसे ये आहार के फल हों। यथा—आहार करने से क्षुधा शान्त होती है...आहार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने से ईर्यासमिति का व्यवस्थित पालन होता है इत्यादि। यहाँ आहार करना कारण प्रतीत होता है और क्षुधाशान्ति ईर्यासमित का पालन आदि फल रूप लगते हैं। तथापि अर्थ-शक्ति से क्षुधाशान्ति आदि आहार के कारण प्रतीत होते हैं क्योंकि इनके अभाव में मुनि को आहार करना निषिद्ध है। इससे क्षुधोपशमादि आहार के कारण सिद्ध होते हैं॥ ७३६-७३७॥

आहार त्यागने के छः कारण—

(i) आतंक—ज्वरादि की पीड़ा के समय आहार न करना। इससे ज्वर शीघ्र नष्ट हो जाता है। कहा है—वायु, क्रोध, शोक व कामजन्य ज्वर को छोड़कर शेष ज्वरों में लंघन (उपवास) हितकारी है।

(ii) उपसर्ग—देव, मनुष्य, तिर्यंच आदि के द्वारा किये गये उपसर्ग के समय आहार न करना। उपसर्ग दो तरह का होता है—(अ) अनुकूल और (ब) प्रतिकूल।

(अ) दीक्षा लेने के पश्चात् माता-पिता आदि मोहवश पुनः घर ले जाने के लिये दीनता दिखावें, तो जब तक उनका मोह शान्त न हो, तब तक साधु उपवास करे, ताकि वे उसकी दृढ़ता देखकर अथवा भूख से साधु के मर जाने के डर से शान्त हो जाए।

(ब) राजा आदि क्रुद्ध होकर उपसर्ग करे तो मुनि आहार का त्याग करे। जिससे कदाचित् राजा दया करके मुनि को छोड़ दे।

(iii) ब्रह्मचर्यगुप्ति—ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये आहार का त्याग करना। कहा है—**"विषया विनिवर्तन्ते, निराहारस्य देहिनः।"**

(iv) प्राणिदयार्थ—वर्षा आ रही हो, धूअर या सचित्तरज पड़ रही हो अथवा भूमि छोटे-छोटे मेंढक, तृण, घास, धान्य और जीवों से संसक्त हो तो ऐसी स्थिति में गौचरी जाने से जीवों की विराधना होती है, अतः मुनि उपवास करे।

(v) तपहेतु—तपश्चर्या के लिये आहार का त्याग करना।

(vi) शरीरव्यवच्छेद—शिष्य बनाना, समुदाय की व्यवस्था करना आदि कार्य से कृत-कृत्य होने के पश्चात् संलेखना आदि के द्वारा अनशन की योग्यता संपादन करके आहार का त्याग करना।

- सुयोग्य शिष्यादि बनाये बिना युवावस्था या प्रौढ़ावस्था में अनशन करनेवाला जिनाज्ञा का विराधक होता है। संलेखना के बिना अनशन करना आर्तध्यान का कारण है अतः संघादि का कार्य पूर्ण करके पश्चात् संलेखनापूर्वक ही अनशन करना चाहिये॥ ७३८॥

९६ द्वार : पिण्डैषणा-पानैषणा—

संसट्ठ-मसंसट्ठा उद्धड तह अप्पलेविया चेव।
उग्गहिया पग्गहिया उज्झियधम्मा य सत्तमिया॥७३९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तंमि य संसट्ठा हत्थमत्तएहिं इमा पढम भिक्खा।
तव्विवरीया बीया भिक्खा गिण्हंतयस्स भवे ॥७४०॥
नियजोएणं भोयणजायं उद्धरियमुद्धडा भिक्खा।
सा अप्पलेविया जा निल्लेवा वल्लचणगाई ॥७४१॥
भोयणकाले निहिया सरावपमुहेसु होई उग्गहिया।
पग्गहिया जं दाउं भुत्तुं व करेण असणाई ॥७४२॥
भोयणजायं जं छड्डुणारिहं नेहयंति दुपयाई।
अद्धच्चत्तं वा सा उज्झियधम्मा भवे भिक्खा ॥७४३॥
पाणेसणावि एवं नवरि चउत्थीए होइ नाणत्तं।
सोवीरायामाइं जमले वाडत्ति समयुत्ती ॥७४४॥

—गाथार्थ—

आहार और पानी की सात एषणायें—१. संसृष्टा, २. असंसृष्टा, ३. उद्धृता, ४. अल्पलेपिका, ५. अवगृहीता, ६. प्रगृहीता एवं ७. उज्झितधर्मा—ये सात ग्रहणैषणा हैं ॥७३९॥

१. हस्त और पात्र के द्वारा प्रथम संसृष्टा भिक्षा होती है। २. प्रथम भिक्षा से विपरीत द्वितीय भिक्षा होती है ॥७४०॥

३. जिस बर्तन में भोजन बनाया है उस बर्तन से अन्य बर्तन में भोजन निकाल कर भिक्षा देना, उद्धृता भिक्षा है। ४. चने आदि अलेपकृत पदार्थों की भिक्षा अल्पलेपा है ॥७४१॥

५. भोजन के समय गृहस्थ के स्वयं के लिये शराव आदि में निकाली हुई भिक्षा अवगृहीता है। ६. खाने के लिये हाथ में गृहीत भिक्षा आदि प्रगृहीता भिक्षा है ॥७४२॥

७. जिसे कोई द्विपद खाना न चाहे ऐसी भिक्षा अथवा जिस भोजन का आधा भाग फेंक दिया हो ऐसा भोजन उज्झितधर्मा भिक्षा है ॥७४३॥

पानैषणा का विवरण भी इसी तरह समझना चाहिये। किन्तु चतुर्थ पानैषणा कुछ भिन्न है। यथा आगम में कांजी, मांड आदि को अलेपकृत बताया है ॥७४४॥

—विवेचन—

पिण्ड = आहार, एषणा = ग्रहण करने का तरीका। इस प्रकार पानैषणा का समझना। दोनों एषणा के सात प्रकार हैं।

- गच्छवासी मुनि एषणा के सातों प्रकार से आहार-पानी ग्रहण करते हैं।
- गच्छ निर्गत मुनि एषणा के पहले दो प्रकारों को छोड़कर, अन्तिम पाँच प्रकार से आहार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पानी ग्रहण करते हैं। किन्तु एक बार में अभिग्रहपूर्वक एक से आहार और दूसरी से पानी ग्रहण करते हैं।

१. **संसृष्ट**—लिप्त हाथ और लिप्त पात्रवाली भिक्षा संसृष्ट कहलाती है यहाँ संसृष्ट हाथ, संसृष्ट पात्र, असंसृष्ट हाथ, असंसृष्ट पात्र तथा सावशेष देय और निरवशेष देय के मिलकर आठ भंग होते हैं। (लिप्त दोष के प्रसंग में आठ भांगों का वर्णन है)। गच्छवासी मुनियों को आठों भांगों से भिक्षा लेना कल्पता है कारण गच्छवासी मुनि यदि आठों भांगों से भिक्षा ग्रहण नहीं करेंगे तो भिक्षा दुर्लभ होगी। इससे सूत्रार्थ की हानि होने की सम्भावना है। परन्तु गच्छ से निर्गत मुनि मात्र आठवें (संसृष्ट हस्त-पात्र व सावशेष द्रव्य) भंग से ही भिक्षा ग्रहण कर सकते हैं।

२. **असंसृष्ट**—कोरे हाथ और कोरे पात्र से दी गई भिक्षा असंसृष्ट कहलाती है। किन्तु इसमें भिक्षा-द्रव्य दो तरह का होता है—

(i) **सावशेष**—देने के बाद पात्र में कुछ शेष रहना।

(ii) **निरवशेष**—देने के बाद पीछे कुछ भी शेष न रहना। यद्यपि निरवशेष द्रव्य ग्रहण करने में साधु के निमित्त बर्तन आदि धोने से मुनि को पश्चात्कर्म दोष लगता है; तथापि गच्छ में बाल-वृद्ध रोगी सभी तरह के मुनि होते हैं, निरवशेष भिक्षा द्रव्य का सर्वथा त्याग करने से तो उनके योग्य भिक्षा मिलना ही दुर्लभ होगी अतः गच्छवासी मुनियों को निरवशेष द्रव्य वाली भी भिक्षा लेना कल्पता है॥ ७४०॥

३. **उद्धृता**—जिस बर्तन में भोजन बनाया हो, उससे अलग बर्तन में निकालकर दी जाने वाली भिक्षा उद्धृता कहलाती है।

४. **अल्पलेपिका**—सर्वथा लेपरहित, नीरस पदार्थ जैसे वाल, चने आदि जिसे ग्रहण करने पर बर्तन आदि धोने की आवश्यकता नहीं रहती अथवा जिसमें पश्चात् कर्म (धोना) अल्प मात्रा में होता है वह भिक्षा अल्प लेपवाली है। चूड़ा आदि की भिक्षा ग्रहण करने में पश्चात्कर्म तथा त्याज्य तुषादि अल्प होते हैं॥ ७४१॥

५. **अवगृहीता**—किसी के खाने के लिये परोसी गई थाली में से गृहीत भिक्षा अवगृहीता कहलाती है। यदि दाता ने हाथ और पात्र दोनों पानी से धोये हों तो पानी सूखने के बाद ही भिक्षा ग्रहण करना कल्पता है अन्यथा नहीं।

६. **प्रगृहीता**—भोजन करने वालों को परोसने के लिये किसी ने भोज्य द्रव्य का बर्तन हाथ में लिया हो, इतने में भिक्षा के लिये साधु आ जाये और जीमने वाले स्वयं उसे न लेकर साधु को वहोराने का कहे अथवा जीमने वाले स्वयं ही अपने लिये ली गई खाद्य सामग्री साधु को वहोरावे ऐसी भिक्षा 'प्रगृहीता' कहलाती है॥ ७४२॥

७. **उज्झितधर्मा**—जिसे भिखारी भी लेना न चाहे ऐसी भिक्षा अथवा गृहस्थ ने जिसे फेंकने लायक समझी हो, ऐसी भिक्षा ग्रहण करना 'उज्झितधर्मा' है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चौथी 'अल्पलेपिका' को छोड़कर शेष सभी एषणाओं में संसृष्ट हस्त, पात्र, सावशेष निरवशेष देय-पात्र के आठ भांगे होते हैं। चौथी अलेप होने से उसमें भांगों की सम्भावना नहीं होती ॥ ७४३ ॥

पानैषणा के भी पूर्वोक्त सात प्रकार हैं।

विशेष—चौथी अल्पलेपिका पानैषणा में कुछ भेद हैं। कांजी, ओसामण, गर्म पानी या चावलों का धोवन ग्रहण करने में अल्पलेपिका पानैषणा होती है, किन्तु गन्ने का रस, द्राक्षापानक, इमली का पानी आदि ग्रहण करने में नहीं होती क्योंकि ये लेपकारी है। इनका उपयोग आत्मा को कर्म से लिप्त करता है ॥७४४ ॥

९७ द्वार : भिक्षाचर्या-विधि—

उज्जुं गंतुं पच्चागइया गोमुत्तिया पयंगविही।
पेडा य अद्धपेडा अब्भिंतर बाहिसंबुक्का ॥७४५ ॥
ठाणा उज्जुगईए भिक्खंतो जाइ वलइ अनडंतो।
पढमाए बीयाए पविसिय निस्सरइ भिक्खंतो ॥७४६ ॥
वामाओ दाहिणगिहे भिक्खिज्जइ दाहिणाओ वामंमि।
जीए सा गोमुत्ती अड्डवियड्डा पयंगविही ॥७४७ ॥
चउदिसि सेणीभमणे मज्झे मुक्कंमि भन्नए पेडा।
दिसिदुगसंबद्धस्सेणिभिक्खणे अद्धपेडत्ति ॥७४८ ॥
अब्भिंतरसंबुक्का जीए भमिरो बहिं विणिस्सरइ।
बहिसंबुक्का भन्नइ एयं विवरीयभिक्खाए ॥७४९ ॥

—गाथार्थ—

भिक्षाचर्या की वीथी—१. ऋजु, २. गत्वाप्रत्यागति, ३. गोमूत्रिका, ४. पतंगवीथी, ५. पेटा, ६. अर्धपेटा, ७. आभ्यन्तर शंबुका तथा ८. बाह्यशंबुका—ये भिक्षाचर्या के आठ मार्ग हैं। ॥७४५ ॥

१. उपाश्रय से निकलकर सीधे चलते हुए रास्ते की किसी एक पंक्ति के प्रथम घर से यावत् अन्तिम घर तक भिक्षा लेकर पश्चात् सीधे उपाश्रय में लौट आना 'ऋजुगति' भिक्षावीथी है।

२. जाते समय एक पंक्ति के घरों से भिक्षा लेकर आते समय द्वितीय पंक्ति के घरों से भिक्षा लेते हुए आना 'गत्वाप्रत्यागति' भिक्षावीथी है ॥७४६ ॥

३. दाँयी पंक्ति से बांयी पंक्ति के घर में और बांयी पंक्ति से दांयी पंक्ति के घर में इस प्रकार आमने-सामने से भिक्षाग्रहण करना 'गोमूत्रिका भिक्षावीथी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. अनियतक्रम से भिक्षाग्रहण करना 'पतंगवीथी' भिक्षा है ॥७४७ ॥

५. पेटी की तरह गाँव की चौकोर कल्पना करके, मध्य में रहे हुए घरों को छोड़कर चारों दिशा में स्थित घरों में समश्रेणि से भिक्षा ग्रहण करना 'पेटा' भिक्षावीथी है।

६. चौकोर कल्पित गाँव की दो दिशा में स्थित गृहपंक्ति से भिक्षाग्रहण करना 'अर्धपेटा' भिक्षावीथी है ॥७४८ ॥

७. शंख के आवर्तों की तरह भिक्षा के लिये भ्रमण करना 'शंबूकावीथी' भिक्षा है। इसके दो भेद हैं—आभ्यंतरशंबूका और बाह्यशंबूका।

गाँव के मध्यभाग से शंख के आवर्त की तरह भिक्षा ग्रहण करते-करते बाहर निकलना आभ्यंतर शंबूका भिक्षावीथी है।

८. आभ्यंतरशंबूका से विपरीत भिक्षावीथी बाह्यशंबूका है ॥७४९ ॥

—विवेचन—

भिक्षामार्ग = भिक्षा-गमन की पद्धति। इसके आठ प्रकार हैं।

(i) ऋजुगमन—उपाश्रय से निकलकर एक पंक्ति में रहे हुए सभी घरों में क्रमशः गौचरी के लिये जाना। आते समय सीधा आना।

(ii) गत्वाप्रत्यागति—उपाश्रय से निकलकर जाते समय एक ओर की पंक्ति से और आते समय दूसरी ओर की पंक्ति से आहार ग्रहण करना।

अन्यमतानुसार—ऋजुगमन से विपरीत 'गत्वा प्रत्यागति' होती है। अर्थात् जाते समय सीधे अन्तिम घर से भिक्षा ग्रहण करना और लौटते समय शेष घरों से क्रमशः भिक्षा लेना ॥७४६ ॥

(iii) गोमूत्रिका—बैल का पेशाब जिस प्रकार टेड़ामेड़ा गिरता है—वैसे आमने सामने रहे हुए घरों में से एकबार इधर से और दूसरी बार उधर से भिक्षा लेना।

जैसे—

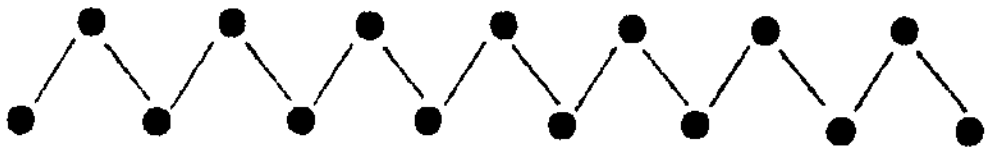

(iv) पतंगवीथि—पतंगा जिस प्रकार फूलों पर टेड़ामेड़ा उड़ता है वैसे अनियतक्रम से भिक्षा लेना ॥७४७ ॥

(v) पेटा—मंजूषा। जैसे मंजूषा चौकोर होती है वैसे ग्रामादि की कल्पना करना। पश्चात् मध्य भाग में रहे हुए घरों को छोड़कर चारों दिशा में रहे हुए घरों से क्रमशः भिक्षा ग्रहण करना।

(vi) अर्धपेटा—गाँव की मंजूषा की तरह (चौकोर) कल्पना करके केवल दो दिशा में (अर्धपेटाकार में) रहे हुए घरों से ही क्रमशः भिक्षा ग्रहण करना। मंजूषा के आधे भाग की तरह ॥७४८ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शम्बूका—शंख के आवर्त्त की तरह भिक्षा के लिये भ्रमण करना शंबूकावीथि है। इसके दो भेद हैं—

(vii) आभ्यन्तरशंबूका—शंख के आवर्त की तरह क्षेत्र के मध्यभाग से भिक्षा ग्रहण करते-करते बाहर की ओर आना।

(viii) बहिर्शंबूका—गाँव के बाहर से गोलाकार में भिक्षा ग्रहण करते-करते भीतर की ओर जाना।

पंचाशकवृत्ति के अनुसार शंबूकाकार भिक्षा पद्धति दो तरह की है—**(i)** दांए से बाएं गोलाकार में गमन करना, **(ii)** बांए से दाएं गोलाकार में गमन करना।

अन्यग्रन्थों में—पहली, दूसरी तथा दोनों तरह की शंबूका वीथी एक मानी जाती है अतः भिक्षा वीथी आठ की जगह छः ही होती है ॥७४९॥

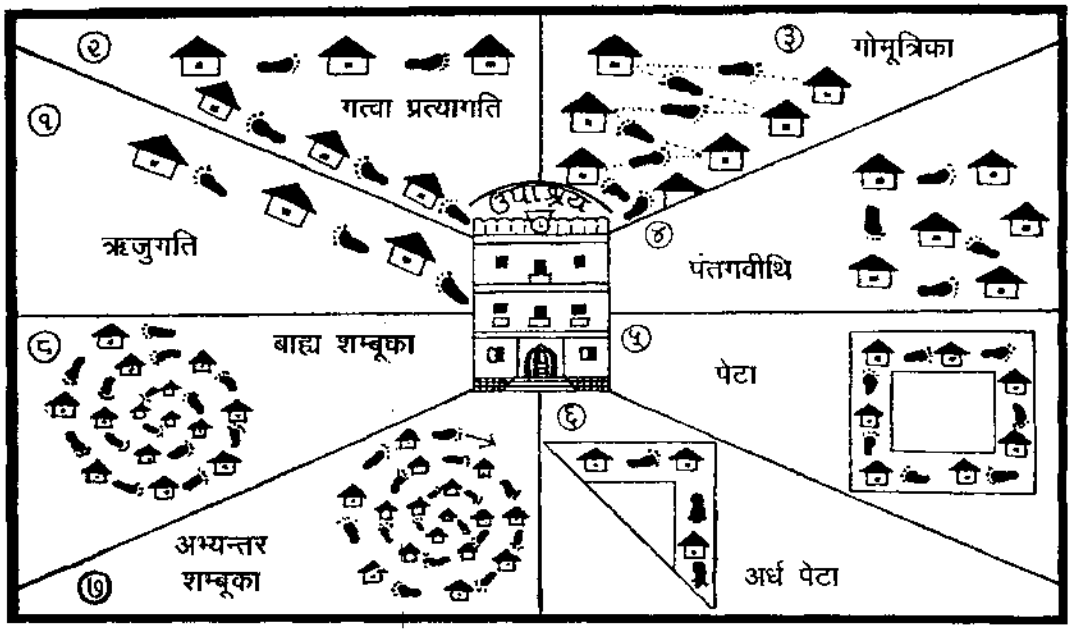

९८ द्वार : प्रायश्चित्त—

आलोयण पडिक्कमणे मीस विवेगे तहा विउस्सग्गे।
तव च्छेय मूल अणवट्ठिया य पारंचिए चेव ॥७५०॥
आलोइज्जइ गुरुणो पुरओ कज्जेण हत्थसयगमणं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समिइपमुहाण मिच्छाकरणे कीरइ पडिक्कमणं ॥७५१ ॥
सद्दाइएसु रागाइविरयणं साहिउं गुरूण पुरो ।
दिज्जइ मिच्छादुक्कडमेयं मीसं तु पच्छित्तं ॥७५२ ॥
कज्जो अणेसणिज्जे गहिए असणाइए परिच्चाओ ।
कीरइ काउस्सग्गो दिट्ठे दुस्सविणपमुहंमि ॥७५३ ॥
निव्विगयाई दिज्जइ पुढवाइविघट्टणे तवविसेसो ।
तवदुद्दमस्स मुणिणो किज्जइ पज्जायवुच्छेओ ॥७५४ ॥
पाणाइवायपमुहे पुणव्वयारोवणं विहेयव्वं ।
ठाविज्जइ नवि एसुं कराइघायप्पदुट्ठमणो ॥७५५ ॥
पारंचियमावज्जइ सलिंगनिवभारियाइ सेवाहिं ।
अव्वत्तलिंगधरणे बारसवरिसाइं सूरीणं ॥७५६ ॥
नवरं दसमावत्तीए नवममज्झावयाण पच्छित्तं ।
छम्मासे जाव तयं जहन्नमुक्कोसओ वरिसं ॥७५७ ॥
दस ता अणुसज्जंती जा चउदसपुव्वि पढमसंघयणी ।
तेण परं मूलंतं दुप्पसहो जाव चारित्ती ॥७५८ ॥

—गाथार्थ—

दस प्रकार का प्रायश्चित्त—१. आलोचना, २. प्रतिक्रमण, ३. मिश्र, ४. विवेक, ५. कायोत्सर्ग, ६. तप, ७. छेद, ८. मूल, ९. अनवस्थाप्य, १०. पारांचित—ये प्रायश्चित्त के दस प्रकार हैं ॥७५० ॥

१. किसी कार्य के लिये सौ हाथ से अधिक गमनागमन करने पर गुरु के समक्ष आलोचना प्रायश्चित्त किया जाता है।

२. समिति आदि में दोष लगने पर प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त होता है ॥७५१ ॥

३. शब्द, रूप आदि इन्द्रिय विषयों में आसक्ति करने पर गुरु के समक्ष उसका 'मिच्छामिदुक्कडं' देना मिश्र प्रायश्चित्त है ॥७५२ ॥

४. गृहीत अनैषणीय आहार आदि का त्याग करना विवेक प्रायश्चित्त है।

५. दुःस्वप्नादि देखा हो तो काउस्सग्ग प्रायश्चित्त होता है ॥७५३ ॥

६. पृथ्वीकाय आदि का संघट्टा होने पर जो 'नीवि' आदि का प्रायश्चित्त दिया जाता है वह तप प्रायश्चित्त है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. तप द्वारा प्रायश्चित्त पूर्ण करने में असमर्थ मुनि की दीक्षा पर्याय का छेद करना छेद प्रायश्चित्त है ॥७५४॥

८. जीवहिंसादि पाप करने वालों को पुनः व्रतदान करना मूल प्रायश्चित्त है।

९. संक्लिष्ट भाव से जो दूसरों को हस्त आदि के द्वारा चोट पहुँचाता है उसे तप आदि किये बिना व्रतदान नहीं किया जा सकता यह अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त है ॥७५५॥

१०. साध्वी या राजा की राणी के साथ अब्रह्म सेवन करने वाले आचार्य को अज्ञातलिंग धारण कर बारह वर्ष तक भ्रमण करने रूप जो प्रायश्चित्त दिया जाता है वह पारांचित प्रायश्चित्त है ॥७५६॥

उपाध्यायों को दसवें प्रायश्चित्त योग्य अपराध में नौंवा प्रायश्चित ही दिया जाता है। उनका अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त जघन्य छः मास का तथा उत्कृष्ट बारह मास का होता है ॥७५७॥

चौदहपूर्वी तथा प्रथमसंघयणी आत्माओं के काल तक दस ही प्रायश्चित्त थे। इनमें से मूलपर्यंत आठ प्रायश्चित्त दुप्पसहसूरि तक रहेंगे ॥७५८॥

—विवेचन—

प्रायः = पाप, **चित्त** = उसकी शुद्धि करना। इसके १० भेद हैं—

(i) आलोचना—जैसे बच्चा अपने कार्य और अकार्य दोनों को बड़ी सरलतापूर्वक कह देता है, वैसे ही माया और मद से विमुक्त होकर गुरु के संमुख अपने पापों को प्रकट करना आलोचना है। जो प्रायश्चित्त आलोचना मात्र से हो जाता है वह प्रायश्चित्त भी कारण में कार्य के उपचार से आलोचना कहलाता है।

आ = मर्यादापूर्वक, लोचना = प्रगट करना आलोचना है।

(ii) प्रतिक्रमण—दोषों से पीछे हटना। दोषों का पुनः सेवन न करने का संकल्प करते हुए कृतदोषों को मिथ्या...करना अर्थात् "मिच्छामि दुक्कडं" देने मात्र से जो प्रायश्चित्त होता है, जिसकी गुरु के सामने आलोचना नहीं करनी पड़ती, वह प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है। जैसे अनुपयोग से कफ आदि थूंक दिया, पर जीव-हिंसा नहीं हुई, ऐसे पाप की शुद्धि 'मिच्छामि दुक्कडं' देने से हो जाती है इसके लिये गुरु के समक्ष आलोचना नहीं करनी पड़ती।

(iii) मिश्र—जिस प्रायश्चित्त में आलोचन और प्रतिक्रमण दोनों करना पड़ता हो, अर्थात् गुरु के सामने पापों को प्रकट करना और उसका 'मिच्छामि दुक्कडं' देना, दोनों ही जिसमें करने पड़ते हों, वह मिश्र प्रायश्चित्त है।

(iv) विवेक—जो प्रायश्चित्त त्याग करने से शुद्ध होता हो वह 'विवेक प्रायश्चित्त' है जैसे, आधाकर्मी आदि दोषों से युक्त आहार, पानी, उपधि आदि का त्याग (विवेक) करने पर ही शुद्धि होती है।

(v) व्युत्सर्ग—काय अर्थात् शरीर-सम्बन्धी व्यापार का त्याग करना कायोत्सर्ग है। दुःस्वप्न आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जनित पाप को दूर करने के लिये काय-व्यापार का त्याग करके अमुक लोगस्स का कायोत्सर्ग करना ही प्रायश्चित्त है।

(vi) तप—प्रायश्चित्त के रूप में छः महीने तक नीवि आदि तप करना।

(vii) छेद—जैसे, शरीर का कोई अंग सड़ जाता है तो शेष शरीर की रक्षा के लिये उसे काटकर फेंक दिया जाता है, वैसे दोष के अनुपात में चारित्र-पर्याय का छेदन कर शेष पर्याय की रक्षा करना छेद प्रायश्चित्त है।

(viii) मूल—जिसका सम्पूर्ण चारित्र दूषित हो चुका है, उसकी सम्पूर्ण पर्याय का छेदन कर पुनः दीक्षा देना।

(ix) अनवस्थाप्य—अपराध करने के पश्चात् जब तक गुरु द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित्त पूरा न करले तब तक उसे महाव्रत न देना।

(x) पारांचित—लिंग, क्षेत्र, काल और तप की सीमा का उल्लंघन करने वाला सर्वोत्कृष्ट प्रायश्चित्त अथवा विशिष्ट प्रकार का अपराध करने वाले व्यक्ति को दिया जाने वाला प्रायश्चित्त अथवा जहाँ सभी प्रायश्चित्तों का अन्त हो जाता है वह पारांचित्त प्रायश्चित्त है। इस प्रायश्चित्त में अपराधी बारह वर्ष तक गच्छ और वेश का त्यागकर स्थान-स्थान पर भ्रमण करता है। जब उसके हाथों शासन प्रभावना का कोई महान् काम होता है तब उसे पुनः महाव्रत देकर गच्छ में लिया जाता है॥ ७५०॥

कौन-सा प्रायश्चित्त कब?

१. गुरु की आज्ञा से अपने या आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, बाल, ग्लान, नूतनदीक्षित, तपस्वी एवं असमर्थ मुनि के निमित्त वस्त्र, पात्र, आहार, पानी, औषध आदि लाने हेतु, स्थंडिल, चैत्यवंदना के निमित्त, पीठफलक आदि देने हेतु, बहुश्रुत, संविग्न आत्माओं को वन्दन करने या संशय के निराकरण हेतु सौ या सौ से अधिक हाथ दूर तक गमनागमन करने वाला मुनि श्रावकों की श्रद्धावृद्धि अथवा संयमी मुनियों की उत्साह वृद्धि के लिये यथाविधि गुरु के संमुख आलोचना करता है। यह आलोचना गमनागमनादि क्रियाओं में सम्यग् उपयोग वाले, निरतिचारी, अप्रमत्त, छद्मस्थ मुनि को भी अवश्य करणीय है। सातिचारी मुनि को तो यथासम्भव पूर्वोक्त आलोचना कर प्रायश्चित्त लेना ही होता है। केवलज्ञानियों को तो कृतकृत्य होने से आलोचना नहीं आती।

प्रश्न—निरतिचारी मुनि आलोचना क्यों करता है? आलोचना के बिना भी वह तो शुद्ध ही है क्योंकि उसकी प्रवृत्ति सूत्रानुसार है।

उत्तर—गमनागमन करते जो कुछ कायिक प्रवृत्ति हुई या प्रमाद का सेवन हुआ उसकी शुद्धि के लिये निश्चित आलोचना करनी चाहिये।

२. ईर्यासमिति सम्बन्धी — रास्ते में बातचीत करते हुए चलने से।
भाषासमिति सम्बन्धी — गृहस्थ की भाषा में या कर्कश स्वर में बोलने से।
एषणा समिति सम्बन्धी — आहार पानी आदि की गवेषणा उपयोगपूर्वक न करने से।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदानभण्ड सम्बन्धी — पूंजे प्रमार्जे बिना वस्त्र, पात्र आदि लेने या रखने से।
उच्चारप्रस्रवण सम्बन्धी — अप्रत्युपेक्षित स्थंडिल में मात्रा आदि परठने से।
मनोगुप्ति सम्बन्धी — मन से किसी का बुरा चिन्तन करने से।
वचनगुप्ति सम्बन्धी — बुरा वचन बोलने से।
कायगुप्ति सम्बन्धी — विकथा करना...कषाय करना...शब्द रूप आदि विषयों की आसक्ति रखना... आचार्य आदि के प्रति प्रद्वेषभाव रखना... उनके बीच में बोलना... दशविध समाचारी का सुचारु पालन न करना आदि दोषों का सहसा या अनाभोग से सेवन किया हो तो 'मिथ्यादुष्कृत' रूप प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त होता है॥ ७५१॥

३. अनेक प्रकार के इष्ट-अनिष्ट शब्दादि विषयों में राग-द्वेष का अनुभव करना किन्तु मन में संशय करना कि "मैंने राग-द्वेष किया या नहीं।" ऐसे संशयात्मक दोष की स्थिति में पहले गुरु के संमुख आलोचना करके तत्पश्चात् गुरु की आज्ञा से 'मिच्छामि दुक्कडं' देना यह मिश्र प्रायश्चित्त होता है।

यदि दोष-सेवन का निश्चय हो तो केवल मिच्छामि दुक्कडं से काम नहीं चलता परन्तु तपरूप 'प्रायश्चित्त' आता है॥ ७५२॥

४. किसी साधु ने उपयोगपूर्वक आहार, पानी, उपधि आदि ग्रहण की, परन्तु बाद में ज्ञात हुआ कि ये अनैषणीय है। ऐसी स्थिति में अनैषणीय का त्याग करना ही प्रायश्चित्त है। इसी प्रकार पर्वत, राहु, धूंअर, धूल आदि के कारण सूर्य के आवृत रहने से सूर्योदय न होने पर भी सूर्योदय हो गया अथवा सूर्यास्त होने पर भी अभी अस्त नहीं हुआ ऐसी भ्रान्तिवश असमय में आहारादि ग्रहण कर लिया हो और बाद में ज्ञात हो कि यह आहार असमय में गृहीत है, प्रथम प्रहर में गृहीत आहार चौथे प्रहर तक रखा हो, दो कोश से अधिक दूर से लाया हुआ आहारादि हो तो ऐसी स्थिति में उनका 'त्याग' करना ही प्रायश्चित्त है।

पूर्वोक्त दोष शठता और अशठता दो प्रकार से सेवन किये जाते हैं।

शठता = विषय, विकथा, माया और क्रीडादि वश सेवन करना।

अशठता = रोगी, गृहस्थ, परठने योग्य भूमि का अभाव या भयादि के कारण से सेवन करना।

५. यदि स्वप्न में प्राणी हिंसा, गमनागमन, नाव से समुद्र पार करना इत्यादि सावद्य दृश्य देखे हों या सूत्रविषयक उद्देश-समुद्देश, अनुज्ञा, प्रस्थापन, प्रतिक्रमण श्रुतस्कंध व अंगपरावर्तन आदि विधिपूर्वक न किये हों तो उसका परिहार करने के लिये कायोत्सर्ग रूप 'प्रायश्चित्त' आता है॥ ७५३॥

६. जो मुनि सचित्त पृथ्वी आदि का संघट्टा करता है, उसे **जीतकल्प** आदि छेद ग्रन्थ के अनुसार छः महीना तक नीवि आदि तप करने का प्रायश्चित्त दिया जाता है। यह तप रूप प्रायश्चित्त है।

७. जिस मुनि के दोषों का शुद्धिकरण तप से नहीं हो सकता उसका दीक्षा पर्याय दोष के अनुपात में घटा दिया जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छः मास तक लगातार तप करने वाले या विकृष्टतपी मुनि तपरूप प्रायश्चित्त देने पर शायद यह सोचे कि 'मैं तो महान् तपस्वी हूँ, छोटे-छोटे तप मेरे लिये क्या कठिन है?' तो उसे छेद प्रायश्चित्त ही देना चाहिये। अथवा जो तप करने में असमर्थ हो, ग्लान-बाल या वृद्ध हो, जिसे तप की रुचि न हो, निष्कारण अपवाद सेवन करने वाला हो उसे भी छेद प्रायश्चित्त ही देना चाहिये॥ ७५४॥

८. निर्दयतापूर्वक अथवा मायापूर्वक पुनः-पुनः जीव हिंसा, सहर्ष असत्य, चोरी, मैथुन या परिग्रह रूप पाप सेवन करने वाले का सम्पूर्ण दीक्षा-पर्याय छेदकर उसे पुनः दीक्षा देना चाहिये। यह मूल प्रायश्चित्त है।

९. स्व और पर की मृत्यु से निरपेक्ष बनकर मुष्टि, लाठी आदि के प्रहार द्वारा किसी स्वपंक्ष (साधु) या परपक्ष (गृहस्थ) पर अतिसंक्लिष्ट अध्यवसाय से घात करना...पीटना आदि महान् पाप करने वाला आत्मा अतिसंक्लिष्ट अध्यवसाय वाला होने से जब तक उचित तप करके आत्म-शुद्धि नहीं कर लेता तब तक उसे पुनः दीक्षा नहीं देना चाहिये।

उचित तप = उठने-बैठने की शक्ति क्षीण हो जाये, ऐसा तप। ऐसे प्रायश्चित्त की स्थिति में अन्य मुनि प्रायश्चित्तधारी मुनि द्वारा निवेदन करने पर कि—हे आर्य! मुझे उठना है, बैठना है इत्यादि, तो उसकी सेवा शुश्रूषा अवश्य करे, किन्तु उससे संभाषण नहीं करे। ऐसा तप करने के पश्चात् ही उसे पुनः दीक्षा देनी चाहिये।

● **अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त** के दो भेद हैं—

(i) आशातना अनवस्थाप्य—तीर्थंकर, प्रवचन, गणधर आदि का तिरस्कार करने वाले को जघन्यतः छः महीने तक और उत्कृष्टतः एक वर्ष पर्यन्त दीक्षा नहीं देना चाहिये।

(ii) प्रतिसेवना-अनवस्थाप्य—साधर्मिक या अन्य धार्मिक की ताड़ना-तर्जना एवं चोरी करने वाले को जघन्यतः एक वर्ष और उत्कृष्टतः बारह वर्ष तक दीक्षा नहीं देना चाहिये।

अनवस्थाप्य में तप परिमाण—

	जघन्य	मध्यम	उत्कृष्ट	
ग्रीष्म	१	२	३	उपवास
शीत	२	३	४	उपवास
वर्षा	३	४	५	उपवास

पारणा के दिन निर्लेप भिक्षा ग्रहण करे॥ ७५५॥

१०. साध्वी, राजपत्नी आदि के साथ 'रतिक्रीड़ा' करने वाले अथवा मुनि/राजा आदि का वध करने वाले को यह प्रायश्चित्त दिया जाता है। यह प्रायश्चित्त महासत्त्वशाली आचार्य को ही दिया जाता है, वह जिनकल्पी के सदृश चर्या का पालन करता हुआ अज्ञात-वेष में अपने गण से दो कोश दूर महान् तप करता हुआ विचरण करता है।

तप द्वारा शुद्धि हो जाने के पश्चात् ही उसे दीक्षा दी जाती है, अन्यथा नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जघन्यत: इसका काल छ: महीना और उत्कृष्टत: बारह वर्ष है ॥ ७५६ ॥

कौन किस प्रायश्चित्त का अधिकारी है?

आचार्य —पारांचित पर्यन्त
उपाध्याय —अनवस्थाप्य पर्यन्त (पारांचिक योग्य दोषों में भी)
सामान्य साधु —मूल-पर्यंत (पारांचिक या अनवस्थाप्य के योग्य दोषों में भी) ॥ ७५७ ॥

१०. प्रायश्चित्त की सीमा

१. पारांचित और २. अनवस्थाप्य चौदह पूर्वी और प्रथम संहनन के काल में ही देय है (इस समय इन दोनों का व्युच्छेद हो जाने से ये प्रायश्चित्त भी विच्छिन्न ही समझना)। शेष आठ प्रायश्चित्त यावत् तीर्थ रहते हैं।

प्रश्न—पूर्वोक्त १० प्रायश्चित्त शासन के अन्त तक रहेंगे या नहीं?

उत्तर—जब तक १४ पूर्वधर या प्रथम संघयणी थे तब तक ही १० प्रायश्चित्त का विधान था। किन्तु वर्तमान में दोनों का विच्छेद हो चुका है अत: अनवस्थाप्य व पारांचित इन दोनों प्रायश्चित्त का भी विच्छेद ही समझना।

अनवस्थाप्य और पारांचित के विच्छेद के पश्चात् आलोचना प्रायश्चित्त से लेकर मूल प्रायश्चित्त पर्यन्त के ८ प्रायश्चित्त अन्तिम युगप्रधान दुप्पसहसूरि के समय तक रहेंगे। उनका काल-धर्म होने के साथ ही तीर्थ और चारित्र भी नष्ट हो जायेंगे। ७५८ ॥

९९ द्वार : ओघ-समाचारी—

सामायारी ओहंमि ओहनिज्जुत्तिजंपियं सव्वं।

—गाथार्थ—

ओघनिर्युक्ति में वर्णित समाचारी ओघ समाचारी है।

—विवेचन—

समाचारी = शिष्ट पुरुषों द्वारा आचरित क्रिया-कलाप।
ओघ समाचारी = **ओघनिर्युक्ति** में निर्दिष्ट पडिलेहण, प्रमार्जनादि रूप क्रिया-कलाप।

१०० द्वार : पदविभाग-समाचारी—

सा पयविभागसामायारी जा छेयगंथुत्ता ॥७५९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—गाथार्थ—

छेदग्रन्थों में वर्णित समाचारी पदविभाग समाचारी है ॥७५९ ॥

—विवेचन—

पदविभाग समाचारी—जीतकल्प, निशीथ आदि में वर्णित समाचारी ।

तथाविध श्रुतज्ञान से विकल, वर्तमानकालीन मुनियों का आयुबल हीन देखकर ज्ञानियों ने नवम पूर्व की आचार नामक तृतीय वस्तु के बीसवें प्राभृत के अन्तर्गत ओघप्राभृत प्राभृत से निकालकर 'ओघ समाचारी' की रचना की । पदविभाग समाचारी भी नवमें पूर्व से ही उद्धृत की गई है ॥ ७५९ ॥

१०१ द्वार : चक्रवाल-समाचारी—

इच्छा मिच्छा तहक्कारो आवस्सिया य निसीहिया ।
आपुच्छणा य पडिपुच्छा छंदणा य निमंतणा ॥७६० ॥
उवसंपया य काले सामायारी भवे दसविहा उ ।
एएसिं तु पयाणं पत्तेयपरूवणं वोच्छं ॥७६१ ॥
जइ अब्भत्थिज्ज परं कारणजाए करेज्ज से कोई ।
तत्थ य इच्छाकारो न कप्पइ बलाभिओगो उ ॥७६२ ॥
संजमजोए अब्भुट्ठियस्स जं किंपि वितहमायरियं ।
मिच्छा एयंति वियाणिऊण मिच्छत्ति कायव्वं ॥७६३ ॥
कप्पाकप्पे परिनिट्ठियस्स ठाणेसु पंचसु ठियस्स ।
संयमतवड्ढगस्स उ अबिकप्पेणं तहक्कारो ॥७६४ ॥
आवस्सिया विहेया अवस्सगंतव्वकारणे मुणिणो ।
तम्मि निसीहिया जत्थ सेज्जठाणाइ आयरइ ॥७६५ ॥
आपुच्छणा उ कज्जे पुव्वनिसिद्धेण होइ पडिपुच्छा ।
पुव्वगहिएण छंदण निमंतणा होअगहिएणं ॥७६६ ॥
उवसंपया य तिविहा नाणे तह दंसणे चरित्ते य ।
एसा हु दसपयारा सामायारी तहऽन्ना य ॥७६७ ॥
पडिलेहणा पमज्जण भिक्खि-रियाऽऽलोय भुंजणा चेव ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पत्तगधुयण वियारा थंडिल आवस्सयाईया ॥७६८ ॥

—गाथार्थ—

चक्रवाल समाचारी—१. इच्छाकार, २. मिच्छाकार, ३. तथाकार, ४. आवश्यिकी, ५. नैषेधिकी, ६. आपृच्छा, ७. प्रतिपृच्छा, ८. छंदना, ९. निमंत्रणा और १०. उपसंपदा—ये संयमधर्म की कालविषयक दस सामाचारी हैं। इन दशों का स्वरूप आगे बताया जायेगा ॥७६०-७६१ ॥

कारणवश दूसरों की प्रार्थना करनी पड़े तब अथवा कोई साधु किसी का काम करना चाहे तब 'इच्छाकार' शब्द का प्रयोग अवश्य करे क्योंकि साधु को किसी पर भी बलात्कार करना नहीं कल्पता ॥७६२ ॥

संयमसाधना में तत्पर मुनि के द्वारा संयम विरुद्ध आचरण हो जाने पर अपराध बाध की स्थिति से अवश्य 'मिच्छामिदुक्कडं' देना चाहिये ॥७६३ ॥

कल्प्य-अकल्प्य के ज्ञाता, पाँच महाव्रतों के पालक, संयम और तप से युक्त महापुरुषों के वचन को 'तहत्ति' कहकर स्वीकार करना ॥७६४ ॥

आवश्यक कार्य हेतु बाहर जाते समय मुनियों को 'आवस्सहि' कहना चाहिये। बाहर से पुनः वसति में प्रवेश करते समय 'निस्सीहि' कहना चाहिये ॥७६५ ॥

कार्य करते समय पूछना आपृच्छा है। पूर्व निषिद्ध कार्य को करने हेतु पुनः पूछना प्रतिपृच्छा है। गौचरी लाने के बाद साधुओं को निमन्त्रित करना छंदना है। गौचरी जाते समय मुनिओं को गौचरी के लिये कहना निमन्त्रणा है ॥७६६ ॥

उपसंपदा तीन प्रकार की है—१. ज्ञान सम्बन्धी, २. दर्शन सम्बन्धी और ३. चारित्र सम्बन्धी।

यह दशविध सामाचारी है। दशविध समाचारी अन्य प्रकार से भी है ॥७६७ ॥

१. प्रतिलेखना, २. प्रमार्जना, ३. भिक्षा, ४. ईर्यापथिकी, ५. आलोचना, ६. भोजन, ७. पात्रप्रक्षालन, ८. संज्ञात्याग, ९. स्थंडिल तथा १०. आवश्यक आदि ॥७६८ ॥

—विवेचन—

१. इच्छाकार—किसी दबाव के बिना इच्छा से काम करना इच्छाकार है। यद्यपि साधु अकारण किसी की याचना नहीं करता या किसी से अपना काम नहीं करवाता तथापि रोगादि कारण से स्वयं काम करने में अक्षम हो और किसी दूसरे से काम करवाना पड़े तो रत्नाधिक को छोड़कर सर्वप्रथम उसकी इच्छा जाने। उसे पूछे कि 'क्या तुम मेरा इतना काम करोगे?' अथवा निर्जरा का इच्छुक मुनि किसी अन्य का काम करना चाहे तो सर्वप्रथम उसे पूछे कि 'यदि आपकी इच्छा हो तो मैं आपका यह काम करना चाहता हूँ,' वह भी कहे 'आपकी इच्छा हो तो कर सकते हो।' इस प्रकार इच्छा शब्द के प्रयोगपूर्वक ही साधुओं को एक-दूसरे का काम करना या कराना कल्पता है। "तुम्हें यह काम करना पड़ेगा।" इस प्रकार बलात् किसी से कुछ कराना साधु को नहीं कल्पता। वे आत्मा विरल हैं जो बिना कहे किसी का काम करते हैं यह बताने के लिये यहाँ 'कोऽपि' ऐसा कहा है ॥ ७६२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. **मिच्छाकार**—मिथ्या, वितथ व अनृत एकार्थक हैं। समिति, गुप्तिरूप संयम में उपयोग रखते हुए भी दोष लग जाये तो तत्काल 'मिच्छामि दुक्कडं' देना। जैसे खुले मुँह बोलना या छींकना दोष रूप है अतः ऐसा करने पर तुरन्त मिच्छामि दुक्कडं देना चाहिये। यदि जान-बूझकर दोषों का सेवन किया हो या बार-बार दोषों का सेवन किया हो तो मिच्छामि दुक्कडं से दोषों की शुद्धि नहीं हो सकती॥ ७६३॥

३. **तथाकार**—कल्प, विधि एवं आचार परस्पर पर्यायवाची है। कल्प से विपरीत अकल्प है। जिनकल्प व स्थविरकल्प ये दो कल्प हैं। चरक, बौद्ध आदि का आचार अकल्प है। जिन्हें कल्प व अकल्प दोनों का परिपक्व ज्ञान है (यह गुरु की ज्ञानसंपदा का सूचक है), जो पाँच महाव्रती हैं (यह मूल-गुण संपदा का सूचक है), जो सतरह प्रकार के संयम व तप से सम्पन्न हैं (यह उत्तरगुण-संपदा का सूचक है), ऐसे गुरु के वचन व समाचारी शिक्षण को यह कहते हुए स्वीकार करना कि—जैसे आपने कहा वह वैसा ही है॥ ७६४॥

४. **आवश्यिकी**—अवश्य करने योग्य क्रिया आवश्यिकी है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की रक्षा, वृद्धि और निर्विघ्न पालन के लिये साधु को बाहर जाना आवश्यक है। इन कारणों से बाहर जाने वाला मुनि उपाश्रय से निकलते समय 'आवस्सही' कहकर ही बाहर जाये। इससे साधु के निष्कारण गमन का निषेध सूचित होता है।

५. **निषेधिका**—रत्नत्रय का कार्य पूर्णकर वसति में प्रवेश करते हुए गमनागमनादि शारीरिक क्रिया के निषेधरूप निस्सीहि कहना चाहिये। मन्दिर में प्रवेश करते समय 'निस्सीहि' और निकलते समय 'आवस्सही' कहना चाहिये।

आवस्सही = आवश्यक कार्य से बाहर जा रहा हूँ।

निस्सीही = जाने आने का निषेध॥ ७६५॥

६. **आपृच्छा**—कोई भी कार्य उपस्थित होने पर गुरु से पूछना कि 'भगवन्! यह कार्य मैं करूँ?'

७. **प्रतिपृच्छा**—पहले गुरु ने कहा था कि 'अमुक समय यह काम करना है,' जब काम करने का समय आये तब शिष्य गुरु से पुनः पूछे कि 'भगवन्! पहले इस काम के लिये आज्ञा दी थी, अब समय आ गया है, वह काम करूँ या नहीं?' हो सकता है कि वह कार्य अन्य द्वारा हो चुका हो अथवा अब उस काम की उपयोगिता न रही हो।

अथवा—गुरु द्वारा किसी काम के लिये शिष्य को आज्ञा दे देने पर भी करते समय गुरु को पुनः पूछना।

८. **छन्दना**—गौचरी लाने के बाद अन्य मुनियों को विनती करना कि मैं "आहारादि लाया हूँ यदि आपके उपयुक्त हो तो अवश्य इच्छापूर्वक आहार ग्रहण करें।"

९. **निमन्त्रण**—गौचरी जाने से पूर्व साधुओं को निमन्त्रण दे कि "मैं आपके योग्य आहार आदि ले आऊँगा"॥७६६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०. उपसम्पदा—ज्ञान, दर्शन और चारित्र के रक्षण व संवर्धन के लिये गुरु की आज्ञापूर्वक अपने गच्छ व कुल को छोड़कर अन्य गच्छ व कुल के आचार्य की निश्रा स्वीकृत करना, उपसम्पदा समाचारी है।

ज्ञानविषयक उपसम्पदा के तीन भेद—

(i) **वर्तना**—पूर्व-पठित सूत्रादि का पुनः स्थिरीकरण करने के लिये।

(ii) **संधना**—जहाँ-जहाँ से सूत्रार्थ विस्मृत हो चुका हो, वहाँ से उसे पुनः व्यवस्थित करने के लिये।

(iii) **ग्रहण**—सूत्र और अर्थ पढ़ने के लिये।

पूर्वोक्त तीनो भेद सूत्र, अर्थ और तदुभय विषयक होने से ज्ञान विषयक उपसम्पदा के ३x३ = ९ (नौ) भेद होते हैं।

दर्शनविषयक उपसम्पदा के तीन प्रकार हैं—

(i) **वर्तना**—पूर्वपठित दर्शन प्रभावक **सम्मति** आदि ग्रन्थों का स्थिरीकरण करने के लिये।

(ii) **सन्धना**—जहाँ-जहाँ से वे ग्रन्थ विस्मृत हो चुके हैं, वहाँ से उन्हें पुनः व्यवस्थित करने के लिये।

(iii) **ग्रहण**—नये ग्रन्थ पढ़ने के लिये।

पूर्वोक्त तीन भेद मूल, अर्थ और उभय विषयक होने से दर्शनविषयक उपसम्पदा के ३x३ = ९ भेद होते हैं।

चारित्रविषयक उपसम्पदा के दो भेद—

(i) **वैयावृत्त्य विषयक**—कर्म-निर्जरा के लिये अल्पकाल या यावज्जीवन पर्यन्त अन्य गच्छ के आचार्य की वैयावच्च करने हेतु उपसम्पदा ग्रहण करना।

प्रश्न—अन्य गच्छ के आचार्य की वैयावच्च अपने गच्छ में रहकर भी हो सकती है तो फिर उपसम्पदा क्यों स्वीकार करना चाहिये?

उत्तर—अपने गच्छ में वैयावच्च में उपयोगी या निर्वाह योग्य सामग्री उपलब्ध न होने से अन्य गच्छ की सम्पदा स्वीकार की जाती है।

(ii) **क्षपण विषयक**—अपने गच्छ में विशिष्ट तप करने की सुविधा न हो तो अन्य गच्छ के आचार्य से उपसम्पदा ग्रहण करे। यहाँ तपस्वी के दो भेद हैं—

(i) **इत्वरिक**—अल्पकाल के लिये तप करने वाला। इसके भी दो भेद हैं—

(अ) विकृष्ट क्षपक—अट्ठम, दसम आदि की तपस्या करने वाला।

(ब) अविकृष्ट क्षपक—छट्ठ तप की तपस्या करने वाला।

(ii) **यावत्कथित**—अन्तिम समय में अनशन करने की भावना वाला।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- अपने गच्छ में सेवा करने वाला कोई न हो, निर्वाहक कोई न हो, तो तपस्या के लिये अन्य गच्छ की उपसम्पदा ग्रहण करे।
- जिस प्रकार चक्र घूमता है तो उसके आरे भी बार-बार घूमते रहते हैं, वैसे ही मुनि की दिनचर्या में पूर्वोक्त दशविध समाचारी बार-बार आचरण में आती है। अतः यह चक्रवाल समाचारी कहलाती है ॥ ७६७ ॥

अन्य प्रकार से दशविध समाचारी—

१. प्रतिलेखना, २. प्रमार्जना, ३. भिक्षाचर्या, ४. ईर्यापथिकी, ५. आलोचना, ६. भोजन, ७. पात्रप्रक्षालन, ८. विचार, ९. स्थंडिल और १०. आवश्यक आदि अन्य प्रकार की दशविध समाचारी है।

१. **प्रतिलेखना**—वस्त्र-पात्र इत्यादि का सुबह-शाम पडिलेहण करना।

२. **प्रमार्जना**—वसति अर्थात् उपाश्रय की सुबह-शाम प्रमार्जना करना।

३. **भिक्षाचर्या**—मात्रा आदि शारीरिक शंकाओं का निवारण करके 'आवस्सहि' बोलते हुए आहार ग्रहण हेतु उपाश्रय से निकले। अनासक्तभाव से एषणापूर्वक आहार ग्रहण करे।

४. **ईर्यापथिकी**—भिक्षा ग्रहण करके 'निस्सीहि' बोलते हुए उपाश्रय में प्रवेश करे। 'नमो खमासमणाणं' द्वारा वाचिक नमस्कार करके, दृष्टि व रजोहरण के द्वारा योग्य स्थान की प्रमार्जना करके 'इरियावहियं' प्रतिक्रमण करे।

५. **आलोचना**—भिक्षा हेतु उपाश्रय से निकलकर पुनः उपाश्रय में प्रवेश करे तब तक पुरःकर्म आदि जो भी अतिचार लगे हों उनका चिन्तन करने के लिये काउस्सग्ग करे। 'काउस्सग्ग' पूर्ण होने के पश्चात् लोगस्स बोलकर संयमभावनापूर्वक गुरु अथवा गुरु द्वारा निर्दिष्ट मुनि भगवन्त के सम्मुख, जिस प्रकार आहारादि ग्रहण किया हो उस प्रकार शास्त्रोक्त विधिपूर्वक उसकी आलोचना करे।

तत्पश्चात् दुरालोचित आहार-पानी के निमित्त तथा एषणा-अनैषणा के निमित्त काउस्सग्ग करे। 'इच्छामि पडिक्कमिउं...गोयरचरियाए...तस्स मिच्छा मि दुक्कडं...तस्स उत्तरीकरणेणं...अन्नत्थ...अप्पाणं वोसिरामि' बोलकर काउस्सग्ग करे। काउस्सग्ग में एक नवकार तथा 'जइ मे अणुग्गहं कुज्जा' गाथा का चिन्तन करे। गाथा का अर्थ—यदि मुनि लोग मेरे पर अनुग्रह (मेरे द्वारा लाई हुई भिक्षा में से कुछ लें) करें तो मैं संसार-समुद्र से पार हो जाऊँगा।

ओघनिर्युक्ति में कहा है कि—दुरालोचित आहार पानी के निमित्त तथा एषणा-अनैषणा के निमित्त आठ श्वासोच्छ्वास प्रमाण काउस्सग्ग करे। 'जई मे अणुग्गहं कुज्जा' गाथा का चिन्तन करे।

दशवैकालिक के अनुसार काउस्सग्ग में 'अहो जिणेहि असावज्जा' गाथा का चिन्तन करे। काउस्सग्ग पूर्ण होने के पश्चात् प्रकट लोगस्स बोले। पश्चात् थकान आदि दूर करने के लिये मुहूर्त्त पर्यन्त स्वाध्याय करे।

६. **भोजन**—स्वाध्याय करने के बाद गृहस्थ रहित स्थान में, राग-द्वेष रहित होकर, नवकारमंत्र के स्मरणपूर्वक 'संदिशत पारयाम' बोलकर गुरु की अनुमति सह घाव पर मल्हम लगाते समय जो भाव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होते हैं, वैसे भावपूर्वक क्षुधा को शान्त करने हेतु भोजन करे।

७. **पात्रप्रक्षालन**—भोजन करने के बाद स्वच्छ जल से आगमसम्मत तीन कल्प करते हुए पात्रों का प्रक्षालन करे अर्थात् तीन बार पात्रों को स्वच्छ जल से धोये। पश्चात् एकासन का पच्चक्खाण होने पर भी अप्रमत्तता के लिये तथा अधिक आगार वाले एकासन के पच्चक्खाण का संक्षेप करने के लिये तिविहार आदि का पच्चक्खाण करे।

८. **विचार**—विचार अर्थात् संज्ञा—ठल्ले आदि जाना। आगामी द्वार में बताई गई विधि के अनुसार ठल्ला-मात्रा आदि का विसर्जन करना।

९. **स्थंडिल**—स्थंडिल अर्थात् जीवरहित अचित्त भूमि, जहाँ जाने में दूसरों को किसी प्रकार की बाधा न हो। जघन्यतः एक हाथ प्रमाण स्थंडिल भूमि की पडिलेहण करे। स्थंडिल भूमि के २७ भेद हैं। यथा—मात्रा करने योग्य वसति (उपाश्रय) के मध्य के ६ स्थंडिल, उपाश्रय के बाहर के ६ स्थंडिल = १२ स्थंडिल मात्रा के लिये। इसी प्रकार १२ स्थंडिल ठल्ला के लिये। ३ स्थंडिल भूमि काल ग्रहण की। कुल मिलाकर १२+१२+३ = २७ स्थंडिल भूमि है।

१०. **आवश्यक**—विधिपूर्वक आवश्यक अर्थात् प्रतिक्रमण करना। आदि शब्द से कालग्रहण आदि करना।

इस प्रकार प्रतिदिन करने योग्य, 'इच्छाकार' आदि दशविध समाचारी से भिन्न 'प्रतिलेखना' आदि दशविध समाचारी का संक्षेप में वर्णन किया गया। विस्तार से जानने के इच्छुक आत्मा **'पंचवस्तु'** का द्वितीय द्वार देखें॥ ७६८॥

१०२ द्वार : भव-निर्ग्रन्थत्व—

उवसमसेणिचउक्कं जायइ जीवस्स आभवं नूणं।
ता पुण दो एगभवे खवगस्सेणी पुणो एगा॥७६९॥

—गाथार्थ—

संसारचक्र में जीव को पृथक्-पृथक् भव में चार बार उपशम श्रेणि प्राप्त होती है। एक भव में दो बार प्राप्त होती है। क्षपक श्रेणि तो एक भव में एक ही बार मिलती है॥७६९॥

—विवेचन—

संसार में रहते हुए एक जीव उपशम श्रेणी ४ बार कर सकता है।
संसार में रहते हुए एक जीव क्षपक श्रेणी १ बार कर सकता है।
एक जीव एक भव में उपशम श्रेणी २ बार कर सकता है।
एक जीव एक भव में क्षपक श्रेणी १ बार कर सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्ग्रन्थता एक जीव को ५ बार प्राप्त होती है, क्योंकि क्षपक और उपशामक ही निर्ग्रन्थ होते हैं ॥ ७६९ ॥

१०३ द्वार : विहार-स्वरूप—

गीयत्थो य विहारो बीओ गीयत्थमीसओ भणिओ ।
एत्तो तइयविहारो नाणुन्नाओ जिणवरेहिं ॥७७० ॥
दव्वओ चक्खुसा पेहे, जुगमित्तं तु खेत्तओ ।
कालओ जाव रीएज्जा, उवउत्तो य भावओ ॥७७१ ॥

—गाथार्थ—

विहार स्वरूप—**विहार दो प्रकार का है—१. गीतार्थ का विहार और २. गीतार्थ मिश्र विहार। इससे अन्य विहार जिनेश्वरों द्वारा निषिद्ध है ॥७७० ॥**

द्रव्यतः चक्षु द्वारा देखकर चलना। क्षेत्रतः युगमात्र भूमि देखकर चलना। कालतः जब तक चले और भावतः सम्यक् उपयोगपूर्वक चलना। ऐसे चार प्रकार का विहार है ॥७७१ ॥

—विवेचन—

विहार

↓

↓ ↓

गीतार्थविहार (बहुश्रुत का विहार)

गीतार्थमिश्रविहार (बहुश्रुत के साथ या उनकी निश्रा में रहकर विहार करना)

गीतार्थमिश्र के स्थान पर 'गीतार्थनिश्रित विहार' ऐसा भी पाठान्तर है। उसका अर्थ है गीतार्थ के आश्रय में रहकर विहार करना।

गीतार्थ = कृत्य-अकृत्य के ज्ञाता, बहुश्रुत मुनि

विहार = उनका विचरण।

पूर्वोक्त दोनों प्रकार का विहार द्रव्यादि के भेद से चार प्रकार का है—

(i) **द्रव्यतः**—दृष्टि से देखकर चलना।

(ii) **क्षेत्रतः**—चार हाथ प्रमाण भूमि को देखकर चलना। अत्यन्त समीप में देखकर चलने से जीवरक्षा नहीं हो सकती तो चार हाथ से अधिक दूर तक देखकर चलने से भी जीव रक्षा नहीं होती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्योंकि इतनी दूर से सूक्ष्मजीव दृष्टिगत नहीं हो सकते अतः चार हाथ प्रमाण भूमि को देखकर चलना ही उचित है।

(iii) कालतः—सूर्योदय के पश्चात् विहार करना।

(iv) भावतः—उपयोग पूर्वक चलना।

पूर्वोक्त दो विहारों के अतिरिक्त तीसरा विहार—जैसे एक या अनेक अगीतार्थों का विहार जिनाज्ञा संमत न होने से सर्वथा निषिद्ध है ॥७७०-७७१॥

१०४ द्वार : अप्रतिबद्ध-विहार—

अप्पडिबद्धो अ सया गुरूवएसेण सव्वभावेसुं।
मासाइविहारेणं विहरेज्ज जहोचियं नियमा ॥७७२॥
मुत्तूण मासकप्पं अन्नो सुत्तंमि नत्थि उ विहारो।
ता कहमाइग्गहणं कज्जे ऊणाइभावेणं ॥७७३॥
कालाइदोसओ जइ न दव्वओ एस कीरए नियमा।
भावेण तहवि कीरइ संथारगवच्चयाईहिं ॥७७४॥
काऊण मासकप्पं तत्थेव ठियाण तीस मग्गसिरे।
सालंबणाण जिट्ठोग्गहो य छम्मासिओ होइ ॥७७५॥
अह अत्थि पयवियारो चउपाडिवयंमि होइ निग्गमणं।
अहवावि अनितस्स आरोवणं सुत्तनिद्दिट्ठं ॥७७६॥
एगक्खेत्तनिवासी कालाइक्कंतचारिणो जइवि।
तहवि हु विसुद्धचरणा विसुद्धआलंबणा जेण ॥७७७॥
सालंबणो पडंतो अत्ताणं दुग्गमेऽवि धारेइ।
इय सालंबणसेवी धारेइ जई असढभावं ॥७७८॥
काहं अछित्ति अदुवा अहिस्सं, तवोवहाणेसु य उज्जमिस्सं।
गणं व नीइसु य सारइस्सं, सालंबसेवी समुवेइ मोक्खं ॥७७९॥

—गाथार्थ—

अप्रतिबद्ध विहार—**सभी पदार्थों के प्रति अनासक्तभाव रखते हुए, गुरु आज्ञापूर्वक, योग्य नियमानुसार मासकल्पादि रूप विहार करते हुए विचरण करना अप्रतिबद्ध विहार है ॥७७२॥**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मासकल्प को छोड़कर आगम में अन्य विहार का विधान नहीं है। तब 'मासाइ' में आदि शब्द का ग्रहण क्यों किया?

कारणवशात् कभी मास से पूर्व अथवा मास के बाद भी विहार हो सकता है। यह सूचित करने के लिये आदि शब्द ग्रहण किया है ॥७७३॥

काल आदि के दोषवश यदि मासकल्प द्रव्य से न भी हो तो भी शयनभूमि आदि बदलकर भाव से तो मासकल्प अवश्य ही करे ॥७७४॥

मासकल्प करने के पश्चात् वहीं पर चातुर्मास किया हो और मिगसर महीने का मासकल्प भी कारणवश वहीं करना पड़ा हो तो सालंबनपूर्वक उत्कृष्ट कालावग्रह छः मास का भी होता है ॥७७५॥

यदि विहार की अनुकूलता हो तो कार्तिक पूर्णिमा के पश्चात् तुरन्त विहार कर देना चाहिये। यदि विहार न करे तो सूत्रनिर्दिष्ट प्रायश्चित्त आता है ॥७७६॥

विशुद्ध आलंबन वाले, एक ही क्षेत्र में रहने वाले मुनि यद्यपि कालातिक्रान्तचारी हैं तथापि वे विशुद्धचारित्री हैं, शुद्धालंबनी होने से ॥७७७॥

दुर्गमस्थान में गिरते हुए आत्मा का जो सहायक बनता है वह आलंबन कहलाता है। जो अशठभाव से आलंबन का उपयोग करता है वह आलंबन-सेवी कहलाता है ॥७७८॥

शासन की परम्परा को अव्यवच्छिन्न रखने के लिये, अध्ययन के लिये, तपश्चर्या आदि में प्रयत्नशील बनने के लिये तथा गच्छ का नीतिपूर्वक पालन करने के लिये आलंबन का उपयोग करने वाला भी आत्मा मोक्ष को प्राप्त करता है ॥७७९॥

—विवेचन—

अप्रतिबद्ध विहार = गुरु की आज्ञा से द्रव्य, क्षेत्र आदि के प्रतिबन्ध से रहित होकर, शरीरबल को देखते हुए सूत्रसम्मत, मासकल्पी विहार करना। इसके चार भेद हैं—

(i) द्रव्यतः अप्रतिबद्ध—'अमुक गाँव, नगर में जाकर बहुत से सम्पन्न श्रावकों को प्रतिबोध दूँगा' अथवा ऐसा करूँ कि 'अमुक श्रावक लोग मुझे छोड़कर दूसरों के भक्त न बन जायें।' इस प्रकार के प्रतिबंध से रहित होकर विहार करना। सुविधाभोगी बनकर एक स्थान में मुनि को नहीं रहना चाहिये। द्रव्यादि के प्रतिबंध से रहित मुनि का ही विहार सफल है।

(ii) क्षेत्रतः अप्रतिबद्ध—प्रतिकूलता वाली वसति छोड़कर अनुकूलता वाली वसति में मुझे जाना चाहिये, ऐसी भावना से रहित होकर विहार करना।

(iii) कालतः अप्रतिबद्ध—शरद्काल होने से अभी विहार करूँगा तो प्राकृतिक सौन्दर्य देखने को मिलेगा, ऐसी भावना न रखते हुए विहार करना।

(iv) भावतः अप्रतिबद्ध—उस क्षेत्र में जाऊँगा तो मुझे स्निग्ध, मधुर आहार आदि मिलेंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इससे शरीर पुष्ट बनेगा अथवा मास-कल्प से अधिक कहीं भी नहीं रहूँगा तो लोग मुझे उद्यत-विहारी कहेंगे, ऐसे भाव न रखते हुए विहार करना।

द्रव्य, क्षेत्र आदि का प्रतिबन्ध रखते हुए विहार करना या रहना साधु को नहीं कल्पता है ॥७७२ ॥

प्रश्न—चातुर्मास के सिवाय साधु एक महीने से अधिक किसी भी क्षेत्र में निष्कारण नहीं रह सकता। शेष काल में मास-कल्पी-विहार को छोड़कर विहार का कोई दूसरा प्रकार शास्त्र में नहीं बताया गया है, तो यहाँ "मासाई विहारेणं विहरेज्ज जहोचियं नियमा" इस गाथा में आदि पद क्यों दिया?

उत्तर—यद्यपि शेषकाल में साधु के लिये मास-कल्पी विहार की ही अनुज्ञा दी गई है तथापि कारणवश न्यूनाधिक रहना भी कल्पता है। जैसे दुष्काल होने से दूसरे क्षेत्र में भिक्षा मिलना दुर्लभ हो...अन्य क्षेत्र संयम पालन के अनुकूल न हो...वहाँ का आहार आदि स्वास्थ्य के अनुकूल न हो...मुनि बीमार हो, दूसरे क्षेत्र में जाने से ज्ञानादि की हानि होती हो तो साधु मासकल्पी विहार न भी करे। कदाचित् मास पूर्ण होने से पूर्व ही विहार करना पड़े इस हेतु से पूर्वोक्त गाथा में 'आदि' पद दिया गया है ॥ ७७३ ॥

- यद्यपि मुनि कारणवश विहार नहीं कर सकता, तथापि एकस्थान में रहकर भी भाव से मासकल्प करे। उदाहरण के तौर पर मुनि प्रतिदिन जहाँ संथारा करता हो, एक महिना पूर्ण होने के बाद वह स्थान बदल ले। दूसरी रहने लायक वसति हो तो एक महीने के बाद वसति बदल ले। इस प्रकार साधु धर्म सुरक्षित रहता है ॥ ७७४ ॥

एक क्षेत्र में उत्कृष्ट वास—

आषाढ़ महीने का मासकल्प जहाँ किया हो वहाँ योग्य क्षेत्र के अभाव में कदाचित् चातुर्मास भी करना पड़े, तत्पश्चात् मिगसर मास में वर्षा आदि के कारण रुकना पड़े इस प्रकार अधिक से अधिक साधु एक स्थान में छः महीने ठहर सकता है। तत्पश्चात् कारण के अभाव में अवश्य विहार करे। अन्यथा प्रायश्चित्त का भागी बनता है ॥ ७७५ ॥

मिगसर मास में वर्षा न आती हो, मार्ग वनस्पति एवं कीचड़ से रहित हो तो ऐसा समय विहार के अनुकूल होता है। ऐसे समय में यदि साधु विहार नहीं करता तो निश्चित रूप से प्रायश्चित्त का भागी बनता है।

प्रश्न—एक क्षेत्र में कितना भी उपयोग पूर्वक साधु क्यों न रहे किन्तु भक्तों का, वसति का प्रतिबंध हुए बिना नहीं रहता तो छः महीने एक स्थान में रहना कैसे कल्पता है?

उत्तर—यदि किसी प्रतिबंध से मुनि एक स्थान में निवास करते हैं तो वे अवश्य जिनाज्ञा का उल्लंघन करते हैं। किन्तु जंघाबलक्षीण होने से, अनुकूल क्षेत्र न मिलने से या अन्य किसी पुष्टालंबन से एक क्षेत्र में निवास करे तो कोई दोष नहीं लगता ॥ ७७६ ॥

आलम्बन = गिरते को सहायक। यह द्रव्य, भाव, पुष्ट और अपुष्ट के भेद से चार प्रकार का होता है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(i) द्रव्यत पुष्ट आलम्बन—खड्डे आदि में गिरते हुये को जो आलंबन देकर बचाते हैं वे कठोर लता आदि।

(ii) द्रव्यत: अपुष्ट आलम्बन—तृण, घास आदि।

(iii) भावत: पुष्ट आलम्बन—राजा आदि को प्रतिबोधित करने के लिये, जिससे कि तीर्थ का विच्छेद न हो। दर्शन के प्रभावक ग्रन्थों का अध्ययन करने के लिये, तपश्चर्या के लिये गच्छ को शिक्षित करने के हेतु से अथवा ज्ञान, दर्शन की वृद्धि करने वाले अन्य कारणों से एक स्थान में रहना, सालंबन वास है। शेष निष्कारण है। सालंबनवास करने वाला मुनि संसार रूपी खड्डे में गिरती हुई अपनी आत्मा को बचा लेता है। जिनाज्ञा का पालन करने से शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करता है। इसलिये जिनाज्ञानुसारी आलंबन ही ग्राह्य है, अन्य नहीं। कहा है—'प्रमादी आत्मा के लिये संसार में आलंबन (बहानों) की कोई कमी नहीं है। ऐसा आत्मा जो जो सामने दिखाई देता है उसे ही आलम्बन बना लेता है।'

(iv) भावत: अपुष्टालंबन—स्वमतिकल्पित कारण से ॥ ७७७-७७९ ॥

१०५ द्वार : जात-अजात कल्प—

जाओ य अजाओ य दुविहो कप्पो य होइ नायव्वो।
एक्केकोऽवि य दुविहो समत्तकप्पो य असमत्तो ॥७८० ॥
गीयत्थ जायकप्पो अगीयओ खलु भवे अजाओ य।
पणगं समत्तकप्पो तदूणगो होइ असमत्तो ॥७८१ ॥
उउबद्धे वासासुं सत्त समत्तो तदूणगो इयरो।
असमत्ताजायाणं ओहेण न किंचि आहव्वं ॥७८२ ॥

—गाथार्थ—

जात-अजातकल्प—**दो प्रकार का कल्प है—जातकल्प और अजातकल्प। इन दोनों के भी समाप्तकल्प और असमाप्तकल्प ये दो-दो भेद होते हैं ॥७८० ॥**

गीतार्थ का विहार जातकल्प एवं अगीतार्थ का विहार अजातकल्प है। ऋतुबद्ध काल में पाँच साधुओं का समुदाय समाप्तकल्प कहलाता है और इससे न्यून मुनि समुदाय असमाप्तकल्प कहलाता है। वर्षाकाल में सात साधुओं का समुदाय समाप्तकल्प तथा इससे न्यून समुदाय असमाप्तकल्प है। असमाप्तकल्पी तथा अजातकल्पी के अधिकार में कोई भी वस्तु नहीं होती ॥७८१-७८२ ॥

—विवेचन—

कल्प = साधु का आचार। यह दो प्रकार का है (i) जात और (ii) अजात।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(i) जात = ज्ञानादि की सतत आराधना से आत्मलाभ प्राप्त करने वाले मुनि 'जात' कहलाते हैं। उनसे अभिन्न होने से 'कल्प' भी जात कहलाता है अर्थात् गीतार्थ का विहार 'जातकल्प' है।

(ii) अजात—ज्ञानादि के द्वारा जिन्हें आत्मलाभ प्राप्त नहीं हुआ ऐसे मुनि 'अजात' कहलाते हैं। उनसे अभिन्न होने से 'कल्प' भी अजात कहलाता है अर्थात् अगीतार्थ का विहार 'अजातकल्प' है।

पूर्वोक्त दोनों कल्प के दो-दो भेद हैं—

(i) जात समाप्त कल्प — पूर्ण सहायक युक्त गीतार्थ का विहार

(ii) जातअसामाप्त कल्प — अपूर्ण सहायक युक्त गीतार्थ का विहार

(i) जात समाप्त कल्प — शीतोष्ण काल में ५ मुनियों का विहार। वर्षाकाल में ७ मुनियों का विहार, कारण कोई मुनि बीमार हो जाये तो इससे कम मुनियों में योग्य सेवा नहीं हो सकती। चातुर्मास में दूसरे स्थान से भी मुनि नहीं आ सकते।

(ii) जातअसामाप्त कल्प — शीतोष्णकाल में २-३-४ मुनियों का विहार।वर्षाकाल में ४-५ आदि मुनि।

इसी तरह 'अजातकल्प' समझना। किन्तु असमाप्त-अजातकल्प वाले मुनियों को सामान्यतः क्षेत्र, क्षेत्रगत वस्त्र, पात्र, गोचरी, पानी, शयन, उपकरण, शिष्य आदि ग्रहण करना नहीं कल्पता है ॥ ७८०-७८२ ॥

१०६ द्वार : प्रतिस्थापन-उच्चार-दिशा—

दिसाऽवरदक्खिणा दक्खिणा य अवरा य दक्खिणापुव्वा।
अवरुत्तरा य पुव्वा उत्तर पुव्वुत्तरा चेव ॥७८३ ॥
पउरऽन्नपाण पढमा बीयाए भत्तपाण न लहंति।
तइयाए उवहिमाई नत्थि चउत्थीए सज्झाओ ॥७८४ ॥
पंचमियाए असंखडी छट्ठीए गणस्स भेयणं जाण।
सत्तमिया गेलन्नं मरणं पुण अट्ठमे बिंतिं ॥७८५ ॥
दिसिपवणगामसूरियच्छायाए पमज्जिऊण तिक्खुत्तो।
जस्सोग्गहोत्ति काऊण वोसिरे आयमेज्जा वा ॥७८६ ॥
उत्तरपुव्वा पुज्जा जम्माए निसायरा अहिपडंति।
घाणारिसा य पवणे सूरियगामे अवन्नो उ ॥७८७ ॥
संसत्तग्गहणी पुण छायाए निग्गयाए वोसिरइ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छायाऽसइ उण्हंमिवि वोसिरिय मुहुत्तयं चिट्ठे ॥७८८ ॥
उवगरणं वामगजाणुगंमि मत्तो य दाहिणे हत्थे ।
तत्थऽन्नत्थ व पुंछे तिआयमणं अदूरंमि ॥७८९ ॥

—गाथार्थ—

पारिष्ठापनिक और उच्चारकरण—१. पश्चिम-दक्षिण, २. दक्षिण, ३. पश्चिम, ४. दक्षिण-पूर्व, ५. पश्चिम-उत्तर, ६. पूर्व, ७. उत्तर और ८. पूर्वोत्तर ये आठ दिशायें हैं ॥७८३ ॥

प्रथम दिशा में परठे तो विपुल मात्रा में आहार-पानी मिलते हैं। दूसरी दिशा में परठने पर आहार-पानी का अभाव होता है। तीसरी में परठे तो उपधि न मिले और चतुर्थ दिशा में परठने पर स्वाध्याय की हानि होती है ॥७८४ ॥

पाँचवीं दिशा में परठे तो कलह होता है। छट्ठी में परठने से समुदाय में भेद पड़ता है। सातवीं में परठने वाला रोगी बनता है तथा आठवीं दिशा में परठने वाले की निश्चित मृत्यु होती है ॥७८५ ॥

दिशा, पवन, गाँव और सूर्य को पीठ दिये बिना, तीन बार भूमि की प्रमार्जना करके, अवग्रह की याचना करके छाया में स्थंडिल जाकर आचमन करे ॥७८६ ॥

उत्तरदिशा और पूर्व दिशा पूज्य होने से उसे पीठ देकर स्थंडिल नहीं जाना चाहिये। दक्षिण दिशा में राक्षसों का आवागमन होता है अतः रात्रि में दक्षिण दिशा की ओर पीठ नहीं करना चाहिये। जिस दिशा से हवा आती हो उस दिशा की ओर पीठ करने से नाक में मस्से होने की सम्भावना रहती है। सूर्य और गाँव की ओर पीठ देने से निन्दा होती है ॥७८७ ॥

जिस मुनि के पेट में कृमि हो वह छाया में ही स्थंडिल बैठे। यदि छाया न हो तो धूप में स्थंडिल जाकर एक मुहूर्त्त तक वहाँ खड़ा रहे ॥७८८ ॥

बांये घुटने पर उपकरण रखे। मात्रक दांयें हाथ में रखें। स्थंडिल के स्थान पर या अन्यत्र कंकर आदि से गुदा साफ करे, पश्चात् कुछ सरक कर जल से शुद्धि करे ॥७८९ ॥

—विवेचन—

मृतक की प्रतिस्थापना—जिस गाँव में साधु मास कल्प या चातुर्मास रहे, वहाँ पहले से ही मृतक को परठने के लिये तीन महास्थंडिल देखकर रखे—

(i) आसन्न (समीपवर्ती), **(ii)** मध्य और **(iii)** दूर।

(i) सामान्यतः मृतक को समीपवर्ती स्थंडिल में परठे।

(ii) यदि समीपवर्ती स्थंडिल को किसी ने अनाज आदि बोने के उपयोग में ले लिया हो, पानी आदि भर गया हो अथवा वनस्पति पैदा हो गई हो तो उसके स्थान पर मृतक को परठने के लिये दूसरे स्थंडिल का प्रयोग करे।

(iii) दूसरी स्थंडिल भूमि भी जीवाकुल बन गई हो तो तीसरे स्थंडिल का प्रयोग करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मृतक के प्रतिस्थापन की दिशा और फल—

१.	नैऋत्य दिशा में प्रतिस्थापन से	अन्न-पान-वस्त्रादि का लाभ होता है। इससे समाधि मिलती है।
२.	दक्षिण दिशा में प्रतिस्थापन से	अन्न-पानी नहीं मिलता।
३.	पश्चिम में प्रतिस्थापन से	उपधि नहीं मिलती।
४.	आग्नेय कोण में प्रतिस्थापन से	स्वाध्याय में विघ्न आता है।
५.	वायव्य में प्रतिस्थापन से	साधुओं का गृहस्थ या कुतीर्थिकों के साथ कलह होता है।
६.	पूर्व दिशा में प्रतिस्थापन से	गच्छ में मतभेद होता है।
७.	उत्तर दिशा में प्रतिस्थापन से	साधु बीमार होते हैं।
८.	ईशान कोण में प्रतिस्थापन से	अन्य साधु की मृत्यु होती है।

पानी, चोर, अग्नि आदि के भय से पूर्व-पूर्व दिशाओं को छोड़कर उत्तर-उत्तर दिशाओं में परठे तो भी पूर्ववत् प्रचुर अन्न, पान, वस्त्रादि का लाभ होता है। निष्कारण परठे तो दोष होता है ॥७८३-७८५॥

उच्चार (मलमूत्र के त्याग) के लिये जाने की विधि—

मुनि एकाकी, मन्द गति से, विकथा रहित उच्चार के लिये जाये। मलोत्सर्ग के बाद गुदा को निर्लेप करने के लिये पाषाण खण्ड (डगला) रास्ते में ग्रहण करे। यदि उन पर कीड़ी आदि जन्तु हो तो उन्हें यतनापूर्वक अलग करे। तत्पश्चात् निर्दोष स्थंडिल में जाकर सर्वप्रथम ऊपर की ओर देखे कि वृक्ष या पर्वत आदि पर कोई चढ़ा तो नहीं है? फिर नीचे देखे कि खड्डे आदि में उतरा हुआ तो कोई नहीं है? फिर तिरछा देखे कि कोई इधर-उधर विश्राम तो नहीं कर रहा है? यदि कोई सागारी (गृहस्थ) दिखायी न दे तो संडासा-प्रमार्जना पूर्वक बैठकर प्रेक्षित और प्रमार्जित क्षेत्र में मलोत्सर्ग करे। बैठने से पूर्व जिसका अवग्रह है उससे "अणुजाणह जस्सुग्गहो" कहकर अवग्रह की याचना अवश्य करे। गुदा यतनापूर्वक प्रक्षालित करे॥ ७८६॥

दिशा—पूर्व और उत्तर दिशा लोकों में पूज्य मानी जाती है अतः उन्हें पीठ देकर कभी नहीं बैठना चाहिये। स्थंडिल जाते समय इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिये। वायु, गाँव व सूर्य की दिशा को भी पीठ देकर स्थंडिल नहीं बैठना चाहिये।

दोष—लोक-निन्दा व देवादि के कुपित हो जाने से मुनि की मृत्यु की सम्भावना रहती है अतः दिन में पूर्व व उत्तर की ओर तथा रात्रि में दक्षिण की ओर पीठ नहीं करना चाहिये, कारण रात्रि में निशाचर-राक्षस दक्षिण उत्तर की ओर जाते हैं, कदाचित् कुद्ध होकर कुछ अनिष्ट कर दें। कहा है कि—'पेशाब और टट्टी दिन में उत्तराभिमुख व पूर्वाभिमुख तथा रात्रि में दक्षिणाभिमुख करना चाहिये, इससे आयु नहीं घटती। वायु की दिशा और गाँव की दिशा को पीठ देने से लोक-निन्दा होती है। वायु की दिशा को पीठ देने से मल की दुर्गन्ध सीधी नाक में जाती है। जिससे नाक में 'अर्स' आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने की सम्भावना रहती है तथा लोकों में उपहास पात्र बनते हैं कि ये मुनि विष्ठा सूँघने वाले हैं॥ ७८७ ॥

छाया—जिस मुनि का मलद्वार... बेइन्द्रिय जीवों से संसक्त हो तो उसे स्थंडिल जाते समय वृक्षादि की छाया में बैठना चाहिये ताकि मल में रहे हुए 'कृमि' इत्यादि ताप से न मरे। स्थंडिल तीसरे प्रहर में जाना होता है अतः यदि छाया न हो तो मलोत्सर्ग करने के बाद थोड़ी देर अपने शरीर की छाया मल पर रखे ताकि कृमि आदि अपनी आयु पूर्ण होने से स्वतः मर जाये पर उनकी मृत्यु में साधु निमित्त न बने। अन्यथा गर्मी के कारण उन जीवों को महती पीड़ा होती है॥ ७८८ ॥

उपकरण धारण—स्थंडिल जाते समय रजोहरण, दांडा आदि बांयी जांघ पर, मात्रक (तिरपनी) दायें हाथ में व गुदा निर्लेप करने हेतु पाषाण खण्ड बांये हाथ में रखे।

मलोत्सर्ग करने के बाद उसी स्थान में या थोड़ा खिसक कर गुदा निर्लेप करने के लिये पाषाण-खण्ड का उपयोग करे, फिर तीन चुल्लुक पानी से गुदा की शुद्धि करे। गुदा की शुद्धि मलोत्सर्ग के स्थान से अधिक दूर जाकर नहीं करे। यदि कोई गृहस्थ देख ले तो मुनि का उपहास करे कि ये कैसे साधु हैं जो बिना शुद्धि किये ही चले गये॥ ७८९ ॥

१०७ द्वार : दीक्षा-अयोग्य पुरुष—

बाले वुड्ढे नपुंसे य कीवे जड्डे य वाहिए।
तेणे रायावगारी य, उम्मत्ते य अदंसणे ॥७९० ॥
दासे दुट्ठे य मूढे य, अणत्ते जुंगिए इय।
ओबद्धए य भयए, सेहनिप्फेडिया इय ॥७९१ ॥

—गाथार्थ—

दीक्षा के अयोग्य पुरुष—**बाल, वृद्ध, नपुंसक, क्लीब, जड़, रोगी, चोर, राजद्रोही, उन्मत्त, अंध, दास, दुष्ट, मूढ़, कर्जदार, निन्दित, परतन्त्र, भृत्य एवं शैक्षनिष्फेटिका—ये अट्ठारह पुरुष दीक्षा के अयोग्य हैं॥७९०-७९१ ॥**

—विवेचन—

१. बाल—जन्म से आठ वर्ष तक का बालक दीक्षा के लिये अयोग्य है। स्वभाववश देशविरति या सर्वविरति ग्रहण नहीं कर सकता। (इसमें गर्भ के ९ मास नहीं गिने जाते) कहा है—'वीतराग परमात्मा ने दीक्षा की जघन्य आयु आठ वर्ष बताई है।"

निशीथचूर्णि के मतानुसार—गर्भ के नौ मास सहित आठ वर्षीय बालक को दीक्षा दी जा सकती है। "आदेसेण वा गब्भट्ठमस्स दिक्खत्ति।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न—वज्रस्वामी को तीन वर्ष की उम्र में दीक्षा कैसे दी ?

उत्तर—तीन वर्ष की उम्र में वज्रस्वामी का दीक्षा ग्रहण करना अपवाद रूप है। अपवादिक घटनायें सर्वत्र उदाहरण नहीं बन सकती। वज्रस्वामी छः महीने के थे, तब से सावद्य के त्यागी थे। तीन वर्ष की उम्र में उन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी। यह महान् आश्चर्य है।

पञ्चवस्तुक ग्रन्थ में कहा है—

तदधो परिहवखेत्तं न चरणभावोऽवि पायमेएसिं।

आहच्चभावकहगं सुत्तं पुण होई नायव्वं॥

आठ वर्ष से कम उम्र के बालक को दीक्षा देना पराभव का कारण है। इतनी छोटी उम्र में चारित्र का भाव प्रायः नहीं हो सकता। वज्रस्वामी के लिये सूत्र में जो कहा है—'छम्मासियं छसु जयं माऊए समन्निअं वंदे' छः महीने की उम्र से ही जो छः जीवनिकाय की यतना करने वाले थे ऐसे वज्रस्वामी व उनकी माता को मैं वंदन करता हूँ। यह कथन अपवाद रूप है। अतः आठ वर्ष से पूर्व बालक को दीक्षा नहीं देना चाहिये।

दोष— बालक होने से पराभव की सम्भावना रहती है।
बालसुलभ चेष्टाओं से संयमविराधना होती है।
ज्ञान के अभाव में चारित्र की भावना नहीं होती।
"ये मुनि लोग कितने कठोर हैं कि ऐसे दुधमुँहे बच्चों को दीक्षा देते हैं।"इस प्रकार जन निन्दा होती है।
बालमुनि की मातृवत् परिचर्या करने से स्वाध्याय में हानि होती है।

२. वृद्ध—जिस समय जितनी उत्कृष्ट आयु हो, उसके दसभाग करना। उनमें से आठवें, नौवें और दसवें भाग में वर्तमान "वृद्ध" कहलाता है। जैसे वर्तमान में उत्कृष्ट आयु सौ वर्ष की मानी गई है। उसके दस भाग करने पर आठवाँ, नौवाँ और दसवाँ भाग क्रमशः ८०-९० और १०० का होता है। अतः ७० वर्ष से ऊपर का वृद्ध होता है। उसे दीक्षा नहीं देनी चाहिये। यदि ७० वर्ष से पहले ही शरीर क्षीण हो गया हो तो उसे दीक्षा नहीं देनी चाहिये क्योंकि उसे सम्भालना कठिन होता है।

दोष— १. उम्र में बड़ा होने से ऊपर बैठे।
२. विनय न करे।
३. गर्व धारण करे। इत्यादि कारणों से वृद्ध को दीक्षा नहीं देनी चाहिये। चाहे वह वासुदेव का ही पुत्र क्यों न हो।

३. नपुंसक—बहुत से दोषों की सम्भावना के कारण नपुंसक को दीक्षा नहीं देनी चाहिये।

'बाले, वुड्ढे य थेरे य' कहीं ऐसा भी पाठ है। इसका अर्थ है कि बाल, वृद्ध की तरह स्थविर भी दीक्षा के अयोग्य हैं। पर ऐसा पाठ **निशीथ** आदि आगमों में न होने से यहाँ भी उसकी उपेक्षा की गई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. **पुरुषक्लीब**—स्त्री द्वारा भोग की याचना करने पर, स्त्री के अंगोपांग देखकर, कामोद्दीपक वचन सुनकर जो अपने आपको संयम में न रख सके, उसे दीक्षा नहीं देनी चाहिये।

दोष—१. तीव्र वेदोदय के वश कदाचित् स्त्री का आलिंगन करे। यह धर्म निन्दा का कारण होने से ऐसे को दीक्षा नहीं देनी चाहिये।

५. **जड्ड**—मूक। इसके तीन प्रकार हैं—१. भाषाजड्ड २. शरीरजड्ड और ३. कारणजड्ड

१. **भाषाजड्ड**—यह भी तीन प्रकार का है—

(i) जलमूक—जल में डूबता हुआ व्यक्ति जिस प्रकार बुड़-बुड़ शब्द बोलता है, वैसे बुड़-बुड़ करते हुए बोलने वाला।

(ii) मन्मनमूक—हकलाते हुए बोलने वाला।

(iii) एलकमूक—भेड़ की तरह दूसरों को समझ न पड़े, इस प्रकार अस्पष्ट बोलने वाला।

पूर्वोक्त तीनों प्रकार के भाषाजड्ड ज्ञान-ग्रहण करने में असमर्थ होने से दीक्षा के अयोग्य हैं।

२. **शरीरजड्ड**—अति-स्थूल शरीर वाला भी दीक्षा के अयोग्य है।

दोष—अति-स्थूल होने से गौचरी नहीं जा सकता, विनय आदि नहीं कर सकता। अधिक पसीना आने से शरीर, वस्त्र आदि में फूलन अधिक जमती है, जिन्हें धोने से जीव-विराधना, संयम-विराधना होती है तथा 'यह साधु बहु-भक्षी है, तभी तो इतना स्थूल है, अन्यथा साधु जीवन में स्थूलता का प्रश्न ही क्या है? इस प्रकार जन निन्दा होती है। अति-स्थूल होने से चलते समय श्वांस फूलता है, अति-स्थूल होने से सर्प, अग्नि आदि के भय की स्थिति में वह दौड़ नहीं सकता।

३. **करणजड्ड**—करण = क्रिया। जड = अज्ञ। समिति-गुप्ति, प्रतिक्रमण, पडिलेहण आदि संयम क्रियाओं को बार-बार समझाने पर भी नहीं समझने वाला।

दोष—क्रियाओं का यथावत् ज्ञान न होने से उन्हें सम्यग् रीति से नहीं कर सकता है। इससे संयम-विराधना होती है।

७. **व्याधि ग्रस्त**—भगन्दर, अतिसार, कुष्ठ, कफ, खाँसी और ज्वरादि से ग्रस्त रोगी व्यक्ति को दीक्षा नहीं देनी चाहिये।

दोष— **(i)** चिकित्सा कराने में छः काय जीवों की विराधना होती है।

(ii) स्वाध्याय की हानि होती है।

७. **स्तेन**—मकान में खात डालना, रास्ते में लूटना, डाका डालना आदि चोर-कर्म करने वाले व्यक्ति को दीक्षा नहीं देनी चाहिये।

दोष—ऐसा व्यक्ति गच्छ के लिये वध, बंधन, ताड़ना, तर्जना आदि अनर्थ का कारण होने से दीक्षा के अयोग्य है।

८. **राजापकारी**—राजद्रोही को दीक्षा नहीं देनी चाहिये।

दोष—उसे दीक्षा देने से राजा क्रुद्ध होकर मुनि को मृत्यु-दण्ड, देश-निकाला आदि दे सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. **उन्मत्त**—भूतादि के आवेश से युक्त अथवा मोह के प्रबल उदय से परवश बने हुए को दीक्षा नहीं देनी चाहिये।

दोष—भूत आदि रुष्ट होकर साधुओं का अनिष्ट करें जिससे स्वाध्याय, ध्यान और संयम की हानि हो।

१०. **अदर्शन**—दर्शन = नेत्र और सम्यक्त्व, ये दोनों प्रकार की आँखें जिसके नहीं हैं, ऐसे अन्ध व्यक्ति को तथा स्त्यानर्द्धि निद्रा वाले को दीक्षा नहीं देनी चाहिये।

दोष—नेत्रहीन षट्काय जीवों की विराधना करेगा। विषम-स्थान में कील, काँटे आदि पर गिरने की सम्भावना रहेगी। स्त्यानर्द्धि निद्रावान् क्रुद्ध होकर साधु को मार सकता है।

११. **दास**—दासी के गर्भ से उत्पन्न, क्रीत एवं कर्जदार को दीक्षा नहीं देनी चाहिये।

दोष—उनका मालिक उन्हें पुनः घर ले जा सकता है।

१२. **दुष्ट**—दुष्ट व्यक्ति दीक्षा के अयोग्य है। दुष्ट दो प्रकार का है।

(i) **कषायदुष्ट**—उत्कट कषाय वाला।

एक साधु गोचरी गया, उसे अत्यन्त स्वादिष्ट व मसालेदार बडे मिले। उसे बडे अत्यन्तप्रिय थे। वह बडे लेकर गुरु के पास आया। गुरु ने सहज भाव से सारे बडे वापर लिये। यह देखकर साधु को बड़ा क्रोध आया। यद्यपि गुरु ने उससे क्षमा माँग ली तथापि उसका क्रोध शान्त नहीं हुआ। कुपित शिष्य ने गुरु से कहा—मैं तुम्हारे दाँत तोड़ दूँगा। गुरु ने सोचा कहीं यह मुझे असमाधि से न मार डाले। यह सोचकर योग्य-शिष्य को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित कर दूसरे गच्छ में सम्मिलित होकर अनशन ग्रहण कर लिया। जब उस साधु ने अन्य मुनियों से पूछा कि—गुरु कहाँ गये? साधुओं ने इसका कुछ भी जवाब न देकर मौन रहना उचित समझा। कहीं से पता लगाकर वह वहाँ पहुँच गया, जहाँ गुरु गये हुए थे। वहाँ रहे हुए मुनियों से पूछा कि—मेरे गुरु कहाँ हैं? मुनियों ने कहा उनका आज ही कालधर्म हुआ है और शव परठ दिया गया है। शिष्य ने पूछा—शव कहाँ परठा है? मुनियों को उसका पाप-विचार विदित होने के कारण उससे प्रतिप्रश्न किया कि—तूं शव का क्या करेगा? उसने कहा—मुझे देखना है। तब मुनियों ने उसे स्थान बता दियां और गुप्त रूप से उसके पीछे देखने गये कि वह शव का क्या करता है? शिष्य ने वहाँ जाकर क्रुद्ध होकर पत्थर उठाया और गुरु के दाँत तोड़ते हुए कहा—क्या तुम्हें सासणवाल (सरसों के बडे) खाने हैं? यह कषायदुष्ट आत्मा का दृष्टांत हैं।

(ii) **विषयदुष्ट**—परस्त्री आदि में अत्यन्त आसक्त।

दोष—इसके अध्यवसाय अत्यन्त संक्लिष्ट होते हैं।

१३. **मूढ़**—मोहवश या अज्ञानवश वस्तु के यथार्थज्ञान से शून्य।

दोष—मूढ़ आत्मा उपयोग शून्य होने से, जिसका आधार ज्ञान व विवेक है, ऐसी भागवती दीक्षा का पालन नहीं कर सकता।

१४. **जुंगित**—दूषित। इसके तीन भेद हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(i) जातिजुङ्गित—अस्पृश्य जाति में उत्पन्न व्यक्ति दीक्षा के अयोग्य है।

(ii) कर्मजुङ्गित—निन्दित कर्म करने वाले। जैसे—स्त्री, मोर, मुर्गा, तोता आदि को पालने वाले, नट-कर्म करने वाले, नाई, कसाई, धोबी, मत्स्य-पालक आदि दीक्षा के अयोग्य हैं।

(iii) शरीर-जुङ्गित—लूले, लंगड़े, बहरे, काणे, कूबड़े, वामन आदि शरीर से अपंग व्यक्ति दीक्षा के अयोग्य हैं।

दोष—लोक-निन्दा।

१५. **अवबद्धक**—धन या विद्या के निमित्त से जो किसी से बँधा हुआ हो, ऐसा व्यक्ति दीक्षा के अयोग्य है।

दोष—दीक्षा देने के बाद सम्भव है कभी उसका मालिक साधु से कलह करे। उसे वापस घर ले जावे।

१६. **भृत्य**— वेतन लेकर किसी धनिक के घर का काम करने वाला भृत्य भी दीक्षा के अयोग्य है।

दोष—ऐसे व्यक्ति को दीक्षा देने से साधु, मालिक की अप्रीति का भाजन बनता है।

१७. **ऋणार्त्त**—कर्जदार दीक्षा के अयोग्य है।

दोष—कर्जदाता, राजा आदि उसे वापस ले जा सकते हैं, उसकी तथा दीक्षादाता की ताड़ना, तर्जना कर सकते हैं।

१८. **शैक्षनिस्फेटिका**—माता-पिता की आज्ञा के बिना अपहरण करके किसी को दीक्षा नहीं देनी चाहिये।

दोष—माता-पिता पुत्रादि के वियोग में आर्त्त-ध्यान द्वारा कर्म-बंधन करे। साधु को 'अदत्त' ग्रहण करने का पाप लगे॥ ७९०-७९१ ॥

१०८ द्वार : दीक्षा-अयोग्य नारी—

जे अट्ठारस भेया पुरिसस्स तहित्थियाए ते चेव।
गुव्विणी सबालवच्छा दुन्नि इमे हुंति अन्नेवि ॥७९२ ॥

—गाथार्थ—

दीक्षा के अयोग्य स्त्रियाँ—**जो अट्ठारह भेद दीक्षा के अयोग्य पुरुषों के हैं वे स्त्रियों के भी समझना चाहिये। उनमें गर्भिणी और बालवत्सा ये दो भेद और मिलाने से दीक्षा के अयोग्य स्त्रियों के कुल बीस भेद होते हैं॥७९२॥**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

दीक्षा-अयोग्य नारी के पूर्वोक्त अठारह भेद + दो भेद = २० भेद हैं।

(i) गर्भिणी = सगर्भा

(ii) सबालवत्सा—जिसका बच्चा स्तनपान करने वाला हो।

इस प्रकार १८ + २ = २० भेद दीक्षा-अयोग्य नारी के हैं॥ ७९२ ॥

१०९ द्वार : दीक्षा-अयोग्य नपुंसक—

पंडए वाइए कीवे, कुंभी ईसालुत्ति य।
सउणी तक्कमसेवी य, पक्खियापक्खिए इय ॥७९३ ॥
सोगंधिए य आसत्ते, दस एते नपुंसगा।
संकिलिट्ठित्ति साहूणं पव्वावेउं अकप्पिया ॥७९४ ॥

—गाथार्थ—

दीक्षा के अयोग्य नपुंसक—**पंडक, वातिक, क्लीब, कुंभी, ईर्ष्यालु, शकुनि, तत्कर्मसेवी, पाक्षिक अपाक्षिक, सौगंधिक, आसक्त—ये दस नपुंसक अतिसंक्लिष्ट चित्तवाले होने से दीक्षा के अयोग्य हैं॥७९३-७९४॥**

—विवेचन—

१. **पण्डक**—नपुंसक विशेष है। इसके छः प्रकार हैं।

(i) महिला-स्वभाव—आकृति से पुरुष होते हुए भी नारी की तरह चेष्टा करने वाला, जैसे भयभीत की तरह चलना, मन्द-गति से चलना, पीछे देखते हुए चलना, स्त्री की तरह कोमल व ठण्डा शरीर होना, स्त्री की तरह बात-बात में ताली देते हुए पेट पर तिरछे रखे हुए बांये हाथ की हथेली पर दांये हाथ की कोहनी को रखकर, दांयी हथेली पर मुँह को टिकाकर भुजाओं को हिलाते हुए बात करना। कमर पर हाथ रखना, स्त्री की तरह भुजा से छाती को ढ़कना, बात-बात में आँख भौएं चढ़ाना, केश बाँधना, वस्त्राभूषण पहनना, गुप्त-रीति से स्नान करना, पुरुषों के बीच आशंकित और स्त्रियों के बीच निर्भय रहना, स्त्री की तरह पकाना, खांडना, पीसना आदि घरेलू काम करना।

(ii) (iii) स्वर, वर्ण भेद—जिसका शब्द, शारीरिक वर्ण, गन्ध और रस स्त्री व पुरुष के शब्दादि की अपेक्षा विलक्षण हो।

(iv) मेहन—जिसका पुरुष चिह्न स्थूल हो।

(v) मृदुवाणी—जिसका स्वर स्त्री की तरह कोमल हो।

(vi) मूत्र—जिसका पेशाब शब्द युक्त एवं झाग रहित हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. **वातिक**—स्वभावतः या किसी निमित्त से जिसका पुरुष चिह्न इस प्रकार स्तब्ध हो जाता हो कि स्त्री संभोग के बिना पुनः सहज न हो सके।

३. **क्लीब**—असमर्थ...अशक्त। इसके चार भेद हैं—

(i) दृष्टिक्लीब—निर्वस्त्र स्त्री पुरुष को देखकर क्षुब्ध होने वाला।

(ii) शब्दक्लीब—स्त्री का शब्द सुनकर क्षुब्ध होने वाला।

(iii) आश्लिष्टक्लीब—स्त्री द्वारा बलात् आलिंगन करने पर व्रत पालन में असमर्थ।

(iv) निमन्त्रणक्लीब—स्त्री द्वारा प्रार्थना करने पर शिथिल होने वाला।

४. **कुम्भी**—मोह की उत्कटता से जिसका पुरुषचिह्न कुंभ की तरह 'उच्छून' हो।

५. **ईर्ष्यालु**—दूसरों को स्त्री संभोग करते हुए देखकर ईर्ष्या करने वाला।

६. **शकुनि**—पक्षियों की तरह बार-बार मैथुन सेवन करने वाला।

७. **तत्कर्मसेवा**—संभोग करते हुए वीर्य-पात होने के पश्चात् श्वान की तरह प्रसन्नता से पुरुषचिह्न को चाटने वाला।

८. **पाक्षिक-अपाक्षिक**—शुक्लपक्ष में अधिक कामोत्तेजना वाला व कृष्णपक्ष में अल्प कामोत्तेजना वाला॥ ७९३॥

९. **सौगन्धिक**—पुरुषचिह्न को सुगन्धित मानकर सूंघने वाला।

१०. **आसक्त**—वीर्यपात के पश्चात् भी संभोग करने वाला। स्त्री का आलिंगन करके उसके अंगों के साथ कुचेष्टा करने वाला।

पूर्वोक्त १० नपुंसक नगर के महादाह के समान तीव्र कामदाह वाले तथा संक्लिष्टचित्त वाले होने से दीक्षा के लिये अयोग्य हैं।

प्रश्न—दीक्षा के लिये अयोग्य पुरुष के अठारह भेदों में कुछ नपुंसक भी हैं तो पूर्वोक्त भेदों में और प्रस्तुत भेदों में क्या अन्तर है?

उत्तर—पुरुष के भेद में बताये गये नपुंसक मात्र चेष्टा से नपुंसक हैं लिंग से नहीं, किन्तु प्रस्तुत भेद लिंग नपुंसकों के हैं। **निशीथ चूर्णि** में कहा है कि—

"इयाणिं नपुंसया दस, ते पुरिसेसु चेव वुत्ता नपुंसदारे। जइ जे पुरिसेसु वुत्ता, ते चेव इहंपि किंकओ भेदो? भन्नइ, "तहिं पुरिसाकिई, इह गहणा सेसयाण भवेत्ति।"

प्रश्न—आगम में नपुंसक के सोलह प्रकार हैं तो यहाँ दस प्रकार ही क्यों बताये?

उत्तर—यद्यपि नपुंसक के सोलह भेद हैं तथापि दीक्षा के लिये अयोग्य दस ही हैं। अतः यहाँ दस भेद ही बताये। शेष छः भेद दीक्षा के योग्य हैं॥ ७९४॥

दीक्षा के योग्य नपुंसक—

१. **वर्द्धितक**—अन्तःपुर की रक्षा के लिये जिनका पुरुषचिह्न बचपन में ही छेदकर या गलाकर जिन्हें नपुंसक बना दिया हो।

२. **चिप्पित**—जन्म से ही जिनका पुरुष-चिह्न मर्दन कर गला दिया हो।

३-४. **मंत्र औषधि उपहत**—मंत्र या औषधि के प्रभाव से स्त्रीवेद या पुरुषवेद नष्ट हो जाने के कारण जो नपुंसक बन गये हों।

५. **ऋषिशाप**—ऋषि आदि के शाप से जो नपुंसक बने हों।

६. **देवशाप**—देव के शाप से जो नपुंसक बने हों।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन छः प्रकार के नपुंसकों में यदि दीक्षा की अन्य योग्यतायें हों तो इन्हें दीक्षा दी जा सकती है, अन्यथा नहीं।

११० द्वार : दीक्षा-अयोग्य विकलांग—

हत्थे पाए कन्ने नासा उट्ठे विवज्जिए चेव।
वामणगवडभखुज्जा पंगुलटुंटा य काणा य ॥७९५॥
पच्छावि होंति विगला आयरियत्तं न कप्पए तेसिं।
सीसो ठावेयव्वो काणगमहिसोव निम्ममि ॥७९६॥

—गाथार्थ—

दीक्षा के अयोग्य विकलांग—**हाथ, पाँव, कान, नाक, होठ रहित, वामन, वडभ, कुब्ज, पंगु, लूला और काना इतने दीक्षा के अयोग्य हैं। दीक्षा लेने के बाद यदि कोई विकलांग हो जाता है तो उसे आचार्य पद नहीं दिया जाता। यदि आचार्य विकलांग हो जाये तो उनके स्थान पर योग्य शिष्य को आचार्य पद दिया जाता है और विकलांग आचार्य को चुराये हुए महिष की तरह गुप्त स्थान में रखा जाता है।७९५-७९६॥**

—विवेचन—

१. हाथ, पाँव, कान, नाक और होठ रहित।
२. जिसके हाथ, पैर आदि अंग अपेक्षाकृत छोटे हों, वामन।
३. आगे या पीछे से जिसका शरीर निकला हुआ हो, वडभ।
४. एक पसली से हीन, कुब्ज।
५. पाँव आदि से अपंग होने से जो चल नहीं सकता हो, पंगु।
६. जिसका हाथ न हो अथवा आधा हो, कटा हुआ हो, टुण्ट।
७. एक आँख वाला, काणा।

ये दीक्षा के लिये अयोग्य हैं। इन्हें दीक्षा देने में लोक निन्दा, तिरस्कार आदि दोष हैं।

प्रश्न—चारित्र ग्रहण करने के पश्चात् यदि कोई विकलांग हो जाये तो क्या करे?

उत्तर—सामान्य मुनि यदि चारित्र-ग्रहण करने के बाद विकलांग हो जाता है तो अन्य सभी योग्यताओं के बावजूद भी उसे आचार्य पद नहीं दिया जाता। यदि आचार्य स्वयं विकलांग हो जाता है तो वह योग्यता सम्पन्न, गुणोपेत शिष्य को अपने पद पर प्रतिष्ठापित कर चुराये गये महिष की तरह जैसे चुराये गये महिष को कोई देख न ले इस भय से गाँव व नगर के बाहर किसी खड्डे में.....गुप्तस्थान में या गहन जंगल में रखा जाता है वैसे आचार्य भी गुप्त स्थान में साधनारत रहे। अन्यथा शासन की अवहेलना, अनादर, आज्ञाभंग आदि अनेक दोषों की सम्भावना रहती है। गुप्त प्रदेश में रहे हुए आचार्य की परिचर्या स्थविर मुनि करते हैं॥ ७९५-७९६॥

¤ * ¤ * ¤

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org